स्मृतिकालीन भारतीय समाज एवं संस्कृति

(याज्ञवल्क्य स्मृति के विशेष संदर्भ में)

लेखक

डॉ० राजदेव दूबे

प्राक्कथन

प्रो० लल्लन जी गोपाल

1988

प्रतिभा प्रकाशन

दिल्ली 110007

प्रतिभा प्रकाशन
29/5, शक्तिनगर,
दिल्ली-11007

संस्करण प्रथम : 1988

"The publication of this book has been financially supported by the Indian Council of Historical Research. The responsibility for the facts stated or opinions expressed is entirely of the author and not of the council.

मूल्य : Rs. 500/-
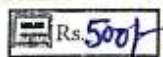
ISBN 81-85268-07-X

राधेश्याम शुक्ल एम० ए०, एम० फिल्० द्वारा, प्रतिभा प्रकाशन, 29/5, शक्ति नगर, दिल्ली-110007, के लिए प्रकाशित तथा चौहान प्रिंटिंग प्रेस, एन-69/2, भगतसिंह गली नं० 17, ब्रह्मपुरी, दिल्ली-110053 द्वारा मुद्रित।

समर्पण

पूज्य पिता, (स्व०) श्री चिन्तामणि दूबे

एवं

माता (स्व०) श्रीमती हुबराजी देवी

को

संक्षिप्त ग्रन्थ-सूची

ऋ०	—	ऋग्वेद
अथर्व०	—	अथर्ववेद
अर्थ०	—	अर्थशास्त्र
कौ०	—	कौटिल्य
इपि० इण्डि०	—	इपिग्रैफिया इण्डिका
इंडि० ऐंटी०	—	इण्डियन एन्टीक्वेरी
इंडि० इपि०	—	इण्डियन इपिग्रैफिकल ग्लासरीज
इंडि० हिस्टा० क्वार्ट०	—	इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली
मनु०	—	मनुस्मृति
नारद०	—	नारद-स्मृति
गौतम०	—	गौतम-स्मृति
पराशर०	—	पराशर-स्मृति
बृहस्पति०	—	बृहस्पति-स्मृति
कात्या०	—	कात्यायन-स्मृति
वशिष्ठ०	—	वशिष्ठ-स्मृति
गौत०ध०सू०	—	गौतम-धर्मसूत्र
वशिष्ठ० ध०सू०	—	वशिष्ठ-धर्मसूत्र
आपस्तम्ब ध०सू०	—	आपस्तम्ब-धर्मसूत्र
विष्णु० ध०सू०	—	विष्णु-धर्मसूत्र
महा०	—	महाभारत
रामा०	—	वाल्मीकि-रामायण
ऐ०ब्रा०	—	ऐतरेय-ब्राह्मण
तैत्तिरीय उप०	—	तैत्तिरीय उपनिषद्
तैत्तिरीय ब्रा०	—	तैत्तिरीय-ब्राह्मण
शत० ब्रा०	—	शतपथ-ब्राह्मण
मत्स्य पु०	—	मत्स्य-पुराण
अग्नि पु०	—	अग्नि पुराण
वायु पु०	—	वायु-पुराण
विष्णु० पु०	—	विष्णु-पुराण
गरुड़ पु०	—	गरुड़-पुराण
आश्वलायन श्रौत०	—	आश्वलायन-श्रौतसूत्र

शुक्र०	—	शुक्रनीतिसार
कामन्द०	—	कामन्दक-नीतिसार
पृ०	—	पृष्ठ
याज्ञ०	—	याज्ञवल्क्य-स्मृति
रघु०	—	रघुवंश
अनु०	—	अनुवाद
अभि० शाकुन्तल	—	अभिज्ञान-शाकुन्तल
मानसो०	—	मानसोल्लास
छान्दो० उप०	—	छान्दोग्य-उपनिषद्
दिव्या०	—	दिव्यावदान
कठ० उप०	—	कठोपनिषद्
वी० मि० सं०	—	वीरमित्रोदय संस्कार-प्रकाश
पा०गृ०सू०	—	पारस्कर-गृह्यसूत्र
आश्व०गृ०सू०	—	आश्वलायन-गृह्यसूत्र
आप०गृ०सू०	—	आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र
गोभिल गृ०सू०	—	गोभिल-गृह्यसूत्र
बौ०गृ०सू०	—	बौधायन-गृह्यसूत्र
बृ०उ०	—	बृहदारण्यक-उपनिषद्
सु०र०सं०	—	सुभाषित रत्न सन्दोह
सुभा०र०भ०	—	सुभाषित रत्न भण्डार
सचाऊ०	—	अल्बरुनीज इण्डिया एडीटेड बाई सचाऊ
कौषी०	—	कौषीतकि ब्राह्मण
सं०	—	सम्पादक

प्राक्कथन

भारतीय समाज और संस्कृति के सच्चे स्वरूप को समझने में जो ग्रन्थ अत्यधिक सहायक हैं उनमें धर्मशास्त्र-ग्रंथों का प्रमुख स्थान है। भारतीय-जीवन को धर्मशास्त्र साहित्य ने गहरा प्रभावित किया है। भारतीय संस्कृति की एक उल्लेखनीय विशेषता रही है कि इसने गूढ़ चिंतन के द्वारा कुछ विशिष्ट उद्देश्यों और आदर्शों की स्थापना की और सामाजिक-व्यवस्था को इनकी प्राप्ति का माध्यम बनाया। समाज के विभिन्न अंगों और कार्यकलापों की और व्यक्ति के जीवन के विभिन्न भागों और अवस्थाओं को एक सोद्देश्य दिशा दी गई। समाज और व्यक्ति को व्यवस्थित और नियमित करने का कार्य धर्मशास्त्र-ग्रंथों के द्वारा सम्पादित किया गया। प्राचीन काल से आज तक का भारतीय सामाजिक जीवन धर्मशास्त्रों के विधानों से ही कम या अधिक निरन्तर प्रभावित होता रहा है।

भारतीय समाज और संस्कृति के विकास का इतिहास प्रस्तुत करने में इतिहासकारों ने धर्मशास्त्र-ग्रंथों के साथ पूर्ण न्याय नहीं किया है। विभिन्न कालों में सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों के स्वरूप की संरचना करने में उसने इनका समुचित उपयोग नहीं किया है। धर्मशास्त्रों के प्रति उदासीनता और संकोच की उसकी मनोवृत्ति कुछ पूर्वाग्रहों से जनित है।

विधि और विधान किसी काल की सांस्कृतिक परिस्थितियों को परिलक्षित करने में कितने समर्थ होते हैं यह विचारणीय है। यह कहा जा सकता है कि विधि में एक आदर्श विधान होता है जो भविष्य की गतिविधियों और परिस्थितियों को नियमित करने का प्रयास करता है। यह आने वाले सभी कालों में प्रयुक्त होता है, अतः इसे किसी काल विशेष तक सीमित नहीं किया जा सकता। विधि को आदर्श-प्रेरित और सुधारमुखी मानने पर भी हम उसका वस्तुस्थिति से संबंध-विच्छेद नहीं कर सकते। विधि शून्य में नही लटकी रहती, वह कल्पना के लोक में नहीं विचरती। विधि और विधान अतीत में हुए परिवर्तनों और विकास के परिणाम होते हैं। वे तत्कालीन यथार्थ से सीधे जुड़े होते हैं। वे समकालीन परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में ही बनाये जाते हैं। विधि की व्यवस्था कदम-कदम पर अपने काल की दशा की ओर संकेत करती है, उसी को व्यवस्थित और नियमित करना चाहती है। उस काल की दशा की पृष्ठभूमि में ही हम उसे समझ सकते हैं। यह बात भारत ही नहीं सभी देशों में समय-समय पर की गई विधि-व्यवस्था के लिए लागू होता है।

इतिहास की संरचना के लिए धर्मशास्त्रों का उपयोग करने में इतिहासकार का संकोच धर्मशास्त्र-ग्रंथों के स्वरूप, उनके प्रतिपाद्य विषय और उनके दृष्टिकोण के

कारण है। अपने सुनिश्चित क्षेत्र में उनकी अपनी सुनिर्दिष्ट दृष्टि है। समाज के विभिन्न अंगों और विभिन्न प्रश्नों पर धर्मशास्त्र की अपनी व्यवस्था है। उस व्यवस्था का समर्थन और संपोषण ही सभी कालों में सभी धर्मशास्त्रकारों का उद्देश्य था। वस्तु-स्थिति के भिन्न और विपरीत होने पर भी वे अपने स्वीकृत तंत्र में ही उसे समाहित और व्यवस्थित करने का प्रयास करते हैं जो भी परिवर्तन या सुधार वह स्वीकार करते हैं वह धर्मशास्त्र की वर्णाश्रम-व्यवस्था की लक्ष्मण-रेखा के भीतर ही होता है। प्रायः लोगों की धारणा है कि सभी धर्मशास्त्र-ग्रंथों में एक जैसी सामग्री मिलती है।

यह मत भ्रान्तिपूर्ण है। धर्मशास्त्र-ग्रन्थों में अनेक नियमों में परस्पर भिन्नता मिलती है। स्मृतिकार स्वयं कुछ स्थलों पर पूर्ववर्ती स्मृतिकारों के मतों और उनसे अपने विरोध का उल्लेख करते हैं। विभिन्न स्मृतियों में परस्पर भेद के चलते यह समस्या उठी कि किस व्यवस्था को स्वीकार किया जाय। मध्यकालीन निबन्धकारों ने इन भेदों की वास्तविकता को नकारा। उन्होंने स्मृतियों के विधानों में एकवाक्यता का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। जहां वे अपने पाण्डित्यपूर्ण प्रयासों के बाद भी विरोधी विधानों में सामंजस्य और समन्वय स्थापित करने में सफल नहीं हुए, वहां उन्होंने विकल्प की संभावना प्रस्तावित की। भाष्यकारों और निबंधकारों की विवेचना का ही परिणाम था कि आरम्भ में पाश्चात्य विद्वान और न्यायविद् भी धर्मशास्त्रीय व्यवस्था को एकरूप, पुनरुक्तिपूर्ण, अपरिवर्तनशील, जड़ और संकुचित माने। इस धारणा की व्यापक स्वीकारोक्ति का ही यह दुष्परिणाम हुआ कि स्मृतिग्रंथों के प्रामाणिक संस्करण निकालने और उनका विधिवत ऐतिहासिक और विधिशास्त्रीय अध्ययन करने की आवश्यकता के पक्षधरों की संख्या सीमित ही रही है। पांडुरंग वामन काणे के विश्वकोशीय प्रयास के अतिरिक्त जे० जॉली, बी० बूलेर, काशी प्रसाद जायसवाल, के० वी० आर० ऐयन्गर और जे० डी० एम० डेरेट आदि कुछ नाम ही प्रतिष्ठित हुए हैं।

स्मृतियों की व्यवस्थाओं में अन्तर दो प्रमुख कारणों से उत्पन्न हो सकता है। स्मृतिकारों का अपना निजी मन उनके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है। उदार या कट्टर दृष्टि जीवन के उनके अनुभवों, उनकी शिक्षा और उनके संस्कारों के द्वारा बनती है। पाश्चात्य विधि शास्त्रियों ने विधि के विधानों पर व्यवस्थाकारों के व्यक्तित्व और उनके निजी मतों के प्रभावों को स्वीकार किया है।

ऐसी स्थिति में किसी भी विधि-संग्रह को समझने और उसके सही मूल्यांकन के लिए उसके रचयिता की पहचान और उसके जीवन और व्यक्तित्व से उसकी रचना को जोड़ने की आवश्यकता होती है। भारतीय संस्कृति की यह एक दुःखद विशिष्टता रही है कि सभी क्षेत्रों में उपलब्धियों और योगदान करने वाले प्रमुख व्यक्तियों के नाम तक हमें ज्ञात नहीं हैं। जहां कहीं नाम सुरक्षित हो सके हैं वहाँ भी हमारी

जानकारी उनके नाम तक ही सीमित है। उनका व्यक्तित्व अपनी संपूर्ण सजीवता के साथ हमारे सम्मुख उपस्थित नहीं हो पाता। अतः उनके मतों और उनके कृत्यों की हम सम्यक् व्याख्या नहीं कर पाते।

हमारे अध्ययन-प्रयासों की यह सीमा स्मृतियों के संबंध में सबसे अधिक स्पष्ट है। स्मृतियों के रचयिता, जिनके नाम से वे प्रसिद्ध हैं, हमारे लिए नाम-मात्र हैं। मनु, याज्ञवल्क्य, बृहस्पति, नारद, पराशर आदि प्रसिद्ध प्राचीन ऋषि थे। परम्पराओं और कल्पित आख्यानों के जाले के बीच उनको ढूंढ़ निकालना और उनकी ऐतिहासिकता को स्थापित करना सरल नहीं है। इन ऋषियों के बीच याज्ञवल्क्य की स्थिति अधिक निराशजनक नहीं है। याज्ञवल्क्य का प्राचीनतम उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में प्राप्य है। प्राचीन परम्परा जो महाभारत और विष्णु तथा भागवत पुराणों में सुरक्षित है, याज्ञवल्क्य को वैशम्पायन का शिष्य कहती है। गुरु के साथ मतभेद हो जाने के कारण उन्होंने सूर्य की उपासना के द्वारा यजुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया। इस प्रकार वे शुक्ल यजुर्वेद के द्रष्टा के रूप में प्रसिद्ध हुए। शतपथ ब्राह्मण में एक स्थल (11/3/1-2) पर वे जनक को अग्निहोत्र यज्ञ का ज्ञान प्रदान करते हैं, किन्तु स्वयं उनसे गूढ़ याज्ञिक-क्रिया का परिचय प्राप्त करते हैं। इसी ग्रंथ में अन्यत्र (11.6.3) शाकल्य के साथ उनके शास्त्रार्थ का उल्लेख है। इस विवाद में देवताओं की संख्या का विचार हुआ, किन्तु निर्णय के रूप में याज्ञवल्क्य के एकेश्वरवाद की स्थापना हुई। बृहदारण्यक उपनिषद् मे उनकी ऐतिहासिकता और प्रमुख दार्शनिक के रूप में उनकी प्रतिष्ठा का ज्ञान होता है। वे विदेह के राजा जनक के समकालीन थे। इस उपनिषद् के याज्ञवल्कीय काण्ड में उनके व्यक्तित्व और विचारों की अभिव्यक्ति की गई है। वे जनक, अश्वल, आर्तभाग, भुज्यु, कोहल, गार्गी, आरुणि और शाकल्य आदि दर्शनाचार्यों से दार्शनिक प्रश्नों पर विवेचन करते हैं। अपनी पत्नी मैत्रेयी को उन्होंने ब्रह्म और आत्मा के अमरत्व के विषय में जो ज्ञान दिया वह अपनी उत्कृष्टता से दर्शन के क्षेत्र की एक विशिष्ट उपलब्धि है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि याज्ञवल्क्य का नाम शुक्ल-यजुर्वेद, शतपथ ब्राह्मण और बृहदारण्यक उपनिषद् से प्रगाढ़ रूप में जुड़ा है। उन्हें इनका प्रणेता, उदघोषक या संकलनकर्ता के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए सुनिश्चित प्रमाण दे पाना कठिन है। इनमें से कितना सीधे उनसे जुड़ा है और कितना उनके शिष्यों द्वारा प्रस्तुत है, इसका निर्णय करना सरल नहीं है। स्पष्ट है कि ये तीनों ग्रंथ एक ही काल की रचनायें नहीं थीं। इनमें परस्पर कितने काल का अन्तर है, इसका निश्चय हम नहीं कर सकते। किन्तु ये परम्परायें तथ्यपरक और ऐतिहासिक हैं, इसे स्वीकार करने में कोई विशेष बाधा नहीं होनी चाहिए। विण्टरनित्ज[1] ने यज्ञ और तत्वचिंतन के बीच स्थित अंतर की गहनता को देखते हुए वैदिक-साहित्य के विभिन्न विधानों के इन तीनों ग्रंथों को याज्ञवल्क्य द्वारा उद्घोषित मानने में असुविधा का अनुभव किया था। किन्तु यह शंका तर्क-संगत नहीं है। आधुनिक काल के कई विद्वानों ने यज्ञों के

---

1. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर भाग 1, पृ० 246।

अनुष्ठान से तत्त्वचिंतन के विकास को सहज और स्वाभाविक माना है। इन दोनों के ही क्षेत्र पृथक्-पृथक् हैं और ये एक-दूसरे को नकारते नहीं। यज्ञ के अनुष्ठान को करने वाला तत्वचिंतन भी कर सकता है। याज्ञिक अनुष्ठान की वैदिक परम्परा प्राचीन थी, किन्तु इसी के बीच आगे तत्त्व-चिंतन की परम्परा का आरम्भ हुआ। दोनों ही परम्परायें दीर्घ काल तक समानान्तर चली हैं। इसलिए याज्ञवल्क्य के द्वारा याज्ञिक अनुष्ठानों के पालन के साथ ही तत्वचिंतन की प्रवृत्ति के पोषण की बात नितान्त असंभव की कोटि में नहीं आती।

महाभारत के शांतिपर्व से भी श्रेष्ठ चिंतक और ब्रह्मज्ञानी के रूप में याज्ञवल्क्य की प्रसिद्धि सिद्ध होती है। युधिष्ठिर के द्वारा राजसूय यज्ञ के अनुष्ठान के अवसर पर भी याज्ञवल्क्य को उपस्थित कहा गया है। वैदिक यज्ञों से संबंधित होने की उनकी प्रतिष्ठा को देखते हुए इनमें कुछ अटपटा नहीं है। किन्तु वास्तविक बाधा इतिहास के कालक्रम के चलते है। कैसे याज्ञवल्क्य जनक और युधिष्ठिर दोनों के ही समकालीन हो सकते थे? इसका समाधान इसी प्रकार किया जा सकता है कि महा-भारत के उत्तरकालीन संशोधक-संपादक ने दूसरे कालों के व्यक्तियों और देवी-देवताओं और अनैतिहासिक चरित्रों तक को कई स्थलों में कथा पर आरोपित किया है।

वैदिक परंपरा के याज्ञवल्क्य और स्मृतिकार याज्ञवल्क्य के तादात्म्य का प्रश्न विवादग्रस्त है। याज्ञवल्क्य-स्मृति (3/110) में इस संबंध को स्थापित करने का प्रयास मिलता है। यहां उन्हें आदित्य से प्राप्त आरण्यक का रचयिता और योगशास्त्र का प्रणेता कहा गया है। ऐसा कदाचित् स्मृति को गौरव प्रदान करने के लिए कहा गया था। इसी स्मृति के आचाराध्याय (श्लोक 2) में भी मिथिला से उनके संबंध और योग में उनके ज्ञान का उल्लेख है। स्मृति और उपनिषद् में विषय की दृष्टि से अन्तर है। उपनिषद् में दर्शन के जटिल प्रश्नों का विवेचन है, किन्तु स्मृति में सरल भाषा में व्यवस्था है। स्मृति पर दार्शनिक योगी की छाप नहीं देखने को मिलती।[2] किन्तु यह आपत्ति युक्तिसंगत नहीं है। एक ही लेखक दो भिन्न विधाओं के ग्रन्थों की रचना करते समय प्रस्तुति करने की शैली को विषय के अनुसार ढालता है। ऐसे अन्यत्र दर्शन के सिद्धांतों की स्थापना करने के कारण उससे यह अपेक्षित नहीं होता कि अपने स्मृति-ग्रंथ में भी वह अपने दार्शनिक रूप को बनाये रखें।

वास्तविक आपत्ति वैदिक-कालीन याज्ञवल्क्य और स्मृतिकार याज्ञवल्क्य की संभावित तिथियों में लम्बे अन्तराल के आधार पर उठती है। स्मृति में प्रयुक्त लौकिक संस्कृत, उसकी भाषा और शैली की विशेषताओं के कारण, संहिता और आरण्यक का कौन कहे उपनिषद् के काल के भी संगत नहीं है।

याज्ञवल्क्य-स्मृति के प्राचीन टीकाकार भी वैदिक-ऋषि याज्ञवल्क्य को स्मृति का रचयिता स्वीकार करने के पक्ष में नहीं थे। अपरार्क (याज्ञवल्क्य 1/1) ने कहा है—अस्याश्च संहितायाः याज्ञवल्क्यः प्रणेतेति व्याख्यातॄणां स्मृतिरेव प्रमाणम्।

---

2. पी०वी० काणे, हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र भाग-1 (द्वितीय संस्करण) पृ० 422-23। काणे (पूर्वोक्त पृ० 440-41) ने य दिखलाया है कि याज्ञवल्क्य स्मृति का शुक्लयजुर्वेद और उससे संबंधित साहित्य से निकट का संबंध है। श्री नारायण मिश्र (याज्ञवल्क्य स्मृति, प्रस्तावना) ने काणे के द्वारा स्मृति को याज्ञवल्क्य की रचना स्वीकार न करने का विरोध किया है।

विज्ञानेश्वर ने अपनी व्याख्या में ग्रन्थ की परम्परा के चलते ही कुछ श्लोकों को याज्ञवल्क्य प्रणीत कहा है। वे कदाचित् वैदिक ऋषि के ही स्मृति का रचियता होने की सम्भावना के विरुद्ध आपत्तियों की गुरुता को समझते थे। इसीलिए उन्होंने इस सम्भावना को तो स्वीकार किया कि इस स्मृति के विषय का प्रतिपादन मूलतः याज्ञवक्ल्य ने ही प्रश्नोत्तर के रूप में किया था, किन्तु साथ ही यह भी कहा कि इसका उपलब्ध रूप उसी व्यवस्था का संक्षिप्त रूप है जिसे याज्ञवल्क्य के ही किसी शिष्य ने प्रतिपादित किया था (याज्ञवल्क्य 1/1)। मूल स्मृति को स्वयं याज्ञवल्क्य की रचना मान लेने पर भी यह प्रश्न बना रहता है कि संक्षिप्त संस्करण बनाने वाले शिष्य ने किस सीमा तक मूल का विषय-वस्तु, व्यवस्था, भाषा और शैली की दृष्टि से निर्वाह किया है।

इस सन्देह के चलते हम न तो स्मृति के रचयिता की पहचान कर सकते हैं और न दार्शनिक वैदिक ऋषि याज्ञवल्क्य के विषय में प्राप्त सूचना के आधार पर उसके निजी मतों और व्यवस्थाओं की व्याख्या और समीक्षा कर सकते हैं। यहां यह उल्लेखनीय है कि प्रसिद्ध याज्ञवल्क्य के अतिरिक्त याज्ञवल्क्य के नाम से सम्बन्धित दो अन्य स्मृतियां थीं जो वृद्ध-याज्ञवल्क्य और बृहद् याज्ञवल्क्य के नाम से ज्ञात थीं। इनमें से वृद्ध-याज्ञवल्क्य का प्राचीनतम उल्लेख विश्वरूप के द्वारा हुआ है और बृहद्-याज्ञवल्क्य का एक उद्धरण जितेन्द्रिय ने दिया था। संप्रति ये दोनों ही स्मृतियां उपलब्ध नहीं हैं। इतना तो स्पष्ट है कि इन दोनों की ही रचना प्रसिद्ध याज्ञवल्क्य-स्मृति के बाद हुई थी। याज्ञवल्क्य के नाम के द्वारा इन्हें भी गौरव प्रदान किया गया, किन्तु याज्ञवल्क्य-स्मृति से इनकी भिन्नता को सूचित करने के लिए "वृद्ध" और "बृहद्" विशेषणों को इनके नाम के साथ जोड़ दिया गया।

योग के क्षेत्र में याज्ञवल्क्य की प्रतिष्ठा के आधार पर कुछ योग शास्त्र विषयक ग्रंथों की रचना का श्रेय भी याज्ञवल्क्य को दिया गया। कूर्म पुराण (1/25-27) ने याज्ञवल्क्य द्वारा रचित योगशास्त्र का उल्लेख किया है। याज्ञवल्क्य-स्मृति में भी याज्ञवल्क्य के द्वारा योग-शास्त्र पर अपनी रचना का निर्देश हुआ है। मनुस्मृति (3/1) पर अपनी टीका में कुल्लूक ने योगि याज्ञवल्क्य के एक वचन का उद्धरण दिया है, किन्तु यह कोई पृथक ग्रन्थ न होकर प्रसिद्ध याज्ञवल्क्य-स्मृति का ही उल्लेख है। योग पर याज्ञवल्क्य के नाम से दो ग्रंथों का प्रकाशन हुआ है—योग-याज्ञवल्क्य और बृहद्योगि याज्ञवल्क्य। पी० सी० दीवानजी[3] के अनुसार याज्ञवल्क्य स्मृति में याज्ञवल्क्य द्वारा प्रणीत जिस योग शास्त्र का उल्लेख है वह यही योग-याज्ञवल्क्य है। काणे[4] का कहना ठीक है कि इन दोनों में से कोई भी याज्ञवल्क्य-स्मृति में उल्लिखित याज्ञवल्क्य का योग-विषयक ग्रंथ नहीं है। बृहद्योगयाज्ञवल्क्य निश्चय ही एक प्राचीन ग्रंथ है जिसके उद्धरण वाचस्पति और अपरार्क ने दिए हैं। किन्तु इसमें बहुत-सी सामग्री मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, भगवद्गीता और उपनिषदों से ली गई है।[5]

ऐसी परिस्थिति में याज्ञवल्क्य स्मृति की अपनी विशेषताओं और अन्य स्मृतियों

---

3. ए०बी०ओ०आर०आई०, खण्ड 34, पृ० 1-29।
4. हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, खण्ड 5, पृ० 1404-8।
5. पूर्वोक्त, खण्ड 1 (द्वितीय संस्करण), पृ० 451-52।

से उसके अन्तर को स्पष्ट करने का हमारे पास एक ही उपाय शेष बचता है, वह है उसके अन्त: साक्ष्य का विश्लेषण। बड़े आश्चर्य की बात है कि शोधकर्ताओं ने जहां सन्दिग्ध देश-काल वाले अन्य विधाओं के ग्रंथों में शोध की इस विधि का उपयोग किया है, वहीं वे स्मृतियों के सन्दर्भ में इस प्रकार के प्रयास से विमुख रहे हैं। बहुत पहले काशी प्रसाद जायसवाल ने मनु और याज्ञवल्क्य के तुलनात्मक अध्ययन में इन साक्ष्यों का सहारा लिया था। धर्म सूत्रों के सन्दर्भ में एस० सी० बनर्जी ने सांस्कृतिक सामग्री का संग्रह और विवेचन किया था, यद्यपि उन्होंने विभिन्न धर्म सूत्रों का पृथक् अध्ययन न करके उन्हें एक इकाई माना। वास्तव में कोई भी स्मृतिकार विषय और विधान की अपनी बद्धता और सीमा के होते हुए भी अनजाने ही अपने विचारों और अपने देश-काल की ओर संकेत करने से बच नहीं पाता। ये संकेत व्यवस्थाओं में तो परिलक्षित होते ही है, सांस्कृतिक सामग्री में भी झलकते हैं। ये शासन-व्यवस्था और राजनीति, धार्मिक विश्वास और संप्रदाय, सामाजिक-स्थिति, आर्थिक-जीवन, शिक्षा-पद्धति आदि अनेक क्षेत्रों में देखे जाते हैं। कहीं-कहीं तो विशिष्ट शब्दावली, जिसके प्रारम्भ के विषय में हमें आश्वस्त ज्ञान है, हमें स्पष्ट और विश्वसनीय संकेत देती हैं।

डॉ० राजदेव दूबे का प्रयास सराहनीय और अनुकरणीय है उन्होंने सपरिश्रम याज्ञवल्क्य-स्मृति से साँस्कृतिक-जीवन के अनेक पक्षों के विषय में अत्यन्त उपयोगी और रोचक सूचनाओं का संग्रह किया है। इस सामग्री का विश्लेषण करके उन्होंने इस स्मृति की रचना के काल के विवेचन को एक सुदृढ़ आधार-प्रदान किया है। उनका यह प्रकाशन अन्य स्मृतियों के विषय में इस प्रकार के अध्ययन की आवश्यकता को रेखांकित करता है। शोध के प्रबन्ध का प्रकाशन डॉ० दुबे के धर्मशास्त्रीय साहित्य के वैज्ञानिक और ऐतिहासिक विवेचन के प्रति समर्पण-भाव को उत्साह और बल प्रदान करेगा, इस विश्वास के साथ मैं विद्वज्जगत् के सम्मुख इसकी प्रस्तुति करने के सन्तोष का भागीदार हो रहा हूं।

वाराणसी : वसन्तपंचमी,
जनवरी 23, 1988।

(प्रो० डॉ० लल्लनजी गोपाल)
एम० ए०, डी० फिल्, पी-एच्०, डी० (लन्दन)
विद्याचक्रवर्ती
प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं
पुरातत्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी।

लेखकीय

प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं सांस्कृतिक परम्परा के विकास में याज्ञवल्क्य-स्मृति का बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान है। मानव-जीवन के पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष) का विवेचन ही इस स्मृति का मुख्य प्रतिपाद्य है। मानव धर्म पर लिखी गई यह कृति प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं वैधानिक-पद्धति के आदर्शों, मूल्यों एवं प्रतिमानों को प्रतिबिम्बित करती है। यद्यपि इस ग्रन्थ के रचनाकार एवं उनकी तिथि के सन्दर्भ में विवाद है, किन्तु सामान्यतया इसे याज्ञवल्क्य अथवा उनके किसी शिष्य द्वारा प्रथम शती ई० पू० से तृतीय शती ई० के मध्य कभी प्रणीत माना जाता है। इसमें मानव-जीवन को सुख एवं समृद्धि प्रदान करने वाले और समाज को संयत रखने वाले धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, यत्किंचित् सर्वक्षेत्रीय आदर्शों का सुन्दर समन्वय है और उनसे एक वैधानिक-आचार-संहिता तैयार की जा सकती है। याज्ञ-वल्क्य-स्मृति में प्रतिपादित आदर्शों का परिपालन न केवल तत्कालीन समय में लाभप्रद था, अपितु आज भी कुछ परिवर्तनों के साथ समाज में सुख-शान्ति और नियमन-संयमन के लिए तथा व्यष्टि और समष्टि के सर्वक्षेत्रीय उन्नति के लिए समान रूप से उपयोगी है। सम्भवत: यही कारण था कि अंग्रेजों ने हिन्दू वैधानिक नियम विशेषकर 'दायभाग' के लिए याज्ञवल्क्य-स्मृति पर लिखी टीका 'मिताक्षरा' का महत्त्व स्वीकार किया, जो आज भी कुछ परिवर्तनों के साथ महत्त्वपूर्ण है। इन विशिष्टताओं के कारण याज्ञवल्क्य-स्मृति के अध्ययन, विशेषकर उसके सामाजिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन के प्रति आकर्षण सहज एवं स्वाभाविक है।

याज्ञवल्क्य-स्मृति का यह प्रयास सर्वथा अभिनव नहीं है। इस स्मृति के महत्त्व के कारण ही समय-समय पर इसकी अनेक टीकाएं (विश्वरूप, विज्ञानेश्वर, अपरार्क, मित्र-मिश्र, शूलपाणि आदि) लिखी गई। आधुनिक विद्वानों ने भी इसके विभिन्न पक्षों का अध्ययन किया है।

के० पी० जायसवाल ने अपनी पुस्तक "मनु एण्ड याज्ञवल्क्य", (कलकत्ता, 1830) में मनु एवं याज्ञवल्क्य-स्मृति का तुलनात्मक अध्ययन किया है। उन्होंने इन दोनों स्मृतियों की तिथि का निर्धारण भी किया है। पी० वी० काणे ने अपने "धर्म शास्त्र का इतिहास" (प्रथम भाग) नामक ग्रंथ में याज्ञवल्क्य-स्मृति की तिथि, विषय वस्तु एवं महत्त्व पर प्रकाश डाला है। इसके अतिरिक्त उन्होंने इस ग्रन्थ का उपयोग अपने ग्रंथ के अन्य खण्डों में अन्यान्य विषयों के प्रतिपादन में किया है। लक्ष्मीदत्त ठाकुर ने अपनी पुस्तक "प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन", के प्रथम अध्याय में याज्ञवल्क्य-स्मृति के तिथि के विषय में प्रकाश डाला है। अन्य अध्यायों में विभिन्न

विषयों के प्रतिपादन में इनका उपयोग किया है। डॉ० शिवाजी सिंह ने ''इवाल्यूशन ऑफ द स्मृति लॉ,'' नामक अपनी पुस्तक में याज्ञवल्क्य-स्मृति के काल-निर्धारण पर संक्षेप में प्रकाश डाला है तथा अन्य खण्डों में विधि से सम्बन्धित विषयों के प्रतिपादन में इस ग्रन्थ का यथा संदर्भ उपयोग किया है।

उपर्युक्त ग्रंथों में यत्र-तत्र प्रसंगवश याज्ञवल्क्य-स्मृति के सांस्कृतिक तथ्यों का भी उल्लेख है, परन्तु यह अत्यन्त संक्षिप्त और प्रायः विवरणात्मक है। अस्तु प्रस्तुत ग्रंथ में विषय को व्यापक एवं आलोचनात्मक रूप देने की चेष्टा की गई है, जैसा कि शीर्षक से ही स्पष्ट है। ग्रन्थ प्रस्तुतीकरण के लिए याज्ञवल्क्य-स्मृति को ही स्रोत सामग्री के रूप में प्रयोग किया गया है। अन्यान्य तथ्यों के प्रकाशन और पुष्टि के लिए वेदों, गृह्य, धर्म एवं श्रौत-सूत्रों, स्मृतियों, पुराणों, महाकाव्यों, कौटलीय अर्थ-शास्त्र आदि का भी यथा संदर्भ प्रयोग किया गया है। प्राचीन भारतीय समाज, धर्म, दर्शन एवं संस्कृति के प्रचार-प्रसार के लिए हिन्दी भाषा में इस विषय पर शोध-कार्य अथवा पुस्तक का लिखा जाना अपेक्षित समझकर ही इस ग्रंथ का प्रतिपादन किया गया है।

पुस्तक को कुल चौदह अध्यायों में विभक्त किया गया है, जिसमें याज्ञवल्क्य-स्मृति का परिचय, महत्त्व, काल-निर्धारण, सामाजिक-स्थिति, पारिवारिक, सांस्कृतिक-जीवन, शिक्षा-व्यवस्था, धर्म, दर्शन, पातक, प्रायश्चित, आर्थिक-स्थिति, राज्य-राजा के गुण एवं अधिकार-राज्य के आय के साधन, मन्त्रिपरिषद्-प्रशासन-व्यवस्था-न्याय और दण्ड-व्यवस्था-अन्तर्राज्य-सम्बन्ध तथा उपसंहार आदि का समावेश किया गया है। यथा सम्भव हमनें पुस्तक की भाषा को सरल एवं सुबोध रखा है। विषय को बोधगम्य बनाने के लिए यत्र-तत्र बोल-चाल की भाषा का प्रयोग जान-बूझ कर किया गया है।

यह ग्रंथ हमारे पी० एच० डी० के शोध-प्रबन्ध पर आधारित है। अतः मुझे शोध-प्रबन्ध तैयार करने में जिनसे भी सहायता मिली अथवा अमूल्य सुझाव मिले, मैं उनका आभारी हूं। प्रो० जयप्रकाश सिंह जी का निर्देशन के रूप में अपूर्व योगदान मिला, ग्रंथ में जो भी अच्छाइयां हैं, वह आप ही के कारण हैं और जो कमियां हैं, वह मेरी अपनी हैं। आपके इस महती कृपा का आभार शब्दों द्वारा प्रकट कर सकना मेरे लिए असम्भव है। अपने अति व्यस्त दैनन्दिन के बावजूद ग्रंथ के लिए प्राक्कथन लिखकर प्रो० लल्लन जी गोपाल जी ने भी मुझे अनुगृहीत किया है। आपकी इस महती कृपा के लिए मैं चिरऋणी रहूंगा। डॉ० श्रीमती कृष्ण कान्ती गोपाल, रीडर, महिला महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का सहयोग तथा शुभकामनाएं ग्रंथ-लेखन एवं प्रकाशन में सदैव मेरे साथ रही हैं। इसके लिए मैं आपका सदा आभारी हूं। प्रो० के० डी० बाजपेयी एवं पी० के० भी० कैमल (रिसर्च आफिसर, भारतीय इतिहास अनुसंधान-परिषद्, नई-दिल्ली) ने ग्रंथ प्रकाशन के लिए यथेष्ट आर्थिक सहायता प्रदान की। अतः मैं इनका भी आभारी हूं। पुस्तक के संपादन

एवं प्रकाशन में मुझे प्रा० भा० इ० सं० एवं पुरातत्व-विभाग, के प्रो० के० के० सिन्हा, प्रो० लक्ष्मीकान्त त्रिपाठी व डॉ० पृथ्वी कुमार अग्रवाल, प्रो० पुरुषोत्तम सिंह, डॉ० टी० पी० वर्मा, डॉ० झिनकू यादव, डॉ० अच्छेलाल यादव एवं संस्कृत-विभाग के डॉ० रामायण प्रसाद द्विवेदी एवं दर्शन-विभाग के डॉ० रेवती रमण पाण्डेय, प्रो० लक्ष्मी निधि शर्मा, श्री कमलाकर मिश्र, डॉ० कैलाशपति मिश्र, डॉ० देवेन्द्र नाथ तिवारी से सहायता एवं सुझाव मिला उसके लिए भी मैं आप सबका कृतज्ञ हूं।

अपने मित्रों में सर्वश्री डॉ० अरबिन्द सिंह, श्री सन्त प्रसाद मिश्र, डॉ० रामसकल यादव, श्री रमाकान्त सिंह शोसल वर्कर स्टूडेन्ट हेल्थ केयर काम्पलेक्स, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, डॉ० सुरेश चन्द्र चौबे, डॉ० अवधेश सिंह, प्रवक्ता-हिन्दी-विभाग, काशी विद्यापीठ, श्री प्रमोद कुमार सिंह, प्रवक्ता-इतिहास-विभाग- बयालसी महाविद्यालय जलालपुर, जौनपुर, श्री अनन्त प्रसाद दूबे, डॉ० बाबुल नाथ दूबे, प्रवक्ता-राजनीतिशास्त्र, विभाग-मड़ियाहूं महाविद्यालय, जौनपुर, श्री ब्रजराज त्रिवेदी, श्री ओमप्रकाश सिंह, प्रवक्ता-मनोविज्ञान-विभाग, बयालसी इण्टर कालेज, जलालपुर, जौनपुर, श्री विजय कुमार सिंह, डॉ० सीता राम दूबे, डॉ० ओमप्रकाश पाण्डेय, श्री सुभाषचन्द्र त्रिपाठी भूतपूर्व अध्यक्ष छात्र-संघ, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय एवं डॉ० राजेन्द्र प्रसाद त्रिपाठी आदि सभी का भी आभारी हूं। आप लोगों ने इस पुस्तक के लेखन कार्य में मुझे अनूठी, बेजोड़ एवं कीमती पारदर्शियां दी हैं।

ग्रन्थ के आवश्यक सामग्री संकलन में अन्यान्य पुस्तकालयों से भी सहायता ली गयी है। अत: मैं इन पुस्तकालयों के पुस्तकालयाध्यक्षों तथा कर्मचारियों के सहयोग से भी उपकृत हूं। अन्त में, मैं श्री राधेश्याम शुक्ल, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली तथा चौहान प्रेस दिल्ली को भी आभार देना नहीं भूलूंगा, जिन्होंने ग्रन्थ के प्रकाशन तथा मुद्रण का महान् उत्तरदायित्व संभाल कर इसे यथासमय पूरा किया।

बसंत-पंचमी
दिनांक : 23-1-88
वाराणसी-5

राजदेव दूबे

OPINIONS

The condidate shows remarkable capacity for balanced judgements, detailed expositions, comparative analysis and the presentation of data from a wide range of literary sources. Whether it is a discussion on iconography or transgressions, the treatment in analytical and broad based. The chapter on economic conditions is especially noteworthy.

The author seems to have a remarkable knowledge of Sanskrit as also the literary and archaeological data relevant to the topic of his study.

Prof. S. B. Deo
Director, Deccan College
P. G. & Research Instt., Poona

It is a fine piece of research work based on critical interpretation of facts. The literary presentation in Hindi is equally satisfactory............The Yajnavalkya Smriti is an important document of Ancient Indian Dharmsastra and the cultural data deduced therefrom has been presented in a lucid form which enhances the importance of thesis still further. The bibliography is quite exhaustive and interesting.

R. C. Agrawal
Ex.-Director of Archaeology & Museum
C-634, Gandhi Nagar, Jaipur (Rajasthan)

The thesis presents a comprehensive study of all important aspects of cultural life as known from the Yaj. Smriti. On many points of these, however, the material avaliable in the work is inadequate. The candidate has taken care to explain this tendency of the author of the work. In order to make his study complete, he has taken help from other sources as well wherever necessary.

Dr. Jai Prakash Singh
Deptt. of A.I.H.C. & Arch.
Banaras Hindu University

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

स्मृति-परिचय

'स्मृति' शब्द का अर्थ

स्मृतियाँ भारतीय धर्मशास्त्र की महत्त्वपूर्ण अंग हैं। महत्त्व की दृष्टि से ये वेदों के बाद दूसरे स्थान पर आती हैं। स्मृति की व्युत्पत्ति (स्मृ+क्तिन्)[1] शब्द से हुई है। जिसका तात्पर्य स्मरण एवं प्रत्यस्मरण आदि से है। स्मृति स्मरण का विषय है और यह परम्परागत रूप से चला आ रहा धार्मिक साहित्य है। तैत्तिरीय आरण्यक में भी "स्मृति" शब्द आया है।[2] सामान्य अर्थ में स्मृति एवं धर्मशास्त्र में कोई भेद नहीं है।[3] स्मृति शब्द का प्रयोग श्रुति से विपर्यास प्रदर्शित करने के लिए किया गया है। श्रुति से वेद का अर्थ लिया जाता है।

प्राचीन काल में जब लेखन परम्परा का श्रीगणेश नहीं हुआ था; उस समय ऋषि एवं महर्षि अर्जित-ज्ञान शिष्यों को कण्ठस्थ करा देते थे। अतः गुरु द्वारा शिष्य को और तदन्तर उक्त शिष्य के द्वारा अपने शिष्य को सुनाकर कण्ठस्थ करा दिए जाने के कारण इन्हें श्रुति परम्परा का ग्रन्थ माना गया है। इस परम्परा में चारों वेद आते हैं, किन्तु स्मृति शब्द का प्रयोग श्रुति अर्थात् ऋषि प्रकाशित एवं ऋषि-दृष्ट वाङ्मय से भिन्न साहित्य के लिए हुआ है।[4] जिसका तात्पर्य स्मरण से लगाया गया है। स्मृति का श्रुति अर्थात् श्रवण परम्परा के विषय से स्पष्ट भेद किया जा सकता है। स्मृति सीधे स्मरण शक्ति पर प्रभाव डालती है और इसके लिए किसी विशेष शिक्षा या साधन की आवश्यकता नहीं पड़ती।[5]

स्मृति शब्द का प्रयोग पारिभाषिक और सामान्य दोनों अर्थों में किया जा सकता है। "स्मृति" के बारे में गौतम और बोधायन ने स्मृति को "वेद के जानने वालों का स्मरण" माना है।[6] पूर्वाचार्यों की व्याख्या स्वीकार करते हुए मनु ने भी स्मृति का अर्थ "वेदज्ञों का स्मरण माना और उसका प्रयोग धर्मशास्त्र के अर्थ में किया है।[7] अतः उपर्युक्त धर्मशास्त्रकारों का विचार अत्यन्त संकुचित प्रतीत होता है।

पी० वी० काणे ने स्मृति का अर्थ व्यापक रूप में लिया है। उनके अनुसार "स्मृति का तात्पर्य वेद-वाङ्मय से इतर ग्रन्थों—यथा पाणिनीय-व्याकरण, श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्रों, महाभारत, मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्यस्मृति और अन्य ग्रन्थों से है।[8] किन्तु सामान्यतः स्मृति का तात्पर्य संकुचित अर्थ में केवल स्मृति ग्रन्थों से ही लिया जाता है, यथा मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति आदि।

स्मृतियों की संख्या

स्मृतियों की कोई निश्चित संख्या नहीं मिलती है। इनकी संख्या के विषय में वैचारिक मतभेद हैं। याज्ञवल्क्य ने धर्मशास्त्र प्रणेताओं की संख्या बीस बतायी है।[9]

यथा—मनु, अत्रि, विष्णु, हारीत, याज्ञवल्क्य, उशनस्, आङ्गिरस, यम आपस्तम्ब, संवर्त, कात्यायन, बृहस्पति, पराशर, व्यास, शङ्ख-लिखित, दक्ष, गौतम, शातातप और वशिष्ठ। मनु ने अपने अतिरिक्त छः स्मृतिकारों का उल्लेख किया है—अत्रि, उतथ्य के पुत्र, भृगु, वसिष्ठ, वैखानस (या विखनस) एवं शौनक।[10]

गौतम ने केवल मनु और बसिष्ठ ने 5 स्मृतिओं का उल्लेख किया है।[11] मार्कण्डेयस्मृति[12] के अनुसार मनु, गौतम, कश्यप, पराशर, वेदव्यास, शङ्ख-लिखित तथा कात्यायन—ये धर्मशास्त्र के प्रणेता हैं। आपस्तम्ब ने 10 धर्मशास्त्रकारों का उल्लेख किया है—एक (किसी ऋषि विशेष के लिए उल्लिखित है), कण्व, कुणिक, कुत्स, कोत्स, पुष्करसादि, वार्ष्यगणि, श्वेतकेतु तथा हारीत। बौधायन ने हारीत के साथ-साथ ओपजङ्घनि, कात्य, काश्यप, गौतम, प्रजापति, मनु तथा मौदगल्य का उल्लेख किया है।[13]

शंख के मत में मनु, विष्णु, यम, दक्ष, उसनस, आपस्तम्ब, अंगिरा, अत्रि, बृहस्पति, बसिष्ठ, कात्यायन, पराशर, व्यास, शंखलिखित, संवर्त्त, गौतम, शातातप, हारीत, याज्ञवल्क्य, प्राचेतस—ये सब धर्मप्रवर्तक ऋषि थे।[14] भारद्वाजस्मृति[15] में भृगु, अत्रि, वसिष्ठ, शाण्डिल्य, रोहित, ऋतु, हारीत, गौतम, गर्ग, शंख, शातातप, अंगिरा, मार्कण्डेय, माण्डव्य, कपिल, नारद, शुक्र, यमदग्नि, याज्ञवल्क्य, विश्वामित्र, पराशर आदि उल्लिखित हैं।

पराशर-स्मृति में वसिष्ठ, काश्यप, गार्गी, गौतमी, चौशस, अत्रि, विष्णु, संवर्त्त, अंगिरस, अक्ष, शातातप, हारीत, याज्ञवल्क्य, आपस्तम्ब, शंख, कात्यायन और प्राचेतस का नामोल्लेख है।[16] पैंठीनसि ने 36 स्मृतिकारों—मनु, अंगिरा, व्यास, गौतम, अत्रि, उशनस, यम, बसिष्ठ, दक्ष, संवर्त्त, शातातप, पराशर, विष्णु, आपस्तम्ब, हारीत, शंख, कात्यायन, भृगु, प्रचेता, नारद, योगी, बौधायन, पितामह, सुमन्तु, कश्यप, बभ्रु, पैठीनसि, व्याघ्र, सत्यव्रतो, भारद्वाज, गार्ग्य, बार्ष्यमणि, जाबालि, यमदग्नि, लौगाक्षि, ब्रह्म का उल्लेख किया है।[17]

गरुड़-पुराण में याज्ञवल्क्य के स्थान पर गरुड़ को रखकर अतिरिक्त ऋषियों का निर्देश याज्ञवल्क्यस्मृति के समान ही किया गया है।[18] अग्निपुराण में तो याज्ञवल्क्य के समान ही विचार व्यक्त है।[19] काणे के अनुसार "यदि बाद में आने वाले निबन्धों यथा निर्णयसिन्धु, नीलकण्ठ एव वीरमित्रोदय मयूख सूचियों को देखा जाय तो स्मृतियों की संख्या लगभग 100 हो जायगी।"[20] स्मृतिमुक्ताफल में तो 88000 ऋषियों को धर्मप्रवर्तक बताया गया है।[21]

उपर्युक्त विवेचन को देखने से ऐसा लगता है कि समय के साथ-साथ स्मृतियों की संख्या में विस्तार होता रहा है। स्पष्ट है कि स्मृति ग्रन्थ अलग-अलग समय पर और सम्भवत: अलग-अलग स्थानों पर लिखे जाते रहे। इसी के परिणामस्वरूप निबन्ध-कारों के समय तक स्मृतियों की संख्या सौ के लगभग हो गई।

याज्ञवल्क्य-स्मृति

उपरोक्त समस्त स्मृति-ग्रन्थों में से मनु एवं याज्ञवल्क्य की स्मृतियां सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। मनु के बाद दूसरी महत्त्वपूर्ण स्मृति 'याज्ञवल्क्य-स्मृति' ही है। इस ग्रंथ के नाम से इसे याज्ञवल्क्य द्वारा लिखित मानने का भ्रम होता है। शतपथब्राह्मण[22] तथा बृहदारण्यक उपनिषद[23] में याज्ञवल्क्य का उल्लेख आता है। वे शुक्ल-यजुर्वेद के द्रष्टा हैं। इसलिए उन्हें इस स्मृति का रचयिता नहीं माना जा सकता। इस ग्रंथ की शैली और विषय नये हैं, हालांकि शुक्ल-यजुर्वेद से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है।[24] मिता-क्षरा के अनुसार याज्ञवल्क्य के एक शिष्य ने इस धर्मशास्त्र को प्रश्नोत्तर रूप में संक्षिप्त किया है।[25] किन्तु मिताक्षरा का साक्ष्य भी इस ग्रंथ के लेखक के विषय में बहुत अधिकाधिक इसलिए नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह टीका बहुत बाद की है। प्राचीन भारत में प्राय: लेखक अपने ग्रन्थों को लोकप्रिय बनाने के लिए अथवा उन्हें समाज में शीघ्र स्वीकृति प्रदान करने के लिए उन्हें किसी ऋषि के नाम से सम्बद्ध कर देते थे। यह स्मृति भी इसी श्रेणी में आती है।

बेनीप्रसाद[26] याज्ञवल्क्य-स्मृति को एक मौलिक ग्रंथ की अपेक्षा संग्रह मानते हैं। लेखक ने धर्मसूत्रों, मनु, विष्णु और पुराणों आदि से अनेक विचार लिये हैं किन्तु उसके व्यापक ढंग और स्पष्ट शैली ने उसे काफी लोकप्रिय बना दिया है। याज्ञवल्क्य के परिवार का सम्बन्ध मिथिला और विदेह से बताया जाता है।[27] परन्तु डॉ० जायसवाल का मन्तव्य है कि इस ग्रंथ की रचना मध्यदेश अथवा पश्चिम भारत में कहीं हुई। यह ग्रंथ ऐसे समय पर लिखा गया जबकि म्लेच्छों का शासन था, किन्तु इसमें उनके प्रति किसी प्रकार की शत्रुता का संकेत नहीं मिलता। इससे यह अनुमान हो सकता है कि यह ग्रंथ बाद में लिखा गया हो इसलिए इसमें उनके प्रति शत्रुभाव का अभाव है। यह शुद्धत: वैज्ञानिक ग्रंथ है। लेखक के वैज्ञानिक और पक्षपातरहित दृष्टिकोण के कारण ही इस ग्रंथ को सम्पूर्ण भारत में मान्यता प्राप्त हुई।[28]

गणेश एवं ग्रहों की पूजा इस स्मृति की विशेषता है।[29] दान से सम्बद्ध धर्मों और ताम्रपत्र लेखों का निर्देश इस स्मृति में है।[30] मनु ने इनका उल्लेख नहीं किया है। याज्ञवल्क्य ने बौद्धमत का खण्डन किया है।[31] शरीर रचना एवं चिकित्सा संबंधी सामग्री तथा कई अन्य बातों में मनु एवं याज्ञवल्क्य में भेद है।[32] यह मनु से अधिक विकसित और नूतन परिस्थितियों में बनने के द्योतक हैं। मनु एवं याज्ञवल्क्य-स्मृति की विशेषताओं के विषय में वेबर का मत है कि जो विषय इन दोनों ग्रन्थों में

पाये जाते हैं, उनमें भी याज्ञवल्क्य में मनु की अपेक्षा अधिक सूक्ष्मता और स्पष्टता है। फलतः याज्ञवल्क्य-स्मृति मनु के बाद की रचना है।

याज्ञवल्क्य-स्मृति की श्लोक संख्या लगभग एक हजार मानी जाती है। यह मनुस्मृति से संक्षिप्त एवं प्रवाहमय है। काणे का मन्तव्य है कि याज्ञवल्क्य-स्मृति मनुस्मृति से अधिक सुगठित है।[33] याज्ञवल्क्य ने सम्पूर्ण स्मृति-ग्रन्थ को तीन भागों में विभाजित कर विषयों को उनके उचित स्थान पर रखा है।[34]

याज्ञवल्क्य-स्मृति तीन अध्यायों में विभक्त है—आचाराध्याय, व्यवहाराध्याय और प्रायश्चिताध्याय। आचाराध्याय के 13 प्रकरणों में चौदह विद्याओं, धर्म के उपादान, संस्कार, ब्रह्मचारी के विहित-कर्तव्य और निषिद्ध-कर्म, विवाह-संस्कार, सपिण्ड-सम्बन्ध का नियम, क्षेत्रजपुत्र और पुनर्विवाह, गृहस्थ के कर्तव्य, पंचमहायज्ञ, अतिथि सत्कार, मधुपर्क, चारों वर्णों के कर्तव्य, आचार के दस सिद्धान्त, गृहस्थ की जीवन-वृत्ति, स्नातक के कर्तव्य, अनध्याय-पवित्रीकरण, दान और श्राद्ध के नियम, श्राद्ध की विधि, दक्षिणा, ग्रहशान्ति, राजधर्म और दण्ड आदि का निरूपण किया गया है।

व्यवहाराध्याय के 25 प्रकरणों में न्याय करने वाली परिषद् के सदस्य, जमानत, ब्याज की दर, ऋण बन्धक के प्रकार, साक्षी के योग्य, शपथ, लेख्य-प्रमाण, दिव्य, उत्तराधिकार सम्बन्धी नियम, पुत्रों के प्रकार, स्त्री-धन, स्वामी और भृत्य के विवाद, दास्य के नियम, विभिन्न अपराध और दण्ड आदि विषय वर्णित हैं।

प्रायश्चित्ताध्याय के 5 प्रकरणों में अशौच के नियम, मृतक के संस्कार, तर्पण, जन्मविषयक अपवित्रता, वानप्रस्थ और यति (संन्यासी) के नियम, गर्भस्थ शिशु-विचार, मानव शरीर की रचना, आत्मा का जन्म, योगी की अमरता का रहस्य, आत्मज्ञान के साधन, रोग-व्याधियां, नरक, महापातक और प्रायश्चित्त आदि विषय वर्णित हैं।

स्मृतिकार-याज्ञवल्क्य

याज्ञवल्क्य-स्मृति के रचनाकार के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। इस स्मृति के साथ याज्ञवल्क्य का नाम जोड़ देने से प्रायः लोग यह समझते हैं कि इसके प्रणेता योगी याज्ञवल्क्य ही थे। महाभारत,[35] शतपथब्राह्मण[36] एवं भागवत[37] में यह बतलाया गया है कि याज्ञवल्क्य वैशम्पायन के शिष्य थे, उन्होंने उनसे यजुर्वेद का अध्ययन किया था परन्तु एक समय गुरु-शिष्य में मतभेद होने के कारण सम्बन्ध-विच्छेद हो गया। वस्तुतः सूर्योपासना के परिणामस्वरूप याज्ञवल्क्य को मध्याह्न-काल में सूर्य से यजुर्वेद का ज्ञान प्राप्त हुआ। इस यजुर्वेद को "शुक्ल-यजुर्वेद" तथा मध्य दिन में सूर्य से अधिगत होने से "माध्यन्दिनसंहिता" की संज्ञा से विभूषित किया गया है।

गुरु-शिष्य के सम्बन्ध-विच्छेद की घटना की सूचना विष्णु और भागवतपुराण से मिलती है किन्तु इसमें और महाभारत वाली सूचना में कुछ विभेद है। बृहदारण्यक उपनिषद् में विदेह प्रान्त के राजा जनक के गुरु के रूप में भी याज्ञवल्क्य का उल्लेख मिलता है। साथ ही साथ याज्ञवल्क्य एक बड़े दार्शनिक के रूप में अपनी दार्शनिक-मन वाली पत्नी मैत्रेयी से "ब्रह्म" एवं "अमरत्व" के विषय में बातचीत करते हुए दिखाई पड़ते हैं।[38]

बृहदारण्यक के तृतीय अध्याय से इस बात की सूचना मिलती है कि विदेह राजा जनक ने अपने यज्ञ में सभी प्रदेश के ब्रह्मज्ञानियों को आमंत्रित किया था। सभी विद्वानों के समक्ष "यो वो ब्रह्मिष्ठः स एताः गाः उदजताम्"[39] अपना विज्ञापन किया। इस विज्ञापन को सुनकर सभी विद्वत्-मण्डली मौन हो गयी; कुछ समय के उपरान्त ऋषि याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्यों को उन गायों को ले जाने के लिये आदेश दिया। इससे सभी ब्रह्मज्ञानियों ने असन्तोष प्रकट करते हुए क्रमशः ब्रह्म के विषय में शास्त्रार्थ किया। याज्ञवल्क्य-स्मृति के रचनाकार वैदिक-परम्परा के ऋषि याज्ञवल्क्य ही थे? या अन्य कोई यह प्रश्न बड़ा उलझा हुआ है। याज्ञवल्क्यस्मृति के अध्याय तीन में एक स्थल पर इस बात का उल्लेख मिलता है कि वे आरण्यक के प्रणेता थे, उन्हें सूर्य से प्रकाश मिला था, वे योगशास्त्र के प्रणेता थे।[40]

किन्तु मिताक्षरा टीकाकार विज्ञानेश्वर ने अपने प्रथम श्लोक में लिखा है कि याज्ञवल्क्य के किसी शिष्य ने धर्मशास्त्र को संक्षिप्त करके कथोपकथन रूप में लिखा है।[41] विज्ञानेश्वर के इस मन्तव्य के आधार पर अन्य विद्वान उसे याज्ञवल्क्य द्वारा प्रणीत मानने को तैयार नहीं हैं। वस्तुतः इस स्मृति के महत्व को बढ़ाने के लिए इसका सम्बन्ध योगी याज्ञवल्क्य से जोड़ा गया है। वैदिक-ग्रन्थों की भाषा-शैली से स्मृति की भाषा-शैली नितान्त भिन्न है। इसमें समय की दृष्टि से सामीप्य नहीं है, भले ही आरण्यक एवं स्मृति के रचयिता एक व्यक्ति न हो, किन्तु यह बात निर्विवाद सत्य है कि शुक्लयजुर्वेद की परम्परा से इस स्मृति का गहरा सम्बन्ध है। राधा कुमुद मुकर्जी की सम्मति में "ब्राह्मण एवम् उपनिषदों में याज्ञवल्क्य का नाम प्रसिद्ध है। वे शुक्लयजुर्वेद के द्रष्टा हैं उन्हें स्मृति का रचयिता नहीं माना जा सकता, क्योंकि उनकी शैली और विषय नये हैं, यद्यपि कि शुक्लयजुर्वेद से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है।"[42]

मिताक्षरा के कथन के आधार पर पी०वी० काणे ने याज्ञवल्क्यस्मृति को याज्ञवल्क्य द्वारा प्रणीत नहीं माना है। उनकी दृष्टि में "ज्ञेयं चारण्यकम्" आदि श्लोक भी रचयिता का कपट प्रबन्ध मात्र प्रतीत होता है। उन्हीं के अनुसार "यह (ज्ञेयं चारण्यकम्) केवल याज्ञवल्क्यस्मृति को गौरव प्रदान करने के लिए महान प्राचीन ऋषि, दार्शनिक और योगी की कृति कहा गया है। स्मृति की शैली और सिद्धान्त से यह मानना असम्भव है कि यह उसी हाथ की कृति है जिसने संसार को गम्भीर

दार्शनिक विचारों से परिपूर्ण, जो साधारण किन्तु प्रभावशाली भाषा में वर्णित उपनिषद् का ज्ञान दिया। यहां तक कि भारतीय आस्तिक विचारक भी स्मृति और आरण्यक के रचयिता को एक मानने के लिए तैयार नहीं थे।"[43]

पी०वी० काणे के मत में कोई ठोस आधार नहीं है जिसके द्वारा यह प्रमाणित किया जा सके कि याज्ञवल्क्यस्मृति के रचयिता योगी याज्ञवल्क्य नहीं थे, बल्कि उनके किसी शिष्य की रचना है। स्वयं विज्ञानेश्वर भी इस विषय में व्यामुग्ध से प्रतीत होते हैं कि प्रकृत स्मृति के प्रणेता कौन हैं ? सर्वप्रथम तो उन्होंने यह मान लिया है कि इस स्मृति की रचना याज्ञवल्क्य के किसी शिष्य ने किया था, किन्तु कई श्लोक का विश्लेषण करते समय उन्होंने दो बार "याज्ञवल्क्य प्रणीतस्य" तथा "याज्ञयल्क्य प्रणीतम्" कहा है। अतएव विज्ञानेश्वर के कथन के आधार पर निर्णय कर लेना समीचीन नहीं प्रतीत होता, आचाराध्याय के श्लोक संख्या दो में "मिथिलास्थः स योगीन्द्रः" का उल्लेख मिलता है।[44]

वस्तुतः जबतक कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं होता तब तक कोई निर्णय करना न्यायसंगत नहीं प्रतीत होता हैं। इस स्मृति के कर्त्ता के विषय में विद्वानों में मतभेद है, इस स्थिति में समस्या का समाधान सन्देह में ही करना समीचीन प्रतीत होता है।

याज्ञवल्क्यस्मृति का समय

इस स्मृति के काल-निर्धारण का प्रश्न विवादग्रस्त है। मनु एवं याज्ञवल्क्य-स्मृति में पूर्वापर का सम्बन्ध सुगमता से निकाला जा सकता है। याज्ञवल्क्य-स्मृति अनेक स्थलों पर मनुस्मृति का अनुसरण करती है। अतएव इस स्मृति के रचना काल की एक सम्भाव्य सीमा मनुस्मृति के बाद होती है। इसी प्रकार दूसरी सीमा भी निर्धारित की जा सकती है। याज्ञवल्क्यस्मृति की प्रारम्भिक टीका विश्वरूप की है। इसका समय नवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है।[45] फलतः याज्ञवल्क्यस्मृति का समय मोटे तौर पर मनु के बाद और नवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के पूर्व कभी हो सकता है।

काणे के अनुसार विश्वरूप की टीका में अनेक स्थलों पर ऐसी अभिव्यक्ति है जिससे यह ज्ञात होता है कि उसके पूर्व भी याज्ञवल्क्यस्मृति पर अन्य टीकाएँ लिखी गई हैं।[46] इससे स्पष्ट होता है कि विश्वरूप के भी बहुत पहले याज्ञवल्क्यस्मृति का वर्तमान स्वरूप स्थिर हो चुका था। याज्ञवल्क्यस्मृति के काल-निर्धारण के सम्बन्ध में याकोबी एवं जाली ने कई साक्ष्य प्रस्तुत किये हैं। याज्ञवल्क्यस्मृति में उल्लिखित नक्षत्रों एवं मुद्रा-साक्ष्य के आधार पर उन्होंने यह दिखाने का प्रयास किया है कि याज्ञवल्क्य को नक्षत्र सम्बन्धी सूचना ग्रीक पुस्तकों से प्राप्त हुई थी।[47] याज्ञवल्क्य-स्मृति में नौ ग्रहों—सूर्य, सोम (चन्द्रमा), महिपुत्र, सोमपुत्र (बुध), बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु, केतु का क्रम से उल्लेख मिलता है।[48]

जॉली सात ही ग्रहों को मानते है।[49] किन्तु याज्ञवल्क्य-स्मृति की कारिका से यह स्पष्ट है कि ग्रहों की संख्या नौ है। जॉली के भ्रम का कारण यह है कि इन नौ ग्रहों की सूची में से सप्ताह के सात दिनों का नाम सात ग्रहों के नाम पर किया गया है। इस परिप्रेक्ष्य में याकोवी ने यह मत व्यक्त किया है कि वे ग्रीक थे जिन्होंने दूसरी शताब्दी के अन्त में ग्रहों के नाम पर सप्ताह के सात दिनों का नामकरण किया था। इसलिए कोई भी भारतीय-ग्रन्थ जिसमें ग्रहों के आधार पर सप्ताह के दिनों का नामकरण है वह तीसरी शताब्दी के पहले का नहीं माना जा सकता।[50] जॉली ने इस सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए एक अन्य नक्षत्रीय साक्ष्य को भी याज्ञवल्क्यस्मृति पर ग्रीक प्रभाव का द्योतक बताया है।[51] "नाणक" सिक्के के आधार पर उन्होंने याज्ञवल्क्य-स्मृति को चौथी शताब्दी ई० का माना है।[52]

वस्तुतः याज्ञवल्क्यस्मृति के काल-निर्धारण के सम्बन्ध में याकोवी एवं जॉली ने जो मत दिये हैं उनको स्वीकार करना सम्भव नहीं है। यह पूर्णतया स्पष्ट है कि याज्ञवल्क्य ने सप्ताह के दिनों का नामोल्लेख नहीं किया है, अपितु केवल ग्रहों का ही विवेचन किया है। इसके अतिरिक्त अब तक कोई ऐसा प्रमाण नहीं प्राप्त हुआ है जिससे यह सिद्ध हो कि याज्ञवल्क्य राशियों के चिह्नों के बारे में कोई भी जानकारी रखते थे।[53] इस विषय में काणे ने लिखा है कि अब तक कोई ऐसा साक्ष्य प्राप्त नहीं है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि ब्राह्मण-ग्रन्थों, गृहसूत्रों में नक्षत्रों के बारे में जो सूचना वर्तमान समय तक मिलती है, याज्ञवल्क्य उससे अधिक जानकारी रखते थे।[54] इसके अतिरिक्त यह भी निश्चित नहीं है कि कब और किसने सप्ताह के दिनों का नामकरण किया। यदि इस बात को मान भी लिया जाय कि इस नामकरण को भारतीय विद्वानों ने विदेशियों से ग्रहण किया था तो यह भी मान्य हो सकता है कि भारतीयों ने इसे मिश्र से ग्रहण किया हो, न कि ग्रीस से।[55]

स्मृतियों में मुद्रा सम्बन्धी जो उल्लेख आए हैं, उनके आधार पर के०पी० जायसवाल ने भी स्मृतियों के काल-निर्धारण का प्रयास किया है। याज्ञवल्क्यस्मृति में "नाणक" नामक जिस सिक्के का उल्लेख मिलता है, उसे जायसवाल कुषाणों के उस स्वर्ण प्रकार से समीकृत करते हैं जिस पर "नाना" का नाम एवं उसकी आकृति अंकित है। इसी आधार पर उन्होंने याज्ञवल्क्यस्मृति का समय 150 ई० से 200 ई० के मध्य निश्चित किया है।[56]

लक्ष्मीदत्त ठाकुर के अनुसार याज्ञवल्क्यस्मृति मनु से अनेक स्थलों में भिन्नता प्रदर्शित करके उसकी (मनुस्मृति की) अपेक्षा प्रगतिशीलता का परिचय देती है, परन्तु कौटिल्य में इससे भी अधिक प्रगतिशीलता दिखलाई पड़ती है। कौटिल्य के साथ तुलना करने पर याज्ञवल्क्य-स्मृति ही पुरातनवादी प्रवृत्ति को प्रदर्शित करती हुई ज्ञात होती है। इसके अतिरिक्त विषय-प्रतिपादन की शैली की दृष्टि से भी याज्ञवल्क्य पूर्ववर्ती ज्ञात होते हैं। कौटिल्य ने राजकीय विषयों को अधिक महत्त्व प्रदान किया है।

किया है। इसका यह अर्थ नहीं कि उसने अन्य विषयों का विवेचन ही नहीं किया है। महत्त्व की दृष्टि से कौटिल्य के लिए शासन, राजा, राज्य आदि ही अधिक महत्त्व रखते हैं। विषय-प्रतिपादन की इस प्रकार की प्रवृत्ति अवश्य ही प्रगतिशील कही जायेगी, इसमें विषय-विशेष का ही पूर्णता के साथ उल्लेख किया गया है। अपने ग्रन्थ में सभी विषयों पर अन्तिम रूप से निर्णय देने की अपेक्षा उन्होंने एक ही विषय को सीमा तक पहुँचाने का प्रयत्न किया है। यह एक प्रकार की विचारधारा ही कही जायेगी। इस विचारधारा के उदाहरण बाद के अन्य मनीषियों में भी उपलब्ध होते हैं। उदाहरणस्वरूप नारदस्मृति को लिया जा सकता है। नारद अपने को व्यवहार तक ही सीमित रखते हैं। व्यवहार के ही प्रसंग में वे वर्णव्यवस्था आदि पर भी विचार प्रकट करते हैं परन्तु वे मुख्यतः व्यवहार को ही लेते हैं। इसी तरह बृहस्पति तथा शुक्र आदि आते हैं, जो एक ही विषय को लेकर चलते हैं। अस्तु याज्ञवल्क्यस्मृति की यह विचारधारा उपलब्ध नहीं होती है।[57]

वस्तुतः जिस प्रकार मनुस्मृति में आचार व्यवहार एवं प्रायश्चित्त आदि सभी विषयों पर सिद्धान्त निरूपित किये गए हैं उसी प्रकार याज्ञवल्क्यस्मृति इस दृष्टि से परिपाटी के ही अनुरूप चलती है परन्तु कौटिल्य इस पुरानी परिपाटी का आलम्बन नहीं करते हैं। जब शैली की दृष्टि से याज्ञवल्क्य कौटिल्य के पूर्ववर्ती जान पड़ते हैं, तब ऐसा कारण नहीं जान पड़ता है कि उन्हें कौटिल्य का पूर्ववर्ती न माना जाए। अतएव यह स्मृति कौटिल्य के पूर्व किसी समय लिखी गई होगी ऐसा माना जा सकता है।[58] किन्तु यह मत समीचीन नहीं प्रतीत होता।

पी०वी० काणे के मत में यह स्मृति ईसवी सन् की प्रथम दो शताब्दियों के मध्य अथवा इससे भी कुछ पहले लिखी गई होगी।[59] इस विषय में उन्होंने निम्न तर्क प्रस्तुत किए हैं—

1. टीकाकार विश्वरूप नवीं शताब्दी के हैं।
2. विश्वरूप ने अपने पहले के ऐसे कई भाष्यकारों का उल्लेख किया है, जिन्होंने याज्ञवल्क्यस्मृति पर टीकाएं लिखी हैं।
3. शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में याज्ञवल्क्यस्मृति 2/226 का निर्देश किया है।

हम ऐसा मानते हैं कि याज्ञवल्क्यस्मृति की तिथि के विषय में वर्तमान स्थिति में काणे का मत ही सच्चाई के अधिक निकट है। इसे स्वीकार करते हुए यह कहा जा सकता है कि इस ग्रन्थ की रचना ई० पू० के प्रथम एवम् ईसवी सन् की दूसरी शती के बीच ही कभी हुई होगी।

महत्त्व

प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक परम्परा के विकास में याज्ञवल्क्यस्मृति का बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान है। मानव जीवन के पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष) की

विवेचना ही इस स्मृति का विषयवस्तु है। इसके बिना न तो मनुष्य का और न ही समाज का विकास हो सकता है। मानव धर्म पर लिखी गयी यह कृति प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं वैधानिक पद्धति को प्रतिबिम्बित करती है।

किसी स्मृति की महत्ता इस बात पर निर्भर करती है कि वह मनु से कहाँ तक समर्थित है; क्योंकि मनुस्मृति सर्वोपरि स्मृति है।[60] इसी कारण मनु द्वारा प्रतिपादित मत का विवेचन ही प्राय: अधिकांश स्मृतियों में परिलक्षित होता है। याज्ञवल्क्य-स्मृति इस दृष्टि से अन्य स्मृतियों की अपेक्षा मनु के पद-चिह्नों का अधिक अनुसरण करती हुई दिखती है। फलत: मनुस्मृति में विवेचित विषयों का प्रतिपादन किस रूप में एवं कहां तक याज्ञवल्क्य-स्मृति करती है, इसे स्पष्ट कर देने से याज्ञवल्क्य स्मृति की महत्ता स्वत: प्रकाशित हो जायेगी। इसके अतिरिक्त याज्ञवल्क्य ने स्मृति-परम्परा को मनु से आगे बढ़ाया है। यह उन्होंने ऐसे विषयों के प्रतिपादन के माध्यम से किया है जिनका उल्लेख भी मनुस्मृति में नहीं है।

मनुस्मृति में धर्म की विवेचना के प्रसंग में यह बताया गया है कि वेद, स्मृति, सदाचार आदि विषयों का अनुवर्तन ही धर्म है तथा धर्म-जिज्ञासुओं के लिए वेद ही सर्वोत्तम प्रमाण है।[61] इसका वर्णन याज्ञवल्क्यस्मृति के प्रथम अध्याय में है तथा यह कहा गया है कि वेद, धर्मशास्त्र, सज्जनों के आचरण, निजी आत्मा के अनुसार कर्तव्य-निर्धारण तथा मुक्ति-युक्त संकल्प से उत्पन्न इच्छा यह सभी धर्म के आधार हैं।[62]

उपनयन-संस्कार का उल्लेख करते हुए मनु ने कहा है कि ब्राह्मण को आठवें, क्षत्रिय को ग्यारहवें तथा वैश्य को बाहरवें वर्ष में उपनयन-संस्कार कराना चाहिए।[63] इसके साथ ही मनु ने इस सामान्य उपनयन-वय के अतिरिक्त यह मत भी व्यक्त किया है कि ब्रह्मतेज की अभिलाषा रखने वाले ब्राह्मण पाचवें वर्ष में, अधिक बल के इच्छुक क्षत्रिय छठें वर्ष में और प्रचुर धनाभिलाषी वैश्य अपने बालक का उपनयन-संस्कार आठवें वर्ष में कर सकते हैं।[64] मनु विहित इस वय पर यज्ञोपवीत-संस्कार न करने से तीनों वर्ण के बालक सावित्री से पतित, निन्दित और व्रात्य हो जाते हैं।[65] याज्ञवल्क्य ने भी यज्ञोपवीत का उचित काल मात्र वैसा ही बताया है।[66] जैसा मनु ने निर्दिष्ट किया है। उन्होंने उचित तथा नियत समय पर न किये गये उपनयन वाले व्यक्ति के लिए "सर्व धर्म बहिष्कृता:" तक कह दिया है।[67]

योग-क्षेम की चर्चा करते हुए स्मृतिकार मनु ने कहा है कि राजा बिना जीते हुए भूमि और धन आदि को प्राप्त करने की अभिलाषा करे। विजय द्वारा प्राप्त धन की रक्षा करे, प्राप्त धन की वृद्धि, कृषि तथा व्यापार आदि से करे तथा इस प्रकार अर्जित धन को ब्राह्मणादि सत्पात्रों में वितरित करे। इस प्रकार कर्म करने वाला राजा स्वर्ग प्राप्त करता है।[68] याज्ञवल्क्यस्मृति में भी मनु के इस विचार का अनुसरण किया गया है। इसमें व्यक्त है कि अप्राप्त की।।ं प्त के लिए

धर्मानुसार प्रयत्न एवं प्राप्त धन का रक्षण करना चाहिए। रक्षित वस्तु की नीतिपूर्वक वृद्धि (वाणिज्यादि द्वारा) करनी चाहिए तथा वृद्धि प्राप्त धन आदि को सत्पात्रों में लगाना चाहिए।[69]

मनुस्मृति में विशद रूप में वर्णित विषयों का याज्ञवल्क्यस्मृति में कहीं-कहीं संक्षिप्तीकरण देखने को मिलता है। उदाहरण के लिए मनुस्मृति के द्वितीय अध्याय में जो विषय विशद रूप में वर्णित है उन्हें याज्ञवल्क्य ने अत्यन्त संक्षेप में दिया है। मनु ने इसमें लिखा है कि बालक का जातक-कर्म नाल काटने से पूर्व करना चाहिए तथा बालक का "प्राशन" मन्त्रोच्चारणपूर्वक सुवर्ण, शहद एवं घी से करना चाहिए।[70] इसी प्रकार बालक के नामकरण-संस्कार का निर्देश जन्म से दसवें या ग्यारहवें दिन किसी शुभमुहूर्त्त में करना चाहिए।[71] बालक के अन्न-प्राशन एवं जन्म के अनन्तर प्रथम बार घर से बाहर निकलने का विधान क्रमश: जन्म से चौथे और छठवें मास में बताया गया है।[72] द्विजातियों के चूड़ाकरण (मुण्डन) के विषय में मनुस्मृति में कहा गया है कि वेद-विहित नियमानुसार गर्भ से पहले अथवा तीसरे वर्ष में यह संस्कार सम्पन्न करना चाहिए। इसके अतिरिक्त अन्य स्थल भी द्रष्टव्य हैं।[73]

मनु के इस विशद् विवेचन के विपरीत याज्ञवल्क्य ने इन सबका अत्यन्त संक्षेपतः उल्लेख किया है।[74] याज्ञवल्क्य के इस संक्षिप्तीकरण के कारणों का निश्चित ज्ञान नहीं है। सम्भव है कि याज्ञवल्क्य के समय तक इन उपर्युक्त विषयों का महत्त्व उतना नहीं रह गया हो जितना मनु के समय में था। यह भी असम्भव नहीं है कि याज्ञवल्क्य को अन्य अनेक अधिक महत्त्वपूर्ण विषयों का विस्तृत विवेचन करना था, इसलिए उन्होंने गौण विषयों का उल्लेख मात्र ही किया हो।

याज्ञवल्क्यस्मृति में कहीं-कहीं मनुस्मृति का परिष्कार भी मिलता है। मनु का मन्तव्य है कि ब्राह्मण बालक का उपनयन-संस्कार गर्भ से आठवें वर्ष में करना चाहिए।[75] किन्तु याज्ञवल्क्य का विचार है कि गर्भ से आठवें अथवा जन्म से आठवें वर्ष में ब्राह्मण का उपनयन-संस्कार करना चाहिए।[76] मनु के विचार में यदि एक भी निर्लोभी साक्षी हो तो अधिक की अपेक्षा ठीक होता है।[77] याज्ञवल्क्य के अनुसार दोनों पक्ष स्वीकार करें तो धर्म को जानने वाला एक ही व्यक्ति साक्षी हो सकता है।[78] मनु की सम्मति है कि अनिच्छापूर्वक किया गया पाप वेदाभ्यास से नष्ट हो जाता है तथा राग-द्वेषादि, मोहवश एवं इच्छापूर्वक किया गया पाप अनेक प्रकार के प्रायश्चितों से नष्ट होता है।[79] किन्तु याज्ञवल्क्य की धारणा है कि निषिद्ध (लहसुन आदि) पदार्थ का जान-बूझकर भक्षण, कुटिलता, उत्कर्ष प्राप्ति के लिए असत्य भाषण और रजस्वला-स्त्री के मुख का चुम्बन ये सुरापान के समान ही होते हैं।[80]

स्वयोनि (सहोदर बहन), कुमारी, चाण्डाली, मित्र तथा पुत्र की स्त्री के साथ सम्भोग करना गुरु की भार्या के साथ सम्भोग करने के समान है।[81]

याज्ञवल्क्य का विचार है कि मित्र की भार्या, (उत्तम जाति की) अविवाहिता कन्या, भगिनी, चाण्डाली, समान गोत्र वाली स्त्री, पुत्रवधू, पिता की बहन (बुआ), माता, मामी, स्नुषा (पतोहू), सौतेली माता, बहन, आचार्य की पुत्री, आचार्य की पत्नी या अपनी पुत्री के साथ सम्भोग करने वाला गुरु-पत्नी-भोगी के समान होता है उसका लिंग काट कर बध कर देना चाहिए और यदि स्त्रियाँ स्वेच्छा से सम्भोग कराती हैं तो उनके लिए भी बध का दण्ड दिया जाना चाहिए।[82]

याज्ञवल्क्यस्मृति में मनुस्मृति के अनुवर्तन परिष्कार एवं संक्षिप्तीकरण आदि के अलावा कहीं-कहीं मनु से उनका सामान्य वैमत्य भी दीखता है। इस दृष्टि से ब्रह्महत्या तथा सुरापान के विषय अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। मनु का विचार है कि जाति श्रेष्ठता के लिए असत्य भाषण, राजा से (दूसरे के मृत्यु कारक) चुगलखोरी, गुरु से असत्य कहना—ये सब ब्रह्महत्या के समान हैं।[83] याज्ञवल्क्य ने भी इसी तरह का विचार व्यक्त किया है।[84] मनु पुनः कहते हैं कि पढ़े हुए वेद का विस्मरण (अभ्यास नहीं करने से), वेद की निन्दा करना (असत्-शास्त्र का आश्रय कर), साक्ष्य में असत्य कहना, मित्र की हत्या, निन्दित (लहसुन, प्याज आदि) तथा अभक्ष्य (मल-मूत्रादि) पदार्थों का भोजन—ये छः मद्यपान के समान हैं।[85] इसका समर्थन याज्ञवल्क्य ने भी किया है।[86]

याज्ञवल्क्यस्मृति में कहीं-कहीं मनुस्मृति से असामान्य मत वैभिन्नता भी दिखायी देती है। इसके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—मनुस्मृति में ब्राह्मण को शूद्र कन्या के साथ विवाह की अनुमति है।[87] याज्ञवल्क्य ने इसका घोर विरोध किया है।[88] मनुस्मृति में नियोग की निन्दा की गई है।[89] पर याज्ञवल्क्य में नहीं।[90] मनु ने विधवा के उत्तराधिकार के विषय में स्पष्टतया कुछ नहीं कहा है, किन्तु याज्ञवल्क्य ने विधवा को समस्त उत्तराधिकारियों में प्रथम स्थान दिया है और दाय के भाग पाने वालों का क्रमानुसार वर्गीकरण किया है। मनु ने द्यूत का विरोध किया है।[91] इसके विपरीत याज्ञवल्क्य ने उसे राज्य के नियंत्रण में रखकर उसे राज्य की आय का साधन बताया है।[92] मनु में मात्र दो प्रकार के दिव्य परीक्षाओं का उल्लेख है।[93] जबकि याज्ञवल्क्य में पाँच प्रकार के दिव्य-परीक्षाओं का उल्लेख हुआ है।[94]

याज्ञवल्क्य कतिपय अन्य विषयों के विवेचन में अधिक व्यवस्थित और नूतन सामग्री देते हैं। इस दृष्टि से न्यायालय में साक्षी के रूप में प्रस्तुत प्रमाण मुख्य है। मनु ने लेखगत प्रमाण को बिल्कुल भुला दिया है, यद्यपि मनुस्मृति में लेख-पत्रों का उल्लेख मिलता है।[95] न्यायालय में न्याय सम्बन्धी पद्धति के नियम में स्वत्व एवं मुक्ति के सिद्धान्त और नियम,[96] विनायक पूजा एवं ग्रहशान्ति का उल्लेख मनु ने नहीं किया है, किन्तु याज्ञवल्क्यस्मृति में इन सबका विस्तृत विवेचन मिलता है।[97] इनसे याज्ञवल्क्य-स्मृति के महत्त्व का ज्ञान होता है। मनु एवं याज्ञवल्क्यस्मृति की तुलनात्मक

विशेषताओं के विषय में वेबर ने यह कहा है कि जो विषय दोनों में पाये जाते हैं उनमें भी हम याज्ञवल्क्य में अधिक सूक्ष्मता और स्पष्टता पाते हैं और विशिष्ट उदाहरणों में, जहाँ दोनों में ठोस अन्तर दिखाई पड़ता है, याज्ञवल्क्य का दृष्टिकोण स्पष्टत: बाद के समय का है।[98]

यज्ञावल्क्यस्मृति के महत्त्व के विषय में पी०वी० काणे ने लिखा है कि याज्ञवल्क्यस्मृति मनुस्मृति से अधिक सुगठित हैं। याज्ञवल्क्य ने सम्पूर्ण स्मृति को तीन भागों में विभक्त कर विषयों को उनके उचित स्थान पर रखा है। व्यर्थ का पुनरुक्ति-दोष नहीं आने दिया है। दोनों स्मृतियों के विषय अधिकांशत: एक ही हैं, किन्तु याज्ञवल्क्यस्मृति अपेक्षाकृत संक्षिप्त है। मनुस्मृति के 2700 श्लोकों के विपरीत याज्ञवल्क्य में केवल लगभग एक हजार श्लोक हैं। मनु के दो श्लोक याज्ञवल्क्य के एक श्लोक के बराबर हैं। लगता है जब याज्ञवल्क्य अपनी स्मृति का प्रणयन कर रहे थे तो मनुस्मृति की प्रति उनके सामने थी, इसी कारण दोनों स्मृतियों में कहीं-कहीं शब्द साम्य भी पाया जाता है।[99]

इस प्रकार याज्ञवल्क्यस्मृति का महत्त्व विषय-विन्यास की दृष्टि से भी अधिक है। अल्प शब्दों में अधिक अर्थ की अभिव्यंजना कराना इसकी विशेषता है। इसकी तुलना में मनुस्मृति का विषय-विन्यास स्पष्ट होने के बावजूद भी संकीर्ण है। जायसवाल के मतानुसार यह विशुद्धत: वैज्ञानिक-ग्रंथ है तथा लेखक के वैज्ञानिक और पक्षपात-रहित दृष्टिकोण के कारण इस ग्रंथ को सम्पूर्ण भारत में मान्यता प्राप्त हुई।[100]

याज्ञवल्क्यस्मृति की रचना विशेष रूप से व्यावहारिकता की दृष्टि से की गई है और मुसलमानों के आगमन से पूर्व देश के अधिकांश भाग में राजकीय कानूनों का आधार इसी ग्रन्थ को माना जाता था। मुसलमानों और अंग्रेजों के शासन काल में भी हिन्दू समाज के दाय-विभाग सम्बन्धी अभियोगों का निर्णय इसी के अनुसार होता था और इसके लिए इसकी "मिताक्षरा-टीका" अधिक प्रमाणिक मानी जाती थी। प्राचीन भारतीय सभ्यता के विकास में मनु एवं याज्ञवल्क्यस्मृतियों तथा महाभारत आदि का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।[101]

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि याज्ञवल्क्यस्मृति स्वयं में एक सम्पूर्ण धर्म-संहिता है, जिसमें विभिन्न सामाजिक वर्गों एवं घटकों के लिए निर्देश दिये गये हैं। इनमें से बहुत से निर्देश वर्तमान हिन्दू-परम्परा में लागू भी हैं। इस प्रकार याज्ञवल्क्य-स्मृति एक जीवन्त कृति है। जिसका महत्त्व वर्तमान हिन्दू समाज की दृष्टि से कम नहीं है।

संदर्भ एवं टिप्पणियां

1. आप्टे, संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० 1153 ।
2. तैत्तिरीय आरण्यक, 1-2 ।
3. वसिष्ठ धर्मसूत्र, 1-4-6 ।
4. याज्ञवल्क्यस्मृति, (अनु० उमेशचन्द्र पाण्डेय), पृ० 27 ।
5. अल्फ्रेक्ट बेवर, भारतीय साहित्य, (अनु० उमेशचन्द्र पाण्डेय), इलाहाबाद, 1968), पृ० 11 ।
6. गौतम०, 1-2; 1-1-3 ।
7. श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयों धर्मशास्त्र तु वे स्मृतिः । मनु०, 2-10 ।
   मनु ने "स्मृति" शब्द को धर्मशास्त्र के पर्याय में रखकर उसका क्षेत्र संकुचित कर दिया । तैत्तिरीय आरण्यक (1-2) एवं पूर्व मीमांसा 6-8-23; 12-4-24 में, "स्मृति" शब्द कुछ व्यापक अर्थ में आया है । वेदान्त-सूत्र में भी "स्मृति" का व्यापक अर्थ लेते हुए उसमें सांख्यदर्शन को भी ग्रहण किया गया है । वेदान्तसूत्र, 2-3-47; 3-1-14-21; 4-2-14 ।
8. पी० वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-1, पृ० 40 ।
9. याज्ञ०, 1/4-5 ।
10. पी० वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-1, पृ० 41 ।
11. वही ।
12. मार्कण्डेयस्मृति, स्मृतिसंदर्भ, (कलकत्ता), भाग-6, पृ० 63 ।
13. इन्ट्रोडक्शन टु द बृहस्पतिस्मृति, पृ० 88, फुटनोट ।
14. याज्ञ० स्मृ०, 1/4-5; तथा वी०मि०, परिभाषा प्रकाश, पृ० 16 ।
15. भारद्वाजस्मृति, 1/3-5 ।
16. पराशरस्मृति, 1/12-16 ।
17. स्मृति-चन्द्रिका, पृ० 1, वीरमित्रोदय परिभाषाप्रकाश, पृ० 15 ।
18. गरुड़पुराण, 93/4-6 ।
19. अग्निपुराण, 162, 1-2 ।
20. पी० वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-1, पृ० 41 ।
21. अष्टशीति सहस्राणि मुनयो गृहमेधिनः ।
   पुनरावर्त्तिनो बीज-भूताः धर्म-प्रवर्त्तकाः ।। स्मृति-मुक्ताफल, पृ० 8 ।
22. शतपथब्राह्मण, 14/9/4-33 ।
23. बृहदारण्यक उपनिषद्, अध्याय 3 ।
24. याज्ञ० (अनु०, उमेशचन्द्र पाण्डेय), पृ० 34 ।
25. याज्ञ०, मिताक्षरा, 1-1 ।

26. बेनीप्रसाद, थियरी ऑफ गवर्नमेंट इन ऐंसियन्ट इण्डिया, पृ० 173।
27. याज्ञ०, 1/2।
28. जायसवाल, मनु एण्ड याज्ञवल्क्य, (1930), पृ० 61।
29. याज्ञ०, 1/271-308।
30. वही, 1/198-216; 1/319-320।
31. वही, 1/273।
32. वही, 1/59, 68-69; 2/95-113; 3/75-108; मनु० 8/114; 3/13, 9/59-68; जायसवाल मनु एण्ड याज्ञवल्क्य, पृ० 59।
33. भारतीय साहित्य, पृ० 278।
34. पी०पी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग—1, पृ० 51।
35. महाभारत, शान्तिपर्व, 312 अध्याय।
36. शतपथब्राह्मण, 14/9/4/33।
37. भागवत; 10/6/61-74।
38. पी०वी काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग—1, पृ० 50।
39. बृहदारण्यकोपनिषद् 3/1/1-2।
40. ज्ञेयं चारण्यकमहं यदादित्यादवाप्तवान्।
योग-शास्त्रंच मत्प्रोक्तं ज्ञेयं योगमभीप्सता॥ याज्ञ०, 3/110।
41. याज्ञवल्क्यशिष्यः कश्चित्प्रश्नोत्तररूपं याज्ञवल्क्यमुनिप्रणीतं धर्मशास्त्रम् सक्षिप्य कथयामास। याज्ञ०, 1/1 पर मिताक्षरा।
42. राधा कुमुद मुकर्जी, हिन्दू सभ्यता, (अनु०, अग्रवाल), पृ० 186।
43. पी०वी० काणे, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, भाग-1 पृ० 169।
44. अस्याश्च संहितायाः याज्ञवल्क्यः प्रणेतेति व्याख्या तृणां स्मृतिरेव प्रमाणम्। —अपरार्क, 1/1
45. पी०वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-1, पृ० 183।
46. वही, पृ० 183।
47. शिवाजी सिंह, इवाल्यूशन ऑफ दि स्मृति लॉ, पृ० 40।
48. याज्ञ०, 1/296।
49. जाकोबी, जीतस्क्रिफ्ट डेर ड्यूत्सेन मार्जेन लैन्डिचेन गैसेल्स कैफ्ट, पेज 306 एफ०एफ०।
50. याज्ञवल्क्य०, पहला अध्याय, पृ० 80; जॉली, पूर्वलिखित कृति, पृ० 43।
51. याज्ञ० 2/240-241।
52. शिवाजी सिंह, पूर्वलिखित कृति, पृ० 41।

53. पी०वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-1, पृ० 187।
54. वही पृ० 185।
55. के०पी०जायसवाल, मनु एण्ड याज्ञवल्क्य, पृ० 59-60।
56. लक्ष्मीदत्त ठाकुर, प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन, पृ० 32-33।
57. वही, पृ० 33।
58. पी०वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-1, पृ० 184।
59. वेदार्थ-प्रतिबद्धत्वात प्रमाण्यन्तु मनोः स्मृतम्।
मन्वर्थ-विपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते ॥ वृ०स्मृ०सं०, श्लो० 13।
60. मनु०, 2/12-13।
61. याज्ञ०, 1/7।
62. गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम् ॥ मनु०, 2-36।
63. वही, 2/37।
64. वही, 2/39।
65. गर्भाष्टमेऽष्टमे वाऽब्दे ब्राह्मणस्योपनायनम् ॥ याज्ञ०, 1/14,37।
66. अत ऊर्ध्वं पतन्त्येते सर्व धर्म-बहिष्कृताः।
सावित्रीपतिताः व्रात्याः व्रात्यस्तोमादृते क्रतोः ॥ याज्ञ०, 1/38।
67. मनु०, 7/99-100।
68. अलब्धमी हेद्धर्मेण लब्धं यत्नेन पालयेत्।
पालित वर्धयेन्नीत्या वृद्धं पालेषु निक्षिपेत् ॥ याज्ञ०, 1/317।
69. मनु०, 2/29।
70. वही, 2/30-31।
71. वही, 2/34।
72. वही, 2/35, 3/15, 17, 114, 116।
73. याज्ञ०, 1/11-12, 1/56,105।
74. मनु०, 2/36।
75. याज्ञ०, 1-14।
76. मनु०, 8/77।
77. याज्ञ०, 2/72।
78. मनु०, 11/46।
79. याज्ञ०, 3/226।
80. मनु०, 11/58।
81. याज्ञ०, 3/231-33।
82. मनु०, 11/55।
83. याज्ञ०, 3/229।

84. मनु०, 11/56।
85. याज्ञ०, 3/228।
86. मनु०, 3/13।
87. याज्ञ०, 1/59।
88. मनु०, 9/59,68।
89. याज्ञ०, 1/68-69।
90. मनु०, 9/224-26।
91. याज्ञ०, 2/203।
92. मनु०, 8/114।
93. याज्ञ०. 2/95-113।
94. मनु०, 8/51-52।
95. मनु०, 8/53-56; याज्ञ० 2/5-11, 16-21।
96. मनु०, 9/44-54, याज्ञ०, 2/24-29।
97. याज्ञ०, 1/27-30।
98. अनु०, उमेशचन्द्र पाण्डेय, भारतीय साहित्य, पृ० 278।
99. पी०वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, हिन्दी अनुवाद, भाग 1, पृ० 51।
100. के०पी० जायसवाल, मनु एण्ड याज्ञवल्क्य, पृ० 61।
101. यू० एन० घोषाल, ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन पोलिटिकल ऐडियाज, (आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी, 1959), पृ० 157।
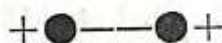
द्वितीय अध्याय

सामाजिक-स्थिति

वर्ण एवं जाति-व्यवस्था

प्राचीन भारतीय समाज वर्ण एवं जाति में विभाजित था। समाज का यह विभाजन सामाजिक (वंश-परम्परा तथा रीति-रिवाजों के कारण), आर्थिक (आजीविका की दृष्टि से), राजनीतिक, धार्मिक एवं भौगोलिक परिस्थितियों का परिणाम था। धर्मशास्त्रों से जाति व्यवस्था के कुछ विशिष्ट गुणों की सूचना मिलती है। इन्हीं गुणों के परिणामस्वरूप एक जाति दूसरी से भिन्न आचरण करती हुई पाई गई है। वे गुण हैं—वंश परम्परा, जाति के भीतर ही विवाह करना एवं एक ही गोत्र या कुल विशिष्ट में विवाह न करना, भोजन-पान सम्बन्धी निषेध, व्यवसाय (आजीविका के आधार पर जाति-व्यवस्था), एवं जाति श्रेणियां या कुछ उच्च और कुछ निम्न इत्यादि।[1] जाति-व्यवस्था की विशेषताओं पर आधुनिक समाजशास्त्र के विद्वानों के विचार भी धर्मशास्त्रीय विवेचना से मिलते-जुलते हैं। उनका विचार है कि जाति कुटुम्बों का वह समूह है जिनका अपना एक निजी नाम है और जिसकी सदस्यता पैतृकता के आधार पर निर्धारित होती है। कुटुम्ब इस जाति के भीतर ही विवाह करते हैं और जिसका या तो अपना निजी पेशा होता है अथवा जो अपना उद्भव किसी पौराणिक देवता या पुरुष से सम्बद्ध मानते हैं।[2]

काणे ने वर्ण एवं जाति में अन्तर बताते हुए लिखा है कि वर्ण की धारणा मूलतः वंश, संस्कृति, चरित्र, स्वभाव एवं व्यवसाय पर आधारित है, जबकि जाति व्यवस्था जन्म एवं आनुवंशिकता पर बल देती है और बिना कर्तव्यों का विश्लेषण किये केवल विशेषाधिकारों पर ही आधारित है।[3] अतः मौलिक रूप से वर्ण और जाति के अर्थ में अन्तर है।

प्राचीन भारतीय समाज में चार वर्ण थे—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र। इन वर्णों की उत्पत्ति पर याज्ञवल्क्यस्मृति में विचार किया गया है। इस सन्दर्भ में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र की उत्पत्ति क्रमशः आदिदेव के मुख, बाहु, उरु और पैरों से बताई गई है।[4] ऐसा ही उल्लेख मनु ने भी किया है।[5] वर्णों की उत्पत्ति विषयक प्रथम उल्लेख ऋग्वेद[6] में आया है। अन्य ब्राह्मण-ग्रन्थ भी इसी को दुहराते हैं।[7] याज्ञवल्क्य इन चारों वर्णों के अतिरिक्त कोई पाँचवां वर्ण नहीं मानते हैं।[8]

वर्णोत्पत्ति सम्बन्धी याज्ञवल्क्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन पुराणों में कुछ परिवर्तन के साथ हुआ है। विष्णुपुराण के अनुसार भगवान विष्णु के मुख, भुजा, जंघा

तथा पैर से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र की उत्पत्ति हुई।[9] मत्स्यपुराण में भी इसी तरह का उल्लेख है।[10]

भारतीय समाज पर धर्म या धार्मिक-दृष्टिकोण के प्रभाव के फलस्वरूप ही वर्ण के विकासक्रम को महत्त्व देकर उसकी दैवी-उत्पत्ति की ही कल्पना को समय-समय पर दुहराया जाता रहा। धर्म का समाज पर यह प्रभाव इतना गहरा था कि जैन आदि पुराण में भी प्रथम तीर्थंकर द्वारा वर्णों की स्थापना की कल्पना की गई।[11]

उपर्युक्त विवेचना से ज्ञात होता है कि वर्णों की दैवी उत्पत्ति ही सर्वमान्य थी।

वर्ण-धर्म

याज्ञवल्क्यस्मृति में वैदिक-परम्परा के अनुसार ही वर्ण-विभाजन किया गया है। वर्णों के विभाजन का आधार उनका गुण एवं कर्म था सभी वर्णों का धर्म एक-दूसरे से भिन्न था। सम्बद्ध वर्ण के लोग इसी स्वधर्म का पालन करते थे। याज्ञवल्क्य ने तो यहां तक कहा है कि स्वधर्म से भ्रष्ट होने वालों को राजा दण्ड देकर पुनः स्वधर्म पालन के लिए बाध्य करे।[12] मनु के अनुसार स्वधर्म का परित्याग कर दूसरे के धर्म को करने वाला व्यक्ति स्ववर्ण से च्युत हो जाता है।[13] महाभारत के अनुसार जो अपने धर्म पर निर्भर हैं, वे ही वस्तुतः धार्मिक हैं।[14] सम्यक् रूप से अपने कर्म में लगे रहने पर व्यक्ति को सिद्धि मिलती है।[15] अतः स्वधर्म पालन श्रेयस्कर माना जाता था।

वर्ण-व्यवस्था भारतीय समाज-व्यवस्था का मूल है। वे जो अपने वर्ण-धर्म का पालन नहीं करते उन्हें भारतीय समाजशास्त्री वर्णद्रोही या समाजद्रोही के रूप में देखते हैं इसीलिए राजा द्वारा याज्ञवल्क्य ने ऐसे द्रोहियों को दण्ड देने का विधान किया है। स्वधर्म पालन से होने वाले पारलौकिक लाभ का लालच भी दिखाया गया। इस प्रकार प्राचीन समाजशास्त्री समाज की ब्राह्मण-व्यवस्था को बनाए रखने का प्रयास निरन्तर करते रहे हैं।

सामान्य-धर्म

सामान्य धर्म वह धर्म है जो देश, काल व पात्र के परिवर्तित होने पर भी अपरिवर्तित रहता है। याज्ञवल्क्य के सामान्य-धर्म में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, पवित्रता, इन्द्रिय-संयम, दान, दया (दुःखियों पर), धैर्य, लज्जा, विवेक, दम (मदत्याग) और विद्या आदि आते हैं। इन्हें वे धर्म के लक्षण मानते हैं।[16] मनु[17] और कौटिल्य[18] के विचार भी ऐसे ही हैं। महाभारत के अनुसार क्रोध न करना, सत्य बोलना, बांटकर उपभोग करना, क्षमाशील होना, स्वभार्या से पुत्र उत्पन्न करना, पवित्र रहना, धोखा न देना, विनम्र रहना, भृत्यों का भरण करना आदि सभी वर्णों के उपयुक्त धर्म हैं।[19]

इससे लगता है कि सामान्य धर्म का निर्देश सभी वर्णों के लिए था। यह

समाज के नैतिक मूल्यों पर आधारित था। इनका उद्देश्य मनुष्य में सद्गुण के विकास द्वारा मानव समाज का कल्याण था।

विशिष्ट धर्म

विशिष्ट धर्म देश, काल व पात्र के अनुरूप परिवर्तित होता रहता है। इसका अ.धार गुण एवं कर्म है। सत्व, रज एवं तम गुणों से चारों वर्णों की सृष्टि भी मानी गई है।[20] ये सभी गुण एक दूसरे से भिन्न हैं। इसलिए यह स्वाभाविक है कि इन वर्णों के स्वधर्म भी एक दूसरे से भिन्न होंगे। स्वधर्म के पालन में मनुष्य स्वयं को समाज के लिए उपयोगी बनाता है और समाज विरुद्ध कार्य करने में अक्षम होता है।

ब्राह्मण—वैदिक काल से ही भारतीय समाज में ब्राह्मणों को श्रेष्ठ माना गया है। याज्ञवल्क्य के समय में भी उनकी यह श्रेष्ठता बनी रही।[21] वे पठन-पाठन के साथ दान लेना, दान देना तथा यज्ञ, हवन आदि कार्य करते थे।[22] अन्य धर्मग्रन्थों में भी ऐसे उल्लेख मिलते हैं।[23] ब्राह्मण का यही सामान्य धर्म था, किन्तु इन सामान्य धर्म का पालन ब्राह्मण वर्ग के कितने प्रतिशत सदस्य करते थे, कहना कठिन है। फिर भी पठन-पाठन एवं धर्म-कार्य में ब्राह्मण ही अग्रणी थे। राजदरबार में भी उनका महत्त्वपूर्ण स्थान था। वे सचिव आदि उच्च पदों पर नियुक्त किए जाते थे।[24] श्राद्ध के बाद मृतक की शान्ति के लिए ब्राह्मणों को भोजन कराकर उन्हें दक्षिणा दी जाती थी।[25] विशिष्ट ब्राह्मणों को दान देने की भी प्रथा थी।[26] स्वयं ब्राह्मण वेद का दान करता था जो सब प्रकार के दानों में श्रेष्ठ स्वीकृत था।[27]

ब्राह्मण अबध्य, अबन्ध्य, अदण्ड्य, अबहिष्कार्य एवं अपरिवाद्य थे। किन्तु यह नियम सम्भवत: वेदशास्त्रज्ञ सदाचारी ब्राह्मण के लिए ही था, सम्पूर्ण वर्ण के लिए नहीं।[28] इसके अतिरिक्त ऐसे ब्राह्मण भी मात्र प्रथम अपराध के अवसर पर ही मुक्ति प्राप्त कर सकते थे। अपराध की पुनरावृत्ति होने पर उसे सामान्य नागरिक की तरह ही दण्ड का भागीदार होना पड़ता था।[29] इंग्लैण्ड और अन्य पश्चिमी देशों में क्लर्जी आदि धार्मिक पुरुषों को भी ब्राह्मणों जैसी सुविधाएँ प्राप्त थीं।[30] प्राचीन काल में तपे लोहे से दागना एवं निष्कासित कर देना ही ब्राह्मणों के लिए सबसे बड़ा दण्ड था।[31]

याज्ञवल्क्य-स्मृति के इन उल्लेखों की पुष्टि अन्य साक्ष्यों से भी होती है।

क्षत्रिय—याज्ञवल्क्य-स्मृति में क्षत्रियों की उत्पत्ति आदिदेव के भुजाओं से मानी गयी है। भुजा शक्ति, साहस एवं बल की द्योतक है। जैसे भुजा शरीर की रक्षा करती है वैसे ही समाज रूपी शरीर की रक्षा क्षत्रिय या राजन्य करते हैं। ये शक्ति के परिचायक हैं। समाज में जो लोग युद्ध से राष्ट्र एवं समाज की रक्षा एवं प्रशासनिक कार्य करते थे वे क्षत्रिय माने गये। इन्हें रजोगुण सम्पन्न माना जाता था। याज्ञवल्क्य

के अनुसार प्रजा पालन क्षत्रिय का मुख्य धर्म था। यज्ञ करना, दान देना तथा वेद का अध्ययन करना उनका सामान्य-धर्म था।[32] अन्य धर्मग्रन्थों से भी इसका समर्थन होता है।[33]

प्राचीन भारतीय समाजशास्त्रियों ने जो आदर्श समाज की व्यवस्था दी है उसके अनुसार केवल क्षत्रिय ही सामान्यतः शासन एवं रक्षण कार्य कर सकते थे। पर इस सैद्धान्तिक व्यवस्था का व्यवहार रूप में किस हद तक पालन होता था कहना कठिन है। ब्राह्मण राजवंशों के अतिरिक्त कम से कम कुछ क्षत्रियेतर राजवंश भी प्राचीन भारत में हुए हैं। फलतः यह कहा जा सकता है कि सैद्धान्तिक व्यवस्था जो भी रही हो इसके अपवाद सम्भवतः हर युग में रहे होंगे। यह असम्भव नहीं है कि क्षत्रिय वर्ण का अधिकांश सैन्य सेवा में एवं शेष प्रशासन की विभिन्न स्तरीय इकाइयों से सम्बन्धित रहा हो।

ऋग्वेद में राजन् शब्द का उल्लेख आता है।[34] यहाँ राजन् का अभिप्राय राजा से है। काणे का विचार है कि वैदिक काल में प्रायः क्षत्रिय ही राजा होते थे।[35] ऐतरेयब्राह्मण से इस बात की सूचना मिलती है कि जब एक राजा को मुकुट पहना दिया जाता है तो यही समझा जाता है कि एक क्षत्रिय सबका अधिपति, ब्राह्मणों एवं धर्म की रक्षा करने वाला उत्पन्न हो गया है।[36] याज्ञवल्क्य की सम्मति है कि युद्ध में अपहृत धन को ब्राह्मणों एवं प्रजा में बाँटना राजा का महत्वपूर्ण कर्तव्य था।[37] गौतम धर्मसूत्र के अनुसार क्षत्रिय का मुख्य धर्म समस्त प्राणियों की रक्षा तथा न्यायोचित दण्ड देना है।[38] क्षत्रिय का रक्षा एवं पालन सम्बन्धी कार्य परवर्ती साहित्य से भी स्पष्ट है।[39]

वैश्य—वैश्य रजोगुण एवं तमोगुण सम्पन्न माने जाते थे। वैश्य कृषि एवं व्यापार-वाणिज्य के द्वारा समाज को समृद्ध बनाए रखने में योगदान देते थे। याज्ञवल्क्य का मन्तव्य है कि यज्ञ करना, अध्ययन (वेद विद्या का), दान देना, ब्याज लेना, कृषि-वाणिज्य और पशुपालन वैश्य का धर्म था।[40] मनु का भी ऐसा ही मन्तव्य है।[41] अन्य धर्मग्रन्थों में भी इसी तरह के विचार उपलब्ध हैं।[42]

व्यापार-वाणिज्य के साथ-साथ पराशर ने वैश्य के लिए ऋण पर ब्याज लेना भी उनकी वृत्ति में जोड़ दिया है।[43] ह्वेनसांग के समय में वैश्य का मुख्य पेशा व्यवसाय ही था।[44] याज्ञवल्क्य के समय में भी सम्भवतः व्यापार इनके प्रमुख पेशों में से था।[45] वैश्य सामाजिक सम्पन्नता के मूल थे। फिर भी समाज में उनकी स्थिति अच्छी नहीं थी लेकिन उनकी स्थिति ब्राह्मण एवं क्षत्रिय की तुलना में ही हीन थी।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि वैश्य-वर्ण का मुख्य धर्म कृषि, वाणिज्य

पशुपालन तथा महाजनी का पेशा था। उनके सामान्य धर्म के अन्तर्गत यज्ञ करना, अध्ययन करना, दान आदि कर्म भी आते थे।

शूद्र—भारतीय सामाजिक संगठन का चौथा वर्ण शूद्रों का था। शूद्र तमोगुण प्रधान माना जाता था। याज्ञवल्क्यानुसार शूद्र ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की सेवा करते थे।[46] शूद्र के सारे क्रिया-संस्कार वैदिक-मंत्रों के बिना होते थे।[47] वे द्विजातियों के समान अपनी भार्या में रत रहते थे। भृत्यों का पालन-पोषण करते थे, श्राद्ध-कर्म तथा केवल नामत: पूर्वक पंचमहायज्ञों को सम्पादित करते थे।[48] शूद्र का विशिष्ट कर्तव्य प्रथम तीन वर्णों की सेवा करना एवं उनसे भरण-पोषण पाना था।[49] मनुस्मृति से ज्ञात होता है कि शूद्र अपने स्वामी के छोड़े व पुराने वस्त्र, छाता, चप्पल और चटाई आदि का प्रयोग करता था तथा स्वामी का त्यक्त उच्छिष्ट भोजन करता था।[50] शूद्र की सामाजिक स्थिति में बहुत फेर बदल नहीं हुआ। अल्बीरुनी के अनुसार 11वीं सदी में समाज में शूद्रों की स्थिति अच्छी नहीं थी तथा वे वेदाध्ययन नहीं कर सकते थे।[51] कृषि कार्य उनके लिए वर्जित था। कृषि करने वाले शूद्र को चोरी करने वाले अपराधों के समान माना जाता था।[52] शूद्र की स्थिति आज भी शोचनीय है।

कुछ परिवर्तनों के साथ आज भी शूद्र उच्च जातियों की सेवा करते हैं। गाँवों में आज भी नाई, धोबी, चमार, कोहार, केवट आदि जाति के लोग उच्चवर्ग की सेवा में लगे हैं। इसके बदले उन्हें रुपया-अनाज, भोजन-वस्त्र आदि दिया जाता है किन्तु वे किसी प्रकार से अन्य क्षेत्रों में प्रतिबन्धित नहीं हैं। उन्हें भारतीय संविधान से सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक गतिविधि का समान अधिकार प्राप्त है। फिर भी वे अभी तक पूर्णतया विकसित नहीं हो पाये हैं।

आपद्धर्म

यद्यपि हिन्दू धर्म में सभी व्यक्तियों के लिए सामान्य एवं विशेष दोनों प्रकार के धर्म का प्रतिपादन है तथापि आचार्य इस बारे में एकमत हैं कि आपत्ति-काल में इनका पालन न करने पर भी मनुष्य को दोष नहीं लगता। मनुष्य के जीवन में रोग, शोक, विपत्ति और धर्म संकट की स्थितियां आये दिन उत्पन्न होती रहती हैं। इन विशिष्ट परिस्थितियों में आपद्धर्म का पालन कर सकता है। ऐसी स्थिति में वर्ण-विशेष के सदस्य निम्न-वर्ण के धर्म को भी अपना सकते हैं।

ब्राह्मण—याज्ञवल्क्य के मत में आपत्काल में ब्राह्मण अपनी जीविका चलाने के लिए क्षत्रिय या वैश्य के कर्म अपना सकता है। व्यक्ति को चाहिए कि आपत्काल व्यतीत हो जाने पर प्रायश्चित्त करके पुन: अपने वर्ण की वृत्ति अपनाये।[53] मनु ने भी इसका समर्थन किया है।[54]

वैश्य-वृत्ति अपनाने वाले ब्राह्मण के लिए—फल, उफल, सूत से बना वस्त्र, सोमलता, मनुष्य, पूजा, तिल, ओदन, रस, क्षार, दही, दूध, घी, शस्त्र, आशव, जूठा

मद्य, मधु, लाख, कुश, मिट्टी, चमड़ा, पुष्प, कुतप, केश, तक्र, विष, कौशेयवस्त्र, नील, मांस, एक खुर वाले पशु, औषधि, गन्ध आदि वस्तुओं का विक्रय निषिद्ध था।[55] यद्यपि तिल के बराबर धान्य लेकर तिल का विक्रय करना उचित माना जाता था।[56] कृषि करने वाले ब्राह्मण तिल का उत्पादन करके उसे अन्य पदार्थों के साथ मिलाकर यज्ञ आदि धार्मिक कार्य के लिए कुछ समय के लिए इसे बेच सकते थे।[57] तिल-विक्रेता पितृ गणों के साथ कीड़ा होकर कुत्ते की विष्ठा में गिरता है।[58] याज्ञवल्क्य के अनुसार निषिद्ध वस्तुओं का विक्रेता निम्न वर्ण का हो जाता है।[59] आपत्काल में ब्राह्मण दान एवं अन्न सबसे ग्रहण कर सकता था। ब्राह्मण अग्नि एवं सूर्य के समान तेजस्वी होता है।[60] इसलिए वह सभी पापों को जला देता है।

याज्ञवल्क्य ने आपत्ति-काल में ब्राह्मणों की जीविका के प्रमुख साधनों का उल्लेख किया है। याज्ञवल्क्य ने उन्हें कृषि, शिल्प, भृत्ति (मजदूरी), वेतन लेकर पढ़ाना, ब्याज लेना, भाड़े पर गाड़ी चलाना, पर्वत, सेवा, अनूप, राजा तथा भिक्षा आदि द्वारा अपनी जीविका चलाने की अनुमति दी है।[61] कुछ विचारकों के अनुसार आपत्काल में ब्राह्मण अपने धर्मों के अतिरिक्त शूद्र-वृत्ति भी कर सकता है। लेकिन ऐसी स्थिति में भी वह शूद्रों के साथ भोजन और चौका-बरतन नहीं कर सकता था। वर्जित भोज्य-सामग्री का भी प्रयोग उसके लिए निषिद्ध था।[62]

आपत्ति के समय ब्राह्मण क्षात्रवृत्ति (क्षत्रिय-कर्म) भी करने को स्वतन्त्र थे। पाणिनि ने "ब्राह्मणक'- शब्द की व्याख्या में लिखा है कि यह उस देश के लिए प्रयुक्त होता है जहाँ ब्राह्मण आयुध अर्थात् अस्त्र-शस्त्र की वृत्ति करते हैं।[63] कौटिल्य ने ब्राह्मणों को सैनिक-सेवा के अयोग्य बताया है और यह भी कहा है कि शत्रु ब्राह्मणों के पैर पर गिरकर उन्हें अपनी ओर मिला सकता है।[64]

द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, कृपाचार्य आदि वीर-ब्राह्मण थे। ब्राह्मण सेनापति होने के साथ ही राजकुल स्थापकों में भी रहे हैं। सेनापति पुष्यमित्र शुंग ब्राह्मण था जिसने 184 ईसा पूर्व में अन्तिम मौर्य राजा वृहद्रथ से राज्य छीन लिया था। शुंगों के उपरान्त काण्वायनों ने राज्य किया, जिनका संस्थापक वासुदेव नामक ब्राह्मण था जो अन्तिम शुंग राजा का मंत्री था।[65] इस प्रकार ब्राह्मण मन्त्री तथा सेनापति के ऊँचे पद को भी सुशोभित करता था।[66] सेना में मृत्यु हो जाने पर ब्राह्मण के परिवार को राजा 'मृत्यु-वृत्ति' देता था।[67]

क्षत्रिय—क्षत्रिय आपत्तिकाल में वैश्य का धर्म अपना सकता है।[68] याज्ञवल्क्य ने भी इसका समर्थन किया है।[69] गौतम का विचार है कि क्षत्रिय लोग वैश्य-वृत्ति कर सकते हैं।[70] किन्तु आपत्ति काल में भी क्षत्रिय ब्राह्मण वृत्ति नहीं कर सकते थे।[71] लोभवश यदि नीच वर्ण वाला व्यक्ति अपने से उच्च वर्ण की वृत्ति को अपना कर जीवन निर्वाह करता, तो राजा को निर्देश था कि ऐसे व्यक्ति की सम्पत्ति छीनकर और उसे दरिद्र बनाकर राज्य से निर्वासित कर दे।[72] आपत्ति-काल में क्षत्रिय भी

अपनी वृत्ति का त्याग कर सकते थे। परशुराम के भय से द्रविड़, आभीर, पुण्ड्र, शबर आदि क्षत्रियों ने स्वेच्छा से शूद्रत्व का वरण कर लिया था।[73]

इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के धर्म को अपनाकर अपना निर्वाह कर सकता था किन्तु ब्राह्मण धर्म की वृत्ति नहीं अपना सकता था।

वैश्य—वैश्य यदि आपत्ति-काल में वैश्य-वृत्ति से जीवन-निर्वाह न कर सके तो उसे शूद्रवृत्ति अपनाने की अनुमति थी। उसे द्विजातियों की सेवा और जूठन आदि बिना खाए शूद्र-वृत्ति से जीवन-निर्वाह करना चाहिए। आपत्ति-काल के समाप्त हो जाने पर उसे शूद्र-कर्म को छोड़ देना चाहिए।[74]

दूसरे की गाय का पालन करने पर शुल्क-स्वरूप प्रति 6 गाय पर एक गाय का दूध उसे मिलना चाहिए, सौ गौओं की रखवाली करने से वार्षिक वेतन-स्वरूप उसे एक गाय व एक बैल मिलना चाहिए।[75] इसी प्रकार कृषि में भूस्वामी से एक वर्ष के पारिश्रमिक-स्वरूप उसे उत्पन्न फसल का सप्तमांश लेने का नियम था।[76]

शूद्र—शूद्र के लिए द्विजातियों की सेवा ही मुख्य कर्म है। इससे जीविका न चलने पर उसे वणिक-वृत्ति का आश्रय लेना चाहिए। द्विजातियों के अनुकूल आचरण करते हुए अनेक प्रकार के शिल्पों द्वारा जीवन-निर्वाह करना चाहिए।[77] अपनी ही भार्या में रत रहे, पवित्र रहे, भृत्यों का पालन-पोषण करना चाहिए। श्राद्ध-कर्म करते हुए नमस्कार के मन्त्र के साथ पच-महायज्ञों को करना चाहिए।[78]

सेवा कार्य करने में असमर्थ स्त्री एवं बच्चों आदि के भरण-पोषण के लिए सूप आदि बनाकर शूद्र को जीवन-निर्वाह करना चाहिए।[79] महाभारत से इसका समर्थन होता है। सेवा के अलावा भी शूद्र की जीविका का साधन रहा होगा। पर यह कहीं भी स्पष्ट नहीं है कि यह साधन क्या था? निर्दिष्ट है कि अगर शूद्र की कोई पैतृकवृत्ति न हो तो वह किसी दूसरे की वृत्ति ग्रहण न करके सुश्रूषा ही में लगा रहे।[80] इससे अनुमान होता है कि शूद्र सेवा के अतिरिक्त कार्य भी करते थे किन्तु उच्च वर्गों के विचारकों की दृष्टि में सेवा ही उनके लिए श्रेष्ठ पेशा था।[81]

कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि सेवा से भरण-पोषण करने में असमर्थ शूद्र वैश्य के व्यवसाय को भी अपना सकता था।[82]

जाति-व्यवस्था

भारतीय जाति-व्यवस्था सामाजिक संगठन का सामान्य रूप है, जो हिन्दू-समाज को समूहों में विभक्त करता है, जिसके स्तर, व्यवहार और आचरण में सम्यक् अन्तर है। यद्यपि इसके विकसित होने में सैकड़ों वर्ष लगे हैं तथापि समय-समय पर होने वाले परिवर्तन, विदेशी-आक्रमण, विभिन्न व्यावसायिक गतिविधियां तथा वर्ण-विरुद्ध विवाह आदि अनेक तत्वों ने इसके विस्तार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी

है। याज्ञवल्क्य ने विवाह द्वारा नवीन जातियों के उत्कर्ष के साथ ही परिस्थिति विशेष में उत्पन्न बालक किस जाति का समझा जायेगा, इस पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है।

याज्ञवल्क्य द्वारा बतायी गयी विभिन्न जातियों को दो भागों में बांटा जा सकता है—

1. अनुलोमज जातियाँ

अनुलोमज विवाह छः प्रकार के होते हैं। इनसे छः प्रकार की अधोलिखित जातियों का उद्‌भव माना गया है—

(क) ब्राह्मण द्वारा विवाहिता क्षत्रिय-स्त्री से उत्पन्न बालक की जाति का नाम मूर्धावसिक्त रखा गया।[83]

(ख) ब्राह्मण-पुरुष से वैश्य-स्त्री के गर्भ से उत्पन्न बालक की जाति 'आम्बष्ठ' कही गयी।[84] आम्बष्ठ सम्भवतः प्रादेशिक नाम का द्योतक है, जो अनार्यों अथवा उस क्षेत्र में निवास करने वाली जनजाति के लिए प्रयुक्त होता रहा होगा। विष्णुपुराण में नदी तट निवासी जातियों के सन्दर्भ में अम्बष्ट का वर्णन है।[85] मनु ने आम्बष्ठ का प्रधान कर्म चिकित्सा करना बताया है।[86]

(ग) ब्राह्मण-पुरुष एवं शूद्रा-पत्नी से उत्पन्न पुत्र की जाति निषाद या पारशव कही गयी है।[87] गौतम ने इसका उद्‌भव ब्राह्मण-पुरुष और वैश्यस्त्री से माना है।[88] महाभारत के अनुसार इनका जन्म ब्राह्मण-पुरुष और शूद्रस्त्री से हुआ था।[89] रामायण से सूचना मिलती है कि रामचन्द्र को निषादराज गुह ने अपनी नौका से नदी के पार उतारा था।[90] यह जाति नाविक का कार्य करती थी। विष्णुपुराण में इसे विन्ध्य शैल का निवासी और पापकर्मा कहा गया है तथा इसकी उत्पत्ति राजा वेग के जंघस्थल से मानी गई है।[91] इसका मुख्य कर्म नाविकी और मछली मारना था। यह भी सम्भवतः जनजाति थी।[92]

(घ) क्षत्रिय-पुरुष एवं वैश्य-पत्नी से उत्पन्न सन्तान की जाति को "माहिष्य" कहा गया है।[93]

(ङ) क्षत्रिय-पिता तथा शूद्र-भार्या से उत्पन्न बालक को "उग्र" कहा गया है।[94] गौतम ने इस जाति को वैश्य-पुरुष और शूद्र-स्त्री से उत्पन्न माना है।[95] यह जाति भूमि के बिल में से जानवरों को निकालकर जीवनयापन करती थी।[96] यह भी सम्भवतः कोई जनजाति रही होगी।

(च) वैश्य-पुरुष एवं शूद्र-पत्नी से उत्पन्न सन्तान की जाति को "करण" कहा गया।[97]

उपर्युक्त सभी जातियाँ सवर्ण पुरुषों की विवाहित पत्नी से उत्पन्न पुत्र के लिए प्रयुक्त होती थी। ये सभी जातियाँ अनुलोमज हैं, और ये वर्ण जाति से कुछ

भिन्न समझी जाती थीं किन्तु सातवें या पांचवें जन्म में इनका उत्कर्ष हो जाता था।[98] अनुलोम सन्तानें निकृष्ट नहीं समझी जाती थीं किन्तु ऐसा लगता है कि ये सब जनजातियाँ थीं। जब ये ब्राह्मण-धर्म एवं सभ्यता के प्रभाव में आये तो इन्हें समाज में स्थान प्रदान करने की दृष्टि से सम्भवतः इस प्रकार के विवादों से उनकी उत्पत्ति बताई गई।

2. प्रतिलोमज-जातियाँ

प्रतिलोमज-सन्तानें निकृष्ट समझी जाती थीं। प्रतिलोमज विवाह से उत्पन्न सन्तानें निम्न-प्रकार की जातियों का निर्माण करती थीं।

(क) क्षत्रिय-पुरुष तथा ब्राह्मण-स्त्री से उत्पन्न पुत्र "सूत" जाति का माना जाता था।[99] सूत्रकार ने भी इसका समर्थन किया है।[100] मनु ने इसका प्रधान कर्म सारथी का कार्य (कोचवानी अथवा रथ हांकना) निर्दिष्ट किया है।[101]

(ख) वैश्य-पुरुष अथवा क्षत्रिय-भार्या से उत्पन्न पुत्र "मागध" जाति का होता था।[102] बौधायन के अनुसार इस जाति का जन्म शूद्र-पुरुष और वैश्य-स्त्री से हुआ था।[103] इसका प्रधान कर्म स्थल-मार्ग से व्यापार करना था।[104] विष्णुपुराण में नदी-तट की जाति के रूप में मागध का उल्लेख है।[105] इन्हें शाकद्वीपी क्षत्रिय भी माना गया है।[106] ब्राह्माण्डपुराण तथा वायुपुराण में भी इसका उल्लेख है।[107]

(ग) शूद्र-पिता तथा ब्राह्मण-पत्नी से उत्पन्न सन्तान "चाण्डाल" जाति का माना जाता था।[108] इसका समर्थन मनु ने भी किया है।[109] महाभारत में इसे नापित पुरुष और ब्राह्मण स्त्री की सन्तान कहा गया है।[110] गौतम के मन्तव्य में ये कुत्ते और कौए की कोटि के थे।[111] आपस्तम्ब के अनुसार चाण्डाल का स्पर्श करना ही पाप नहीं था बल्कि उससे बोलना एवं उसे देखना भी पाप था। इस पाप से मुक्ति पाने के लिए प्रायश्चित्त का विधान था।[112] जातकों से चाण्डाल की अत्यन्त हीन अवस्था की सूचना मिलती है। उससे हवा भी दूषित हो गई समझी जाती थी।[113]

धर्मशास्त्रों से ज्ञात होता है कि जिस ग्राम में चाण्डाल रहता हो वहाँ विद्याध्ययन नहीं करना चाहिए।[114] उसके देखते रहने पर भोजन भी बन्द कर दिया जाता था।[115] मनु की सम्मति है कि चाण्डाल और श्वपचों को गाँव से बाहर निवास करना चाहिए तथा कुत्ते और गधे उनकी सम्पत्ति के स्वरूप हों।[116] उनका वस्त्र कफन था वह फूटे बर्तन में भोजन करता था, उसका अलंकार लोहे का होता था और वह सर्वदा घूमा करता था।[117] उसके साथ व्यवहार करना वर्जित था।[118] उसे रात्रि के समय गांव और नगर में प्रवेश करने की अनुज्ञा नहीं थी। पर दिन में वह राजाज्ञा का विशेष चिह्न धारण करके गांव में भ्रमण कर सकता था तथा बान्धव-रहित शव को श्मशान ले जा सकता था।[119] पुराणों में भी उसके प्रति हीन भावना व्यक्त की गयी है और उसे कुत्ते एवं पक्षियों की श्रेणी में रखा गया है।[120] वह अधम और पातकी था।[121]

फाह्यान के अनुसार जब कभी चाण्डाल बाजार में प्रवेश करता था तब वह लकड़ियां बजाता चलता था ताकि लोग इस आवाज को सुनकर हटते जाएं और उसके छूने से अपवित्र न हों। वह बहेलिये तथा मछली पकड़ने का कार्य कर सकता था।[122] चीनी यात्री ह्वानच्वांग के मत में चाण्डाल पशुओं को मारकर उनके मांस का विक्रय करता था। वह बधिक का कार्य करता था, विष्ठा आदि उठाता था और नगर के बाहर निवास करता था। उसके गृह पर चिह्न विशेष अंकित होता था।[123] अलबीरूनी के मत में उसका प्रमुख कार्य ग्राम की सफाई करना था। अन्य अरब लेखकों ने भी चाण्डाल की निम्न स्थिति का उल्लेख किया है। चाण्डाल का वर्ग खिलाड़ी और कलावन्त का था।[124] वह स्थान-स्थान पर खेल-तमाशे करके अपनी जीविका चलाता था। कल्हण ने भी उसके निम्न अवस्था का उल्लेख किया है।[125]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि चाण्डाल की स्थिति प्राचीन भारत में शोचनीय थी। चाण्डाल अस्पृश्य, अधम और पातकी समझे जाते थे तथा निम्न-कार्य करके अपना जीवन-निर्वाह करते थे।

(घ) "वैदेहक" जाति याज्ञवल्क्य के मत में वैश्य-पुरुष और ब्राह्मण स्त्री से उत्पन्न थी।[126] इसका समर्थन, बौधायन, महाभारत आदि से भी होता है।[127] मनु के अनुसार वैदेहक का प्रधान कार्य अन्तःपुर की रक्षा करना था।[128]

(ङ.) याज्ञवल्क्य के अनुसार शूद्र-पिता तथा क्षत्रिय-माता से उत्पन्न सन्तान "क्षत्तार" जाति की होती थी।[129] बौधायनध-र्मसूत्र में भी इस तरह का विचार व्यक्त किया गया है।[130] मनु का कथन है कि इसका मुख्य कर्म बिल में रहने वाले जानवरों को मारकर जीवन-निर्वाह करना था।[131]

(च) शूद्र-पुरुष तथा वैश्य-भार्या से उत्पन्न बालक "आयोगव" जाति का माना जाता था।[132]

(छ) महिष्य-पुरुष तथा करणी-पत्नी से उत्पन्न बालक "रथकार" जाति का माना गया था।[133] इस जाति का प्रधान कर्म रथ निर्माण करना था।[134] बौद्ध ग्रन्थों में भी रथकारों का उल्लेख हुआ है।[135] बौधायन के अनुसार वैश्य-पुरुष और शूद्र-स्त्री से रथकार की उत्पत्ति हुई।[136]

सैद्धान्तिक रूप में अनुलोमज जातियों का उत्कर्ष सातवें या पांचवें जन्म में होने की मान्यता थी। ऐसी किसी जाति की कन्या अपने से उच्च जाति के पुरुष के साथ ब्याही जाय, उससे उत्पन्न हुई कन्या भी उससे ऊँची जाति में ब्याही जाय इस तरह सातवीं पीढ़ी में जाति का पूर्ण उत्कर्ष हो जाता था। आपातकाल में अपने से निम्न जाति के कार्य को अपनाने वाले लोग यदि आपातकाल की समाप्ति पर भी इस कार्य को नहीं त्यागते तो पांचवीं या सातवीं पीढ़ी में उनकी जाति वही हो जाती है, जिसका वह कर्म करते हैं।[137] इस प्रकार सैद्धान्तिक-स्तर पर जहाँ निम्न जातिवर्ग के सामाजिक-उत्कर्ष की व्यवस्था दी गई है वहीं उच्च-जातिवर्ग या वर्ण के सामाजिक

अपकर्ष की व्यवस्था भी मिलती है किन्तु व्यावहारिक-स्तर पर इन व्यवस्थाओं का कितना पालन होता था, कहना कठिन है।

उपर्युक्त विवरण से लगता है कि याज्ञवल्क्य आदि सामाजिक विचारक विभिन्न जातियों की उत्पत्ति वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत अनुलोमज एवं प्रतिलोमज-विवाह के फलस्वरूप मानते थे किन्तु वस्तुस्थिति सम्भवतः भिन्न थी। इनमें से अधिकांश जातियां ऐसी थीं जो ब्राह्मण-व्यवस्था से भिन्न अलग जातियां या जन-जातियां थीं। सम्भवतः ये जातियां सभ्यता के विकास के विभिन्न स्तरों पर थीं और अलग-अलग पेशे से अपना जीवन निर्वाह करतीं थीं। जैसे-जैसे ये जातियां ब्राह्मण-व्यवस्था के सामाजिक एवं राजनीतिक प्रभाव क्षेत्र में आती गई वैसे-वैसे इन्हें ब्राह्मण-समाज-व्यवस्था में स्थान देने की आवश्यकता महसूस हुई इसी के तहत विवाह के द्वारा इन्हें ब्राह्मण-सामाजिक-व्यवस्था के एक अंग के रूप में स्वीकृति प्रदान की गई।

आश्रम-व्यवस्था

भारतीय समाज में आश्रम-व्यवस्था का महत्वपूर्ण स्थान है। यदि इसे संस्कृत में "प्राण" कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। सामाजिक-संरचना को सुव्यवस्थित एवं सुसंगठित ढंग से चलाने में आश्रम-व्यवस्था ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। इस व्यवस्था में मनुष्य अपने चारों पुरुषार्थों-धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की पूर्ति करता है और अपने जीवन के अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करता है। आश्रम-व्यवस्था से न केवल मनुष्य का सर्वांगीण विकास होता है अपितु अन्यान्य सामाजिक-समस्याओं का समाधान भी होता है।

आश्रम का अर्थ

"आश्रम" शब्द संस्कृत के "श्रम्" धातु से उद्भूत है।[138] आश्रम शब्द के कई अर्थ हैं—परिश्रम और उद्योग। पी० एन० प्रभु ने आश्रम के दो अर्थ बतलाये हैं।[139] पहला वह स्थान जहां परिश्रम किया जाय, और दूसरा, इस प्रकार के परिश्रम के लिए की जाने वाली क्रिया। इसके अतिरिक्त "आश्रम" शब्द के कुछ और अर्थ भी हैं—तपस्वियों की कुटिया, वह स्थान जहां तपस्वी तप का अभ्यास करते हैं, विद्यालय अथवा मानव-जीवन की चार अवस्थाएं, जिनके नाम क्रमशः ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम हैं।[140] आश्रम-व्यवस्था का तात्पर्य सामान्यतया इन्हीं चारों आश्रमों से लिया जाता है। वस्तुतः ये आश्रम परिश्रम के विभिन्न केन्द्र हैं। जिनमें मनुष्य अपने श्रम के द्वारा अपना एवम् अपने समाज का उत्थान करने का सतत् प्रयास करता रहता है।

याज्ञवल्क्यस्मृति में परम्परागत आश्रम-व्यवस्था का चित्रण प्रतिबिम्बित है। इस परम्परा द्वारा मानव जीवन चार अवस्थाओं में विभाजित था। कुछ आचार्यों के अनुसार यह व्यवस्था प्राचीन हिन्दुओं के व्यक्तिगत जीवन, प्राथमिक शिक्षा एवं अनुशासन की आधारशिला है।[141] इस व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति को चार अवस्थाओं

से होकर गुजरना पड़ता था। इन्हें हम प्रशिक्षण की चार भिन्न श्रेणियां मान सकते हैं।[142] इस व्यवस्था के अन्तर्गत ये श्रेणियां लोगों को उनके अन्तिम उद्देश्य तक पहुंचाने के लिए जीवन-यात्रा में विश्राम-स्थल का कार्य करती हैं।[143] इस यात्रा में विश्राम-स्थल का कार्य करने वाले इन आश्रमों या स्थलों की संख्या चार है—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति या संन्यास।[144] याज्ञवल्क्य के इस उल्लेख के अनुरूप ही उनके पूर्ववर्ती मनु ने भी ऐसा ही उल्लेख किया है।[145] वसिष्ठधर्मसूत्र में भी एक स्थान पर अन्तिम-आश्रम को परिव्राजक तथा अन्य स्थल पर यति कहा गया है।[146] इस प्रकार स्पष्ट है कि अन्तिम आश्रम को यति, परिव्राजक एवं संन्यास आदि नाम से अभिहित किया जाता था।

ब्रह्मचर्य-आश्रम

ब्रह्मचर्य जीवन-यात्रा का प्रथम आश्रम था। "ब्रह्मचर्य" दो शब्दों से बना है—"ब्रह्म" और "चर्य"। "ब्रह्म" का तात्पर्य "महान" है एवं "चर्य" का अर्थ विचरण करना है। इन दोनों का सम्मिलित अर्थ है "ब्रह्म के मार्ग पर चलना" ब्रह्मचर्य का दूसरा अर्थ "वेद" मार्ग पर चलना भी है। "ब्रह्म" और "वेद" का घनिष्ठ सम्बन्ध है। कहा भी है "ब्रह्म वेद इति श्रुतेः।" नियम-संयम का पालन करते हुए वेद का अध्ययन करना ब्रह्मचारी का मुख्य उद्देश्य था।[147]

याज्ञवल्क्य के अनुसार उपनयन-संस्कार के बाद ही व्यक्ति ब्रह्मचर्य-आश्रम में प्रवेश कर पाता था। सभी द्विजातियों के उपनयन-संस्कार क्रमशः जन्म से आठवें, ग्यारहवें एवं बारहवें वर्ष में सम्पन्न किये जाते थे।[148] उपनयन की ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य के लिए सामान्यतः यही अवस्था स्वीकृत थी, किन्तु याज्ञवल्क्य ने अन्यत्र यह संकेत किया है कि इनका उपनयन सोलह, बाईस और चौबीस वर्ष की आयु तक हो जाना चाहिए।[149] यह सम्भवतः उपनयन की अन्तिम सीमा थी और इस आयु-सीमा तक यदि यह संस्कार सम्पन्न नहीं हो पाया तो सम्बद्ध व्यक्ति संस्कारहीन हो जाता था और धर्म-कार्य के अयोग्य हो जाता था। याज्ञवल्क्य ने ऐसे संस्कारहीन व्यक्ति को शूद्र-सम कहा है।[150]

ब्रह्मचारी के लिए यज्ञोपवीत धारण करना अत्यन्त आवश्यक था। इसके अतिरिक्त उसे मेखला, दण्ड तथा कृष्ण-मृगचर्म भी धारण करने का निर्देश था।[151] ब्राह्मण ब्रह्मचारी की मेखला मूंज की, क्षत्रिय की अथस-खण्डयुक्त मूंज की तथा वैश्य की ऊन की होती थी।[152]

याज्ञवल्क्य ने गुरु के सान्निध्य में रहकर विद्यार्जन की व्यवस्था की है। गुरुकुल में छात्र विभिन्न विषयों एवं शौच के नियमों की शिक्षा ग्रहण करता था। गुरुकुल का एकान्त वातावरण शान्त था जहां विद्या का अध्ययन सुव्यवस्थित रूप से होता था। मन, वाणी, शरीर और कार्यों द्वारा छात्र को गुरु के अनुकूल कार्य करना पड़ता था।[153] मनु के अनुसार व्यक्ति के जीवन का प्रथम भाग ब्रह्मचर्यआश्रम है जिसमें

व्यक्ति गुरु-गेह में रहकर अध्ययन करता था।[154] आपस्तम्ब धर्मसूत्र में भी इसी तरह का विचार व्यक्त किया गया है।[155]

याज्ञवल्क्य के अनुसार ब्रह्मचारी भिक्षा मांग कर लाता और उसे गुरु के सामने लाकर रखता था।[156] मनु के कथनानुसार वह सूर्योपासना के बाद ही भिक्षा माँगता था।[157] ब्रह्मचारियों को भिक्षा देना प्रत्येक गृहस्थ का कर्तव्य था।[158] ब्रह्मचारी केवल सायं और प्रात: दो बार ही भोजन करता था, इसके बीच भोजन करना उसके लिए निषिद्ध था।[159] वह गुरु की आज्ञा से मौन रहकर भोजन करता था।[160]

छात्र-जीवन अत्यंत संयमित और नियमबद्ध होता था। उसे मधु एवं मांस खाना, सुगन्धित वस्तुओं का लेप, अंजन, किसी का जूठन खाना (गुरु के अतिरिक्त), कठोर वचन बोलना, स्त्री, जीव-हिंसा, उदय एवं अस्त के समय सूर्य-दर्शन, मिथ्या-भाषण आदि ब्रह्मचारी के लिए वर्जित थे। मनु तथा बौधायन[161] ने भी इसका समर्थन किया है। वेद का अध्ययन, अग्नि का अभिषेक, भिक्षावृत्ति, आचार्य की सेवा और गुरु की अनुपस्थिति में उनके पुत्र या ज्येष्ठ ब्रह्मचारी की सेवा करना आदि ब्रह्मचारी के कर्तव्य थे।[162]

याज्ञवल्क्य के अनुसार गुरु की सेवा आदि के बाद जो समय बचता था उसमें वह ऋचाओं, यजुस्मन्त्रों, वेदों, पुराणों तथा इतिहास आदि विद्याओं का अध्ययन करता था। इससे उसके पितर एवं देवता प्रसन्न होते थे तथा उसके ज्ञान की वृद्धि होती थी।[163]

याज्ञवल्क्य ने दो प्रकार के ब्रह्मचारियों का उल्लेख किया है—उपकुर्वाण और नैष्ठिक। उपकुर्वाण ब्रह्मचारी वे होते थे जो गुरुकुल में 10-15 वर्ष रहकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश के लिए वापस गृह लौटते थे। ऐसे ब्रह्मचारी यथाशक्ति गुरु-दक्षिणा प्रदान कर गुरु की आज्ञा लेकर स्वगृह लौटते थे।[164] उपकुर्वाण तीन प्रकार के होते थे—विद्यास्नातक, व्रतस्नातक, विद्याव्रतस्नातक। इनमें जिसने केवल वेदाध्ययन को समाप्त किया है उसे विद्यास्नातक कहते हैं। जिसने केवल व्रत को समाप्त किया वह व्रत-स्नातक और जिसने विद्या तथा व्रत दोनों को समाप्त किया, वह विद्याव्रतस्नातक कहलाया।[165] उपकुर्वाण ब्रह्मचारी गृहस्थाश्रम के विभिन्न उत्तरदायित्वों को पूर्ण करने के उद्देश्य से गुरुकुल में रहता था। ब्रह्मचर्य-आश्रम में अर्जित-ज्ञान से वह गृहस्थाश्रम के उत्तरदायित्वों को उठाने में सक्षम होता था।

नैष्ठिक ब्रह्मचारी उन्हें कहते थे जो जीवनपर्यन्त गुरु के यहां निवास करते थे। गुरु की अनुपस्थिति में उनके पुत्र के समीप, पुत्र के अभाव में (गुरु) भार्या के समीप एवं इन सबके अभाव में अग्निहोत्र की अग्नि के समीप निवास करते थे। नियम-संयम का विधिवत पालन करते हुए कठिन तपस्या से वह इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त करता था। उसका पुनर्जन्म[166] नहीं होता था। इसका समर्थन मनु ने भी किया है।[167]

इन्द्र ने प्रजापति से 101 वर्षों तक विद्याध्ययन किया था।[168] भारद्वाज ने 75 वर्ष तक वेदों का अध्ययन किया तथा चतुर्थ भाग में भी ब्रह्मचर्य-व्रत के पालन के लिए अनुष्ठान करते रहे।[169] ऐसा लगता है कि कुछ लोग नैष्ठिक ब्रह्मचारी अवश्य होते थे। ऐसे लोग ही सम्भवतः आगे चल कर स्वयं भी गुरु हो जाते होंगे। कभी-कभी ऐसे लोग अपने स्वतंत्र आश्रम भी स्थापित करते रहे होंगे। सम्भवतः उपकुर्वाण ब्रह्मचारी की अपेक्षा संख्या में अधिक होते रहे होंगे।

ब्रह्मचारी गुरु के आश्रम में रहकर विद्याध्ययन करते थे। यह काल प्रशिक्षण का काल था जिसमें हर व्यक्ति के लिए ब्रह्मचर्यव्रत का परिपालन करते हुए शिक्षा-दीक्षा ग्रहण करना आवश्यक समझा जाता था। गुरु के आश्रम में विद्यार्थी विषयों से दूर रहता था। इसके लिए उसे प्रतिपल कार्यरत रखा जाता था। इससे उसकी चेतना नियंत्रित रहती थी। कौटिल्य ने इसे तद्युगीन शिक्षा का मुख्य उद्देश्य माना है।[170] इस आश्रम का मुख्य उद्देश्य शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक गुणों को विकसित करना था।

गृहस्थाश्रम

ब्रह्मचर्याश्रम शिक्षा की समाप्ति के बाद व्यक्ति का गृहस्थाश्रम में प्रवेश होता था। गुरुकुल से स्वगृह वापस आने और उसके विवाह के बीच कुछ समय का अन्तर होता होगा। वास्तविक गृहस्थ-जीवन विवाह-संस्कार के बाद से ही प्रारम्भ होता था। इस आश्रम में गृहस्थ चारों ऋणों से उऋण एवं पंच-महायज्ञों को सम्पन्न करते हुए पुरुषार्थों को प्राप्त करता था। इसी आश्रम में व्यक्ति अपने पारिवारिक, सामाजिक एवं धार्मिक-कर्तव्य को पूरा करता था। इस प्रकार समाज को सशक्त एवं गतिशील बनाने में अपना योगदान देता था। गृहस्थाश्रम को वस्तुतः प्राचीन भारतीय समाज का आधार मान सकते हैं। फलस्वरूप अन्य आश्रमों की अपेक्षा इस आश्रम को अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। गृहस्थाश्रम का महत्त्व सर्वोपरि था। अन्य आश्रम इसी आश्रम पर निर्भर थे। ब्रह्मचारी गृहस्थ से ही भिक्षा मांग कर अपनी जीविका चलाता था। वानप्रस्थी एवं यति की आवश्यकताएं भी इसी आश्रम से पूरी होती थीं। मनु ने गृहस्थाश्रम की प्रशंसा की है। उनके मत में जिस प्रकार सभी नदी-नद समुद्र में संस्थित हो जाते हैं, उसी प्रकार सभी आश्रम गृहस्थाश्रम में।[171] गौतम ने इसे सभी आश्रमों का मूल माना है।[172] बौधायन ने कहा है कि पितृ-ऋण से पुत्रोत्पत्ति के बिना मुक्ति सम्भव नहीं इसलिए गृहस्थ बनना ही पड़ेगा।[173]

याज्ञवल्क्य ने गृहस्थाश्रम के महत्व का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि—धर्म, अर्थ तथा काम की प्राप्ति इस आश्रम में होती है।[174] ऐसा ही विचार महाभारत में भी उल्लिखित है।[175] अतः गृहस्थाश्रम गतिमान जीवन में द्वितीय आश्रम के रूप में आता है। महत्व की दृष्टि से इसका प्रथम स्थान है, क्योंकि शेष तीनों आश्रमों की सभी आवश्यकताएं इसी आश्रम से पूरी होती थीं।

गृहस्थ के कर्त्तव्य—गृहस्थाश्रम में गृहस्थ व्यक्तिगत, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एव नैतिक-कर्तव्यों का पालन करता था। गृहस्थ का प्रथम कर्तव्य होता था विवाह। पुनः उसे गृहअग्नि प्रज्वलित करनी पड़ती थी जिसमें वह नित्य होम करता था।[176]

प्रातःकाल उठकर नित्य-क्रिया से निवृत्त होकर देवताओं का पूजन, वेद एवं अन्य धर्मशास्त्रों का उसे अध्ययन करना पड़ता था। अप्राप्त-वस्तु की प्राप्ति एवं प्राप्त वस्तु की सुरक्षा के लिए राजा के पास जाना पड़ता था। देवताओं एवं पितरों की पूजा करनी पड़ती थी। जप-यज्ञ की सिद्धि के लिए वेद, अथर्व-मंत्रों, पुराणों एवं इतिहास का अध्ययन करना पड़ता था।[177] प्रतिदिन देवताओं, पितरों, भूतों, मनुष्यों के अतिरिक्त कुत्तों, चाण्डालों और कौओं को भोजन से तृप्त करना पड़ता था। बालक, विवाहिता पत्नी, वृद्ध, रोगी, गर्भवती-कन्या, अतिथि एवं भृत्यों को भोजन से तृप्त करके बचे हुए भोजन को पति-पत्नी ग्रहण करते थे। भोजन करते समय द्विजों को मंत्र पढ़कर आचमन करना पड़ता था। शूद्रों के लिए ऐसा कोई विधान नहीं था।[178]

कई वर्ण के अतिथियों के एक साथ आने पर वर्णक्रम के अनुसार उनका सत्कार करना पड़ता था। सायंकाल में भी अतिथि के आने पर यथाशक्ति मधुर वाणी, भूमि, तृण और जल से उसे तृप्त करना चाहिए।[179] उसे निराश कर नहीं लौटाना चाहिए। मान्यता थी कि अतिथि को असन्तुष्ट लौटा देने से गृहस्थ के समस्त संचित पुण्य समाप्त हो जाते थे।[180] इसके फलस्वरूप गृहस्थ, अतिथि-सत्कार में कोई कसर नहीं उठा रखते होंगे।

गृहस्थ का यह नैतिक-कर्तव्य था कि वह भिखारी तथा ब्रह्मचारी को भिक्षा दे। भोजन के समय आये हुए मित्र, बान्धव एवं सम्बन्धियों को भोजन कराना भी उसका कर्तव्य था। वेदपाठी अतिथि के लिए बैल या बकरा उसके सम्मुख प्रस्तुत करके, उसके पैरों को जल से धोकर, मधुर भोजन तथा मृदुवाणी से उसका स्वागत करना होता था। प्रतिवर्ष उसे स्नातक, आचार्य, दामाद, राजा एवं अपने प्रियमित्र को घर बुलाकर उनका सत्कार करना भी उसका कर्तव्य था।[181] पथिक को भी अतिथि माना जाता था। याज्ञवल्क्य के अनुसार वेदपाठी एवं वेदविद्-अतिथि के सत्कार से गृहस्थ मोक्ष प्राप्त करता है।[182]

गृहस्थ के लिए कुछ निषेध भी मिलते हैं। श्रेष्ठ व्यक्तियों को निमंत्रण के बिना भोजन नहीं करना चाहिये। भोजन करते समय हाथ, पैर एवं वाणी आदि में चपलता नहीं आनी चाहिये। आवश्यकता से अधिक भोजन नहीं करना चाहिये। वृद्ध-राजा, स्नातक (ब्रह्मचारी), स्त्री, बोझा ढोने वाला, रुग्ण, वर तथा चक्री (सुराकार) आदि के लिए मार्ग छोड़ देना चाहिए। राजा एवं स्नातक इन सबमें अधिक मान्य हैं। स्नातक तो राजा के लिए भी पूज्य था। विद्या, कर्म, आयु, बन्धु और धन से

युक्त व्यक्तियों का आदर करना आवश्यक है। वृद्धशूद्र का भी आदर करने का नियम था। गृहस्थ की जीवनवृत्ति पर याज्ञवल्क्य का मन्तव्य है कि आयु, बुद्धि, धन, वाणी, वेष, शास्त्रज्ञान तथा कर्म के अनुसार ऐसी जीवनवृत्ति को अपनाना चाहिये, जो वक्र और मत्सर युक्त न हो।[183]

दान देना तथा यज्ञ करना गृहस्थों का कर्तव्य था।[184] दान के लिए एक वर्ष से अधिक अन्न रखने वाले व्यक्तियों को सामयज्ञ से पहले की जाने वाली सभी क्रियाओं को करना चाहिए। गृहस्थों के लिए अन्यान्य प्रकार के यज्ञ करना आवश्यक माना जाता था। यदि धनाभाव में यह सम्भव न हो सके तो 'वैश्वानरी-इष्टि' करनी चाहिये। धन रहने पर यह हीनकल्प करना वर्जित था। यज्ञ के लिए शूद्र से धन मांगना वर्जित था। शूद्र से धन मांगकर यज्ञ करने वाले व्यक्ति दूसरे जन्म में चाण्डाल के रूप में जन्मते हैं ऐसी मान्यता थी। यज्ञ के लिए लिया गया सम्पूर्ण धन वापस न करने वाला मान्यतानुसार इसी प्रकार दूसरे जन्म में पक्षी या काग होता है।[185]

वेदपाठी एवं वेद के पण्डित अतिथि को भोजन कराकर उसे गाँव की सीमा तक पहुंचाना पड़ता था। भोजन आदि के पश्चात् दिन के शेष समय को सभ्यजनों के साथ बैठकर गृहस्थ को बिताना चाहिये। सायंकालीन संध्या-उपासना एवम् अग्निहोम करके भृत्यों के साथ आवश्यकतानुसार भोजन करने का विधान था। इसके अनन्तर शयन करना चाहिये। ब्राह्ममूहूर्त में उठ कर स्वहित चिन्तन करना चाहिए तथा अपनी शक्ति के अनुसार धर्म, अर्थ एवं काम की प्राप्ति के लिए कार्य करते रहना चाहिए। इस आश्रम में सदाचार के नियमों का पालन करते हुए जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति का प्रयास ही गृहस्थ का मुख्य कर्तव्य माना जाता था।[186] ऐसा उल्लेख अर्थशास्त्र में भी मिलता है।[187] मनु ने भी इसी तरह का उल्लेख किया है।[188] कामन्दक ने गृहस्थ के लिए स्वधर्मानुसार जीविकोपार्जन, विशेष अवसरों को छोड़कर शेष दिनों में ही पत्नी के साथ सम्भोग, देवता, पितर एवम् अतिथियों की सेवा, असहाय लोगों की सहायता एवं श्रुतियों एवं धर्मशास्त्रों के अनुसार व्यवहार करना गृहस्थ का कर्तव्य बताया है। वायुपुराण एवं गरुड़पुराण[189] में भी याज्ञवल्क्य द्वारा वर्णित गृहस्थ के कर्तव्यों से मिलता-जुलता विचार व्यक्त किया गया है।

याज्ञवल्क्य के अनुसार गृहस्थ को इनके अतिरिक्त नैतिक कर्तव्यों का भी पालन करना पड़ता था। इनमें अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, शुचिता, इन्द्रिय-संयम, दान देना, संयम, दया तथा धैर्य धारण करना प्रमुख है। ऐसा ही उल्लेख मनु ने भी किया है।[190] अतः इस आश्रम के परिपालन से मनुष्य धर्म का अर्जन करता था। दूसरे लोक में माता, पिता, पुत्र, पत्नी एवं सम्बन्धी सहायता के लिए नहीं होते। मनुष्य अकेले जन्म लेता है, अकेले ही अपने अच्छे एवं बुरे कर्मों का प्रतिफल भोगता है। ऐसी स्थिति में धर्म ही उसके साथ जाता है। इसी से नरक से मुक्ति मिलती है।

फलतः परलोक में अपनी सहायता के लिए धर्म का निरन्तर संग्रह करते रहना चाहिए। याज्ञवल्क्य आदि ने इसी से इन धर्मों का पालन आवश्यक माना है।

याज्ञवल्क्य के अनुसार गृहस्थ चार प्रकार के होते हैं।[191] ये अधोलिखित हैं—

(क) 'कुसूलधान्यक', जिसने इतना अनाज एकत्रित किया हो जिससे उसके परिवार तथा भृत्यों का बारह दिन तक का खर्च चल सके।

(ख) 'कुम्भधान्यक', उसे कहते थे जो अपने परिवार तथा भृत्यों के पालन-पोषण के लिए 6 दिन के लिए अन्न की व्यवस्था करता है।

(ग) अपने आश्रितों के लिए मात्र तीन दिन के लिए अन्न इकट्ठा करने वाले को 'त्र्याह्निक' कहते थे।

(घ) केवल एक दिन के लिए अपने परिवार तथा भृत्यों के पालन-पोषण के लिए अन्न की व्यवस्था करने वाले को 'अश्वस्तनिक' कहते थे।

मनु ने भी इन गृहस्थों का उल्लेख किया है।[192] महाभारत में भी चार प्रकार के गृहस्थ उल्लिखित हैं किन्तु इनमें कुछ विभेद हैं।[193]

उपर्युक्त वर्गीकरण में मनु एवं याज्ञवल्क्य ने पहले के अपेक्षाकृत बाद के गृहस्थ को अधिक श्रेष्ठ स्थान दिया है। इस प्रकार 'अश्वस्तनिक' को सर्वश्रेष्ठ गृहस्थ वर्ग माना है। यह वर्गीकरण सम्भवतः ब्राह्मण-गृहस्थों का ही है क्योंकि नीलकण्ठ द्वारा उल्लिखित षट्कर्म केवल ब्राह्मणों के स्वधर्म के रूप में ही मान्य थे। इसी प्रकार अनाज-संग्रह की समस्या भी सम्भवतः ब्राह्मणों के सामने ही अधिक रहती होगी, क्योंकि कृषि वैश्यों का विशिष्ट व्यवसाय होता था और क्षत्रियों द्वारा भी ब्राह्मणों को दान देने का विधान यह स्पष्ट करता है कि वैश्यों और क्षत्रियों के पास पर्याप्त खाद्य सामग्री हमेशा रहती रही होगी। शूद्र एक पृथक् वर्ग में थे।[194] लक्ष्मीदत्त ठाकुर ने भी अपनी पुस्तक 'प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन' में गृहस्थों के वर्गीकरण को ब्राह्मण-गृहस्थों का वर्गीकरण स्वीकार किया है।[195] फलतः इस वर्गीकरण को ब्राह्मण-गृहस्थों का वर्गीकरण मानना ही समीचीन प्रतीत होता है।

ऋणों से मुक्ति—प्राचीन भारतीय विचारकों की यह मान्यता रही है कि प्रत्येक व्यक्ति तीन-ऋण के साथ पैदा होता है। उत्पन्न होते ही वह देवताओं, पितरों तथा ऋषियों का ऋणी हो जाता था।[196] प्रायः सभी विचारकों ने तीन प्रकार के ऋणों का उल्लेख किया है—देव-ऋण, ऋषि-ऋण एवं पितृ-ऋण इन ऋणों की विवेचना करते हुए मनु ने कहा है कि विधिपूर्वक वेदों को पढ़कर, धर्मानुसार पुत्र पैदा कर एवं यज्ञ कर, अमरत्व प्राप्त करता है।[197] महाभारत के अनुसार विधिपूर्वक यज्ञ से पितरों को एवं यज्ञ द्वारा देवगणों को तथा स्वाध्याय द्वारा ऋषियों को तृप्त करने के पश्चात् आश्रमों के माध्यम से मनुष्य मोक्ष प्राप्ति का प्रयास करता है।[6]

ऋण-सिद्धान्त वस्तुतः देखा जाय तो एक तरह से सामाजिक-धार्मिक-सिद्धान्त है। इसके पालन से ही समाज का कल्याण निरन्तर सम्भव है। ऋषि-ऋण से व्यक्ति

तभी उऋण हो सकता है जब वह वेदादि का अध्ययन करता रहे। इसी प्रकार पितृऋण से वह तब उऋण होता है जब वह पुत्र उत्पन्न कर देता है। इसी प्रकार देवऋण से मुक्ति यज्ञ करते रहने से ही प्राप्त हो सकती है और इस प्रकार समाज का सामाजिक-धार्मिक-स्वरूप गतिमान रहता है।

गृहस्थाश्रम में धर्म, अर्थ और काम की साधना की जाती है।[198] इसी के माध्यम से ऋणों से उऋण होने का प्रयास होता है। पंचमहायज्ञों द्वारा व्यक्ति स्वधा (तर्पण एवं श्राद्ध) से पितृ-ऋण से मुक्ति, होम से देवऋण से मुक्ति, धर्मग्रन्थों के अध्ययन से ऋषियों के ऋण से मुक्ति तथा अतिथि-सत्कार से उसे मनुष्य-ऋण से मुक्ति मिलती है।[199] गृहस्थों को इसे सम्पन्न करना आवश्यक था। जैमिनि के अनुसार इन ऋणों से मुक्ति पाना व्यक्ति का अनिवार्य धर्म होता था।[200] मनु के विचार में बिना वेद के अध्ययन के, बिना पुत्रों को पैदा किये मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है।[201]

पंचमहायज्ञ—पंचमहायज्ञ का पालन करना गृहस्थ के लिए अनिवार्य था। शतपथ-ब्राह्मण में इसका पूर्ण विकास देखने को मिलता है।[202] इस प्राचीन परम्परा के अनुरूप ही याज्ञवल्क्य ने भी पंचमहायज्ञों को करना गृहस्थ का महत्वपूर्ण कर्तव्य माना है। उनके अनुसार भूतयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ और नृयज्ञ आदि पंचमहायज्ञ हैं। ऐसा ही उल्लेख तैत्तिरीय आरण्यक, मनुस्मृति, एवं गरुड़-पुराण में भी मिलता है।[203]

(1) भूतयज्ञ—भूत का तात्पर्य जीव या प्राणियों से है। देवताओं के लिए बलि देने के बाद बचे हुए अन्न से भूतयज्ञ होता था। इसमें साथ ही साथ कुत्तों, चाण्डालों और कौओं की तृप्ति के लिए पृथ्वी पर अन्न फेंकना गृहस्थ का कर्तव्य था।[204]

गृहस्थ को भोजन करते समय उसका कुछ अंश अन्य प्राणियों के लिए निकाल कर पृथ्वी पर रख देने का भी विधान था। इस अंश को पशु-पक्षियों को खिलाना होता था। प्राचीन परम्परा का परिपालन करने वाले धार्मिक हिन्दू आज भी भोजन करते समय उसका कुछ अंश हवन एवं कुछ अंश "अगरासन" के लिए निकाल कर रख देते हैं जिसे खाना खाने के पश्चात् गाय, कुत्ते या पक्षियों को खिला देते हैं। यह परम्परा भूतयज्ञ का अवशेष है।

(2) पितृयज्ञ—मनुष्य के पैदा होने पर उसके ऊपर पितृऋण रहता है। यह ऋण पितृयज्ञ सम्पन्न होने के बाद ही समाप्त होता था। यह यज्ञ श्राद्ध के अवसर पर पितरों को तर्पण, पिण्ड आदि देकर ही सम्पन्न किया जाता था। तर्पण एवं पिण्डदान पुत्र ही दे सकता था। फलतः पुत्र उत्पन्न करने से इस कार्य की निरंतरता बनी रहती थी। इसलिए इस ऋण से उऋण होने के लिए सन्तानोत्पत्ति भी आवश्यक थी। याज्ञवल्क्य के अनुसार प्रतिदिन पितरों को अन्न देना चाहिए। अन्न के

अभाव में जल का तर्पण देना चाहिए। पितृयज्ञ के अन्तर्गत पितरों का तर्पण, बलि-हरण अथवा श्राद्ध सम्पन्न किया जाता था।[205]

वर्तमान समय में आश्विन महीने में पितृ-पक्ष मनाया जाता है। इस अवसर पर प्रत्येक हिन्दू अपने पितरों को जल में तर्पण एवं पिण्डदान देते हैं तथा यजमानों को भोजन आदि से तृप्त करते हैं।

(3) **देवयज्ञ**—देवताओं को बलि एवं अग्नि की आहुति देना ही देव-यज्ञ कहलाता था। मनुष्य का सर्वस्व देवताओं के द्वारा ही प्रदत्त है। इसलिए मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह देवताओं को भी इसका कुछ अंश दे। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए गृहस्थ को प्रतिदिन स्मार्त-कर्म, विवाहाग्नि में या विभाजन के समय आहुति आदि अग्नि में करनी चाहिए।[206] आहुति जनकल्याण की दृष्टि से भी उपयोगी है। आहुति से सूर्य पुष्ट होते हैं, सूर्य से वृष्टि होती है और उससे औषधियां उत्पन्न होती हैं, उनका अन्न रस बनकर अन्त में वीर्य बन जाता है, इससे सृष्टि होती है। अन्न से पुन: यज्ञ होगा, पुन: अन्न होता है और तब फिर यज्ञ होता है। इस प्रकार यह अनादि-क्रम मानव-कल्याण के लिए होता रहता है।[207] इससे सृष्टि का नैरन्तर्य बना रहता है। यज्ञ करने के लिए पत्नी आवश्यक है। स्त्री-पुरुष के योग से देवयज्ञ सम्पन्न होता था।

(4) **ब्रह्मयज्ञ**—इसका लक्ष्य ऋषियों के प्रति श्रद्धा व्यक्त करना है। परम्परानुसार ऋषि समस्त भारतीय धार्मिक-साहित्य के रचनाकार हैं। उनके प्रति कृतज्ञता एवं उनके द्वारा स्थापित परम्परा के अनुकरण के लिए इस साहित्य का दैनिक पठन आवश्यक माना गया। ब्रह्मयज्ञ प्रतिदिन किया जाने वाला वेदाध्ययन है। इसमें वेदों के अतिरिक्त अथर्व-मन्त्रों, पुराणों एवं इतिहास का अध्ययन भी सम्मिलित था।[208] यह प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य था कि वह वेदों का अध्ययन ही न करे बल्कि उसे याद रखने का भी प्रयास करे। इसका मुख्य प्रयोजन सम्भवत: वैदिक-ज्ञान की प्राचीन परम्परा को व्यवस्थित एवं विकसित करना था। स्वाध्याय संभवत: आर्येतर संस्कृति के लोग भी करते थे।[209]

(5) **मनुष्ययज्ञ या नृयज्ञ**—आगत अतिथि का यथोचित सत्कार करना ही नृयज्ञ है। प्राचीन समय में अतिथि का बहुत महत्व था। अतिथि को देव-स्वरूप माना जाता था।[210] कई वर्ण के अतिथि आने पर वर्ण के अनुसार क्रमश: उनको भोजन आदि से तृप्त करना पड़ता था। संध्या समय आये अतिथि का मधुर-वचन, भूमि, तृण एवं जल से आदर-सत्कार करना चाहिए।[211] अतिथि को कभी निराश कर नहीं लौटना चाहिए। अतिथि को निराश करने वाला अपना समस्त पुण्य उसे दे देता है तथा उसका सब पाप अपने इस कार्य से प्राप्त कर लेता है।[212] पथिक को भी अतिथि मानना चाहिए। वेदपाठी और वेदविद् अतिथि-पथिक का सत्कार करने वाला व्यक्ति मोक्ष प्राप्त करता है।[213] कुछ शास्त्राकारों ने तो चाण्डाल-अतिथि की भी सेवा करने का निर्देश किया है। अतिथि-सत्कार ही नृयज्ञ है।

अतिथि-सत्कार सम्भवतः एक सामाजिक कार्य के रूप में स्वीकृत रहा होगा। प्राचीनकाल में जब यात्रियों को स्थान-स्थान पर रहने की समुचित व्यवस्था नही रही होगी तभी सम्भवतः उनकी सुविधा को दृष्टि में रखकर यह व्यवस्था की गई होगी। इस व्यवस्था से सामान्यतः विद्यार्थी, ब्राह्मण एवं अन्य एकाकी यात्री लाभान्वित होते रहे होंगे। धीरे-धीरे यह व्यवस्था रूढ़ हो गई और इस धार्मिक-महत्व के कार्य को सैद्धान्तिक-स्तर पर मान लिया गया।

पंचमहायज्ञ के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए मनु ने प्रत्येक गृहस्थ हिंसा के पांच स्थान माने हैं। प्रथमतः, भोजन पकाते समय चूल्हे में अनेक छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़े अग्नि में गिर कर मर जाते हैं। द्वितीयतः आटा पीसते समय चक्की में छोटे-छोटे जीव-जन्तु पिसते हैं; तीसरे, घर आंगन तथा द्वार आदि पर झाड़ू लगाते समय भी छोटे-मोटे कीट-पतंग मर जाते हैं। चौथे, घर में घड़ोंची पर रखे हुए पानी में भी छोटे-छोटे जीवधारी रहते हैं। पानी का प्रयोग करते रहने से उनकी भी हिंसा हो जाती है। इस प्रकार की हिंसा के निराकरण के लिए व्यक्ति को प्रतिदिन प्रायश्चित्त-स्वरूप नित्य क्रमशः पांच महायज्ञों को सम्पादित करना पड़ता था।[214] इन महायज्ञों को सम्पन्न करने में पुरोहित की आवश्यकता नहीं पड़ती। इन्हें गृहस्थ स्वयं कर लेता है। इसमें अन्य यज्ञों की तरह अर्थ भी अधिक नहीं लगता। इन पंच-महायज्ञों को करने से व्यक्ति ऋषि, पितृ, देव तथा मनुष्य-ऋण से उऋण हो जाता था जो मानव के लिए कल्याण-कारी था। बिना इन ऋणों से मुक्ति पाये कोई भी व्यक्ति मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता अपितु उसका अधःपतन हो जाता था।

उपर्युक्त विवरण मे यह प्रतीत होता है कि गृहस्थाश्रम सभी आश्रमों का आधार-स्तम्भ है। इस आश्रम से ही अन्य तीनों आश्रमों की आवश्यकताएं पूरी होती थीं। इस आश्रम में व्यक्ति अपने सामाजिक, आर्थिक, नैतिक, व्यक्तिगत एवं धार्मिक कर्तव्यों को पूरा करता था। ऋण-त्रय से मुक्ति पाता था। तीनों (धर्म, अर्थ, काम) पुरुषार्थों की पूर्ति करता हुआ पंचमहायज्ञ को सम्पन्न करता था। इसे पूरा करने पर उसे मोक्ष मिलता था। जो मानव मात्र के जीवन का मुख्य लक्ष्य होता है। इसलिए गृहस्थाश्रम को अन्य आश्रमों का स्रोत और सब आश्रमों में श्रेष्ठ माना जाता था।

भारतीय परिकल्पना के अनुसार गृहस्थ-आश्रम को समाजसेवा का एक प्रसाधन माना जाता है। गृहस्थ-आश्रम पर ही अन्य तीनों आश्रमों का अस्तित्व निर्भर है।[215]

वानप्रस्थ-आश्रम

वानप्रस्थ का सामान्य अर्थ है वन की ओर प्रस्थान करना। मिताक्षरा[216] के अनुसार वानप्रस्थ शब्द का तात्पर्य है वन में सर्वोत्तम ढंग से (जीवन के कठोर-नियमों का पालन करते हुए) रहना। गृहस्थाश्रम के बाद वानप्रस्थाश्रम में कैसे प्रवेश करना चाहिए इसका उल्लेख याज्ञवल्क्य ने किया है। गृहस्थी अपनी पत्नी को पुत्र के अधीन छोड़कर या उसे साथ लेकर अग्निहोत्र की सामग्री के साथ ब्रह्मचर्य पालन करते हुए

वानप्रस्थ-आश्रम में प्रवेश करता था। पत्नीसहित या पत्नी के बिना वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश की जो व्यवस्था दी गई है इसका समाधान टीकाकारों ने पत्नी की आयु के आधार पर किया है। पत्नी वृद्ध हो तो सपत्नीक वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश किया जा सकता था।[217] युवा पत्नी के साथ वानप्रस्थी के संयमित जीवन पर विशेष बल दिया गया था।

वानप्रस्थ का उद्देश्य

इस जीवन में व्यक्ति सांसारिक माया-मोह का त्याग करके कठिन तपस्या से आध्यात्मिक-उत्कर्ष-प्राप्ति की चेष्टा करता था। मनु के अनुसार शारीरिक शुद्धि, विद्या तथा तपस्या की वृद्धि के लिए वानप्रस्थ का पालन होता था।[218] इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह ग्रीष्मऋतु में 'पञ्चाग्नि-तप' करता था, वर्षाकाल में भीगता था और सर्दी में आर्द्र-वस्त्र पहनता था।[219] इस प्रकार आध्यात्मिक-उत्कर्ष करते हुए मोक्ष की तरफ दत्तचित्त होना वानप्रस्थी का मुख्य उद्देश्य होता था।

वानप्रस्थी का जीवन

वानप्रस्थी के लिए यह आवश्यक था कि वह निरन्तर वेदाभ्यास में लगा रहे। दर्परहित रहे, तीन बार-प्रातः, मध्याह्न, अपराह्न स्नान करे एवं दानशील बने। दान ग्रहण न करें तथा सभी प्राणियों पर दया करे। यही उसका मुख्य धर्म था।[220]

प्राणिमात्र के कल्याण एवम् आध्यात्मिक-उत्कर्ष के लिए वानप्रस्थी पंच महा-यज्ञों को सम्पादित करता था। स्वयं पैदा हुए अन्न से अग्नियों, देवताओं, पितरों, अतिथियों और भृत्यों का सत्कार करना, दाढ़ी, मूँछ तथा बाल को बढ़ा रखना तथा फल आदि के अभाव में भिक्षा मांगकर केवल आठ ग्रास ही खाना; एक दिन, एक मास, छः मास या वर्षभर के लिए ही धन का संचय करना, चान्द्रायण तथा कृच्छ-व्रत करना, रात को पवित्र होकर नंगी भूमि पर शयन करना तथा दिन में योग द्वारा समय-यापन करना वानप्रस्थी का कर्तव्य था।[221]

वह वृक्षों की छाया में रहता था। तपस्या द्वारा शरीर का शोषण करता था। ग्रीष्म-ऋतु में पंचाग्नि करता था, वर्षा-काल में आर्द्र-भूमि पर शयन करता था एवं सर्दी में गीला वस्त्र पहनता था। इस प्रकार इस आश्रम में उसे कठोर-जीवन व्यतीत करने का निर्देश था।[222] मनु ने भी ऐसा ही विचार व्यक्त किया है।[223] महाभारत में कहा गया है कि गृहस्थ अपने सम्पूर्ण उत्तरदायित्व एवं कर्तव्य से मुक्त होकर आयु के तीसरे भाग में वन में जीवन व्यतीत करे। वन में स्वतः उत्पन्न अनाज, फल को खाकर जीवनयापन करे। नंगी भूमि पर शयन करे तथा जटा, दाढ़ी एवं नख बढ़ाये रखे, वल्कल धारण करे एवं किसी प्रकार का शृंगार न करे। देवताओं की उपासना एवं अतिथि-सत्कार यथोचित रूप से करता रहे। ब्रह्मचर्य, क्षमा, शौच एवं अग्निहोत्र भी करता रहे।[224] जो व्यक्ति अपने शरीर के आराम की ओर ध्यान न देकर कठोरता

से इन नियमों का पालन करता था उसके सभी पाप विनष्ट हो जाते थे।[225] इस उल्लेख से स्पष्ट होता है कि तप के ताप से पाप नष्ट होते हैं।

याज्ञवल्क्य के अनुसार वानप्रस्थी केवल वायु का भक्षण करते हुए ईशान दिशा की ओर तब तक चलता रहे जब तक कि उसकी मृत्यु न हो जाय।[226] मनुस्मृति की सम्मति में यह महाप्रयाण तभी उचित था, जब वानप्रस्थी किसी ऐसे रोग से ग्रस्त हो, जिसका उपचार असम्भव हो। ऐसी स्थिति में वायु भक्षण के साथ जल-ग्रहण करते हुए ऐसा प्रवास सम्भव था।[227] सम्भवतः यह नियम सामान्य-स्थिति में मान्य नहीं था क्योंकि वानप्रस्थ आश्रम का महत्व समाप्त होने का डर था। अतएव याज्ञवल्क्य की अपेक्षा मनु के विचार इस विषय में अधिक उचित हैं।

याज्ञवल्क्य के समान ही कौटिल्य ने भी वानप्रस्थों के कर्तव्य का उल्लेख किया है। ब्रह्मचर्य धारण कर भूमि पर शयन करे, जटाजूट धारण करे, प्रतिदिन अग्निहोत्र तथा स्नान करे, देवता, पितर एवं अतिथि की सेवा करे एवं वन में स्वयं उत्पन्न होने वाले कन्द-मूल आदि का सेवन ही वानप्रस्थी को करना चाहिए।[228]

कामन्दक ने वनवासियों के कर्तव्य के अन्तर्गत जमीन पर शयन करना, अग्नि-होत्र करना, मृगचर्म धारण करना, कन्द-मूल एवं फल खाना, लेने की इच्छा का परित्याग करना, तीन बार स्नान करना, देवता तथा आगत अतिथियों का सत्कार करना आदि रखा है।[229]

गौतम, वसिष्ठ, वायुपुराण, गरुड़पुराण आदि में भी ऐसा मत व्यक्त किया गया है।[230]

अलबीरूनी ने भी वानप्रस्थी का उल्लेख इस प्रकार किया है—"वह गृहस्थी को त्याग देता है, ब्रह्मचर्य धारण करता है, अगर उसकी पत्नी उसके साथ वानप्रस्थ नहीं अपनाती तो वह उसे अपनी संतति को सौंप देता है। वह जन-सभ्यता से बाहर रहता है और उस जीवन को पुनः अपनाता है, जिसे वह सबसे पहले आश्रम में अपना चुका था। वह छाजन की छाया के नीचे आश्रय नहीं लेता और न कोई परिधान धारण करता है। केवल कटि-भाग को ढंकने के लिए वृक्ष की छाल-मात्र पहनता है। वह पृथ्वी पर बिना किसी बिछावन के सोता है और केवल कन्द-मूल, फल खाकर अपना पोषण करता है। वह बाल बढ़ा लेता है और तेल नहीं लगाता।"[231] अलबीरूनी का उल्लेख स्पष्टतः प्राचीन भारतीय धर्म-ग्रंथों के उल्लेखों पर पूर्णतया आधारित है।

व्यवहारतः आश्रम-व्यवस्था का पालन कितने प्रतिशत लोग करते थे कहना कठिन है। किन्तु अनुमानतः कुछ लोग अवश्य ही इस व्यवस्था के अनुरूप ही जीवन-यापन करते रहे होंगे। वानप्रस्थ-जीवनयापन करने वाले कई शासकों के नाम मिलते हैं जो अपना राज्य त्यागकर वन चले गए थे। कई ऐतिहासिक शासकों ने भी इस परम्परा का अनुसरण किया था।[232] पाल-शासक विग्रहपाल ने अपने पुत्र नारायणपाल को राज्य का उत्तरदायित्व सौंपकर साधु का जीवन ग्रहण किया था। सेन शासक

सामन्तसेन वानप्रस्थाश्रम धारण करके गंगा तट-कानन चला गया था।[233] पूर्व-मध्य-कालीन शासकों के राज त्यागकर वानप्रस्थ या संन्यास-आश्रम ग्रहण करने के अनेक उल्लेख हैं। इससे स्पष्ट है कि सामान्य जन भी राजाओं के अनुरूप गृहस्थाश्रम का त्याग कर स्वत: वनगमन करते रहे होंगे।

वानप्रस्थ के कठोर नियम बाद में भी प्रचलित रहे। किन्तु नियम की कठोरता के कारण इसकी अवधि कम कर दी गयी। इसकी अवधि कम करने का कारण यह बताया गया कि अधिक तप से बुद्धि में विकार उत्पन्न हो सकता है इसलिए अपनी शक्ति के अनुसार 12, 8, 4 या मात्र एक वर्ष तक ही वानप्रस्थ के नियम का पालन किया जा सकता है।[234] इसके परिणामस्वरूप इसका अस्तित्व धीरे-धीरे समाप्त होने लगा।

यति या सन्यास-आश्रम

आश्रम-व्यवस्था का अन्तिम चरण संन्यास-आश्रम है। संन्यासी के लिए याज्ञवल्क्य ने "यति" शब्द का प्रयोग वैदिक परम्परा के अनुसार किया है।[235] "यति" का अर्थ "तपस्वी" से है। इस आश्रम में व्यक्ति मोक्ष प्राप्ति हेतु प्रयत्न करता था। संन्यासी के लिए परिव्राजक[236], भिक्षु[237], परिवाट्[238] आदि शब्दों का प्रयोग भी होता था। जब तक व्यक्ति किसी एक स्थान, कुटुम्ब, ग्राम, देश, कुल, धर्म, व्यवसाय और पद से सम्बद्ध रहता है तब तक उसके बौद्धिक-विकास और विचार-क्षेत्र सीमित रहते हैं। संन्यास की व्यवस्था सम्भवत: मनुष्य को इस सीमित दायरे से मुक्ति दिलाने के लिए की गई थी। "संन्यास" का तात्पर्य पूर्ण त्याग से है।[239]

ऋण-त्रय (देव-ऋण, पितृ-ऋण और ऋषि-ऋण) से मुक्ति पाने के पश्चात् ही व्यक्ति संन्यास-आश्रम में प्रवेश करता था, अन्यथा संन्यास-आश्रम को अपनाने का अधिकारी नहीं होता था। इस विषय में याज्ञवल्क्य ने कहा है कि गृहस्थ अथवा वान-प्रस्थ-आश्रम के बाद प्रजापति देवता की इष्टि करके दीन-दुखियों को अन्न देने वाला व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी होता है।[240] ऐसा ही विचार मनुस्मृति में भी व्यक्त किया गया है।[241]

संन्यासी का जीवन

संन्यास-आश्रम में मनुष्य सभी सांसारिक वस्तुओं का परित्याग करके, संसार का कल्याण करते हुए मोक्ष प्राप्ति के लिए साधना एवं तपस्या करता था। याज्ञवल्क्य के अनुसार, संन्यासी को प्रिय एवं अप्रिय सभी जीवों के प्रति उदासीन होना चाहिए, शान्त होकर तीन दण्ड और अधातवीय (मिट्टी, काष्ठ आदि) कमण्डलु धारण करना चाहिए। एकान्त में रहना चाहिए और सभी सांसारिक वस्तुओं का त्याग कर मात्र भिक्षा के लिए गांव में प्रवेश करना चाहिए।[242]

याज्ञवल्क्य ने संन्यासी को त्रिदण्ड—बांस के तीन पतले दण्डों को मिलाकर धारण करने की व्यवस्था दी है। मनु ने केवल "दण्ड" शब्द का ही प्रयोग किया है[243],

परन्तु अन्यत्र त्रिदण्डी की परिभाषा देते हुए उन्होंने कहा है कि त्रिदण्डी वह है जिसने अपनी बुद्धि में वाक्-दण्ड, मनो-दण्ड तथा काय-दण्ड को निहित कर लिया है।[244] इसका तात्पर्य सम्भवत: वाचिक, मानसिक तथा कायिक विषयों से निरपेक्ष होना है। सायणाचार्य "सवचैव त्रिदण्डिन:" उद्धृत करके अपनी व्याख्या में कहते हैं कि यह वाग्दण्ड आदि के विषय में है—यष्टित्रय से इसका अभिप्राय नहीं है।[245] याज्ञवल्क्य द्वारा कहे गए त्रिदण्डधारी के त्रिदण्ड को वाग्दण्डादि का प्रतीक ही समझना चाहिए। ज्ञान से विहीन व्यक्ति यदि दण्ड धारण करता है तो वह नरकगामी होता है। इसलिए त्रिदण्ड को वाग्दण्ड आदि का प्रतीक (जो कि ज्ञान के ही द्वारा सम्भव है) मानना ही उचित होगा।[246] दक्षस्मृति में कहा भी है कि बांस के त्रिदण्ड से कोई त्रिदंडी नहीं होता अपितु अध्यात्म-दण्ड से युक्त व्यक्ति ही त्रिदण्डी है।[247]

अत: जो मन, वाणी और कर्म से त्याग कर अध्यात्म की ओर प्रयत्नशील रहता था, वह त्रिदण्डधारी कहा जाता था।

संन्यासी भ्रमणशील होता था। जब तीन मुहूर्त दिन अवशेष रह जाता था तब उसे एक ही बार भिक्षाटन के लिए सायंकाल निकलना पड़ता था। जीवन चलने मात्र के लिए गांव से उसे भिक्षा लेनी थी। जिस गांव में अन्य साधु, ब्राह्मण, भिक्षुक आदि होते थे उनमें उसे भिक्षा के लिए जाना वर्जित था। संन्यासियों को अधिक भिक्षा ग्रहण करना भी वर्जित था। साथ ही ज्योतिषशास्त्र, सामुद्रिक-शास्त्र, अंग-विद्या आदि आडम्बरों को अपनाकर दाता को प्रभावित कर भिक्षा ग्रहण करने का भी निषेध था। संन्यासी को अपना पात्र जल और गोवाल द्वारा शुद्ध करना पड़ता था। संन्यासियों को सत्य, अस्तेय, अक्रोध, लज्जा, विवेक, धैर्य (दु:ख में विचलित न होना), दम (मदत्याग), इन्द्रिय-संयम आदि का पालन भी करना पड़ता था।[248] संन्यासी का जितेन्द्रिय होना अति आवश्यक था। इन्द्रियों को वश में करने पर ही व्यक्ति विशुद्ध एवं सात्विक आचरण कर सकने में समर्थ होता था। राग एवं द्वेष के त्याग से तथा अहिंसा से उसकी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होता था। संन्यासियों को अन्त:करण की शुद्धि प्राणायाम द्वारा करनी पड़ती थी, क्योंकि इससे ज्ञान की प्राप्ति होती थी।[249]

संन्यासियों को गर्भवास के कष्टों और निषिद्ध-कर्म के करने से उत्पन्न होने वाली गतियों (महारौरव नरक आदि), मानसिक कष्ट, शारीरिक रोग, वृद्धावस्था की दयनीय दशा, रूप के बिगड़ने, क्षुद्र एवं कुकर, सूकर, कीट, पतंग आदि जातियों में जन्म, इष्ट की प्राप्ति एवं अनिष्ट की अप्राप्ति आदि का विचार भी करना पड़ता था। इन सब गतिविधियों पर विचार करने का मुख्य लक्ष्य संन्यासी में सांसारिकता के प्रति वैराग्य उत्पन्न करना था। ऐसी स्थिति में ही वह एकाग्रचित्त होकर अपने लक्ष्य की प्राप्ति के प्रयास में तत्पर रह सकता था।[250]

विद्या-प्राप्ति के लिए आचार्य की सेवा, वेद शास्त्रों में विवेक, उनमें प्रतिपादित ध्यान-कर्म का अनुष्ठान, सत्संगति, प्रिय एवं हितकर वचन, स्त्री-सुख से

विमुख, समभाव, परिग्रह का त्याग, जीर्ण-शीर्ण काषाय वस्त्र का प्रयोग, जितेन्द्रिय, रजो एवं तमो गुण से मुक्त, प्राणायाम द्वारा भाव की शुद्धि और शम आदि उपायों द्वारा व्यक्ति सत्वगुण सम्पन्न होकर परमतत्व को प्राप्त करता है, योग की सिद्धि हो जाने पर शरीर का परित्याग करके योगी ब्रह्मत्व प्राप्ति में समर्थ होता है। निषिद्ध कर्तव्यों का परित्याग करके, वेदाभ्यास करते हुए, वन में निवास कर बिना याचना किये हुए अन्न का भोजन करने वाला, अल्प भोजन करने वाला व्यक्ति गुण एवं धर्म के बंधन से मुक्त होकर परमसिद्धि को प्राप्त करता है।[251]

याज्ञवल्क्य ने संन्यासियों को शरीर-तत्व के ऊपर शरीर की अनित्यता एवं गुण और कर्म की बंधनशीलता आदि को अत्यधिक विस्तार के साथ बतलाने का प्रयत्न किया है।[252] इन सबका मुख्य उद्देश्य सांसारिकता से विमुख होकर कठिन योग-साधना द्वारा कर्म और गुण के बन्धनों से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करना था।

उपनिषद्-साहित्य में संन्यास-आश्रम के छः भेद मिलते हैं। कुटीचक्र, बहूदक, हंस, परमहंस, तुरीयातीत तथा अवधूत। इनमें उनके गुण, लक्षण एवं कर्तव्यों का उल्लेख विस्तार के साथ मिलता है।[253] मनु ने केवल कुटीचक्र-संन्यासी का उल्लेख किया है।[254] याज्ञवल्क्यस्मृति में मनु द्वारा उल्लिखित कुटीचक्र-संन्यासी का भी उल्लेख नहीं मिलता। जिससे यह ज्ञात होता है कि याज्ञवल्क्य के समय तक संन्यासियों का या तो भेद समाप्त हो गया था अथवा कुटीचक्र प्रकार के संन्यासियों का ही इस आश्रम में प्राधान्य था। यह भी सम्भव है कि जीवन का अन्तिम आश्रम होने के कारण अधिक लोगों द्वारा यह परिपालित न होता रहा हो। अत्यधिक लोगों द्वारा परिपालित होने पर ही अन्यान्य प्रकार के भेद सम्भव होते। वस्तुतः याज्ञवल्क्य ने मात्र "यति" शब्द का प्रयोग करके परिव्राजकों के गुण एवं कर्म का विस्तृत विवेचन किया है।

याज्ञवल्क्य द्वारा प्रतिपादित संन्यासी के कर्तव्यों के समान उल्लेख मनु, कौटिल्य, व्यास, कामंदक एवं वसिष्ठ ने भी किया है। गरुड़पुराण, विष्णुपुराण, मत्स्य-पुराण में भी याज्ञवल्क्य द्वारा वर्णित संन्यासियों के कर्तव्यों से सम्बन्धित उल्लेख मिलता है।[255] इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि यति आदि आश्रमों से सम्बद्ध पारम्परिक मान्यताएं याज्ञवल्क्य के लगभग अनुरूप ही काफी बाद तक प्रचलित रहीं। इसका अनुमान परवर्ती साहित्यिक-प्रमाण एवं विदेशी वृत्तान्तों से भी होता है।

याज्ञवल्क्य ने संन्यासियों के विषय में जो व्यवस्था दी है उसी से सम्बन्धित व्यवस्था का उल्लेख सुलेमान ने किया है। उसके अनुसार "भारत में ऐसे लोग भी हैं, जो सदा पहाड़ों और जंगलों में घूमा करते हैं और लोगों से बहुत कम मिलते-जुलते हैं। जब भूख लगती है तब वे लोग जंगल के फल या घास-पात खा लेते हैं उनमें से कुछ लोग पूर्णतः नग्न रहते हैं। चीते की खाल का एक टुकड़ा अवश्य उन पर पड़ा रहता है। मैंने इसी प्रकार एक यात्री को धूप में बैठे हुए देखा था। सोलह वर्ष बाद जब मैं फिर उस ओर गुजरा तब भी मैंने उसको उसी प्रकार और उसी दशा में देखा। मुझे आश्चर्य है, धूप की गर्मी से उसकी आंखें क्यों न बह गई।"[256]

अलबीरूनी के अनुसार "जीवन का चौथा काल जीवन के अन्त तक चलता है। संन्यासी लाल वस्त्र और हाथ में एक दण्ड धारण करता है। सर्वथा ध्यानस्थ रहता है। वह मस्तिष्क को शत्रुता और मित्रता से तथा काम, क्रोध और लालसा से रहित कर देता है। वह किसी से एकदम सम्भाषण नहीं करता। किसी स्वर्गीय पुरस्कार-प्राप्ति के हेतु जब वह विशेष गुणयुक्त स्थानों का भ्रमण करता है तब वह मार्ग के गांव में एक दिन से अधिक और नगर में पांच दिन से अधिक नहीं रुकता। अगर कोई उसे कुछ देता है तो वह दूसरे दिन के लिए उसमें से नहीं बचाता। मुक्ति-मार्ग की चिन्ता करने और जहां से इस संसार में नहीं लौटना उस मोक्ष तक पहुंचने के अतिरिक्त उसके पास दूसरा कार्य नहीं है।"[257]

संस्कार

संस्कार का अर्थ 'शुद्धि' अथवा स्वच्छता से है। संस्कार (सम्-कृ-घञ्) शब्द का अर्थ सुसंस्कृत करना अर्थात् पुनीत कृत्यों द्वारा (शरीर और मन की) शुद्धि करना है।[258] पी०वी० काणे के अनुसार संस्कार उसे कहते हैं जिससे कोई पदार्थ या व्यक्ति किसी कार्य के योग्य हो जाता है।[259] संस्कार उसे कहते हैं जिससे कोई वस्तु अधिक उपयोगी बन जाये।[260] राजबली पाण्डेय के अनुसार संस्कार शब्द का उपयुक्त पर्याय अंग्रेजी का सेक्रामेन्ट है, जिसका अर्थ धार्मिक विधि-विधान अथवा कृत्य से है, जो आन्तरिक तथा आत्मिक-सौन्दर्य का बाह्य तथा हृदय-प्रतीक माना जाता है और जिसका व्यवहार प्राच्य, प्राक् सुधारकालीन पाश्चात्य तथा रोमन कैथोलिक चर्च बपतिस्मा, सम्पुष्टि (कन्फर्मेन), यूखारिस्त व्रत (पेनान्स), अभ्यन्जन (एकस्टीम अक्शन), आदेश तथा विवाह के सत्कृत्यों के लिए करते थे। अतएव पाण्डेय ने संस्कार की परिभाषा करते हुए कहा है कि इसका अभिप्राय शुद्धि की धार्मिक-क्रियाओं तथा व्यक्ति के दैहिक, मानसिक और बौद्धिक-परिष्कार के लिए किये जाने वाले अनुष्ठानों से है जिससे वह समाज का पूर्ण विकसित सदस्य हो सके।[261]

मानव-जीवन में संस्कारों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। प्रत्येक भारतीय अपने जीवन में पूर्ण रूप से इसका पालन करता है। यह व्यक्ति के आन्तरिक-गुणों की समुन्नति तथा बाह्य-विकास को संगठित करता है। पाण्डेय ने संस्कार के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि संस्कार मानव-जीवन के परिष्कार और शुद्धि में सहायक होते हैं। व्यक्तित्व के विकास में योगदान करते हैं तथा मानव-शरीर को पवित्र करते हैं। इतना ही नहीं वे मनुष्य की समस्त भौतिक तथा आध्यात्मिक महत्त्वाकांक्षाओं को गति प्रदान करते हैं और उसे जटिलताओं तथा समस्याओं के संसार से मुक्ति दिलाते हैं।[262] अत: मानव-व्यक्तित्व के विकास के लिए यह अनिवार्य माना गया है। संस्कार व्यक्ति के जन्म से मृत्यु तक के सभी क्रिया-कलापों का मार्ग-दर्शन करते हैं। आध्यात्मिक, शारीरिक और मानसिक-शुद्धि के साथ ही संस्कार मानव के समक्ष भावी-जीवन की उत्थानमयी परम्परा प्रस्तुत करते हैं।

मनु ने तेरह संस्कारों का उल्लेख किया है—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातककर्म, नामधेय, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, उपनयन, केशान्त, समावर्त्तन, विवाह एवम् अन्त्येष्टि। याज्ञवल्क्य ने मनु द्वारा प्रतिपादित संस्कारों की संख्या का समर्थन किया है किन्तु उन्होंने केशान्त का उल्लेख नहीं किया है। सम्भवतः याज्ञवल्क्य के समय में केशान्त का प्रचलन नहीं रह गया था।[263] राजबली पाण्डेय का विचार है कि इस सूची से केशान्त के लोप का कारण सम्भवतः वैदिक स्वाध्याय का ह्रास तथा उसका समावर्त्तन के साथ सम्मिश्रण है।[264] गौतम ने संस्कारों की संख्या चालीस दी है।[265] व्यास ने गर्भाधान से अन्त्येष्टि तक 16 संस्कारों का उल्लेख किया है।[266] प्रायः सभी धर्मशास्त्रकार संस्कारों की संख्या सोलह मानते हैं—गर्भाधान, पुंसवन। सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, कर्णवेध, विद्यारम्भ, उपनयन, वेदारम्भ, केशान्त, समावर्त्तन, विवाह और अन्त्येष्टि। शिलालेखों से उच्चवर्ग के लोगों में चार प्रकार के संस्कारों के प्रचलन का पता चलता है। ये हैं जन्मोत्सव, नामकरण, विवाह तथा श्राद्ध-संस्कार।[267] यह असम्भव नहीं कि अभिलेखों में केवल इन्हीं चार संस्कारों का उल्लेख इसलिए मिलता है कि वे अन्य संस्कारों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण थे।[268]

गर्भाधान

इस संस्कार के माध्यम से पुरुष स्त्री में अपना बीज स्थापित करता है[269] और सन्तान की कामना करता है। इस संस्कार का प्रचलन वैदिक-काल से है।[270] याज्ञवल्क्य ने ऋतु-स्नान के बाद चौथी रात्रि से सोलहवीं रात्रि तक गर्भधारण के लिए उपयुक्त समय बताया है। रात्रि का समय ही गर्भधारण के लिए समीचीन माना गया है। दिन का समय वर्जित था। 8वीं, 15वीं और 30वीं रात्रियां गर्भ-धारण के लिए पूर्णतया निषिद्ध थी। पुत्र-प्राप्ति की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को समरात्रियों में स्त्रीगमन करना चाहिए।[271] मिताक्षरा और अपरार्क का विचार है कि गर्भाधान-संस्कार मात्र एक बार, सर्वप्रथम विवाहिता स्त्री के साथ किया जाय। संस्कार की समाप्ति पर भेंट और भोज का भी विधान है।[272]

पुंसवन

याज्ञवल्क्य का कथन है कि जब बालक की स्थिति गर्भ में स्पष्ट हो जाय अथवा गर्भ चलने लगे तब यह संस्कार होता था।[273] गर्भ में प्रतिष्ठित शिशु को पुत्र-रूप देने के लिए यह संस्कार किया जाता था। बृहस्पति के अनुसार गर्भ के स्पन्दन-शील होने के बाद ही इस कृत्य को किया जाता था।[274] शांख्यायन गृह्यसूत्र के अनुसार इस संस्कार का सम्पादन तिष्य नक्षत्र अथवा श्रावण में करना चाहिए।[275] सोमेश्वर का मन्तव्य है कि दूसरे मास के मध्य में घी-युक्त जौ स्त्री को चढ़ाकर वेदमन्त्र का उच्चारण करे।[276] वाजसनेयी-संहिता के अनुसार इस समय हिरण्यगर्भ-मन्त्र का

उच्चारण किया जाता है। यह पुत्रोत्पत्ति से सम्बन्धित मन्त्र है। पुराणों से सूचना मिलती है कि तेजस्वी-पुत्र की प्राप्ति के लिए यह संस्कार होता था।[277]

जातक-कर्म

पुत्र-जन्म के समय जातक-कर्म-संस्कार सम्पादित होता था। मनु के अनुसार नाभि-छेदन (नाल कटाने) के पहले जातकर्म किया जाता था। पारस्कर ने नाल कटने के पूर्व इसका विधान बतलाया है। तैत्तिरीय-संहिता में उल्लिखित है कि पुत्र उत्पन्न होने पर बारह विभिन्न पात्रों में पकी रोटी की बलि वैश्वानर को देनी चाहिए। वह पुत्र जिसके लिए यह कर्म किया जाता है, पवित्र, गौरव तथा धन-धान्य से परिपूर्ण होता है। व्यास एवं गौतम ने भी जातक-कर्म के विधि-विधानों का उल्लेख किया है।[278] अलबीरुनी लिखता है कि पत्नी द्वारा पुत्र-प्रसव करने के बाद और मां द्वारा उसका पोषण प्रारम्भ करने के बीच जातककर्म नामक तीसरा यज्ञ किया जाता है।[279] जातक-कर्म की सूचना अभिलेखों से भी मिलती है। गाहड़वाल नरेश जयचन्द्र ने अपने पुत्र हरिचन्द्र के जातककर्म के अवसर पर पुरोहित प्रहराज शर्मन को बदेसर ग्राम दान में दिया था।[280] जन्मोत्सव के अवसर पर 'गौ' और 'निष्क' आदि ब्राह्मणों को दान दिया जाता था। जन्म-दिवस की वार्षिक-तिथि पर उत्सव कर दान देने का प्रचलन समृद्धिशाली लोगों के बीच परवर्ती युग में हुआ।[281] आज भी इस परम्परा का परिपालन समाज में व्यवहृत होता है।

नामकरण

याज्ञवल्क्य का विचार है कि जन्म लेने के ग्यारहवें दिन नामकरण-संस्कार सम्पादित किया जाता था।[282] भारत में नाम का अतिशय महत्व रहा है। 'बृहदारण्यक-उपनिषद्' में नाम के महत्व से सम्बद्ध एक संवाद मिलता है। प्रश्न है कि मरने के पश्चात् पुरुष को क्या नहीं छोड़ता है? इसका उत्तर है कि वह 'नाम' है। इसी नाम से वह अनन्त लोकों को जीतता है, नाम भी अनन्त होते हैं।[283] मनु का कथन है कि दशवें या बारहवें दिन शुभ-तिथि, नक्षत्र और मुहूर्त्त में नामकरण-संस्कार का विधि-विधान करना चाहिए। भाष्यकार विश्वरूप और कुल्लुक का मन्तव्य है कि इसे 11वें दिन सम्पन्न करना चाहिए। बृहस्पति से यह ज्ञात होता है कि शिशु का नामकरण जन्म से दशवें, बारहवें, तेरहवें, उन्नीसवें अथवा बत्तीसवें दिन सम्पन्न करना चाहिए।[284] अभिलेखों के अध्ययन से यह संस्कार पुत्र-जन्म के उन्नीस दिन बाद सम्पन्न करने का अनुमान होता है।[285]

सुन्दर, शोभन और कर्णप्रिय नाम अच्छे माने गए हैं। नाम प्रायः देवताओं, नक्षत्रों आदि के नाम पर रखने का निर्देश दिया गया है। देव-नाम, मास-नाम, नक्षत्र-नाम और व्यावहारिक नाम शिशु को प्रदान किये जाते थे।[286] धर्मशास्त्रकारों के अनुसार गोद में शिशु को रखकर मां अपने पति के दाहिने बैठती है। कुछ लोगों के मत से मां

ही गुह्यनाम देती है और धान की भूँसी कांसें के पात्र में छिड़ककर सोने की लेखनी से 'श्रीगणेशायनमः' लिखने के बाद शिशु के चार नाम लिखती है, यथा—कुल देवता मास-नाम, व्यावहारिक नाम तथा नक्षत्र-नाम । इससे माता द्वारा नामकरण करने की सूचना मिलती है ।[287] सभी वर्णों का नाम शुभसूचक, शक्ति-बोधक, एवं शान्ति प्रदान करने वाला होना चाहिए ।[288] कन्नौज के गाहड़वाल शासक जयचंद्र ने अपने पुत्र हरिचन्द्र का नामकरण-संस्कार तीन सप्ताह बाद किया था ।[289]

निष्क्रमण

जन्म के पश्चात् प्रथम बार शिशु को गृह से बाहर निकालने को निष्क्रमण कहा जाता था । निष्क्रमण-संस्कार सम्पन्न होने के पश्चात् ही बच्चों को बाहर लाया जाता था । यह संस्कार जन्म के चौथे मास में होता था ।[290] मनु ने भी इसी तरह का विचार व्यक्त किया है ।[291] शुभ-तिथि को शिशु पूजन-पाठ के पश्चात् गृह के बाहर प्रकृति के स्वच्छन्द वातावरण में लाया जाता था । बच्चे को मां की गोद में रखकर सर्वप्रथम उसे सूर्य का दर्शन कराया जाता था । इसके पश्चात् पिता उसे स्वयं लेकर सूर्य-दर्शन कराता था । कभी-कभी तीसरे महीने में सूर्य का दर्शन तथा चौथे महीने में चन्द्र का दर्शन कराया जाता था ।[292] सूर्य या आदित्य की प्रधानता होने से इस संस्कार को आदित्य-दर्शन भी कहते हैं । भारतीय धारणा के अनुसार सूर्य ज्ञान-विज्ञान का परम निधान है । उससे शिशु को ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति हो सके—इसी उद्देश्य से सूर्य के दर्शन को शिशु के अभ्युदय-पथ में महत्वपूर्ण स्थान मिला है । सूर्य का दर्शन कराते समय पिता वैदिक श्लोकों का पाठ करता था ।[293]

अन्नप्राशन

याज्ञवल्क्य के अनुसार यह संस्कार छठे मास में किया जाता था ।[294] आयुर्वेद के अनुसार लघु और हितकर आहार छः माह के शिशु को दिया जाना चाहिए ।[295] साधारणतः शिशु को प्रारम्भ में चावल, दही, मधु और घी का मिश्रित भोजन कराया जाता था । भोजन का ग्रास देते समय 'भूः भुवः स्वः' का उच्चारण पिता करता था । कुछ विचारकों ने अन्यान्य गुणों की निष्पन्नता के लिए विविध-प्रकार के मांस का प्राशन भी इस संस्कार के योग्य माना है ।[296] कभी-कभी यह संस्कार वर्ष के अन्त में भी सम्पन्न किया जाता था ।[297]

चूड़ाकरण

याज्ञवल्क्य का विचार है कि चूड़ाकरण-संस्कार कुल की रीति के अनुसार सम्पन्न करना चाहिए ।[298] शिशु के बाल जब प्रथम बार काटे जाते थे तभी यह संस्कार होता था ।[299] मनु ने निर्देश दिया है कि सभी द्विजाति बालकों का मुण्डन-संस्कार वेद और धर्मसम्मत रूप से पहले या तीसरे वर्ष में करया जाता था ।[300] पारस्कर-गृह्यसूत्र से सूचना मिलती है कि यह संस्कार जन्म के प्रथम वर्ष के अन्त में अथवा तीसरे,

पांचवें या सातवें वर्ष में करना चाहिए। प्राय: सभी आचार्यों ने यह संस्कार तीसरे वर्ष में सम्पन्न करने का आदेश दिया है।[301] अलबीरूनी ने भी प्रथम बार बाल काटने का आयोजन तीन साल बाद करने का उल्लेख किया है।[302] मानसोल्लास में मुण्डन-संस्कार दो वर्ष के पश्चात् अर्थात् तीसरे वर्ष में करने का उल्लेख है।[303] आपस्तम्ब गृह्यसूत्र के अनुसार यह संस्कार उस समय करना चाहिए जब चन्द्रमा पुनर्वसु नक्षत्र में हो।[304]

विवाह

हिन्दू विवाह एक धार्मिक-संस्कार है। आपस्तम्ब का कथन है कि विवाह के दो उद्देश्य हैं धर्म तथा प्रजा। रति मात्र इसका लौकिक उद्देश्य है।[305] ऋग्वेद में विवाह का उद्देश्य गृहस्थ होकर देवयज्ञ करना तथा सन्तानोत्पत्ति करना बताया गया है।[306] याज्ञवल्क्य से स्पष्ट होता है कि पुत्रोत्पत्ति, धार्मिक-कृत्य, सेवा, सर्वोत्तम आनन्द तथा स्वर्ग की प्राप्ति आदि विवाहिता पत्नी पर निर्भर है।[307] अतः विवाह गृहस्थ-जीवन का मूल है।

सभी आश्रम गृहस्थाश्रम पर आश्रित हैं। इसलिए यह सभी आश्रमों में श्रेष्ठ है। गृहस्थ-आश्रम में प्रवेश पाने के लिए विवाह आवश्यक था जिसे धार्मिक-संस्कार के रूप में स्वीकार किया गया है। जिसका विस्तृत विवरण एक अलग संस्था के रूप में आगे किया जायेगा।

अन्त्येष्टि

व्यक्ति के मरने पर अन्त्येष्टि-संस्कार सम्पन्न होता था यह मानव जीवन का अन्तिम-संस्कार था। यह संस्कार मृतक की आत्मा की शान्ति के लिए किया जाता था। बौधायन के मत में जन्म के पश्चात् के संस्कारों द्वारा व्यक्ति इस लोक को जीतता है और अन्त्येष्टि के द्वारा स्वर्ग को जीतता है।[308] हिन्दुओं में वैदिक-काल से लेकर आज तक मृतक शरीर का दाह शव-व्यवस्था का मान्य प्रकार रहा है। यह पद्धति सभ्यता के उच्चस्तरीय विकास की द्योतक है क्योंकि कि यह सर्वाधिक वैज्ञानिक तथा परिष्कृत है।[309]

श्मशान में मृतक के शव-दाह के साथ अन्त्येष्टि-क्रिया मंत्रों द्वारा सम्पन्न की जाती थी।[310] मृत आत्मा को शान्ति प्रदान करने के लिए श्राद्धकर्म किया जाता था।[311] प्रथम एकोद्दिष्ट-कर्म मृत्यु के ग्यारहवें दिन होता था। पिण्ड, गाय, बकरा, ब्राह्मण के लिए अथवा अग्नि या जल में दिया जाता था। मान्यता थी कि पितृगण मांस से अधिक तृप्त होते हैं। श्राद्ध में गैंडा, मछली, तीनी का चावल, लाल तथा श्वेत बकरे का मांस, महानक्षत्र होने पर गया में जो इनका पिण्डदान देता है। वह सम्पूर्ण अनन्त फल का उपभोग करता है। श्राद्ध के अवसर पर ब्राह्मणों को आदर एवं सम्मानपूर्वक भोजन कराकर दान एवं दक्षिणा से तृप्त किया जाता था। इससे मृतक की आत्मा को शान्ति मिलती थी।[312]

वासुदेवता, रुद्र और आदित्य एवं पितर ये श्राद्ध के देवता श्राद्ध-प्रक्रिया से

प्रसन्न होकर पितरों को तृप्त करते हैं। प्रसन्न-पितृगण लम्बा-जीवन, सन्तान, विद्या, धन, सुख, राज्य एवं मोक्ष प्रदान करते हैं। पूर्व-मध्यकालीन अभिलेखों से सूचना मिलती है कि मृतक-संस्कार के अन्तर्गत श्राद्ध-प्रक्रिया सम्पन्न की जाती थी। यह श्राद्ध-विधान मृतकों के भावी कल्याण के लिए प्रतिवर्ष किया जाता था। भोजन की व्यवस्था पूरे एक वर्ष के लिए की जाती है, क्योंकि यह विश्वास है कि मृतक को यमलोक पहुँचने में पूरे एक वर्ष का समय लगता था।[313]

विवाह

विवाह का हिन्दू सामाजिक संस्थाओं में बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। गृहस्थ जीवन का प्रारम्भ विवाह से ही माना गया है।[314] विवाह को संस्कार माना गया है। हिन्दू-संस्कारों में विवाह का महत्वपूर्ण स्थान है। धार्मिक चेतना का विकास होने पर विवाह मात्र सामाजिक आवश्यकता ही न रहा अपितु वह प्रत्येक व्यक्ति का एक अनिवार्य धार्मिक-कर्त्तव्य समझा जाने लगा।[315]

इहलोक तथा परलोक में सुखाभिलाषी व्यक्ति को गृहस्थाश्रम का पालन करना चाहिये। दुर्बलेन्द्रिय व्यक्ति गृहस्थाश्रम को धारण नहीं कर सकता। इससे स्पष्ट है कि जो व्यक्ति विवाह नहीं करता था वह हीन समझा जाता था। अपरार्क ने याज्ञवल्क्य-स्मृति, 1-51 पर किसी अज्ञात लेखक का निम्नांकित वचन उद्धृत किया है। "हे भूप! पत्नी धर्म, अर्थ तथा काम की सिद्धि का श्रेष्ठतम साधन है। कोई भी अविवाहित पुरुष चाहे ब्राह्मण हो या क्षत्रिय, वैश्य हो या शूद्र, धार्मिक क्रियाओं का अधिकारी (कर्मयोग्य) नहीं हो सकता।[316]

अन्य प्राचीन देशों में भी विवाह को अत्यन्त सम्मानित स्थान प्राप्त था। इसराइल में इसका आदर उन्हीं कारणों से था, जिनसे हिन्दुओं में।[317] स्पार्टा में अविवाहित व्यक्ति अनेक अधिकारों से वंचित कर दिए जाते थे और युवक अविवाहित वयोवृद्धों का आदर नहीं करते थे।[318] ईसाई धर्म के नेता सन्तपाल की सम्मति है कि भ्रष्टाचार के विरोध के लिए प्रत्येक पुरुष की अपनी पत्नी होनी चाहिए और प्रत्येक स्त्री का अपना पति। किन्तु इस संदिग्ध-स्वीकृति के तुरन्त बाद वे आगे कहते हैं कि यह केवल अनुमति मात्र है, आदेश नहीं......क्योंकि मैं चाहता हूँ कि सभी पुरुष मेरे समान हों......अतः मैं अविवाहित पुरुषों व स्त्रियों से कहना चाहता हूँ कि यदि वे मेरे समान नियमों का पालन कर सकें तो अतिउत्तम है। किन्तु यदि उनमें यह क्षमता न हो तो उन्हें विवाह कर लेना चाहिए, क्योंकि भ्रष्टाचार व अन्तर्दाह की अपेक्षा विवाह ही अच्छा है। सन्तपाल और परवर्ती ईसाई पादरियों की कृतियों से यह स्पष्ट होता है कि विवाह मात्र एक शारीरिक ही नहीं आध्यात्मिक व्यवस्था भी है और शारीरिक-सम्बन्ध आध्यात्मिक-सम्बन्ध के बिना पूर्ण है।[319]

याज्ञवल्क्य प्रारम्भ में ही "अनन्यपूर्विकाम्" कहकर पुरुष को ऐसी स्त्री से

विवाह करने का आदेश देते हैं जो किसी दूसरे की विवाहिता न हो ।[320] "विवाह" शब्द का अर्थ व्युत्पत्ति की दृष्टि से "ले जाना" होता है (उद्वहनम्-नयनम्) । विवाहोपरान्त पति द्वारा स्त्री को ले जाने के कारण ही इस संस्कार को विवाह-संस्कार कहा गया है ।[321] विवाह के लिए संस्कृत-साहित्य में अनेक शब्द प्रचलित हैं जैसे परिणय, उपयम, पाणिग्रहण इत्यादि । 'परिणय' का तात्पर्य है, चारों ओर घूमना यानी अग्नि की प्रदक्षिणा करना । 'उपयम' का अर्थ है नजदीक लाकर अपना बनाना तथा 'पाणिग्रहण' का तात्पर्य है, वधू का हाथ ग्रहण करना ।[322] शब्दकल्पद्रुम में विवाह का अर्थ "विशिष्ट वहनम्" कहा गया है ।[323] प्राचीन भारतीय साहित्य के आधार पर हिन्दू-विवाह एक संस्कार माना जाता है ।[324] वस्तुत: हिन्दू-विवाह जन्म-जन्मान्तर तक चलने वाला एक पवित्र धार्मिक-संस्कार है । इससे पति एवं पत्नी जीवन के मुख्य लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करने का संयुक्त प्रयास करते हैं ।

विवाह का उद्देश्य

विवाह का उद्देश्य अत्यन्त पवित्र एवं गौरवशाली है । याज्ञवल्क्य के अनुसार धर्म का पालन, पुत्र-प्राप्ति एवं रति-सुख विवाह के प्रमुख उद्देश्य हैं ।[325] मनुस्मृति में भी इसी तरह का विचार व्यक्त किया गया ।[326] आपस्तम्ब का कथन है कि धर्म तथा प्रजा विवाह के दो प्रधान उद्देश्य हैं । रति विवाह का मात्र लौकिक उद्देश्य है ।[327] सम्भव है कि रति इसका निम्नतम उद्देश्य रहा हो । रामायण के अनुसार विवाह के तीन उद्देश्य होते हैं : रति, प्रजा और धर्म । इनमें भी धर्म को प्रमुख कहा गया है ।[328] साहित्य के आधार पर कपाडिया ने भी विवाह का उद्देश्य धर्म, प्रजा और रति माना है ।[329]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विवाह के धार्मिक एवं सामाजिक-उद्देश्य इसके इन तीनों उद्देश्यों से पूरे हो जाते थे । रति-सुख मनुष्य की शारीरिक आवश्यकता को पूर्ण करता था । इस प्रकार कह सकते हैं कि भारतीय विचारकों ने विवाह में व्यक्ति के साथ ही साथ समाज एवं धर्म की आवश्यकताओं को भी समाहित किया था ।

कुल अथवा वंश

विवाह सम्बन्ध स्थापित करने में वर-कन्या के वंश का निर्धारण सर्वप्रथम किया जाता था । सम्बद्ध-पक्ष के लोग एक दूसरे के कुल की स्थिति जानकर उत्तमता का आकलन करते थे । इस प्रकार वर एवं वधू पक्ष के लोग अच्छे कुल को खोजते थे । याज्ञवल्क्य ने कुलीनता की व्याख्या इस प्रकार की है; "दस पीढ़ियों (पुरुष) से विख्यात श्रोत्रियों का कुल ही श्रेष्ठ है ।" इस पर टीका करते हुए विज्ञानेश्वर कहते हैं—"वह कुल श्रेष्ठ माना जाता है, जो माता तथा पिता दोनों की ओर से पाँच-पाँच पीढ़ियों से अपनी विद्या तथा चरित्र के लिए विख्यात हो ।[330] किन्तु यदि महान् कुल में भी संसर्गज-रोग हो तो उससे कन्या नहीं लेनी चाहिए ।[331] इस सम्बन्ध में

आश्वलायन का निर्देश है कि माता और पिता दोनों पक्षों की वंश परीक्षा की जानी चाहिए ।[332] उत्तम कुल के पुरुष को उत्तम कुल से ही सम्बन्ध स्थापित करने का आदेश दिया है । कुल को सतपथ के मार्ग पर ले जाने वाले व्यक्ति को अधम कुल का परित्याग कर देना चाहिए ।[333]

बधू की योग्यता

प्राचीन परम्परा के अनुसार ही याज्ञवल्क्य ने जाति, पिण्ड, गोत्र आदि के अतिरिक्त बधू के व्यक्तिगत गुणों की विवेचना की है । याज्ञवल्क्य के अनुसार ब्रह्मचर्य एवं शुभ लक्षण से युक्त, सुन्दरी, असपिण्ड, आयु तथा शरीर-प्रमाण में अपने से छोटी, रोग आदि से मुक्त, भाई वाली, अन्य गोत्र एवं प्रवर वाली स्त्री से विवाह करना चाहिए । मनु के अनुसार ऐसी स्त्री से विवाह करना चाहिए, जो शारीरिक दोषों से मुक्त हो, जिसका नाम सौम्य हो, जिसकी गति हंस या हाथी के समान हो, जिसके शरीर पर कम तथा सिर पर केश पर्याप्त हों, जिसके दाँत छोटे तथा अवयव मृदु एवं कोमल हों ।[334] वसिष्ठ के अनुसार गुरु की आज्ञा से स्नान कर असमान गोत्र वाली, ब्रह्मचर्ययुक्त अपनी अवस्था से कम आयु वाली तथा समान गुण वाली वधू से विवाह करना चाहिए । शतातप के विचार में हंस के समान मधुरवाणी, मेघ तुल्य वर्ण वाली, मधुर एवं विशाल आँखों वाली स्त्री के साथ वैवाहिक-सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए ।[335]

भारद्वाज के मत में कन्या के चित्त, रूप, प्रज्ञा और बांधव आदि चार गुणों पर विचार करना चाहिए ।[336] स्त्री जैसे गुण का तात्पर्य था पुत्र उत्पन्न करने में समर्थ । इस विषय में मिताक्षरा का कथन है कि स्त्री वह है जो नपुंसकत्व (बन्ध्यत्व) निवृत्ति के लिए स्त्रीत्वेन (संभाव्य मातृत्वेन) परीक्षित हो ।[337]

अयोग्यताएं

मनु के अनुसार भूरे वर्ण वाली, अधिक अंगो वाली, रोगिणी रोम-रहित अथवा अधिक रोम से युक्त, वाचाल तथा भूरे नेत्र वाली स्त्री से विवाह नहीं करना चाहिए । नक्षत्र, पेड़, नदी, पहाड़, सर्प, पक्षी, दूत अथवा दासी के नाम वाली तथा भयंकर नाम वाली स्त्री भी विवाह के लिए अनुपयुक्त मानी गयी है ।[338] वीर-मित्रोदय ने भी इसी तरह का विचार व्यक्त किया है । विष्णु-पुराण से भी इस विषय में विस्तृत सूचना मिलती है ।[339]

उपर्युक्त निषेध के मूल में यह कारण प्रतीत होता है कि उक्त नाम मूलतः असंस्कृत, असभ्य तथा वन्य-जातियों में अधिक प्रचलित थे, फलतः उनकी स्त्रियों से विवाह रोकने के लिए यह व्यवस्था दी गई होगी ।[340]

वर की योग्यताएं

याज्ञवल्क्य के मत में बधू के समान वर में भी वही गुणा होने चाहिए । वर सवर्ण एवं शिक्षित होना चाहिए । उसका पौरुष भलीभांति परीक्षित होना चाहिए ।

वह युवा, बुद्धिमान् और देखने में सुन्दर होना चाहिए। मनु का कथन है कि ब्रह्मचर्य का विधिवत पालन करते हुए तीन, दो या एक वेद का विधिपूर्वक अध्ययन करने पर ही ब्रह्मचारी गृहस्थाश्रम में प्रविष्टि हो सकता है। ऐसा ब्रह्मचारी गुरु की आज्ञा से विधिवत स्नान कर समावर्तन संस्कार के बाद ही अपने वर्ण व शुभ-लक्षणों से युक्त वधू से विवाह कर सकता है।[341] गौतम के अनुसार विद्या, चरित्र, बान्धव तथा शील-युक्त वर के साथ वधू का विवाह करना चाहिए।[342] इसी तरह का विचार आपस्तम्ब ने भी व्यक्त किया है। नारद ने चौदह प्रकार के नपुंसक-पुरुषों का उल्लेख किया है जो विवाह के लिए वर्जित है।[343]

कौमार्य जो वधू के लिए इतना आवश्यक था वर के विषय में सम्भवत: इतना अनिवार्य नहीं था यद्यपि उससे ब्रह्मचर्य की अपेक्षा की जाती थी। एक पुरुष अपनी पत्नी की मृत्यु होने पर, उसके शरीर से अशक्त अथवा नैतिक-दृष्टि से पतित होने पर ही दूसरा विवाह कर सकता था। पुरुष के लिए द्वितीय विवाह धार्मिक कारणों से आवश्यक समझा जाता था। व्यवस्था मिलती है कि मृत पत्नी की क्रिया के बाद यथाशीघ्र दूसरा विवाह करना चाहिए।[344] पुरुष में सबसे महत्त्वपूर्ण गुण पुरुषत्व था। उसके अन्य गुण गौण थे। नारद ने पुंसत्त्व परीक्षण की विधियों पर प्रकाश डालकर याज्ञवल्क्य का समर्थन किया है।[345]

मनु तथा याज्ञवल्क्य ने नपुंसक को अयोग्य बताया है। कभी-कभी ऐसे लोग भी विवाह कर लेते थे। मनु एवं याज्ञवल्क्य आदि ने ऐसे विवाह को न्यायानुकूल माना है और इनके पुत्र (नियोग से उत्पन्न) को औरस-पुत्रों के समान ही धन-सम्पत्ति का अधिकारी माना है।[346]

वैवाहिक आयु

पच्चीस वर्ष की आयु ब्रह्मचर्य आश्रम में व्यतीत करने के बाद ब्रह्मचारी गुरु की आज्ञा से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। इस प्रकार वर की आयु सम्भवत: 25 वर्ष या कुछ अधिक होती थी। कन्या का विवाह रजोदर्शन के पूर्व करने का विधान था। कन्यादान करने का अधिकारी व्यक्ति यदि ऐसा नहीं करता तो कन्या के प्रत्येक ऋतुकाल में उसे भ्रूण हत्या का पाप लगता है। यदि कन्यादान करने वाला कोई न हो तो कन्या योग्य वर का चुनाव स्वयं कर सकती है।[347] इसका समर्थन प्राय: सभी धर्मशास्त्र करते हैं।[348] अत: कन्याओं की वैवाहिक-आयु 10 से 12 वर्ष लगभग रही होगी।

इस विषय में मनु का मन्तव्य है कि तीस वर्ष की आयु वाला पति बारह वर्ष की अवस्था वाली कन्या से विवाह करे अथवा जल्द विवाह करने वाला व्यक्ति चौबीस वर्ष की वय में आठ वर्ष की आयु वाली कन्या से विवाह करे। 12 वर्ष की कन्या को कौटिल्य ने भी विवाह योग्य माना है। गौतम तथा पराशर भी 12 वर्ष की कन्या के विवाह की व्यवस्था दी है।[349]

कन्या के विवाह को आयु को इतना कम बतलाने का अर्थ विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है। कम आयु में विवाह किये जाने पर कन्या के मस्तिष्क में अपने भावी पति का किसी भी प्रकार का चित्र अंकित नहीं होता, परन्तु अवस्था अधिक होने पर मस्तिष्क में ऐसे चित्रों की रूपरेखा आ जाना स्वाभाविक नहीं है, अधिक अवस्था में ये चित्र अधिक गहरे हो सकते हैं। फलतः अधिक अवस्था में किये जाने वाला विवाह यदि कन्या के मानसिक चित्र के अनुरूप न हुआ हो तो पारिवारिक-वातावरण में तनाव आने की सम्भावना रहती है। कम आयु में विवाह करने से इस दोष का परिमार्जन हो सकता है। मनोवैज्ञानिक आधार पर देखने पर भी कम आयु में किये जाने वाले विवाह लाभदायक सिद्ध होते हैं।[350]

विवाह के प्रकार

प्राचीन परम्परा का परिपालन करते हुए याज्ञवल्क्य ने मनु के अनुसार आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख किया है[351] जो किसी न किसी रूप में समाज में प्रचलित रहे हैं। अन्य धर्मशास्त्रों से भी 8 प्रकार के विवाहों की सूचना मिलती है।[352] लुडविक ने वैधानिक दृष्टि से 11 प्रकार के हिन्दू-विवाहों का उल्लेख किया है।[353] समाज में इतने प्रकार के विवाहों की आवश्यकता ही क्या थी ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि व्याप्त सामाजिक, जातीय एवं सांस्कृतिक वैविध्यता के मध्य विभिन्न प्रकार के विवाह स्वाभाविक हैं।[354]

(1) **ब्राह्म विवाह**—इस विवाह में योग्य वर को बुलाकर यथाशक्ति वस्त्र एवं आभूषण से कन्या को अलंकृत करके वर को प्रदान किया जाता है। ऐसे विवाह से उत्पन्न पुत्र इक्कीस पीढ़ियों को पवित्र करता है। इसमें पति-पत्नी के साथ मिल-कर धर्म का आचरण करते हैं। यह सर्वाधिक विकसित प्रकार था। इसे ब्राह्म-विवाह कहते थे, क्योंकि यह ब्राह्मणों के योग्य समझा जाता था।[355] वर्तमान समय में यह विवाह अधिक प्रचलित है।

(2) **दैव विवाह**—यज्ञानुष्ठान के ससय ऋत्विज को वस्त्र-आभूषण से अलं-कृत करके कन्या देना दैव-विवाह कहलाता है। दैव-विवाह से उत्पन्न पुत्र 14 पीढ़ियों को पवित्र करता है।[356] बौधायन के अनुसार कन्या दक्षिणा के रूप में प्रदान की जाती थी।[357] अलतेकर का कथन है कि "दैव-विवाह वैदिक-यज्ञों के साथ-साथ लुप्त हो गया।"[358] इस विवाह को दैव नाम इसलिए दिया गया क्योंकि दैव-यज्ञ पर ही यह सम्पन्न होता था।

(3) **आर्ष-विवाह**—वर-पक्ष, कन्या-पक्ष को दो गायें देता है तो कन्या-पक्ष उसे कन्यादान देता है। इस प्रकार के विवाह को आर्ष-विवाह कहते हैं। आर्ष-विवाह से उद्भुत पुत्र छः पीढ़ियों को पवित्र करता हैं। महाभारत से ज्ञात होता है कि शल्य ने अपनी बहन माद्री के विवाह के लिए कुल-प्रथा के अनुसार, अत्यधिक संकोच के साथ भीष्म से विक्रय-मूल्य लिया था।[359] जैमिनि[360] का कथन है कि वर द्वारा धार्मिक

क्रियाओं को सम्पन्न कराने का दान वधू के मूल्य के रूप में नहीं माना जा सकता है। मेगस्थनीज की सम्मति है कि भारत में विवाह के अवसर पर एक गाय और एक बैल दान में दिये जाते थे।[361] इससे यह ज्ञात होता है कि चौथी शताब्दी ई० पू० में आर्ष-विवाह का प्रचलन था।

(4) **प्रजापत्य-विवाह**—विवाहेच्छुक पुरुष के साथ रहकर धर्म का व्यवहार करो, ऐसा कहकर जब कन्या दी जाती है, तो इसे प्रजापत्य-विवाह कहते हैं। इससे पैदा पुत्र अपने से पहले की छः एवं बाद की छः पीढ़ियों को पवित्र करता है।[362] मनु ने भी इसी तरह का विचार व्यक्त किया है। जनक ने अलंकृत सीता को राम के सामने लाकर कहा है कि यह मेरी पुत्री तुम्हारी सहधर्मचारिणी है।[363] कौटिल्य के अनुसार कन्या और वर का परस्पर यह नियम कराकर कि हम दोनों मिलकर धर्म का आचरण करेंगे, विवाह कर देना प्रजापत्य-विवाह है।[364] अलतेकर की मान्यता है कि विवाहों के सात प्रकार को सम बनाने के उद्देश्य से प्रजापत्य के अन्दर एक भेद ब्राह्म कर दिया गया है।[365] बाल-विवाह के प्रचलित होने पर इसका ह्रास हो गया, क्योंकि इस प्रकार के विवाह के लिए केवल प्रौढ़ युवक व युवतियां ही समर्थ थीं, जो उस प्रतिज्ञा के अर्थ को समझ सकते, जिसमें उन्हें प्रविष्ट होना था।[366]

(5) **आसुर विवाह**—विवाह का इच्छुक व्यक्ति अपनी इच्छा से कन्या के परिवार या कन्या को द्रव्य देकर यदि विवाह करता है तो वह आसुर विवाह कहलाता है। इसका समर्थन मनु ने किया है।[367] वस्तुतः इस विवाह प्रथा में कन्या खरीदी जाती थी। यूनानी लेखकों के अनुसार उत्तर-पश्चिम भारत में यह प्रथा प्रचलित थी।[368] सम्भवतः "असुर" शब्द असीरिया से सम्बन्धित है। यह विवाह-प्रथा समाज में अच्छी नहीं मानी जाती थी। यह निम्न जाति के लोगों में अधिक प्रचलित थी। वैदिक समाज में यत्र-तत्र यह प्रथा प्रचलित थी, किन्तु यह सामान्य प्रचलन में नहीं थी। ऋग्वेद से दोषयुक्त पति तथा साले के लिए धन देने की सूचना मिलती है।[369] वेदालंकार का कथन है कि यह दोष छिपाने के उद्देश्य से यहां वर-पक्ष के द्वारा वधू को धन देने का उल्लेख है।[370]

महाभारत में असुर विवाह के अन्यान्य उदाहरण मिलते हैं। भीष्म ने पान्डु का द्वितीय विवाह मद्रनरेश को अत्यधिक धन क्रय-मूल्य के रूप में देकर किया था। वनपर्व[371], विष्णुपुराण तथा बौद्ध-साहित्य में भी इस विवाह के उदाहरण मिलते हैं।[372] याज्ञवल्क्य ने इसका विरोध किया है, उनका मन्तव्य है कि सन्तान बेचना पाप है। महाभारत में भीष्म ने इस विवाह-प्रथा की निन्दा की है। मनु ने तो यहां तक कहा है कि शूद्र भी कन्या का मूल्य न ले।[373] पद्म पुराण से भी इस प्रथा की कटु आलोचना की गयीं है। उनके अनुसार ऐसे पुत्र का मुंह देखना भी पाप है।[374] विवाह का यह प्रकार चूंकि प्राचीन भारतीय समाज के कुछ वर्गों में प्रचलित था, इसलिए इसे विवाह की सूची में स्थान दिया गया है।

अपहरण के विरोध में कन्या-विक्रय-प्रथा का आरम्भ हुआ होगा। पर कन्या की इच्छा का स्थान न होने के फलस्वरूप विरोध स्वाभाविक है।[375] द्वितीय विरोध का कारण कन्या-शुल्क निर्धनों के लिए असुविधा का कारण रहा होगा।[376]

(6) **गान्धर्व विवाह**—जब वर और कन्या परस्पर समझौते या स्वेच्छा से विवाह कर लें तब ऐसे विवाह को गान्धर्व विवाह कहा गया है।[377] मनु का कथन है कि यह विवाह कन्या और वर के परस्पर प्रेम के कारण होता है। इसमें वैवाहिक-संस्कार काम-संयोग के बाद सम्पन्न किये जाते हैं।[378] कौटिल्य की सम्मति है कि गांधर्व विवाह में कन्या और वर आपस में ही मिलकर विवाह कर लेते हैं।[379] इस तरह का विचार बौधायन-आपस्तम्ब तथा गौतम-धर्मसूत्र में भी मिलता है।[380] दुष्यन्त और शकुन्तला का विवाह गान्धर्व-विवाह का उदाहरण है।[381] पुरुरवा और उर्वशी का विवाह गान्धर्व-प्रथा से हुआ था।[382]

मनु का मन्तव्य है कि गान्धर्व-विवाह सभी वर्णों के लिए धर्मानुकूल था। महाभारत के एक स्थल पर इसे प्रशस्त विवाह माना गया है।[383] वात्स्यायन ने इस विवाह प्रथा को सर्वश्रेष्ठ माना है।[384] इसे गान्धर्व इसलिए कहा जाता था क्योंकि यह हिमालय की तराई में रहने वाले गन्धर्वों के जन में विशेष रूप से प्रचलित था।[385]

(7) **राक्षस विवाह**—याज्ञवल्क्य के अनुसार बलपूर्वक युद्ध के द्वारा कन्या का अपहरण करना राक्षस-विवाह है।[386] सम्बन्धियों को मारकर या क्षत-विक्षत कर चीखती, रोती हुई कन्या का बलपूर्वक हरण का विवाह राक्षस प्रकार कहा जाता था।[387] कौटिल्य की सम्मति है कि कन्या को बलात् ले लेना राक्षस-विवाह है।[388] यह विवाह क्षत्रियों में अधिक प्रचलित था। राक्षस-विवाह के उदाहरण से साहित्य भरा पड़ा है।

महाभारत से इस बात की सूचना मिलती है कि भीष्म ने काशी के राजा को पराजित कर उसकी कन्या से विचित्रवीर्य का विवाह किया था। रुक्मिणी से श्रीकृष्ण ने इसी प्रकार का विवाह किया था।[389] बौद्ध-साहित्य से भी राक्षस-विवाह की सूचना मिलती है। चोरों के एक नेता ने एक ग्रामीण कन्या का अपहरण करके वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया था। एक नरेश ने अपने प्रबल शत्रु राजा को मारकर उसकी भार्या से स्वयं विवाह कर लिया था।[390] पृथ्वीराज चौहान एवं संयोगिता का विवाह इसी प्रथा से हुआ था।

(8) **पैशाच विवाह**—याज्ञवल्क्य के अनुसार छल से कन्या को प्राप्त करना पैशाच विवाह कहलाता है। एकान्त में सुप्त, मत्त अथवा प्रमत्त कन्या के साथ मैथुन कर विवाह करता है तो वह पैशाच कहलाता है। अर्थशास्त्र के अनुसार सोती हुई कन्या को उठा ले जाने से पैशाच विवाह होता है।[391] अन्यान्य धर्मशास्त्रकारों ने इस

विवाह प्रकार को अत्यधिक निम्न, अप्रशस्त, जघन्य, अधर्म्य, निन्दित तथा अधम बताया है।[392] आपस्तम्ब तथा वशिष्ठ ने तो पैशाच विवाह का उल्लेख ही नहीं किया है चाहे वह नापसन्द थे अथवा उस समय अप्रचलित थे।[393] यह विवाह केवल क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के लिए विहित था। ब्राह्मणों के लिए पूर्णतया वर्जित था।[394]

'पैशाच'-विवाह का सर्वाधिक असभ्य तथा बर्बरतापूर्ण प्रकार था। यह आदिम-जनों में प्रचलित था। ऐसा लगता है कि पश्चिमोत्तर भारत की पिशाच जाति में इसका प्रचलन होने के कारण इसका नाम पैशाच पड़ा।[395]

उपर्युक्त आठ प्रकार के बिवाहों में चार बिवाह प्रशस्त हैं तथा शेष चार अप्रशस्त डॉ० मजूमदार का कथन है कि हिन्दू समाज अब केवल दो स्वरूपों को मान्यता देता है—ब्राह्म तथा असुर। उच्च जातियों में पहले प्रकार और निम्न जातियों में दूसरे प्रकार का प्रचलन है, यद्यपि उच्च जातियों में असुर बिवाह-प्रथा पूर्णत: नष्ट नहीं हुई है। मजूमदार का यह कथन तथ्यात्मक और समीचीन प्रतीत होता है। डॉ० पाण्डेय का भी यही विचार है।[396]

धार्मिक विधि-विधान

स्त्री के हाथ को विवाह के उद्देश्य से ग्रहण करने को पाणिग्रहण कहते हैं। याज्ञवल्क्य के अनुसार अपने वर्ण की कन्या का ही हाथ पकड़ना चाहिए। यदि ब्राह्मण क्षत्रियों से विवाह करता है तो क्षत्रिय बाण का एक सिरा पकड़े, वैश्य की कन्या को सांटे या प्रतोद का एक सिरा तथा ब्राह्मण की कन्या को कपड़े का एक सिरा पकड़ना चाहिए।

पिता, पितामह, भाई, कुल का कोई व्यक्ति और माता इनमें से पहले के अभाव में आगे वाला उन्मादादि रोग से मुक्त होकर कन्यादान का उत्तरदायी होता है। स्वयं कन्या का दान मात्र एक बार होता है। उसका हरण करने वाला चोर के समान दण्डनीय है। पहले वर से योग्य वर मिलने पर दी हुई कन्या का हरण कर लिया जाता था।[397]

यदि कोई व्यक्ति कन्या के दोषों को बिना बताए कन्या दान करता है तो उसे उत्तम-साहस का दण्ड दिया जाता था। दोष रहित कन्या को ग्रहण करके उसे छोड़ देने पर भी यही दण्ड दिया जाता था। विवाह के पहले कन्या में मिथ्या दोष बताने वालों को सौ 'पण' का दण्ड दिया जाता था, किन्तु दुष्ट कन्या का परित्याग करना उचित माना जाता था। याज्ञवल्क्य की धारणा है कि जहां पति-पत्नी दोनों परस्पर अनुकुल हैं वहां धर्म, अर्थ, काम तीनों पुरुषार्थों की वृद्धि होती है।[398]

नियोग

नियोग प्रथा हिन्दू समाज में नपुंसक-विवाह का परिचायक है। याज्ञवल्क्य तथा मनु ने नियोग का विधान करके नपुंसक-विवाह का समर्थन किया है। भार्या तथा पति के संयोग से ही संतति-उत्पत्ति होती है। यदि क्षेत्र में बीज न डाला जाय

तो उपज ही कैसे हो सकती है। इसलिए याज्ञवल्क्य की सम्मति है कि गुरु की आज्ञा लेकर जिस स्त्री को पुत्र न हुआ हो उसके ऋतुकाल में सभी अंगों में घृत आदि का लेप करके देवर, सपिण्ड या सगोत्र पुरुष से पुत्र-प्राप्ति की इच्छा से गर्भ स्थिति के समय तक ही गमन करे, अन्यथा वह पापी हो जाता है। इस प्रकार क्षेत्रज-पुत्र उत्पन्न होता है। मनु ने नियोग की निन्दा की है।[399]

समाज में एक पत्नी विवाह की प्रथा प्रचलित थी। साथ ही साथ बहु-विवाह भी प्रचलित था। यह प्रथा विशेषकर उच्च वर्ग एवं राजकुल में ही प्रचलित थी। पुर्नविवाह की प्रथा भी प्रचलित थी। पुनः विवाह करने वाली भार्या 'पुनर्भू' कहलाती थी। अन्तर्जातीय-विवाह भी प्रचलित थे।[400]

सम्पत्ति के "विभाग" में विभिन्न वर्ण की माताओं से उत्पन्न पुत्र अपना भाग प्राप्त करते हैं, जो इस बात की सूचना देता है कि उस समय अन्तर्जातीय विवाह होता था। हर्षचरित से ज्ञात होता है कि बाण के दो पारशव भाई थे, जो उसकी शूद्रा माता से उद्भूत थे।[401] जोधपुर के बाउक के अभिलेख से इस बात की सूचना मिलती है कि प्रतिहार वंश के संस्थापक की उत्पत्ति ब्राह्मण एवं क्षत्रिय कन्या भद्रा से बताई गयी है।[402] वाकाटक हस्तिभोज के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि श्रुति एवं स्मृति के अनुसार सोमदेव नामक एक ब्राह्मण ने एक क्षत्रिय कन्या के साथ विवाह किया था।[403] मिताक्षरा ने भी अन्तर्जातीय विवाह को वैध माना है। याज्ञवल्क्य ने द्विजातियों के लिए शूद्रवर्ण से भार्या-ग्रहण का निषेध किया है। ऐसा इसलिए कि संतति के रूप में स्वयं पुरुष की आत्मा ही जन्म लेती है।[404]

उपर्युक्त विवरण से यह ज्ञात होता है कि तद्युगीन हिन्दू समाज में आठ प्रकार के विवाह होते थे। विवाह के अवसर पर धार्मिक विधि-विधान किये जाते थे। अधिकांश विवाह श्रुति और स्मृति के अनुसार सम्पन्न होते थे। के० एम० कपाडिया का विचार है कि हिन्दू विवाह एक संस्कार है।[405] आज भी परम्परागत हिन्दू समाज में विवाह एक धार्मिक कृत्य माना जाता है।

स्त्रियों की दशा

स्त्री और पुरुष मानव-समाज के दो आवश्यक अंग हैं। इन्हीं के पारस्परिक सहयोग से समाज आगे बढ़ता है। इन दोनों के सामाजिक महत्त्व को प्राचीन काल से ही स्वीकार किया जाता रहा है। इसी के फलस्वरूप सदैव ही नारियों को सम्मान प्रदान किया गया है। याज्ञवल्क्य ने भी प्राचीन परम्परा का पालन करते हुए स्त्रियों को अत्यधिक सम्मान प्रदान किया है। मनु के अनुसार जहां नारी की पूजा होती है वहां देवता निवास करते हैं।[406] नारी को हिन्दू समाज-व्यवस्था की आधारशिला, सभ्यता का स्रोत, संस्कृति निर्माता एवं वैवाहिक-जीवन का आधार माना जाता रहा है। आश्रम-व्यवस्था में गृहस्थ-आश्रम को सभी धर्मशास्त्रियों ने श्रेष्ठ माना है। याज्ञवल्क्य ने स्त्री एवं पुरुष को क्षेत्र एवं बीज के समान कहा है। यायवल्क्य के

मत में सोम देवता ने नारी को पवित्रता दी; गन्धर्व ने मधुर वाणा और अग्नि ने सब प्रकार से पवित्र होने की शक्ति दी।[407] अतएव स्त्रियां सर्वत्र पवित्र होती हैं।

याज्ञवल्क्य के युग में स्त्री का अत्यधिक आदर और प्रतिष्ठा थी। स्त्रियों का अनादर करने वालों के कार्य निष्फल हो जाते हैं इसलिए उन्नति चाहने वालों को संस्कार तथा उत्सव आदि के अवसर पर वस्त्र, अलंकार आमूषणादि इन्हें देकर यथोचित सम्मान करना चाहिए। याज्ञवल्क्य का यह उल्लेख मनुस्मृति पर आधारित है।[408] वसिष्ठ ने स्त्रियों को सर्वत्र पवित्र कहा है।[409] इस पवित्रता में कलियुग का अभाव था यह अभाव ही "देवत्व" है।

किसी समाज का सांस्कृतिक-उत्कर्ष उस समाज में स्त्रियों के सम्मान पर आधारित होता है। इसी को दृष्टि में रखकर याज्ञवल्क्य ने स्त्रियों को बहुत अधिक सम्मान प्रदान कर भारतीय संस्कृति की समृद्धता का परिचय दिया है। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि गुरु, आचार्य, उपाध्याय और ऋत्विज क्रमानुसार पूजनीय होते हैं, किन्तु माता इन सबसे अधिक पूजनीय होती है।[410] इसी तरह का विचार मनु ने भी व्यक्त किया है।[411]

भार्या गृहणी के रूप में रहती थी। वह घर के सभी चीजों को व्यवस्थित करके रखती थी, मितव्ययी होती थी। सास-श्वसुर की सेवा तथा आदर करती थी। चरण छूकर प्रणाम करती थी। सब तरह से पति के अधीन रहती थी। जिस स्त्री का पति विदेश गया हो, उसे खेलना, श्रृंगार करना तथा उत्सव आदि में जाना वर्जित था। उसे परिवार के अन्य सदस्यों समीप रहना पड़ता था।[412]

स्त्रियों की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध भी था। याज्ञवल्क्य ने इस विषय पर मनु के अनुरूप ही मत व्यक्त किया है। याज्ञवल्क्य के अनुसार कुमारी की रक्षा पिता, विवाहिता की पति और वृद्धावस्था में पुत्र करता था। इनके अभाव में जाति के लोग उनकी रक्षा करते थे। स्त्रियों को कभी भी स्वतंत्र नहीं रहने देना चाहिए।[413] मनु के विचार भी इसी प्रकार के हैं।[414]

इस समय स्त्रियों के सारे अधिकार सीमित कर दिये गये थे। विज्ञानेश्वर ने शंख का उद्धरण देकर टिप्पणी की है कि वह घर से बिना बताए एवं चादर ओढ़े बाहर न जाये, शीघ्रता से न चले, वणिक, परिव्राजक, वृद्ध तथा वैद्य के अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष से बातें न करे, नाभि ढक कर रखे, एड़ी तक वस्त्र धारण करे, स्तनों को ढंके रहे, मुँह ढके बिना न हँसे, पति तथा अन्य सम्बन्धियों से घृणा न करे। वह धूर्त, वैश्या, अभिसारिणी, संन्यासिनी, भाग्य बताने वाली, जादू-टोना अथवा गुप्त विधियां करने वाली दुःशील स्त्रियों के साथ न रहे। इनकी संगति से कुलगत स्त्रियों का चरित्र निम्न होता था।[415]

स्त्रियों की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध के कारण का स्पष्टीकरण गरुड़-पुराण से होता है। इसमें कहा गया है कि स्त्रियों की गति नदियों के समान कुटिल है। स्वा-

भावतः नदियां कुटिल होती हैं और स्वतन्त्रतापूर्वक टेढ़ी ही चलती हैं। जल और दोषों से नदियां एवं स्त्रियां अपने किनारों और कूलों को गिराती हैं।[416] स्त्रियां स्वभावतः कुटिल होती हैं इसलिए उन्हें किसी न किसी के नियंत्रण में अवश्य रहना था, क्योंकि स्त्री के ही गुण-दोष पर कुल की मर्यादा निर्भर होती थी।

व्यभिचारिणी स्त्रियों को सभी सुखों से वंचित कर दिया जाता था और उन्हें मात्र जीवन चलाने के लिए भोजन-वस्त्र दिया जाता था। उनको समाज में सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। दूसरे का गर्भ रहने पर ऐसी स्त्री त्याग दी जाती थी।[417] उन्हें दण्डित भी किया जाता था।[418] पतिव्रता स्त्रियों को समाज में अधिक आदर मिलता था। याज्ञवल्क्य के अनुसार पति के जीवित रहने अथवा मर जाने पर जो भार्या किसी पर पुरुष के समीप नहीं जाती वह इस संसार में कीर्ति पाती है तथा मरणोपरान्त उमा के साथ सुखपूर्वक निवास करती है। सुन्दर आचरण करने वाली तथा इन्द्रियों को वश में रखने वाली पतिव्रता मोक्ष प्राप्त करती है।[419]

धार्मिक-कार्य स्त्री के बिना सम्पन्न नहीं किया जाता था। धार्मिक कार्यों को सम्पन्न करने के लिए स्त्री का रहना अनिवार्य था। याज्ञवल्क्य का विचार है कि सवर्ण-पत्नी ही धर्म-कार्य के योग्य है। कई पत्नियों के होने पर जेष्ठा-भार्या ही यह कार्य कर सकती है। सम्भवतः असवर्ण पत्नियाँ इस कार्य के योग्य नहीं थीं। पत्नी की मृत्यु हो जाय तो उसका दाह-संस्कार करके विधिपूर्वक दूसरी भार्या ग्रहण करके धार्मिक-कार्य करना चाहिए।[420] स्पष्टतः गृहस्थ-जीवन के धार्मिक कार्य में स्त्री का होना अनिवार्य था। राम को सीता के अभाव में स्वर्ण की सीता द्वारा यज्ञ सम्पन्न करना पड़ा था।[421] स्त्री के अभाव में उसकी मूर्ति यज्ञ के निमित्त बनवाने का विधान धर्मसम्मत है। व्यवस्था यह थी कि स्त्री की मृत्यु हो जाने पर धातु अथवा कुश की पत्नी बनाकर अग्निहोत्र कार्य को पूरा करते रहना चाहिए।[422]

स्त्रीधन

याज्ञवल्क्य ने स्त्रीधन का उल्लेख किया है। भार्या की अपनी स्वयं की सम्पत्ति पर उसका पूर्ण अधिकार होता है। यही स्त्री-धन कहा जाता है। विज्ञानेश्वर ने स्त्री-धन छः प्रकार का बताया है—पिता, माता, भ्राता और पति द्वारा दिया हुआ एवं विवाह में कन्यादान के समय प्राप्त तथा अधिवंदन (दूसरा विवाह करते समय पति द्वारा पहली स्त्री के संतोष के लिए प्रदत्त) के निमित्त मिला हुआ धन। इसके अतिरिक्त विवाहोपरान्त सास-श्वसुर आदि से जो धन प्राप्त होता है, वह सब स्त्रीधन है।[423] मनु की भी यही मान्यता है।[424] असुर-विवाह में कन्या प्राप्ति के उद्देश्य से दिया गया धन स्त्री के पिता का हो जाता था किन्तु स्त्री को पुत्रियां हो तो उसका धन उन पुत्रियों को ही मिलता था।[425]

सम्पत्ति-विभाजन के समय भार्या या माता का पुत्र के समान अंश भ्रातृत्वों के अंश का चतुर्थांश आदि को अपरार्क ने स्त्री-धन माना है। पति द्वारा स्त्री को दी

गयी एवं उसे उत्तराधिकार में मिली हुई सम्पत्ति स्त्री-धन था।[426] याज्ञवल्क्य का समर्थन नारद से भी होता है।[427] कौटिल्य ने दो प्रकार का स्त्री-धन माना है। पहला वृत्ति तथा दूसरा 'अवध्य' 'वृत्ति' उस स्त्री-धन को कहते हैं, जो उसके नाम से एकत्रित की गई हो और जिसकी एक संख्या भी निर्धारित हो। उस युग की कम से कम दो हजार मुद्राएं वृत्ति रुपी स्त्री-धन में सुरक्षित रहती थीं।[428]

अबध्य

पितृगृह और पति गृह से मिले वस्त्र-आभूषण आदि को 'अबध्य' कहते हैं[429] और इसकी कोई संख्या निर्धारित नहीं होती। साधारणत: स्त्री की ममता पुत्री के प्रति अधिक होती है सम्भवत: इसीलिए शास्त्रकारों ने स्त्री-धन की अधिकारिणी पुत्री को माना है। विज्ञानेश्वर के अनुसार यह उचित ही है कि माता का स्त्री-धन पुत्री को ही मिले क्योंकि पुरुष का शुक्र अधिक होने से पुमान उत्पन्न होता है और भार्या का रज अधिक होने से पुत्री। इस प्रकार कन्या में स्त्री का अवयव अधिक होने से मातृ-धन उसको प्राप्त होता है, पुत्र में पुरुष का अवयव अधिक होने से पिता का धन पुत्र को प्राप्त होता है।[430] संभव है यह व्यवस्था इसलिए विकसित हुई हो, क्योंकि सम्पत्ति में पुत्री का अधिकार नहीं होता था। इसी कारण सम्भवत: सिद्धान्त रूप में उसे स्त्री-धन का अधिकारी माना गया होगा, किन्तु इस व्यवस्था का व्यवहार में कितना पालन होता था, कहना कठिन है।

स्त्री-धन का उपयोग आपत्ति-काल में किया जा सकता था। अकाल आदि के समय पति स्त्री-धन का उपयोग कर सकता था। याज्ञवल्क्य के अनुसार अकाल आदि के समय, धर्म-कार्य के समय, बीमारी में एवं बन्दी होने पर, पति यदि भार्या का धन लेता है तो उसे वापस करना उसके लिए आवश्यक नहीं था।[431] अन्य स्थितियों में लिया गया स्त्री-धन सम्भवत: वापस करने की बाध्यता रही होगी। अलतेकर के अनुसार इस काल में स्त्रियों की स्थिति गिरने का मुख्य कारण आर्यों द्वारा अनार्य स्त्रियों से विवाह को माना है। उन्होंने आगे लिखा है कि उपनयन-संस्कार समाप्ति, शिक्षा की उपेक्षा तथा विवाह की आयु के घटने का स्त्रियों की प्रतिष्ठा और स्थिति पर अनर्थकारी प्रभाव पड़ा है।[432]

संदर्भ एवं टिप्पणियां

1. पी० वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-1, पृ० 109।
2. राजेश्वर प्रसाद अर्गल, समाजशास्त्र, पृ० 201।
3. पी० वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-1, पृ० 119।
4. याज्ञ० 3/126।
5. मनु०, 1/31।
6. ऋग्वेद, 10/92/12।
7. शतपथ ब्राह्मण, 5/4/6/9; महा०, शान्ति०, 188/6-14।
8. ब्राह्मक्षत्रियविट्शूद्रा वर्णास्त्वाद्यास्त्रयो द्विजाः। याज्ञ०, 1/10, मनु०, 10/4, बौद्धायन०, 1/16/1, भाग्यतक०, 1/10
9. विष्णुपुराण, 1/12/63-64।
10. मत्स्यपुराण, 4/28।
11. आदि० पु०, 16/184-86 तथा 38/45-46।
12. याज्ञ०, 1/361।
13. वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनिष्ठितः।
    पर धर्मेण जीवन् हि सद्यः पतति जातितः॥ मनु0, 10/97
14. स्वकर्मनिरतो यस्तु धर्म स इति निश्चयः। महा०, वन० 208/9।
15. स्वे स्वे कर्मण्य भिरता संसिद्धि लभते नरः। गीता, 18/45।
16. याज्ञ०, 1/122, 3/66।
17. धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
    धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ मनु0, 6/92।
18. सर्वेषामहिंसा सत्यं शौचअनसूयाऽऽनृशंस्यम् क्षमा च। अर्थशास्त्र, 1/2।
19. अक्रोधः सत्यवचनं संविभागः क्षम तथा।
    प्रजनः स्वषु दारेषु शौचम् द्रोह एव च।
    अर्जवं भृत्यभरणं नषैते सर्ववर्णिकाः। महा० शान्ति०, 60/7-8।
20. मनु०, 12/24-30, विष्णु पुराण, 1/6/4-5।
21. याज्ञ०, 1/98-200।
22. इज्याध्ययनदानानि वैशयस्य क्षत्रियस्य च।
    प्रतिग्रहो धिको विप्रे याजनाध्यापने तथा॥ याज्ञ०, 1/118।
23. बौधायन ध० सू०, 110/18/2, व०ध०सू०, 2/13-9, महा०शान्ति०, 189/2, पर नीलकण्ठ टीका, उद्योग०, 40/25, मनु०, 10/75, अर्थशास्त्र, 1/3; शंख०, 1/2, गौतम, 10/1।
24. याज्ञ०, 2/185; 2/2-3, 1/312-13।
25. याज्ञ०, 1/239-244, 249।

26. याज्ञ०, 1/315-16, 1/323।
27. वही, 1/212।
28. याज्ञ०, 2/4 पर मिताक्षरा; गौतम०, 8/4-11।
29. याज्ञ०, 2/81 पर मिताक्षरा।
30. पोलक एण्ड मैटलैन्ड, दी हिस्ट्री ऑफ इंग्लिश लॉ, भाग—1, पृ० 424-440; होल्ड्स वर्थ भाग—1, पृ० 615-616, भाग-3, पृ० 294-302।
31. याज्ञ०, 2/270; गौतम०, 12/43; मनु०, 8/379।
32. याज्ञ०, 1/118-119।
33. मनु०, 1/89; अर्थशास्त्र 3/6; गीता, 18/43।
34. ऋ०वे०, 10/42/10; 10/97/6।
35. पी०वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-1, पृ० 113।
36. ऐतरेय ब्राह्मण, 39/3।
37. याज्ञ०, 1/323।
38. गौ०ध०सू०, 2/1/7-8।
39. वाटर्स, आन युवानच्वांग, 1, पृ० 168; कृत्यकल्पतरु, गृहस्थ, काण्ड पृ० 252।
40. याज्ञ०, 1/118-119।
41. मनु०, 1/90।
42. महा०, शान्ति०, 60/21-23, 26; उद्योग०, 42/44; अर्थशास्त्र, 3/7; गरुड़ पु०, 1/49; विष्णु पु०, 3/8/30।
43. पराशरस्मृति, 1/66।
44. वाटर्स 1, पृ० 168।
45. याज्ञ०, 2/250।
46. याज्ञ०, 1/20; मनु०, 1/91; गौतम०, 10/57-59; महा०, शान्ति०, 60/20; वसिष्ठ०, 2/20; बौधायन०, 1/10/5; महा०, वन०, 150/36; गरुड़ पु०, 1/49; पराशर०, 1/7/64।
47. याज्ञ०, 1/10; मनु०, 10/127।
48. भार्यारति: शुचिर्भृत्यभर्ता श्राद्धक्रियारत:।
नमस्कारेण मन्त्रेण पन्चयज्ञान्न हापयेते ॥ याज्ञ०, 1/221।
49. आपस्तम्ब०, 1/1/7-8; महा०, भीष्म०, 42/44।
50. उच्छिष्टमन्नं दातव्य जीर्णानि वसनानि च।
पुलाकाश्चैव धान्यानां जीर्णा श्चैव परिच्छदा: ॥ मनु०, 10/125; गौतम०, 10/60-61।

51. सचाऊ, 1, पृ० 125 ।
52. ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ० 119 ।
53. याज्ञ०, 2/35; महा०, शान्ति०, 78/2 ।
54. मनु०, 10/81-82 ।
55. याज्ञ०, 3/36-38; द्रष्टव्य, मनु०, 10/86-89 ।
56. याज्ञ०, 3/39 ।
57. मनु०, 10/90 ।
58. वही, 10/91 ।
59. याज्ञ०, 3/40 ।
60. वही, 3/41 ।
61. याज्ञ०, 3/42 ।
62. गौ० स्मृति, 7/22-24; मनु०, 4/4/6; नारद ऋणदान, 57 ।
63. पाणिनि, 5/2/71 ।
64. कौटिल्य, 9/2 ।
65. पी० वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, हिन्दी अनुवाद, पृ० 149; महा०, शान्ति०, 78/34/29; आदि०, 118/14 ।
66. ए०इं० 1, पृ० 222, पृ० 205; 4, पृ० 158; 2, पृ० 160 ।
67. ए०इं० 16, पृ० 272.
68. वैश्यवृत्यापि जीवस्तु ब्राह्मण: क्षत्रियोऽपिवा ।
    हिंसाप्राया पराधीनां कृषिं यत्नेन वर्जयेत् ॥ मनु०, 10/83.
69. याज्ञ०, 3/35.
70. गौतम०, 6/26.
71. वसिष्ठ०, 2/23;
    जीवेदेतेन राजन्य: सर्वेणाप्यनयं गत: ।
    न त्वेवं ज्यायसीं वृत्तिमभिमन्येत कर्हिचित् ॥ मनु०, 10/95.
72. मनु०, 10/96.
73. एवं ते द्रविडा भीरा: पुण्ड्रश्च शबरै: सह ।
    वृषलत्वं परिगता व्युत्थानात् क्षत्रर्यामिण: ॥ महा०, अश्व०, 29/18.
74. मनु०, 10/99 ।
75. तस्य वृत्तिं प्रवक्ष्यामि यच्च तस्योपजीवनम् ।
    षण्णामेकां विवेद्धेनुं शताच्च मिथुनं हरेत् ॥ महा०, शान्ति०, 60/25 ॥
76. शस्यानां सर्व जीवनामेष सांवत्सरी भृति: । महा० शान्ति०, 60/26 ।
77. याज्ञ०, 1/20 ।

78. याज्ञ०, 1/21 ।
79. अशक्नुवंस्तु शुश्रूषां शूद्रः कर्तुं द्विजन्मनाम् ।
पुत्रदारात्ययं प्राप्तो जीवेत्कारुककर्मभिः ।।
यैः कर्मभिः प्रचरितैः शुश्रूष्यन्ते द्विजातयः ।
तानि कारुककर्माणि शिल्पानि विविधानि च ।। मनु०,10/99,1-100 ।
80. वृत्तिश्चेन्नास्ति शूद्रस्य पितृपैतामही ध्रुवा ।
न वृत्तिं परतो मार्गेच्छु शूषान्तु प्रयोजयते ।। महा०,शान्ति०, 293/2 ।
81. शूद्रस्तु नित्यं दाक्ष्येण शोभते । महा०, शान्ति०, 393/21 ।
82. लक्ष्मीदत्त ठाकुर, प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन, पृ० 84 ।
83. याज्ञ०, 1/91 ।
84. मनु० 10/8; बौ० ध० सू० 1/93 ।
85. विष्णु० पु०, 2/3/18 ।
86. मनु०, 10/47 ।
87. याज्ञ०, 1/191, मनु०, 10/8, बौ०ध०सू०, 1/93 ।
88. अनुलोमा-अनन्तरैकान्तरद्वयन्त-रासू जाताः सवर्गाम्बष्ठोग्रनिषद दौष्मन्त-पारशवाः । गौ०ध०सू०, 4/14 ।
89. महा०, अनु०, 48/5 ।
90. रामायण, अयोध्याकाण्ड, 50/33 ।
91. विष्णु पु०, 1/13/33-36 ।
92. मनु०, 10/48; जातक 5, पृ० 110 ।
93. याज्ञ० 1/92 ।
94. वही ।
95. गौ०ध०सू० 4/14 ।
96. मनु० 10/49 ।
97. याज्ञ०, 1/92 ।
98. वही०, 1/196 ।
99. याज्ञ०, 1/93 ।
क्षत्रियाद्विप्रकन्यायां सूतो भवति जातित : । मनु० 10/11 ।
100. बौ०ध०सू०, 1/9/9, गौ०ध०सू० 1/4/15-16 ।
101. मनु०, 10/47 ।
102. याज्ञ०, 1/94; क्षत्रिया मागधं वैश्याच्छूद्रात् क्षत्तारमेव च ।
मनु०, 10/11
103. बौ०ध०सू०. 1/9/4 ।
104. मनु०. 10/57 ।

105. पुण्ड्राः कलिंगा मगधा दक्षिणाद्याश्च सर्वशः ।
ब्राह्मणाद्वैश्यकन्यायामम्बष्ठो नामजायते । मनु०, 10/8 ।
तथापरान्ताः सौराष्ट्रा शूराभीरास्तथार्बुदाः ।। विष्णुपुराण,
2/3/16 ।
106. वही, 2/4/69 ।
107. ब्रह्माण्ड पु०, 2/36/163; वायु० पु०, 61/154 ।
108. शूद्राज्जतस्तु चण्डालः सर्वधर्मबहिस्कृतः । याज्ञ0 1/93 ।
109. मनु०, 10/12 ।
110. महा०, अनु०. 29/17 ।
111. गौ०ध०सू०, 4/15-16, 15/25 ।
112. चाण्डालोस्पर्शने सम्भाषायां दर्शने च दोषस्तत्र प्रायश्चित्तम् ।
आप०ध०सू०, 2/18 ।
113. जातक, 3, पृ० 323 ।
114. आ०ध०सू०, 1/3/5, गौ०ध०सू०, 16/19 ।
115. मनु०, 3/239-240 ।
116. चाण्डालश्वपचानां तु बहिर्गामात्प्रतिश्रयः ।
अपपाताश्च कर्तव्या धनमेषां श्वदग्रर्भम् ।। मनु० 10/51 ।
117. मनु०, 10/52 ।
118. वही, 10/53 ।
119. दिवा चरेयुः कार्यार्थं चिह्नता राजशासनैः ।
अबान्धवं शवं चैव निर्हरेयुरिति स्थितिः ।। मनु०, 10/54-55 ।
120. विष्णु० पु०, 3/11/55 ।
121. मत्स्य० पु०, 184/56 ।
122. गाइल्स. पृ० 21 ।
123. वाटर्स, 1, पृ० 147 ।
124. ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ० 127 ।
125. राजतरंगिणी, 675-79 ।
126. याज्ञ०, 1/93; मनु०, 10/11 ।
127. बौ०ध०सू०, 1/9/87; महा०, अनु०, 48/10 ।
128. मनु०, 10/47 ।
129. याज्ञ०, 1/94; मनु०, 10/12 ।
130. बौ०ध०सू०, 1/9/7 ।
131. मनु०, 10/48 ।
132. शूद्रादायोगवं वैश्या जनयामास वै सुतम् ।। याज्ञ०, 1/94 ।
133. महिष्येण करण्यां तु रथकारः प्रजायते । वही, 1/95 ।

134. मै०सं०, 2/6/5, 4/3/8 ।
135. अंगुत्तर निकाय 3, पृ० 385 ।
136. बौ०ध०सू०, 1/9/6 ।
137. याज्ञ०, 1/96 ।
138. आङ्.+श्रम+घञ्, शब्द कल्पद्रुम: । आ+श्रम+आधारे वञ अवृडि: । तारनाथ: वाचस्पत्यम् । अमरकोष, पृ० 287-88 देखें ।
139. पी०एन० प्रभु, हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन, पृ०83 ।
140. मनोरमा जौहरी, वार्णाश्रम-व्यवस्था, पृ० 87 ।
141. पी०एन० प्रभु, हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन, पृ० 78 ।
142. वही, पृ० 78 ।
143. वही, पृ० 83 ।
144. याज्ञ०, 1/10, 97; 3/45, 56 ।
145. मनु०, 6/87, 96 ।
146. वसिष्ठ ध०सू०, 7/1-2; 11/34 ।
147. जयशंकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ० 176 ।
148. याज्ञ०, 1/14; मनु०, 2/36; शंख, 2/7; पा०गृ०सू०, 2/2;
न ह्यस्मिन्विद्यते कर्म किंचिदामौजिवन्धनात् ।
वृत्या शूद्रसमो ह्येष यावद्वेदे न जायत् ॥ व०ध०सू०, 2/6 ।
149. याज्ञ०, 1/37; मनु०, 2/38 ।
150. याज्ञ०, 1/38 ।
151. याज्ञ०, 1/29; यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं । बौ०गृ०सू०, 25/7-8 ।
152. गौ०गृ०सू०, 1/15; आश्व०गृ०सू०, 1/19/11; बौ०गृ०सू०, 25/13; आ०गृ०सू०, 1/33-36 ।
153. याज्ञ०, 1/15-27 ।
154. मनु०, 4/1 ।
155. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 2/9/21/1 ।
156. याज्ञ०, 1/26-27 ।
157. मनु०, 2/48 ।
158. गौ०ध०सू०, 5/16; विष्णुपुराण, 3/95 ।
159. मनु०, 2/56 ।
160. याज्ञ०, 1/31 ।
161. याज्ञ०, 1/33; मनु०, 2/177-179 । बौ०गृ०सू०, 1/2, 21-22, 25; आ०ध०सू०, 1/1/3-10 ।

162. अर्थशास्त्र०, 1/3।
163. याज्ञ०, 1/41-46।
164. याज्ञ०, 1/51।
165. मनु०, 3/2 तथा इसी श्लोक की कुल्लूक भट्ट की टीका; लक्ष्मीदत्त ठाकुर, प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन, पृ० 111-112।
166. याज्ञ०, 1/49-50।
167. मनु०, 2/242-44; 2/47; लक्ष्मीदत्त ठाकुर, प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन, पृ० 111।
168. छान्दोग्य उ०, 8/11/3।
169. तैत्तिरीय ब्राह्मण, 3/10-11।
170. अर्थशास्त्र, 1/3, 12/1-2।
171. यथा नदीन्नदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
 तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥ मनु०, 6/90
172. गौतम०, 3/3।
173. बौधायन धर्मसूत्र, 2/42-43।
174. याज्ञ०, 1/115।
175. पितृदेवातिथिकृते समारम्भोऽत्र शस्यते।
 अत्रैवहि महाराज त्रिवर्गः केवलं फलम्॥ महा०, शान्ति०, 12/18।
176. याज्ञ०, 1/52; 1/97।
177. याज्ञ०, 1/98-101।
178. वही, 1/103-106।
179. वही, 1/107।
180. तेषां स्वगतदानादि वक्तव्य मधुरः नृपः।
 अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्तते॥
 स तत्वा दुष्कृतं तस्मे पुण्यमादाय गच्छति॥ विष्णु पु०, 3/9,15
181. याज्ञ०, 1/108-110।
182. वही, 1/111।
183. वही, 1/112, 116, 117; 1/123।
184. वही, 1/118; गौतम०, 10/5-6।
185. याज्ञ०, 1/124-127।
186. वही, 1/113-115।
187. गृहस्थस्य स्वकर्माजीवस्तुल्यैरसमानर्षिभिर्वैवाह्यमृतुगामित्वं देवपित्रु-तिथिमृत्येषु त्यागशेषभोजनं च। अर्थशास्त्र, 1/2।

188. मनुस्मृति, अध्याय 3 व 4 मे विस्तृत व्याख्या द्रष्टव्य ।

189. अग्निहोत्रोपचरणं जीवनञ्च स्वकर्मभिः ।
धर्मार्थं गृहिणां काले पर्व्ववर्जं रतिक्रिया ॥
देवपित्रातिथिनाञ्च पूजादीनानुकम्पनम् ।
श्रुतिस्मृत्यर्थसंस्थानं धर्मोऽयं गृहमेधिन, ॥ कामन्दक०, 2/25-26;
वायु० पु० 8/181-182.; गरुड़पुराण, 1/96/7-25 ।

190. याज्ञ०, 1/122;
धृतिः क्षमा दमो स्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम् ॥ मनु०, 6/92 ।
नामुत्र हि सहायर्थं पिता माता च त्रिष्ठतः ।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥
तस्माद्धर्मं सहायर्थं नित्यं संचिनुयाच्छनैः ।
धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥ मनु०, 3/239-42 ।

191. याज्ञ०, 1/128 ।

192. कुसुलधान्यको वा स्यात्कुम्भी धान्यक एव वा ।
त्र्यहैहिको वाऽपि भवेदश्वस्तनिक एव वा ॥ मनु०, 4/7 ।

193. महा०, शान्ति०, 243, 2-4 ।

194. मनोरमा जौहरी, प्राचीन भारत में वर्णाश्रम-व्यवस्था, पृ० 146 ।

195. लक्ष्मीदत्त ठाकुर, प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन, पृ० 114-115 ।

196. श० ब्रा०, 1/7/2-10; महा०, अनु०, 1/120,15 ।

197. अधीत्यविधिवद्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः ।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञं मंनो मोक्षे निवेशयेत् ॥ मनु०, 6/36; महा०, शान्ति०, 63/20-21 ।

198. याज्ञ०, 1/115 ।

199. वही, 1/102 ।

200. जैमिनि, 6/2/31 ।

201. मनु०, 6/37 ।

202. शत० ब्रा० 11/5/6-11 ।

203. याज्ञ०, 1/102; तै०, आ०, 2/10; मनु०, 3/70; गरुड़पु० 1/205-140 ।

204. याज्ञ०, 1/103 ।

205. अन्नं पितृमनुष्येभ्योदेयमप्पन्वहं जलम् । याज्ञ०, 1/104 । गोभिल-स्मृति, 2/8 ।

306. याज्ञ०, 1/97, 99, 125 ।
207. याज्ञ०, 3/71, 121-124 ।
208. याज्ञ०, 1/101 ।
209. वा० रामा०, सुन्दरकाण्ड, 4/13 ।
210. अतिथि देवो भव। तै०सं०, 2/11/2/2 ।
211. याज्ञ०, 1/107 ।
212. विष्णु ध०सू०, 67/32 ।
213. याज्ञ०, 1/111 ।
214. बौ०गृ०सू०, 2/9/20; आ०ध०सू०, 2/4; 9/5 ।
215. पंचसूना गृहस्थस्य चुल्लीपेषण्युपस्कार: ।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तुवाहयन् ॥
तसांक्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभि: ।
पच क्लृप्ता महायज्ञा प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥ मनु०, 3/68-76 ।
पंचैते विहिता यज्ञा: पंचसूनापनुत्तये ।
कण्डनी पेषणी चुल्ली जलकुम्भी प्रमार्जनी ।
पंचसूना गृहस्थस्य तेन स्वर्गं न गच्छति ॥ मत्स्यपुराण, 53/16 ।
पी०एन० प्रभु, हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन, पृ० 95 ।
216. याज्ञ०, 3/451 पर मिताक्षरा ।
217. याज्ञ०, 3/45; लक्ष्मीदत्त ठाकुर, प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन, पृ० 117 ।
218. विद्या तपोविवृद्धयर्थं शरीरस्य च शुद्धये । मनु०, 6/30 ।
219. याज्ञ०, 3/52 ।
220. वही, 3/48 ।
221. याज्ञ०, 3/46, 47, 50, 51, 54 ।
222. याज्ञ०, 3/52 ।
223. वसीत चर्म चीरं वा सायं स्नायात्प्रगे तथा ।
जटाश्च बिभृयान्नित्यं स्मश्रुलोमनखानि च ॥
स्वाध्याये नित्ययुक्त: श्याद्दान्तो मैत्र: समाहित: ।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पक: ॥ मनु०, 6/6, 8, 23, 26 ।
224. महा०, अनु०, 141 ।
225. महा०, अनु०, 192/1 ।
226. याज्ञ०, 3/55 ।
227. मनु०, 6/31 ।

228. वानप्रस्थस्य ब्रह्मचर्यं भूमौ शय्या जटाऽजिनधारणमग्निहोत्राभिषेकौ देवतापित्राथितृपूजा वन्यश्चाहार: । अर्थशास्त्र, 1/2 ।

229. जाडत्वमग्निहोतृत्वं भूशय्याजिनधारणम् ।
वनवास: पयोमूलनीवारफलवृत्तिता ।।
प्रतिग्रहनिवृत्तिश्च त्रिस्नानं व्रतचरिता ।
देवतिथीनां पूजा च धर्मोऽयं वनवासिन: ।। कामन्दक०, 2/27-28 ।

230. वैखानसोवने मूलफलाशी तप: शील: । श्रावणकेनाग्निमाधाय । देवपितृमनुष्यमूर्तापूजक: । सर्वातिथि: प्रतिषिद्धवर्जम् । जटिलश्चीराजिनवासा: । गौतम धर्मसूत्र, 1/3, 25-26, 28-29, 33 । वसिष्ठ० 8/1-2. 6-8 । वायुपुराण, 8/183-184 । गरुड़पुराण, 1/122/1, 102 ।

231. ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ० 138 ।

232. वाल्मीकि रामायण, 2/2/9-10 ।

233. तपोमनास्तु राज्यं तेह्वाभ्यामुक्तमिदं द्वयो: ।
यस्मिन् विग्रह पालेन समरेण भगीरथे ।।
भागलपुर दान लेख, श्लोक सं० 17, इ०ए० 15;
येनासेव्नन्त शेषे वयसि भवभयास्कन्दिभिर्म्यस्करीन्द्रै: ।
पूर्णात्सङ्गणनि गंगापुलिन परिसरण्य, पुण्याश्रमाणि ।।
देवधर-प्रशस्ति, एपि०इं०. 1, पृ० 308 ।

234. चरद्वने द्वादशाव्दानष्टो व चतुरो मुनि: ।
द्वावेकं पा यथा बुद्धिर्न विपद्येत कृच्छत: ।।
श्रीमद्भागवत्, 11/18 तथा 7/12 ।

235. ऋग्वेद, ४/3/9; अथर्ववेद, 2/5/5; वायु पृ०, 104/12 ।

236. परिव्राजक: सर्वभूताभयदक्षिणां दत्वा प्रतिष्ठेत् । व०ध०सू०, 10/1 ।

237. गौतम०, 1/3, 2; वायु पु०, 59/25 ।

238. यस्त सन्त्यज्य गार्हस्थ्यं वानप्रथो न जायते ।
·विष्णु पु०, 3/18; 1/3, 36 ।

239. सम्यक् न्यास: प्रतिग्रहाणां संन्यास: । बौ०ध०सू०, 10/1 ।

240. याज्ञ०, 3/56-57 ।

241. ऋणानि त्रीण्यंपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् ।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यध: ।। मनु०, 6/35 ।

242. याज्ञ०, 3/58 ।

243. याज्ञ०, 3/58-59; बौधायन०, 3/10/40; मनु०, 6/52 ।

244. मनु०, 12/10 ।

245. पा०भा०, भाग-2, पुस्तक प्रथम, पृ० 173 ।

246. वही, पृ० 177; मनु०, 6/36/37 ।

247. दक्षस्मृति, 7/29 ।

248. याज्ञ०, 3/59-60, 66 ।

249. याज्ञ०, 3/61, 62 ।

250. वही, 3/63-64 ।

251. याज्ञ०, 3/156-159 । 3/202, 204 ।

252. याज्ञवल्क्यस्मृति, यति धर्म-प्रकरण ।

253. स सन्यासः षड्विधो भवति कुटीचक्रबहूदकहंसपरमहंसतुरीयातीतावधूताश्चेति । सन्यासोपनिषत्, पृ० 276, हंसोपनषित, परमहंसीपनिषत, तुरीयातीतोपनिषत् तथा अवधूतो-पनिषत्, सन्यासोपनिषत् आदि विभिन्न उपनिषद् हैं जो संन्यासियों के विभिन्न प्रकारों का वर्णन करती है ।

254. मनु०, 6/95; 4/257 ।

255. द्रष्टव्य, मनु०, 6/43-45; 48-70, 72-85, 92, 93, 96 । अर्थशास्त्र, 1/2 । महा० शान्ति०, 243/22, 30; महा०, शान्ति, 241/9; अनु०, 14/80-88; वनपर्व, 199/97; शान्ति०, 44वां अध्याय । कामंदक, 2/29-31 । वसिष्ठ, 10/3/4 ।

256. गरुड़पुराण, अ० 103; विष्णुपुराण, 3/9, 26-30; मत्स्यपुराण, 49/5/13 ।

257. ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ० 133-134 ।

258. आप्टे, संस्कृत हिन्दी कोश, पृ० 1051 ।

259. पी०वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-1, पृ० 176 ।

260. जैमिनीसूत्र, 3/1/3 । पर शबर की टीका, तंत्रवार्त्तिक, पृ० 1078 ।

261. राजबली पाण्डेय, हिन्दू-संस्कार, (वाराणसी, 1966), पृ० 17, 19 ।

262. राजबली पाण्डेय, हिन्दू-संस्कार, पृ० 351 ।

263. मनु०, 2/16, 26, 3/1-4 याज्ञ०; 1/2 ।

264. राजबली पाण्डेय, हिन्दू-संस्कार, पृ० 24 ।

265. इत्येते चत्वारिंशत्संस्काराः । गौतम ध० सू०, 1/822 ।

266. व्यासस्मृति, 1/14/15 ।

267. वासुदेव उपाध्याय, सोशियो रिलिजस कण्डीशन ऑफ नार्दर्न इण्डिया, पृ० 140।

268. स्वामी दयानन्द सरस्वती की संस्कार-विधि और पण्डित भीमसेन शर्मा की षोडश-संस्कार विधि में केवल सोलह संस्कारों का ही समावेश है; राजबली पाण्डेय, हिन्दु-संस्कार, पृ० 26।

269. याज्ञ०, 1/11 : बौधायन गृ० सू०, 14/6/1।

270. अथर्ववेद, 5/25/23/, 5 : बृ० उप०, 6/4/21।

271. याज्ञ०, 1/79 3/48 1/79 : मनु०, 3/45।

272. मिताक्षरा, याज्ञ०, 1/11; अपरार्क, पृ० 25; स्मृति चन्द्रिका 1, पृ० 17। राजबली पाण्डेय, हिन्दू-संस्कार, पृ० 63।

273. पुंसः सवनं स्पन्दनात्पुरा। याज्ञ०, 1/11; शंखस्मृति, 2/1।

274. सवनं स्पन्दिते शिशौ। वी० मि०, सं० भा० 1, पृ० 166 पर उद्धृत।

275. शांख्या० गृ० सू०, 1/20।

276. मानसोल्लास, 3/12/1252।

277. वा० सं०, 21/13। वायु० पु०, 96/12; ब्रह्माण्ड पु०, 3/71/12।

278. याज्ञ०, 1/11। मनु०, 2/29। पार० गृ० सू०, 1/16। तैत्तिरीया संहिता, 2/2/5/3-4। व्यास-स्मृति, 1/14-15; गौतम०, 8/14।

279. ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ० 221।

280. इपि० इं० 4 पृ० 126-27।

281. महा०, आदि०, 213/62।

282. अहन्येकादशे नाम···। याज्ञ०, 1/12।

283. बृहदारण्यक०, 3/2/12।

284. मनु०, 2/3। विश्वरूप, मनु०, 2/30; मेधातिथि, मनु०, 2/30। वी० मि० 1, पृ० 334 पर उद्धृत।

285. वासुदेव उपाध्याय, दी सोशियो रिलिजस कण्डीशन ऑफ नार्दर्न इण्डिया, (वाराणसी, 1965), पृ० 142।

286. संस्कार-प्रकाश, पृ० 322।

287. पी० वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-1, पृ० 201।

288. मनु०, 2/31/32।

289. इण्डि० उ०, 18, पृ० 129; एपि० इं० 4, पृ० 120, 10, पृ० 95।

290. चतुर्थे मासि निष्क्रमः। याज्ञ०, 1/12; परा० गृ० सू०, 1/17।

291. चतुर्थ मासि कर्त्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात् ।
षष्टेन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मंगलं कुले ।। मनु०, 2/34 ।

292. का० गृ० सू०, 37-38 ।

293. तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छक्रमुच्चरत् पश्येम् शरद: शतं जीवेम् शरद: शतम् । शृणुयाम् शरद: शतं प्रब्रवाम शरद: शतम् अदीना: स्याम शरद: शतं भूयश्च शरद: शताम् ।। वा० सं०, 36/24 ।

294. षष्ठेऽन्नप्रशानं मासि···। याज्ञ०, 1/12 ।

295. षण्मासं चैतमन्नं प्राशयेवल्लघुसंहितंच । सुश्रुत शारीरक स्थान, 10/64 ।

296. परा० गृ० सू०, 1/19; शां० गृ० सू० 1/27 ।

297. संवत्सरेऽन्न प्राशनमर्धसंवत्सर इत्येके । शंख, अपरार्क द्वारा उद्धृत, पृ० 28 ।

298. चूडाकार्या यथाकुलम् । याज्ञ०, 1/12 ।

299. महाभाष्य, 2, पृ० 262; संस्कार प्रकाश, पृ० 295 ।

300. चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मत: ।
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्त्तव्यं श्रुतिचोदनात् ।। मनु०, 2/35 ।

301. पा० गृ० सू०, 1/19 । आश्व० गृ० सू०, 1/17/1-18; गोभिल गृ०सू०, 2/9/1-29; बौ० गृ० सू० 24 302 । आप० गृ० सू०, 16/3-10 ।

302. ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ० 224 ।

303. वत्सरद्वितयादूर्ध्वं चूड़ा कार्यायथाकुलम् ।
मानसोल्लास, 3/12/1280 ।

304. आप० गृ० सू०, 16/3 ।

305. आप० ध० सू०, 2/5/11/12 ।

306. ऋग्वेद, 10/85/36, 5/3/2, 5/28/3 ।

307. याज्ञ०, 1/77; मनु०, 9/28; विष्णु पु०, 5/38 ।

308. बौ० गृ० सू०, 1/43 ।

309. राजबली पाण्डेय, हिन्दू-संकार, पृ० 305 ।

310. याज्ञ०, 1/10; मनु०, 2/16; आ० गृ० सू०, 3/10/16,23 ।

311. आ० गृ० सू०, 3/10, 27-28 ।

312. याज्ञ०, 1/256 । 270, 225-249 विष्णु पु०, 3/13/20 ।

313. इपि० इण्डि० 2, पृ० 310 समग्रश्रद्धया श्राद्ध विधाय । 4, पृ० 105, 128 ।

314. याज्ञ०, 1/97।
मनुजास्तत्र जायन्ते यतो नागृहधर्मिणः।
तस्य कुर्तुनियोगेन संसारो येन वर्धितः।। मत्स्यपुराण, 154/152-53।

315. राजबली पाण्डेय, हिन्दू-संस्कार, पृ० 159।

316. मनु, 3/97; याज्ञ०, 1/51।

317. विलिस्टाइन गुडसेल, पी-एच०डी०, ए हिस्ट्री ऑव दि फैमिली एज ए सोशल एण्ड एजुकेशनल इंस्टिट्यूशन, पृ० 58।

318. लाइफ ऑव लिकगर्स, बॉस क्लासिकल लाइब्रेरी, भा० 1, पृ० 81।

319. 1, कोर, 7/2; वही, 7/7-8; उद्धृत, राजबली पाण्डेय, हिन्दू-संस्कार, पृ० 199।

320. याज्ञ०, 1/52।

321. लक्ष्मीदत्त ठाकुर, प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन, पृ० 139।

322. एवमुपयमनपाणिग्रहणशब्दात्परिणयन शब्दोऽपि दण्डिन्यायेनैव कर्मसमुदाये शास्त्रेषु प्रयुज्यते। अपरार्क, पृ० 95।

323. शब्दकल्पद्रुम, चतुर्थकाण्ड, पृ० 427।

324. के० एम० कपाडिया, मैरेज एण्ड फैमिली इन इण्डिया, पृ० 168।

325. याज्ञ०, 1/78, 89।

326. अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्चह।। मनु०, 9/28।

327. आपतम्ब० सू०, 2/5/11/12; याज्ञ०, 1/78 पर मिताक्षरा।

328. रामायण, 1/36/3, 21 तथा 1/72/3;
पराधर्मकृतो मह्यं·······। रामायण, 1/72/15।

329. के० एम० कपाडिया, मैरिज एण्ड फैमिली इन इण्डिया, पृ० 167।

330. दशपुरुषविख्याताच्छ्रोत्रियाणां महाकुलात्।
पुरुषा एव पूरुषाः दशभिः पुरुषैः मातृतः पञ्चभिः
पितृतः पञ्चभिर्विख्यातं यत् कुलं स्यात्। उद्धृत, राजबली पाण्डेय, हिन्दू-संस्कार, पृ० 232।

331. स्फीतादपि न संचारिरोगदोषसमन्वितात्। याज्ञ०, 1/54।

332. कुलमग्रे परीक्षेत मातृतः पितृतश्चेति। आ० गृ० सू०, 1/5।

333. उत्तमैर्नित्यं सम्बंधानाचरेत्सह ।
निनिषु: कुलमुत्कर्वमधमानधमांस्त्यजेत् ।। मनु०, 4/244 ।

334. याज्ञ०, 1/52-54 पर मिताक्षरा मनु० 3/10

335. वशिष्ठ; गृहस्थ धर्म श्लोक 218; मनु० 3/10; वीरमित्रोदय, भा० 2, पृ० 731 पर उद्धृत ।

336. चत्वारि विवाहकरणानि वित्तं रूपं प्रज्ञा बांधवमिति। भारद्वाज०, 1/6 ।

337. स्त्रियं नपुंसकत्व निवृत्तये स्त्रीत्वेन परीक्षिताम् । मिताक्षरा, 1/51. ।

338. नोद्वहेत्कपिलां कन्यां नाधिकांगीं न रोगिणाम् ।
नालोमिकां नातिलोमां न वाचालं न पिंगलाम् ।।
नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम् ।
न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम् ।। मनु०, 3/8/9 ।

339. वीरमित्रोदय, भाग-2, पृ० 731; विष्णुपुराण, 3/10/16-22 ।

340. राजबली पाण्डेय, हिन्दू-संस्कार, पृ० 246 ।

341. याज्ञ०, 1/55; मनु०, 3/2,4 ।

342. विद्याचारित्र्यबन्धुशीलसम्पन्नाय कन्यां दद्यात् । गौतम०ध०सू० ।

343. आप०ध०सू०, 1/3/20; पा०गृ०सू०, 1/8. पर गदाधर द्वारा उद्धृत ।

344. याज्ञ०, 1/72-74, 89; उद्धृत, राजबली पाण्डेय, हिन्दू-संस्कार, पृ० 252.

345. यास्याप्सुप्लवते वीर्यं ग्राहि मूलं च फेनिलम् ।
पुमान् स्याल्लक्षणेरेतैर्विपरीतेस्तु षण्ढक: ।। नारद०, 15/10.

346. मनु०, 9/203; याज्ञ०, 2/141-142. पी०वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास (हिन्दी अनुवाद), भाग-1, पृ० 27;

347. याज्ञ०, 1/51; मनु०, 9/90; 9/4; व०स्मृ०, 17 । गदाधर द्वारा पा०गृ०सू०, 1/4/8 पर उद्धृत; याज्ञ०, 1/22; शं०स्मृ०, 1/67; प०स्मृ०, 7/6 ।

348. बृहद् यम, 3/22; संवर्त०, 1/67; यम०, 1/22; शंख०, 15,8; उद्धृत, अल्तेकर, दी राष्ट्रकूटाज एण्ड देयर टाइम्स, पृ० 42-43 ।

349. मनु०, 9/94; अर्थ०, 3/2; गौ०ध०सू०, 18/22; परा०स्मृ०, 7/7-8 ।

350. पी०एन० प्रभु, हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन, पृ० 186 ।

551. ब्राह्मोदैवस्तथैवार्ष: प्राजापत्यस्तथऽऽसुर: ।
गन्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधम: ॥ मनु०, 3/21.
याज्ञ०, 1/58-61; शंखस्मृति, 4/124-26.

352. द्रष्टव्य, आश्व०गृ०सू०, 1/6; गौतम०, 4/6/13; बौ०ध०सू०, 1/11; कौटिल्य० 3/2; महाभारत, 1/73/8-9, 13, 44-45; नारद०, 38/39; विष्णु पु०, 3/10/24.

353. लुडविक, ज्यूडिशियल स्टडीज इन ऐंशियन्ट इण्डिया, पार्ट प्रथम, पृ० 3-47 ।

354. हरिदत्त वेदालंकार, हिन्दू विवाह का संक्षिप्त इतिहास, पृ० 164 ।

355. गृहस्थो विनीत क्रोध हर्षो गुरुणाऽनुज्ञात: स्नात्वाऽसमानार्षामस्पृष्ठ मैथुनां यवीयसी सदृशीं भार्यां विन्देत्। वसिष्ठ गृहस्थ धर्म, 218 श्लोक.

356. याज्ञ०, 1/58-59; गरुड़, 1/95/7 ।आ०गृ०सू०, 1/6; मनु०, 3/27-28; व०स्मृ०, 2/5; शंख, 4/2; अर्थशास्त्र, 2/2। राजबली पाण्डेय, हिन्दू-संस्कार, पृ० 217 । आपस्तम्ब ध०सू०,2/19 ।

357. दक्षिणासु दीयमानास्वन्तर्वेदि यदृत्विजे स देव: ।
उद्धृत, राजबली पाण्डेय, हिन्दू-संस्कार, पृ० 216

358. अलतेकर, दि पोजीशन ऑफ वीमेन इन हिन्दू सिविलीजेशन, पृ० 45 ।

359. याज्ञ०, 1/59; गरुड़ पु०, 95/8 । महाभारत, 1/122/9 ।

360. जैमिनि०, 6/1/15 ।

361. स्ट्रबो, 15/1/54 ।

362. याज्ञ०, 1/60 ।
इत्युक्त्वा चरतां धर्मं सह या दीयतेऽर्थिने ।
सकाय: पावयेत्तज्ज: षडवंश्यानात्मना सह ॥ गरुड़ पु०, 1/95/10 ।

363. मनु०, 3/30 । रामायण, 1/72, 25-26 ।

364. सहधर्मचर्या प्रजापत्य: । अर्थशास्त्र, 2/3 ।

365. अलतेकर, दि पोजीशन ऑफ वीमेन इन हिन्दू सिविलीजेशन, पृ० 55 ।

366. राजबली पाण्डेय, हिन्दू-संस्कार, पृ० 214 ।

367. असुरो द्रविणादानाद। याज्ञ०, 1/61; गरुड़ पु०, 1/95/10; शुल्कदा-नादासुर । अर्थ०, 2/7 । मनु०, 3/21 ।

368. मेगास्थनीज : आक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग-1, पृ० 60 पर उद्धृत ।
369. ऋग्वेद, 1/109/2 ।
370. हिन्दू विवाह का संक्षिप्त इतिहास, पृ० 190-91 ।
371. महाभारत, 1/113/8-13 । 3/115/20-20 ।
372. विष्णु०, 4/7/12-15 । जातक 4, पृ० 108 । नारी नरी निज्झपर्यधनेन उक्क सतीमत्थ करोति चन्दम् । जातक 3, पृ० 342 ।
373. याज्ञ०, 3/236/242 । महा०, 13/44/9 । मनु०, 9/98 ।
374. पद्मपुराण, व्रतखण्ड, 24/26 ।
375. वेदालंकार, हिन्दू विवाह का संक्षिप्त इतिहास, पृ० 196 ।
376. अलतेकर, दि पोजीशन ऑफ वीमेन इन हिन्दू सिविलीजेशन, पृ० 196 ।
377. गान्धर्व: समयान्मिथ: । याज्ञ० 1/161 ।
378. इच्छायाऽन्योन्यसंयोग: कन्यायाश्च वरस्य च ।
गान्धर्वस्स तु विज्ञेयो मैथुन्य: कासम्भव: ।। मनु०, 3/32 ।
379. मिथ: समवायाद्गान्धर्व: । अर्थ०, 2/6 ।
380. सकामेन सकामायां मिथ: संयोगो गान्धर्व: । बौ०ध०सू०, 1/11/6; मिथ: कामात्सांवर्तेत सा गान्धर्वा: ।
आ०ध०सू०, 2/20; गौतम०, 1/4/8 ।
381. महाभारत, 1/69; देखिए अभिज्ञान शाकुन्तलम् ।
382. वायु पु०, 2/15; मत्स्य पु०, 24/30/32; विष्णु पु०, 4/6/35 ।
383. मनु०, 3/23 । महाभारत, 13/44 ।
384. सुखस्वादबहुक्लेशादपि चावरणादिति ।
अनुरागात्मकत्वाच्च गान्धर्व: प्रवरोमत: ।। कामसूत्र, 3/5/30 ।
385. राजबली पाण्डेय, हिन्दू-संस्कार, पृ० 208 ।
386. राक्षसो युद्ध हरणात् । याज्ञ०, 1/61;
युद्धहरणेन राक्षस: । उद्धृत, राजबली पाण्डेय, हिन्दू-संस्कार, पृ० 205 ।
387. हत्वा छित्त्वा च भित्त्वा च क्रोशन्तीं रुदती गृहात् ।
प्रसह्य कन्यां हरणं राक्षसो विधिरुच्यते ।। मनु०, 3/33 ।
388. प्रसह्यादानाद्राक्षस: । अर्थशास्त्र, 2/8 ।
389. महाभारत, 1/64/22 । 1/245-46; विष्णु०, 5/26/11 ।

390. जातक, 1, पृ० 297; 5, पृ० 425-26।

391. याज्ञ०, 1/61; गरुड़ पु० 1/95/10। मनु०, 3/34। अर्थशास्त्र, 2/9।

392. ब्रह्मोदैवस्तथैवा ष: प्रजापत्यस्तथाऽऽसुर:।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधम:॥
महाभारत, 13/44; मनु०, 3/25; शंख०, 4/2।

393. वेदालंकार, हिन्दू विवाह का संक्षिप्त इतिहास, पृ० 170।

394. बौ०ध०सू०, 111/20/13; मनु०, 3/23।

395. राजबली पाण्डेय, हिन्दू-संस्कार, पृ० 204।

396. डी० एन० मजूमदार, रेसेज एण्ड कल्चर्स ऑफ इण्डिया, पृ० 173। राजबली पाण्डेय, हिन्दू-संस्कार, पृ० 218।

397. याज्ञ० 2/62; 1/63-64; 1/65।

398. याज्ञ०, 1/66, 72, 74

399. याज्ञ०, 1/68-69; मनु०, 9/59,68; आप० ध० सू०, 2/6/13/8।

400. याज्ञ०, 1/57, 67, 88।

401. याज्ञ०, 2/125। हर्षचरित, 1।

402. एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द 18, पृ 87।

403. आर्के० सर्वे० वे० इं, जिल्द 4, पृ० 140।

404. याज्ञ०, 2/122 पर मिताक्षरा। तथा 1/56

405. के० एम० कपाडिया, हिन्दू मैरिज इज ए सेक्रामेन्ट, मैरिज एण्ड फेमिली इन इण्डिया, पृ० 168।

406. यत्रनार्यस्तुपूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफला: क्रिया:॥ मनु०, 3/56।

407. याज्ञ०, 1/80; मनु०, 9/33। याज्ञ०, 1/71।

408. याज्ञ०, 1/82। मनु०, 3/59।

409. ब्राह्मणा पदतो वेध्या: स्त्रियो मेध्यास्तु सर्वत:। वसिष्ठ, अ० 38; नित्यमास्यं शुचि: स्त्रीणाम्…। मनु०, 5/130।

410. याज्ञ०, 1/34, 35।

411. उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितृन्माता गौरववेणातिरिच्यत॥ मनु०, 2/145।

412. याज्ञ०, 1/83-84, 86

413. याज्ञ०, 1/85; गरुड़ पु०, 1/115/63।

414. मनुस्मृति, 9/3; नारदस्मृति, 13-30; वेदव्यास स्मृति, 2/54 ।
415. विज्ञानेश्वर, याज्ञ०, 1/87 ।
4.6. गरुड़ पु०, 1/109/38 ।
417. याज्ञ०, 1/70, 72 ।
418. भर्तारं लंघयेद्या तु स्त्री ज्ञातिगुणदर्पिता ।
तांश्वभि: खादयेद्राजा संस्थाने बहुसंस्थिते ।। मनु०, 8/371 ।
वशिष्ठ०, 2/10/12; मिताक्षरा, याज्ञ०, 1/72; महा०, 12/155/61-64; गौत० ध० सू०, 23/14 ।
419. याज्ञ०, 1/75, 87
420. याज्ञ०, 1/88-89 ।
421. रामोऽपि कृत्वा सौवर्णी सीतां पत्नीं यशस्विनीम् ।
ईजे यज्ञैर्बहुविधै: सह भ्रातृभिरच्युत: ।। कात्यायन, श्लोक 9 ।
422. मृतयामपि भार्यायां वैदिकाग्नि न हि त्यजेत् ।
उपाधिनापि तत् कर्म यावज्जीवं समापयेत् ।। कात्यायन, श्लोक 8 ।
423. याज्ञ०, 2/143-44 पर मिताक्षरा ।
424. अध्यग्न्यध्यावाहनिकं दत्तं च प्रीतिकर्माणि ।
भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम् ।। मनु, 9/194 ।
425. याज्ञ०, 2/145 ।
426. अपरार्क, पृ० 75 । याज्ञ०, 2/125, 143 पर मिताक्षरा; बृहस्पति०, 15/35; नारद०, 13/50 ।
427. अध्यग्न्यध्यावहनिक भर्तृदायस्तथैव च ।
भातृदत्तं पितृभ्यां च षड्विधं स्त्रीधन स्मृतम् ।। नारद०, 13/8 ।
428. वृत्तिराबध्यं वा स्त्रीधनम् । अर्थशास्त्र० 3/16-17 ।
429. अवध्यनियम: । वही, 3/18 ।
430. याज्ञ०, 2/117 पर मिताक्षरा ।
431. याज्ञ०, 2/147; आपदर्थं हि स्त्रीधनम् । अर्थशास्त्र, 3/2/40 ।
432. अलतेकर, दि पोजीशन ऑफ वीमैन इन हिन्दू सिविलाइजेशन, पृ० 45 ।

+●——●+

तृतीय अध्याय

पारिवारिक एवं सांस्कृतिक-जीवन

पारिवारिक-जीवन

मानव ने अपने सामाजिक जीवन को पुष्ट एवं स्थायी बनाने तथा उसे सुखमय स्वरूप देने के लिए जिन संस्थाओं की रचना की, उनमें परिवार का स्थान सर्वोपरि है। इसने मानव जाति को निरंतरता प्रदान की है, उसे अमरत्व दिया है। "मनुष्य मरण धर्मा है, किन्तु मानव जाति अमर है। व्यक्ति उत्पन्न होते हैं, बचपन, यौवन और बुढ़ापे की अवस्था भोगकर समाप्त हो जाते हैं, पर वंश-परम्परा द्वारा उनका सन्तान-क्रम अविच्छिन्न रूप से चलता रहता है। मृत्यु और अमरत्व दो विरोधी वस्तुएं हैं; किन्तु परिवार द्वारा इन दोनों का समन्वय हुआ है। व्यक्ति भले ही मर जाए; पर परिवार और विवाह द्वारा मानव जाति अमर हो गई है।[1]"

हिन्दू परिवार का स्वरूप संयुक्त है। परिवार का यह स्वरूप प्राचीन है और सभी इण्डोयूरोपीय जातियों में प्रचलित रहा है। भारत में संयुक्त परिवार की यह परम्परा आज भी प्रचलित है। प्राचीन परम्परा का पालन करते हुए याज्ञवल्क्य ने तत्कालीन सामाजिक-व्यवस्था में संयुक्त-परिवार का प्रतिपादन किया है।[2]

संयुक्त-परिवार के मुख्य सदस्य – माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-कन्या, वधू, पौत्र, प्रपौत्र, आदि थे।[3] संयुक्त-परिवार का उल्लेख ऋग्वेद[4], जातक[5], रामायण[6], गौतम धर्मसूत्र[7], अर्थशास्त्र[8], नारद[9], बृहस्पति[10], देवल[11], मनु[12] आदि धर्मशास्त्रों में भी मिलता है।

संयुक्त-परिवार प्रणाली में पिता परिवार को सुव्यवस्थित ढंग से चलाता था। पिता के संरक्षण में परिवार के सभी सदस्य रहते थे। माता-पिता के मृत्यु के बाद सभी भाई सम्पत्ति एवं ऋण का बराबर-बराबर विभाजन करते थे। माता का धन पुत्रियों को मिलता था, यदि पुत्री नहीं है तो माता का धन भी पुत्रगण ग्रहण करते थे।[13] कुछ धर्मशास्त्रकारों ने भाइयों के विभक्त हो जाने पर धर्म-बृद्धि मानकर उनके अलगाव को धर्मसंगत माना है।[14] याज्ञवल्क्य ने जन्म से ही पिता की सम्पत्ति में पुत्र का अंश स्वीकार किया है।

बारहवीं सदी से हिन्दू परिवार में दो विरोधी मत प्रचलित हुए—(1) विज्ञानेश्वर द्वारा प्रतिपादित 'जन्मना-स्वत्ववाद' और जीमूतवाहन द्वारा पिता के पूर्ण स्वत्व को मानने वाला 'उपरम-स्वत्ववाद'। पहला पक्ष यह मानता था कि परिवार में जन्म ग्रहण करते ही पुत्र का सम्पत्ति में स्वत्व उत्पन्न हो जाता है तथा दूसरा पक्ष यह

कहता था कि पिता के मरने पर ही पुत्रों को पिता की सम्पत्ति में अधिकार मिलता है। इन व्यवस्थाओं के अनुसार चलने वाले परिवारों को हम क्रमशः 'मिताक्षरा' तथा 'दायभाग' कुटुम्ब कह सकते हैं। इन दोनों प्रणालियों से भी संयुक्त-परिवार-व्यवस्था को बड़ा प्रोत्साहन मिला।[15]

माता-पिता

परिवार में माता-पिता को आदर की दृष्टि से देखा जाता था। माता-पिता एवं आचार्य को समान पूजनीय माना गया है।[16] याज्ञवल्क्य ने गुरु, आचार्य, उपाध्याय ऋत्विज् आदि से माता को श्रेष्ठ मानते हुए माता को इन सबसे अधिक पूजनीय माना है।[17] मनुस्मृति में माता को "परमगुरू" मानकर उसकी सर्वोच्चता व्यक्त की गई है।[18] महाभारत में भी माता को श्रेष्ठ गुरू कहा गया है।[19] वसिष्ठ ने भी माता को सबसे श्रेष्ठ माना है।[20]

हर्षचरित[21], संस्कार-प्रकाश[22], शाकुन्तलम्[23] एवं रघुवंश[24] आदि ग्रन्थों में भी माता की पवित्रता एवं श्रेष्ठता का उल्लेख मिलता है। अन्यत्र भी कहा गया है—"जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।" अर्थात् माता और जन्मभूमि स्वर्ग से भी बढ़कर है। इस प्रकार पारिवारिक-जीवन में मां की महिमा अपार है।

"पितृ" शब्द का उद्भव "पा" धातु से हुआ है, इसका तात्पर्य है "रक्षा करना" एवं "संचय करना"।[25] अतः परिवार के सभी सदस्यों की रक्षा करने वाला पिता है। उसका परिवार पर पूर्ण अधिकार और स्वत्व होता है। परिवार के सभी सदस्य उसे आदर एवं सम्मान की दृष्टि से देखते थे। ऋग्वेद की एक ऋचा में उसे सभी के कल्याण और दया का प्रतीक बताया गया है।[26]

याज्ञवल्क्य के अनुसार माता, पिता की सेवा करने वाला व्यक्ति सभी लोकों को प्राप्त करता है।[27] प्रबुद्ध मानव-धर्मशास्त्री मनु का मन्तव्य है कि माता-पिता पुत्र उत्पन्न करने में जो कष्ट सहन करते हैं, उसका बदला 100 वर्षों में भी उनकी सन्तान नहीं दे सकती।[28] पिता की महानता का प्रतिपादन करते हुए महाभारत में कहा गया है कि पिता ही धर्म, स्वर्ग और परम तप है और उसके प्रसन्न होने पर ही देवतागण हर्षित होते हैं।[29]

पिता आवश्यकतानुसार अपने पुत्रों को शिक्षा देता था। याज्ञवल्क्य के टीकाकार विश्वरूपाचार्य ने पिता को शिक्षक के रूप में स्वीकार किया है।[30] मेधातिथि ने भी इसे स्वीकार किया है।[31] पिता का स्थान इतना समाद्रित है कि इसे 'अति-गुरू' की संज्ञा दी गई है।[32] अतः तद्युगीन समाज में पिता की गरिमा यशपूर्ण थी।

पिता का अपने परिवार के सदस्यों पर पूर्णतया अधिकार था। पुत्रों पर उसका सर्वाधिक आधिपत्य माना जाता था। पुत्र का वह जिस रूप में चाहे उस रूप में उपयोग करता था। वह उसे बेच भी सकता था। याज्ञवल्क्य ने पुत्र के प्रकार वर्णन में क्रीतपुत्र का उल्लेख किया है। माता-पिता द्वारा धन देकर दूसरों से खरीदा जाता

था।[33] यदि क्रीतपुत्र हो सकते थे तो कुछ लोग अपने पुत्र या पुत्रों को आवश्यकता पड़ने पर अवश्य बेचते रहे होंगे। इससे सन्तति पर पिता का पूर्ण अधिकार सिद्ध होता है। वसिष्ठ की सम्मति है कि पुत्र माता-पिता के शोणित-शुक्र से उत्पन्न होता है उसके जन्म का कारण माता-पिता हैं। अतः उन्हें पुत्र का विक्रय एवं त्याग करने का पूर्ण अधिकार है। एकमात्र पुत्र का दान एवं प्रतिग्रह निषिद्ध था।[34]

याज्ञवल्क्य के समय में पिता को पुत्र विक्रय एवं छोड़ने का अधिकार था, किंतु बाद में यह निन्दित मानकर प्रतिबन्धित कर दिया गया।[35] याज्ञवल्क्य ने कहा है कि दान दिया जा सकता है किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि पुत्र एवं स्त्री भूखों मरें।[36] इसलिए उस दान को निन्दित बताया है जिससे परिवार में दरिद्रता उत्पन्न हो जाय।

पिता अपने जीवन-काल में परिवार की सम्पूर्ण सम्पत्ति का अधिकारी होता था। वह पूर्वजों द्वारा प्राप्त सम्पत्ति का संरक्षक था एवं अपनी अर्जित सम्पत्ति का स्वामी होता था।[37] बालक, नौकर और स्त्री जो कुछ भी कमाते हैं वह उसी का होता है जिसके अधीन वे होते हैं।[38] इसे भी इस प्रकार पिता का अर्जन ही कह सकते हैं।

पिता को अपने जीवन-काल में सम्पत्ति का विभाजन करने का अधिकार था। वह बड़े लड़के को अपनी इच्छानुसार श्रेष्ठ-भाग, मझले को मध्य-भाग एवं सबसे छोटे को कनिष्ठ-भाग दे सकता था अथवा सभी पुत्रों को समान अंश भी दे सकता था।[39] पुत्रों के अतिरिक्त उन पत्नियों को भी समान भाग दे सकता था, जिन्हें अपने पति एवं श्वसुर से 'स्त्री-धन' न मिला हो।[40] माता-पिता जिस पुत्र को जो वस्तु दे देते थे वह उसका धन हो जाता था।[41]

आदर्श पुरुषों के चरित्र में माता-पिता की सेवा के अनेक उदाहरण मिलते हैं। राम और कृष्ण की तत्सम्बन्धी कथायें प्रसिद्ध हैं। महाभारत में 'तुलाधार' की कथा के अनुसार माता-पिता की सेवा से मानव को मोक्ष तक प्राप्त होने की बात मिलती है।[42]

पति

प्राचीन हिन्दू-परिवार पितृ-प्रधान था। परिवार में स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों का अधिकार अधिक था। "पति" शब्द की व्युत्पत्ति "पा" धातु से हुई है, जिसका तात्पर्य है रक्षा करना। याज्ञवल्क्य के समय में बाल-विवाह प्रथा का पूर्ण विकास हो गया था। जिससे स्त्रियों की श्रेष्ठता कम हो गई थी। तद्युगीन समाज के पारिवारिक संदर्भ में पति अत्यन्त प्रभावशाली और प्रभुतासम्पन्न था। कुटुम्ब में उसका नियन्त्रण और आदेश महत्त्वपूर्ण था। स्त्रियों का स्तर धीरे-धीरे गिरने लगा था। स्त्रियों को पतियों के अधीन रहना पड़ता था तथा वह पति को अपना सर्वस्व समर्पित कर देती थी।[43] इससे पति का अधिकार क्षेत्र विस्तृत होता गया। किन्तु पत्नी की

स्थिति शोचनीय होती गई। स्त्री की आजीविका और उसकी आर्थिक स्थिति पति पर निर्भर थी। इसलिए पति को "भर्त्ता" कहा गया।[44] सामाजिक स्थिति के अनुरूप पति ही परिवार के भरण-पोषण के लिए उत्तरदायी था। अन्य सदस्य उसी पर निर्भर रहते थे।

प्राचीन काल में स्त्रियों को क्रय, विक्रय एवं दान की सामग्री माना जाता था। महाभारत से ज्ञात होता है कि पति अन्य वस्तुओं की तरह दासियां, कन्याएं आदि भी दान में दे सकता है। राजा भगीरथ ने यज्ञ-सम्पादन के अवसर पर 10 लाख कन्याओं का दान दक्षिणा के रूप में दिया था।[45] पर यह दान भगीरथ ने पति की स्थिति से न देकर राजा की स्थिति से दिया था। पत्नियों का भी दान दिया जाता था। राजा मित्रसह ने अपनी स्त्री मदयन्ती को वसिष्ठ को दान में दिया था। द्रौपदी[46] की जुए में हारने के उल्लेख से स्पष्ट है कि जुआरी उन्हें दाव पर प्रायः लगाते रहे होंगे। दाव पर तो वही वस्तु लगायी जा सकती है जिसे विक्रय किया जा सके या जो पण्य के रूप में मान्य हो। महाभारत में धन के तीन प्रकार—दास, पुत्र और नारी कहे गये हैं।[47] याज्ञवल्क्य के समय में पति-पत्नी को दान में नहीं दे सकता था। इसका समर्थन नारद ने भी किया है।[48] याज्ञवल्क्य ने पति द्वारा स्त्री-विक्रय पर प्रतिबन्ध लगाया है। स्त्री-विक्रय करने वाला पातकी माना जाता था।[49] इससे मुक्ति पाने के लिए उसे प्रायश्चित्त करना पड़ता था।

पति को पत्नी के परित्याग का अधिकार स्थिति विशेष में था। याज्ञवल्क्य का कथन है कि परपुरुष से गर्भवती, गर्भ की हत्या, पति-बध एवं ब्रह्महत्या आदि महापातक कर्म करने वाली स्त्री को पति त्याग सकता था। सुरापान करने वाली, दीर्घ रोगों से ग्रस्त, धूर्त, बंध्या, धन विनष्ट करने वाली, कठोर बचन बोलने वाली केवल पुत्रियों को जन्म देने वाली एवं पति का अहित करने वाली पत्नी के रहते हुए पति को दूसरा विवाह कर लेने का अधिकार था। वीर-पुत्रों को जन्म देने वाली, आज्ञा का पालन करने वाली, कुशल, वीर तथा प्रिय वाणी बोलने वाली धर्म-पत्नी का परित्याग करने वाले व्यक्ति से राजा उसे सम्पूर्ण धन का 1/3 भाग दिलाता था किन्तु निर्धन-व्यक्ति से भोजन तथा वस्त्र दिलाया जाता था।[50]

पति का यह कर्त्तव्य था कि वह पत्नी का पालन-पोषण करे। पति को भर्त्ता इसलिए कहा जाता था, क्योंकि वह पत्नी का भरण करता था। दोषयुक्त, परित्यक्ता स्त्री का भी पोषण पति को करना पड़ता था। पति का यह कर्तव्य होता था कि वह स्त्री को समय-समय पर भोजन, वस्त्र एवं आभूषण से तृप्त करता रहे। सवर्ण पत्नी के जीवित रहने पर दूसरी पत्नी से धर्म-कार्य करना निषिद्ध था। कई सवर्णा पत्नियों के होने पर श्रेष्ठा पत्नी से ही धर्म कार्य करना चाहिए।[51]

पत्नी की रक्षा करना पति का कर्तव्य था। उसे अपनी धर्मपत्नी में रत रहकर उसकी सब तरह से रक्षा करनी पड़ती थी।[52] महाभारत में कहा गया है

कि आपत्तिकाल के लिए धन को बचाना चाहिये और धन से पत्नी को बचाना चाहिये। जो व्यक्ति स्त्री की रक्षा करने में असमर्थ है वह नर्क का भागी होता है साथ ही साथ वह अपयश प्राप्त करता है।[53] राम द्वारा लंका में लड़ा गया युद्ध पत्नी सीता की रक्षा के प्रयास का एक बड़ा उदाहरण प्रस्तुत करता है।[54]

स्त्री की मृत्यु पर पति का कर्तव्य होता था कि वह अग्निहोत्र की अग्नि से उसका अन्त्येष्टि-संस्कार करके शीघ्र ही विधिपूर्वक दूसरी पत्नी से विवाह कर, उसे ग्रहण करके पुनः अग्निहोत्र-अग्नि का आधान करे।[55] विश्वरूपाचार्य का मन्तव्य है कि जो तीन वर्ष तक ऋतुमती पत्नी के पास नहीं गमन करता है उसे अवश्य ही भ्रूण-हत्या के समान पाप लगता है। ऋतुस्नाता-स्त्री के पास जो नहीं जाता उस माह में उसके पितरगण स्त्री के रज में शयन करते हैं, जो पत्नी भी पति का प्रत्याख्यान कर अपना ऋतु नष्ट करती है उसे गांव के मध्य में भ्रूणघ्नी बताकर घर से बहिष्कृत कर देना चाहिये।[56] सौभाग्यशाली व्यक्ति को ही दाम्पत्य-प्रेम प्राप्त होता है।[57] अतः पुरुष अपनी भार्या के प्रति स्नेह एवं प्रेम से व्यवहार करता था। इससे उसकी कर्तव्यपरायणता स्पष्ट होती है। स्त्री का पालन-पोषण एवं सब तरह से रक्षा करना ही पति का महत्वपूर्ण कर्तव्य था।

पत्नी

परिवार के सदस्यों में पत्नी की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इससे परिवार का विकास होता था। याज्ञवल्क्य के अनुसार सोम देवता ने (नारी को) पवित्रता दी, गन्धर्व ने मधुर वाणी दी, अग्नि ने सब तरह से पवित्र होने की शक्ति दी, अतएव स्त्रियां सर्वत्र पवित्र होती हैं। भार्या गृह की शोभा और कान्ति होती है। उससे सन्तानोत्पत्ति, धर्म, सेवा, उत्तम सुख, पितरों एवं स्वयं को स्वर्ग प्राप्त होता है।[58] शंख के मतानुसार भार्या वही है जो घर की सब तरह से रक्षा करती है, जो पति को प्राणों के समान महत्व देती है और जो पुत्र उत्पन्न करती है।[59] इसलिये पारिवारिक जीवन में पत्नी का अत्यधिक महत्व था। मिताक्षराकार का मन्तव्य है कि पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र से इस लोक में वंश-परम्परा क्रमशः चलती रहती है। वस्तुतः ये दोनों कार्य स्त्रियों से ही सम्पन्न होते हैं इसलिये वे उपभोग्य होती हैं। उनकी रक्षा करनी चाहिये।[60]

स्त्रियों का यह कर्तव्य था कि वे पति की आज्ञा का विधिवत पालन करें। यही स्त्रियों का परम-धर्म है। यदि पति को महापातक का दोष लगा हो तो स्त्री को उसकी शुद्धि तक प्रतीक्षा करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त उसके अन्य कर्तव्य भी कहे गए हैं। स्त्री घर की वस्तुओं को उचित स्थान पर रखने में दक्ष हो, हमेशा प्रसन्नचित्त रहे, मितव्ययी हो, सास-श्वसुर का पांव छूकर प्रणाम करे तथा पति के अधिकार में रहे, आदि।[61] इस प्रकार घर गृहस्थी का पूर्ण दायित्व तथा आन्तरिक व्यवस्था को सम्भालना भार्या का प्रमुख कर्तव्य था। मनु ने भी इसी तरह का विचार व्यक्त किया है।[62]

समाज में व्यभिचारिणी स्त्रियों को अपमानजनक दृष्टि से देखा जाता था। व्यभिचारिणी पत्नी को समस्त अधिकारों से मुक्त करके, गन्दे वस्त्र धारण कराकर उसे मात्र जीवन-धारण-योग्य भोजन देकर भूमि पर शयन कराया जाता था। पुत्रविहीन पत्नी के लिये नियोग का विधान था। याज्ञवल्क्य का कथन है कि जिस भार्या को (पति से) पुत्र न हुआ हो उसके पास पिता आदि गुरुजनों की आज्ञा से ऋतु-काल में सभी अंगों में घृत का लेप करके देवर, सपिण्ड या समान गोत्र का पुरुष सन्तानोत्पत्ति की इच्छा से गर्भ स्थिति के समय तक जा सकता था।[63] पतिव्रता स्त्रियों का समाज में उच्च स्थान था। लोग इन्हें सम्मान की दृष्टि से देखते थे। पतिव्रता स्त्री पति के विदेश जाने पर खेलना, शृंगार करना, मेले तथा उत्सव में जाना, हँसी-मजाक तथा पर-पुरुष के गृह जाने से परहेज करती थी। पति के न रहने पर वह पिता, माता, भाई, पुत्र या सास-श्वसुर के समीप रहती थी। इसके विपरीत स्थिति में उसका पतिव्रत भंग होने की सम्भावना रहती थी और वह समाज में निन्दनीय मानी जा सकती थी।[64]

याज्ञवल्क्य के अनुसार पति के अनुकूल एवं कार्य में तत्पर सुन्दर आचरण करने वाली और इन्द्रियों को संयमित रखने वाली पत्नी इस संसार में यश और कीर्ति तो पाती ही है परलोक में भी अच्छी गति अर्थात् मोक्ष प्राप्त करती है। पतिव्रता स्त्रियों का समाज तथा परिवार में महत्त्वपूर्ण स्थान था। सम्राट समुद्रगुप्त की भार्या दत्तदेवी कुलवधू तथा पतिव्रता उल्लिखित है।[65] पतिव्रता के गुणों का विस्तृत विवेचन स्कंदपुराण में उपलब्ध है।[66] जातकों में भी पतिव्रता भार्या के उल्लेख मिलते हैं। एक जातक से इस बात की सूचना मिलती है कि डाकुओं द्वारा पकड़े गये पति को छुड़ाने के लिए उसकी पत्नी ने डाकुओं से प्रार्थना करके अपने पति की प्राण रक्षा की थी।[67] इस प्रकार आपत्ति-काल में कभी-कभी पतिव्रता स्त्रियां पति की रक्षा करती थीं अन्यथा स्वयं प्राण त्याग देती थीं।

याज्ञवल्क्य का कथन है कि जहां पति-पत्नी दोनों परस्पर अनुकूल होते हैं, वहां धर्म, अर्थ एवं काम तीनों पुरुषार्थों की वृद्धि होती है। स्त्री-पुरुष दोनों के योग से ही धर्म कार्य सम्पन्न होता था। भागवत में भी पत्नी की उपयोगिता का उल्लेख है।[68] दक्ष ने भी इनकी उपयोगिता स्वीकार की है।[69]

संयुक्त-हिन्दू परिवार में पत्नी की महत्वपूर्ण प्रेरक भूमिका रही है। नारी परिवार में प्रमुख बनकर परिवार के सभी सदस्यों के अधिकारों का पूर्ण ध्यान रखती थी। कुटुम्ब के बड़े-बूढ़ों एवं अपने से बड़े लोगों के प्रति आदर का भाव तथा छोटे के प्रति स्नेह का भाव रखकर परिवार में सुख, शान्ति एवं समृद्धि की वृद्धि करती थी। अपनी प्रियंवदा और पतिव्रता के कारण वह आकर्षण का स्रोत रही है। पतिव्रता एवं पति सेवा ही उसके जीवन का आदर्श रहा है।

पुत्र

हिन्दू-परिवार में परम्परा से ही पुत्र का अत्यधिक महत्व रहा है। विवाह और सन्तान से परिवार का विकास होता है। विवाह के समय पति देवताओं से यह वरदान मांगता है कि भार्या मे उसे सन्तान प्राप्त हो।[70] विवाह-संस्कार सम्पन्न करने वाला पुरोहित भी यही आशीर्वाद देता है।[85] पुत्रोत्पादन के बाद ही व्यक्ति पितृ-ऋण से उऋण होता है।[71] पंच महायज्ञों में पितृ-यज्ञ का महत्वपूर्ण स्थान है। यह गृहस्थ के लिए अनिवार्य था। पुत्रोत्पादन ही पितृयज्ञ माना जाता था।[72] पुत्र का तात्पर्य उससे है जो नरक से मुक्ति दिलाए और मोक्ष में ले जाय। पिता की मृत्यु के बाद पुत्र उसके लिए तर्पण, श्राद्ध एवं पिण्ड-दान करता है। इससे पिता को मोक्ष की प्राप्ति होती है। केवल पुत्री उत्पन्न करने वाली पत्नी के जीवन में भी दूसरी पत्नी की व्यवस्था की गई है।[73] इससे भी पुत्र का महत्व स्पष्ट होता है।

पुत्र के महत्व को स्वीकार करते हुए याज्ञवल्क्य ने यह मत व्यक्त किया है कि जिस पत्नी को अपने पति से सन्तान उत्पन्न न हुआ हो उसके समीप गुरुजनों की आज्ञा से नियोग द्वारा पुत्रोत्पत्ति करनी चाहिए।[74] इस कथन से पुत्र के महत्व का स्पष्टीकरण होता है।

पुत्रविहीन भार्या अभागिन मानी जाती थी। सन्तान न होने से दुःखी दशरथ का मन्तव्य है कि पुत्र के लिए तरस रहा हूं। मेरे पास कोई सन्तान नहीं है। पुत्र, से यश और गौरव में वृद्धि होती है। पुत्र, पौत्र तथा प्रपौत्र से उस लोक में वंश-परम्परा बनी रहती है और स्वर्ग की प्राप्ति होती है।[75]

पुत्र का कर्तव्य होता है कि वह माता-पिता का भरण-पोषण करे। पिता का भरण-पोषण करना पुत्र का ही कर्तव्य है। प्रायः सभी स्मृतिकार इस बात का समर्थन करते हैं, जो इससे वंचित होने का प्रयास करता है वह महान् पातकी है। उसके लिए अन्यान्य मात्रा में दण्ड का प्राविधान किया गया है। मनु ने 600 पण, आपस्तम्ब ने 200 पण[76], याज्ञवल्क्य ने 100 पण दण्ड की व्यवस्था है। वृद्धावस्था में पति के न होने पर माता की रक्षा करना भी पुत्र का कर्तव्य होता है।[77] भगवान् बुद्ध ने भी यह स्वीकार किया है कि माता-पिता पूजा के लिए सबसे योग्य हैं। उनका भरण-पोषण करना चाहिए क्योंकि उन्होंने पुत्र का भरण-पोषण किया है।[78] रामायण से पुत्र का प्रमुख कर्तव्य माता-पिता की आज्ञा का पालन करना प्रतीत होता है। इसका उल्लंघन करने से समाज में उनका कोई अस्तित्व नहीं रहता था।[79] संयुक्त हिन्दू-कुटुम्ब में अधिकांशतः पुत्र अपने माता-पिता का पोषण परम्परानुसार करते रहे हैं।

याज्ञवल्क्य ने 12 प्रकार के पुत्रों का उल्लेख करते हुए उनकी प्रकृति और स्थिति का विस्तृत विवेचन किया है। मनु तथा वसिष्ठ धर्मसूत्र में भी 12 प्रकार के पुत्रों का उल्लेख मिलता है।[80] इनका विवरण क्रमशः इस प्रकार है—

(1) **औरस**—धार्मिक विधानों द्वारा विवाहिता सवर्णा-भार्या से उत्पन्न सन्तान को औरस कहा जाता था। "पुत्रिका" पुत्र को भी औरस पुत्र की कोटि में रखा जाता था।[81] इस विषय में मनु का कथन इस प्रकार है, 'विधिपूर्वक विवाहिता, समान जाति वाली भार्या से पुरुष स्वयं जिस पुत्र को उत्पन्न करता है, उसे सभी प्रकार के पुत्रों में प्रधान "औरस" पुत्र कहा जाता था।[82] पिता की सम्पत्ति में, अन्य पुत्रों की अपेक्षा वास्तविक उत्तराधिकारी के रूप में इसका स्थान प्रथम था।[83]

(2) **क्षेत्रज**—'क्षेत्रज-पुत्र' सगोत्र, सपिण्ड द्वारा पैदा होता है।[84] याज्ञवल्क्य ने नियोग विधि द्वारा उत्पन्न पुत्र को 'क्षेत्रज' माना है। इस विषय में मनु की भी यही सम्मति है। इस पुत्र का द्वितीय स्थान था और सपुत्र के बाद ही उस की स्थिति मानी जाती थी।[85] वस्तुत: इस प्रकार का पुत्र "द्विपितृक" कहलाता था। महाभारत में पाण्डु तथा अर्जुन आदि का जन्म नियोग-विधि द्वारा ही हुआ था।[86]

300 ई० पू० के पश्चात् इस प्रथा का विरोध होने लगा। आपस्तम्ब का कथन है कि नियोग क्रिया करने वाला व्यक्ति नरक का भागीदार बनता है, क्योंकि वह वैवाहिक मर्यादा को तोड़ता है। मनु ने इस प्रथा का विरोध किया है। उनका मन्तव्य है कि यह एक पाशविक प्रथा है जो राजा वेन के समय में प्रचलित थी। नियोग के लिए मनु उसी परिस्थिति में अनुमति देते हैं जब किसी स्त्री को विवाह के लिए चुना गया हो और विवाह के पूर्व ही उसके पति का देहान्त हो गया हो। याज्ञवल्क्य ने नियोग की निन्दा नहीं की है।[87] अत: उन्होंने नियोग के महत्व को स्वीकार किया है।

(3) **दत्तक**—'दत्त' का तात्पर्य है देना। इस प्रकार 'दत्तक' का अर्थ हुआ जो अपने पिता द्वारा दिया गया हो। पुत्र-विहीन व्यक्ति दूसरे के अल्पायु-पुत्र को गोद में ग्रहण करते थे। गोद लेने की यह प्रथा आज भी प्रचलित है। याज्ञवल्क्य की सम्मति है कि माता अथवा पिता जिस सन्तान को दान के रूप में किसी को दे दें वह 'दत्तक-पुत्र' कहलाता है।[88] मनु का विचार है कि माता-पिता आपत्ति के समय विधि के अनुसार संकल्प करके अपने पुत्र को सप्रेम किसी सजातीय माता-पिता को प्रदान करते हैं तो उसे 'दत्तक-पुत्र' माना जाता था।[89] कौटिल्य ने भी इसका समर्थन किया है।[90] बड़े पुत्र को गोद नहीं लिया जाता था।[91] 'दत्तक-पुत्र' शिशु होना चाहिए जो पिता उसे गोद ले उसी के घर उसका 'चूड़ा' तथा 'उपनयन-संस्कार' होना चाहिए।[92] इस प्रकार गोद लेते समय बच्चे की आयु 4-5 वर्ष से अधिक नहीं होनी चाहिए।

(4) **कृत्रिम**—स्वयं बनाया गया पुत्र 'कृत्रिम' कहलाता है।[93] मिताक्षरा में इसे विधानत: स्वीकार किया गया है। कोई किसी को किसी समय अपना पुत्र बना सकता है। वस्तुत: ऐसे पुत्र का सम्बन्ध अपने वास्तविक परिवार से समाप्त नहीं होता। ऐसा ही प्रतिपादन मनु ने भी किया है।[94]

(5) गूढ़ोत्पन्न या गूढ़ज—गृह में प्रच्छन्न रूप से उत्पन्न पुत्र गूढ़ज कहलाता है।[95] मनु के अनुसार यदि किसी परिवार के पुत्र के बारे में यह ज्ञात नहीं है कि वह किसके वीर्य से पैदा हुआ है, तो उसे गूढ़ोत्पन्न मानकर, उसी स्त्री के पति का पुत्र माना जाता था।[96] पिता के लिए यह जन्मतः गूढ़ बने रहने के कारण इसे गूढ़ज कहते थे। यह पुत्र प्रमाणित व्यभिचार वाला नहीं किन्तु संदिग्ध पितृत्व वाला होता था।

(6) अपविद्ध—'अपविद्ध' से अभिप्राय है घर से बहिष्कृत किया हुआ। जब माता-पिता दोनों अथवा दोनों में से कोई एक अपने पुत्र को त्याग दे और उसे कोई पर पुरुष ग्रहण कर ले तो वह 'अपविद्ध-पुत्र' माना जाता था।[97] मनु ने भी इसी तरह का विचार व्यक्त किया है।[98] समाज में ऐसे त्याग दिए गए बच्चों को प्रायः निःसन्तान माता-पिता स्वीकार कर लेते थे।

(7) कानीन—याज्ञवल्क्य के अनुसार अविवाहित कन्या से पैदा हुआ 'कानीन' मातामह अर्थात् नाना का पुत्र होता है।[99] यही विचार वसिष्ठ का भी है।[100] मनु का इससे विरोध है। उनके अनुसार 'कानीन-पुत्र' कन्या से विवाह करने वाले पति का समझा जायेगा। नारदस्मृति भी मनु का ही समर्थन करती है। नारद के अनुसार जिन वचनों में मातामह का पुत्र माना गया है वहां यह स्पष्ट है कि उस कन्या का विवाह ही नहीं होता था। वह सर्वदा पितृगृह में ही रहती थी तथा उसका पुत्र अपने मातामह का पिण्डदाता और रिक्थभागी (सम्पत्ति का उत्तराधिकारी) होता था।[101] परन्तु मनु आदि जहां इसे विवाह करने वाले पति का पुत्र मानते हैं वहां उनका अभिप्राय यह है कि वाग्दान के बाद भी जब तक सप्तपदी के द्वारा उस स्त्री में भार्यात्व नहीं आ जाता तब तक उसमें कन्यात्व बना रहता है। अतः इस अवधि के भीतर जो पुत्र उत्पन्न होगा वह 'कानीन' होगा और पति का ही समझा जायेगा। यह पुत्र पिण्डदान का अधिकारी होगा।[102]

(8) सहोढज या सहोढ—यह 'वस्त्र-पुत्र' है, जो गुप्त रूप से पति के गृह में पैदा होता था। याज्ञवल्क्य का मन्तव्य है कि 'विवाह-संस्कार' के समय जो पुत्र गर्भ में स्थित रहा हो, वह सहोढ़ज पुत्र कहलाता था।[103] मनु के अनुसार ज्ञात रूप में अथवा अज्ञात रूप में जिस गर्भिणी कन्या का विवाह किया जाता है उसके गर्भ से उद्‌भूत वह पुत्र विवाह करने वाले पति का "सहोढ" पुत्र होता है।[104] मनु अन्यत्र कहते हैं कि अक्षत-योनि की कन्याओं का ही विवाह-संस्कार सम्पन्न होता है। यदि उसे ज्ञात हो कि वह पहले से ही गर्भिणी है तो विवाह होगा किन्तु उसका संस्कार नहीं होगा।[105] वस्तुतः यह पुत्र 'औरस' के समान ही है परन्तु विधिवत् पति-पत्नी का वैवाहिक-संस्कार न होने के कारण उसकी स्थिति 'औरस' से कुछ निम्न हो जाती है क्योंकि गर्भवती कन्या के साथ विवाह लज्जास्पद माना जाता है।

(9) क्रीत—याज्ञवल्क्य का कथन है कि माता-पिता द्वारा या उनमें से किसी एक के द्वारा अर्थ लेकर दूसरे के हाथ बेचा गया पुत्र "क्रीत-पुत्र" कहलाता है।

इस सम्बन्ध में मनु का विचार है कि माता-पिता को मूल्य देकर जो सवर्ण अथवा अवर्ण 'क्रीत-पुत्र' अपना मान लिया जाता है वही 'क्रीत-पुत्र' होता है ।[106]

(10) **पौनर्भव**—पहले पुरुष-सम्पर्क से वंचित या जो यौन-सम्बन्ध का अनुभव कर चुकी हो ऐसी सवर्णाभार्या यदि पुनः अन्य पुरुष की भार्या बनकर पुत्र पैदा करती है तो वह "पौनर्भव" कहलाता है। मनु की सम्मति है कि पति से त्यागी हुई या विधवा भार्या अपनी स्वेच्छा से परपुरुष को पति बनाकर जिस पुत्र को उत्पन्न करती है, उसे "पौनर्भव" पुत्र कहते हैं ।[107] विधवा-विवाह को बुरा माना जाने से 'पौनर्भव-पुत्र' को औरस होते हुए भी बड़ी हीन स्थिति प्रदान की गई है ।

(11) **स्वयंदत्त**—माता-पिता से त्यक्त या हीन होकर जो पुत्र स्वयं जाकर किसी का पुत्र बनता था, वह ग्रहण करने वाले का 'स्वयंदत्त-पुत्र' होता था। ठीक यही विचार मनुस्मृति में भी ध्वनित है ।[108]

(12) **पुत्रिका-पुत्र**—याज्ञवल्क्य ने पुत्री के पुत्र अर्थात् नाती का उल्लेख करके और पारशव का उल्लेख न करके पुत्र के बारह प्रकारों की संख्या की पूर्ति की है ।[109]

पुत्रों की इतनी लम्बी तालिका बनाने की आवश्यकता पर जॉली का मन्तव्य है कि इसके मूल दो कारण थे । अधिक संख्या में शक्तिशाली पुत्र प्राप्त करना तथा पितरों को पिण्डदान की व्यवस्था करना ।[110] किन्तु हरिदत्त वेदालंकार[111] ने इसका खण्डन करते हुए यह कहा है कि अधिक पुत्रों के लिए बहुपत्नी-प्रथा का प्रचलन था तथा पिण्डदान के लिए इनमें से अधिकतर आयोग्य थे । जैसे—पुनर्भव को तो श्राद्ध में बुलाया ही नहीं जा सकता था । इतने अधिक प्रकार के पुत्रों की व्यवस्था से यह अनुमान भी किया जा सकता है कि तत्कालीन समाज में युद्ध आदि के कारण संभवतः किसी स्थिति में पुरुषों की अधिक आवश्यकता बड़े परिवारों की व्यवस्था आदि के लिए पड़ती रही होगी । ऐसी सामाजिक आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर ही इतने प्रकार के पुत्रों की व्यवस्था दी गई होगी ।

उपर्युक्त बारह प्रकार के पुत्रों में क्रमशः बाद वाले पिण्ड, दान एवं सम्पत्ति के अंश ग्रहण के अधिकारी होते हैं ।

कन्या

कन्या का स्थान स्वभावतः पुत्र जैसा ऊँचा नहीं होता था । फिर भी याज्ञवल्क्य कालीन समाज में उनका पर्याप्त समादर था । कुछ गृहपत्नियों ने तो कन्या-प्राप्ति तक के लिए कामना की है ।[112] किन्तु 'पुंसवन-संस्कार' से पुत्र जन्म की अभीष्टता प्रत्यक्ष है ।[113] कन्या को उच्च, कुलीन और समृद्धिशाली वर को प्रदान करना पुण्यावह माना जाता था । जिस उच्च-कुल के पुरुष दस पीढ़ियों से प्रख्यात-वेद-पाठी हों उस कुल की कन्या विवाह के लिए सर्वोत्तम मानी जाती थी ।[114]

कन्याओं की सामाजिक-स्थिति अच्छी न थी । रामायण से सूचना मिलती है

कि कन्या का पिता होना दुःख का कारण था क्योंकि ज्ञात नहीं कौन एवं कैसा पुरुष कन्या का वरण करेगा। पिता के लिए यह आवश्यक था कि उचित समय से अपनी पुत्री का विवाह किसी योग्य वर से कर दे। यदि पिता उसके ऋतुस्राव के 3-4 वर्ष के अन्दर उसका 'विवाह-संस्कार' सम्पन्न करने में सफल नहीं होता था तो, कन्या को यह अधिकार प्राप्त था कि वह राजा से आज्ञा लेकर स्वयं अपना विवाह तय कर सकती थी।[115]

प्राचीन काल में कन्याओं को बालकों से अलग शिक्षा उपाध्यायनी अर्थात् स्त्री-शिक्षिका के देख-रेख में दी जाती थी।[116] उनके आवास की भी अलग व्यवस्था थी।[117] 100 ई०पू० के बाद इस स्थिति में क्रमशः ह्रास होता गया। इसका कारण था वैवाहिक-आयु का क्रमशः कम होना। याज्ञवल्क्य के समय में विवाह ने ही उपनयन का स्थान ले लिया था। मनु ने भी इसी तरह का विचार व्यक्त किया है।[118] इस काल में नारी शिक्षा केवल उच्च कुलों तक ही बहुत अंशों में सीमित हो गई थी।[119] जिसके परिणाम स्वरूप नारियों की स्थिति में ह्रास होने लगा।

याज्ञवल्क्य के समय में संयुक्त-परिवार-प्रणाली का प्रचलन था। पारिवारिक-जीवन में ऐक्य, सौहार्द्र और सद्भावना थी। द्वेष की गन्ध भी न थी। लोग एक दूसरे को उसी तरह प्रेम करते थे, जैसे गौ अपने तुरन्त उद्भूत हुए वत्स को प्यार करती है। पुत्र, माता एवं पिता की आज्ञा का पालन करते थे। स्त्रियां पति को देव-तुल्य मानती थीं। भाई-भाई से बहन-बहन से राग-द्वेष करते थे। संयुक्त-परिवार की अपनी विशेषता और उपयोगिता थी। प्राचीन काल की सामाजिक-स्थिति में सम्भवतः ऐसे परिवारों की उपयोगिता अधिक थी। इसीलिए उनके विघटन को रोकने के लिए प्राचीन समाजशास्त्रियों एवं विचारकों ने परिवार के विभिन्न सदस्यों को एक दूसरे से प्रेम एवं सौहार्द्रपूर्ण व्यवहार करने का निर्देश बार-बार किया है।

सांस्कृतिक-जीवन

खाद्य एवं पेय

भोजन-पान के द्वारा शरीर की पुष्टि के साथ-साथ मन और मस्तिष्क का भी संवर्धन होता है। भोजन के गुण-अवगुण के अनुसार ही लोगों के आचार-विचार एवं क्रियाकलापों का निर्धारण होता है। परिणामतः भोजन-पान का प्रभाव अपने समय की संस्कृति पर पड़े बिना नहीं रहता। भारतीय संस्कृति में भोजन-पान का महत्त्व वैदिक-काल से ही चला आ रहा है।[120] याज्ञवल्क्य के समय में भी प्राचीन-परम्परा से चले आने वाले अन्यान्य प्रकार के भोजन और पेय-पदार्थ प्रचलित थे। समाज में दो प्रकार के भोजन वर्ग थे—शाकाहारी और मांसाहारी।

खाद्य-पदार्थ

शाकाहार

शाकाहारी वर्ग के लोग गेहूँ, जौ, घृत एवं दूध से बनाया गया भोज्य-पदार्थ

ग्रहण करते थे। यदि इस प्रकार का भोजन देर मे रखा गया हो, तो वह सेवन करने योग्य होता था मधु का भी प्रयोग खाद्य-पदार्थों की भांति किया जाता था। मधु से ही मधुपर्क तथा अर्घ्य बनाया जाता था। यह अतिथियों को स्वागतार्थ दिया जाता था।[121] अन्य ग्रन्थों से भी इस तरह की सूचना मिलती है।[122]

निषिद्ध-भोजन—याज्ञवल्क्य के अनुसार अवज्ञा के साथ प्रदान किया गया अन्न, बेकार मांस, कीड़ा पड़ा हुआ भोजन, बाल पड़ा हुआ भोजन, खट्टा, बासी, जूठा, कुत्ते द्वारा छूआ, पातकी व्यक्तियों द्वारा देखा गया तथा रजस्वला भार्या द्वारा स्पर्श किया भोज्य-पदार्थ अखाद्य था। साथ ही दूसरे व्यक्ति के लिए बनाकर किसी और को दिया गया, गौ द्वारा सूँघा गया, पक्षी द्वारा जूठा किया गया तथा जानकर पैर से छुआ गया भोजन भी नहीं करना चाहिए। मनुस्मृति में भी इसी तरह का विचार व्यक्त किया गया है।[123]

देवता के लिए साधित-बलि, हवन-सामग्री, सोभोजन, गोंद, वृक्ष के काटने पर निकले हुये द्रव-पदार्थ, यज्ञ में आहूत पशु का मांस, विष्ठा के स्थान पर पैदा हुआ अन्न तथा कुकुरमुत्ता का भोजन निषिद्ध था।[124] तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार वृक्ष के काटने से जो स्राव निकलता है उसे नहीं खाना चाहिये। इसका सेवन करने वाला ब्रह्महत्या का दोषी माना जाता था।[125]

फल-भोजन—याज्ञवल्क्य ने वानप्रस्थी के लिए फलाहार ही मुख्य भोजन माना है।[126] भारतीय भोजन में आरम्भिक युग से ही फलों का प्रयोग होता था। वैदिक-कालीन आर्यों के भोजन-पान में फलाहार का मुख्य स्थान था।[127] भारतीय जलवायु में विभिन्न प्रकार के फल उत्पन्न होते रहे हैं।[128] भोजन के लिए उपयोगी फलों में आम, दाडिम (अनार), बदर (बेर), सिंवीतिका (सेव), कपित्थ (कैथ), मातुलिंग (नीबू), पियाल (चिरौजी), लकुच (बड़हल), पनस (कटहल), कदम्ब, इमली, नारंगी, गूलर, जामुन, राजादन (खिरनी), ताल, नारियल, केला, काश्मर्य (खूबानी), खजूर, बादाम, अक्षोड़ (अखरोट), अभिषुक (काजू), निचुल (चिलगोजा), निकोच (पिस्ता), लवली, जायफल, लवंग आदि प्रख्यात रहे हैं।[129] फलों के विषय में अशोक ने अपने अभिलेख में इस प्रकार उल्लेख किया है "सड़कों पर मैंने बड़ के पेड़ लगवाये हैं। उनसे मनुष्यों और पशुओं को छाया मिलेगी। मैंने आम के बाग लगवाये।[130]

समाज के जो लोग मांसाहारी नहीं थे, उनके लिए शाकाहार का अत्यधिक महत्व रहा होगा। प्राचीन विधान के अनुसार लताओं के फलों की गणना शाक के रूप में होती थी। शाकों में लताओं तथा छोटे-छोटे पौधों के पत्र तथा डण्ठल भी आते हैं। शाकों की परिधि में प्याज, लहसुन, मूली आदि भी आ सकते हैं।[131]

सभी शाक-सब्जियां खाद्य नहीं थीं। कुछ वर्जित थीं। याज्ञवल्क्य के मत में प्याज, ग्रामसूकर, छत्राक (कुकुरमुत्ता), ग्रामकुक्कुट, लहसुन, गुम्जन (गाजर या शलजम) एवं वृक्ष स्राव का सेवन द्विजों को नहीं करना चाहिये। यदि जान-बूझकर कोई द्विज इनका भक्षण करता है, तो उसे 'चान्द्रायण-व्रत' करना पड़ता था। याज्ञवल्क्य के इस कथन का समर्थन मनु, गौतम, वसिष्ठ आपस्तम्ब अपरार्क, गृहस्थरत्नाकर[132] आदि ने किया है। इसके अतिरिक्त वर्जित शाक-सब्जियों के लिए वृद्धहारीत तथा स्मृतिमुक्ताफल[133] आदि भी द्रष्टव्य है।

मांसाहार

समाज के बहुसंख्यक व्यक्ति मांसाहारी थे। याज्ञवल्क्य ने पांच नख वाले जीव को भक्षण योग्य बताया है। इनके नाम इस प्रकार हैं—सेंधा (सेन्धुआर), गोधा (गोह), कछुआ, शाल्क (साही) तथा खरगोश। इनके अतिरिक्त राजीव (पद्म के समान रंग वाली), रोहित (रोहू), पाठीन तथा सशल्क (शुक्ति के आकार वाली) मछलियां द्विजातियों के सेवन योग्य मान्य थीं।[134] रामायण में भी पंचनख वाले जीवों के भक्षण का उल्लेख मिलता है।[135] मनु, गौतम एवं वसिष्ठ ने जंगली मोर एवं मुर्ग को भी खाने-योग्य बताया है।[136] मनु के अनुसार पाठीन, रोहित, राजीव, सिंह की मुखाकृति वाली तथा वल्कल वाली मछलियां आदि सेवन करने योग्य हैं। वसिष्ठ तथा गौतम ने भी ऐसा ही विचार व्यक्त किया है।[137] बौद्ध-भिक्षु भिक्षा में प्राप्त मांस को ग्रहण करता था।[138]

मांस सेवन करने का नियम—समाज के विभिन्न वर्गों में मांसाहार प्रचलित रहा होगा। किन्तु सम्भवतः विशिष्ट वर्गों या व्यक्तियों के लिए मांसाहार विशिष्ट स्थितियों में ही सम्भव था। अन्न के अभाव में, भयंकर रोग में, श्राद्ध, श्रौत-संस्कार देवताओं की आहुति से बने हुए ब्राह्मणों के भोजन तथा देवता या पितर के लिए बनाए गये मांस को देवता एवं पितर को तृप्त करके स्वयं ग्रहण करने वाला व्यक्ति दोष का भागी नहीं होता था।[139] मनु ने भी इसका समर्थन किया है। जो व्यक्ति बिना विधि के अपने तृप्ति के लिए पशु-बध करता था, वह उसके शरीर में जितने रोग होते थे उतने दिन तक नरक में निवास करता था[140] मनुस्मृति में भी इसी तरह का विचार व्यक्त किया गया है।[141] इससे यह लगता है कि समाजशास्त्री मांस-भक्षण के पक्ष में सम्भवतः नहीं थे। पर चूंकि यह समाज में प्रचलित था इसलिए वे इसे स्थिति विशेष में स्वीकृति देते हैं।

ब्राह्मण भी मास भक्षण करते थे। याज्ञवल्क्य की सम्मति है कि श्राद्ध के अवसर पर ब्राह्मणों को तरह-तरह से पशुओं का मांस खिलाने से पितर संतुष्ट होते थे।[142] इससे लगता है कि ब्राह्मण भी मांस खाते रहे होंगे। मनु के अनुसार विधि को मानता हुआ और मन्त्रों से संस्कृत मांस ही ब्राह्मण को खाना चाहिए। अगस्त्य ऋषि मांस भक्षण के आदि थे।[143] उत्तरा के विवाहोत्सव समारोह में ब्राह्मणों ने

बड़े मनोयोग से मांस खाया था। युधिष्ठिर ने अपने राजसूय-यज्ञ में ब्राह्मणों को वराह एवं हिरण का मांस खिलाया था।[144] स्ट्रैबों के अनुसार जब ब्राह्मण गृहस्थ-आश्रम में प्रवेश करता था तब मांस भक्षण में लग जाता था।[145] वस्तुतः समाज में मांस-भक्षी ब्राह्मणों की संख्या कम ही थी, अधिकांश लोग शुद्ध शाकाहारी थे।[146] क्षत्रिय-वर्ग मांस-भक्षण में अग्रणी था। इसकी पुष्टि रामायण तथा महाभारत से होती है। रामायण के अनुसार भरत के स्वागत में भरद्वाज ने अनेक पशु-पक्षियों का मांस बनवाया था। द्रौपदी ने जयद्रथ के स्वागतार्थ हिरन, भालू, खरगोश आदि का मांस पकवाया था।[147] भगवान् बुद्ध ने स्वयं पावा के चुंद कर्मार के पुत्र के गृह शूकर-मार्द्दव ग्रहण किया था।[148] अशोक के प्रथम शिलालेख के अनुसार उसके रसोई घर में पहले प्रतिदिन हजारों जीव मारे जाते थे पर उसके धम्माचरण में लिप्त होने के बाद रसोई के लिए सिर्फ तीन जीव अर्थात् दो मोर और एक हरिण ही मारा जाने लगा।[149]

उपरोक्त विवेचना से यह ज्ञात होता है कि क्षत्रिय वर्ग मांस भक्षण अधिक मात्रा में करते थे। यह असम्भव नहीं है कि मांस-भक्षण उस समय अधिक महंगा होने के कारण समाज के अनेक वर्गों में अधिक लोकप्रिय न रहा हो। दूसरा कारण जैन एवं बौद्ध धर्म द्वारा हिंसा का विरोध और अहिंसा का समर्थन भी हो सकता है। ब्राह्मण अधिकांशतः विशिष्ट अवसरों पर ही मांस भक्षण करते थे।[150] बहुत से शूद्र भी मांस से दूर रहते थे।

निषिद्ध मांस—प्राचीन काल से ही कुछ पशु-पक्षियों का मांस भक्षण के लिए निषिद्ध माना गया है। याज्ञवल्क्य के अनुसार गृध्र, चातक, तोता, बाज, सारस, एक खुर वाले पशु (घोड़ा), हंस, क्रौंच, जलकुक्कुट, चक्रवाक, बलाका, बगुला, चकोर, कलविङ्क, (ग्रामचटक), काकोल (द्रोणकाक), कुरर, रज्जुदालक (कठ-फोड़वा), जालीदार पैरों वाले पक्षी, खंजन, अज्ञात जाति वाले पशु, चाण, रक्तपाद (कदम्ब आदि) एवं बधिक द्वारा मारे गए पशु का मांस, सूखे मांस तथा मछली का मांस भक्षण नहीं करना चाहिए। इन सबका जान-बूझकर मांस खाने वाला व्यक्ति तीन दिन तक उपवास करने से शुद्ध होता है।[151] मनुस्मृति में भी इसी तरह का विचार व्यक्त किया गया है।[152] गौतम, वसिष्ठ, विष्णु, शंख ने भी साही, खरगोश, सूअर, गधा, गेंडा और कछुआ को छोड़कर अन्य पंच नख वाले पशुओं को खाने का निषेध किया है। ऐसे निषिध पशुओं का उल्लेख कृत्यकल्पतरु में भी है।[153] उपर्युक्त निषिद्ध-मांस का उल्लेख अलबीरूनी ने भी किया है। उनके अनुसार गाय, घोड़ा, खच्चर, गधा, ऊँट, हाथी, पालतु कुक्कुट, कौआ, तोता, बुलबुल आदि का मांस नहीं खाया जाता था।[154]

अशोक के पांचवें स्तम्भ-लेख में उसने अपने अभिषेक के छब्बीस वर्ष बाद निम्नलिखित जीवों का वध निषिध किया है—शुक, सारिका, अरुण, चक्रवाक, हंस,

नंदिमुख, गेलाट, जतूका, अंबा, पिपीलिका, कच्छपी, अस्थिहीन-मत्स्य, वेद-वेयक, गंगा-पपुटक, संकुचमध, कछुआ और साही, खरगोश जैसी गिलहरी, बारासिंगे, सांड़, घर के कीट, गैंडा, श्वेतकपोत, ग्राम कपोत, और ऐसे सब चौपायें जो खाये न जाते हों और अन्य किसी काम न आते हों। गर्भिणी या स्तनंधय शिशु वाली भेड़, बकरी सूकरी और उनके छः महीने से छोटे बच्चे (मुर्गो) का वध भी निषिद्ध था।[155] भक्षण योग्य पशुओं का मांस न मिलने पर अविहित पशुओं का मांस भी खाया जाता था।[156]

शाकाहार की महत्ता

संभवतः जैन एवं बौद्ध धर्म द्वारा प्रचलित अहिंसा के सिद्धान्त की लोकप्रियता को देखते हुए हिन्दू धर्मशास्त्रियों ने भी अहिंसा को अपने धर्म का एक आवश्यक अंग बना लिया। याज्ञवल्क्य के अनुसार जो व्यक्ति यज्ञ के अतिरिक्त अन्य मांस न खाने का संकल्प करता है वह सभी प्रकार की अभिलाषाओं तथा अश्वमेध-यज्ञ के फल को प्राप्त करता है। मांस-भक्षण न करने वाला ब्राह्मण स्वगृह में रहता हुआ भी मुनि सम होता है।[157] मनु के मत में मांस भक्षण न करने वालों को अश्वमेध का फल प्राप्त होता है। मांस के परित्याग से मनुष्य देवगणों को प्रसन्न करता है। उसे मांस-भक्षण के परित्याग से अनुपलब्ध की उपलब्धि होती थी।[158] उपर्युक्त उल्लेख से स्पष्ट है कि हिन्दू धर्मशास्त्री समाज में व्याप्त मांस-भक्षण का विरोध कर रहे थे। मांस-भक्षण रोकने के लिए उन्होंने पारलौकिक लाभ से प्रलोभन इसी उद्देश्य से दिए हैं। इसका अपवाद केवल यज्ञादि अवसरों पर होने वाला मांस-भक्षण ही प्रतीत होता है। चूँकि इनमें से अधिकांश उल्लेख ब्राह्मणों को दृष्टि में रखकर दिए गए हैं इसलिए संभावना यह भी है कि ये सम्पूर्ण समाज के लिए न होकर केवल ब्राह्मणों के लिए ही प्रदिपादित हों।

भोजन-विधि

भोजन की सारी प्रक्रिया में स्वच्छता का होना आवश्यक था। भोजन पकाने और परसने वाले को मन और शरीर से शुद्ध होना आवश्यक था। भोजन पकाने के पात्र साफ एवं शुद्ध होते थे। पात्र जिनमें भोजन किया जाता था वे भी अच्छी तरह साफ किये जाते थे। बैठने की भूमि को गोबर आदि से लीप कर शुद्ध किया जाता था। दक्षिण पूर्व और उत्तर की ओर मुख करके खाने का विधान था।[159] वैदिक काल में लोग स्थिरतापूर्वक बैठकर भोजन करते थे।[160] भोजन करने वाला अपने से एक हाथ की दूरी पर भोजन रखकर खाता था।[161] भोजन आरम्भ करने के पहले और भोजन कर लेने के पश्चात् दो बार आचमन करने की रीति थी।[162] मनु तथा व्यास ने भी इसक समर्थन किया है।[163] भोजन करने के पूर्व हाथ-पांव धोया जाता था।[164] भोजन के पात्र सोने, चांदी अब्ज तथा मिट्टी एवं वृक्षों के पत्ते होते थे। इनकी शुद्धि उष्ण-जल से धोने से होती थी।[165]

भोजन करते समय द्विजों को ऊपर नीचे "आपोशन" (मंत्र पढ़कर आचमन) करके, हाथ, पैर को स्थिर कर, मौन होकर भोजन ग्रहण करना चाहिये। तृप्ति से अधिक भोजन नहीं करना चाहिए। सामान्यतया भोजन दो बार किया जाता था।[166] विवाह संस्कार के समय पति-पत्नी एक साथ एक ही थाली में खाते थे।[167]

उपर्युक्त भोजन-विधि सर्वसाधारण के लिए थी। राजा तथा उच्च श्रेणी के लोग सोने-चांदी के पात्रों में भोजन करते थे। इनके पात्र कीमती होते थे। एक राजा ने अपने राजद्वार पर रत्न-मण्डप का निर्माण करवाया था। भोजन के समय मण्डप को अलंकृत करवाकर स्वर्णमय छत्र के नीचे राजसिंहासन पर बैठकर क्षत्रिय-कन्याओं से घिर कर वह एक लाख सोने की थाली में सात प्रकार का भोजन करता था।[168] इसके विपरीत सामान्य जन चौके एवं सस्ते पात्रों में खाते थे। ह्वेनसांग का विचार है कि वे अपने आप स्वच्छ हैं, किसी प्रकार के दबाव से नहीं। प्रत्येक भोजन के पहले वे स्नान करते हैं। भोजन का अवशेष किसी दूसरे को नहीं दिया जाता। भोजन-पात्र कई लोगों के उपयोग में नहीं आते हैं। मिट्टी या लकड़ी के बर्तन एक बार उपयोग में लाये जाने के पश्चात् फेंक दिये जाते हैं। धातुओं के पात्र मांजे जाते हैं। भोजन के बाद लोग दातून करते हैं और पुन: अपनी शुद्धि करते हैं। आचमन करने के पूर्व वे किसी को छूते नहीं।[169] ईत्सिंग ने भी भोजन-विधि पर ऐसा ही विचार व्यक्त किया है।[170] अलबीरूनी का कथन है कि हिन्दू गोबर से लिपे चौके में एक के बाद एक अकेले बैठकर भोजन करते हैं। वे भोजन के बचे हुये अंश को नहीं खाते और जिन थालियों में वे खाते हैं, वे अगर मिट्टी के होते हैं तो उन्हें फेंक देते हैं।[171]

सहभोज

वैदिक-समाज में सहभोज की रूपरेखा का परिचय यज्ञों में देवताओं के एकत्र होकर हवि-ग्रहण करने की रीति से लगता है। सम्भवत: इसी विधि-विधान से तद्युगीन समाज में सहभोज की प्रथा चली होगी। दूत के सूचना देने पर लोग नियत समय पर आकर अपने-अपने आसन को ग्रहण कर आवश्यकतानुसार भोजन करते रहे होंगे। सहभोज से सौहार्द्र-भाव में वृद्धि होती है।[172] यह प्रथा बाद में भी प्रचलित थी। याज्ञवल्क्य के समय में भी सहभोज की प्रथा थी। यज्ञ, विवाह, श्राद्ध तथा उत्सव आदि के अवसर पर सहभोजन होता था। सभी प्रकार के सहभोजों को व्यवस्थित ढंग से संचालित करने के लिए अनुशासन की आवश्यकता होती थी।

श्राद्ध के समय भी सहभोज का विधान था। वेद के मर्मज्ञ, ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मणों, सम्बन्धी, बान्धव एवं तपस्वियों आदि को आमंत्रित करके सहभोज की व्यवस्था की जाती थी।[173] आये हुए ब्राह्मणों को आदर के साथ आचमन कराके आसन पर बैठाया जाता था। इनका आसन गोबर से लीप कर पवित्र स्थान पर

लगाया जाता था। इनको दक्षिण की ओर से झुके हुए होकर आसन पर बैठाया जाता था। दो ब्राह्मणों को पूर्वदिशा में शेष को उत्तर की ओर मुख करके बैठाने का विधान था।[174]

भोजन के पूर्व गायत्री और मधुवाता का जाप किया जाता था। भोजन करते समय मौन रहना पड़ता था। जो भोजन और हाविष्य ब्राह्मणों को अधिक प्रिय लगता था। उसे धैर्यपूर्वक खिलाया जाता था। भोजन कर लेने के बाद उन्हें आचमन के लिए जल दिया जाता था। उनके तृप्त हो जाने पर शेष भोजन के लिए आज्ञा लेकर अपने प्रियजनों के साथ खाया जाता था। पुत्र-जन्म तथा अन्य प्रसन्नता के अवसरों पर भी इसी तरह का विधि-विधान करके सहभोज की व्यवस्था की जाती थी।[175]

सहभोज में खाने वालों की पंक्तियां बैठती थीं। पंक्ति में सर्वप्रथम आसन प्रमुख व्यक्ति को दिया जाता था। यदि कोई विशेष आग्रह नहीं करता था तो पहले आसन पर कोई नहीं बैठता था। पहले आसन पर बैठने वाला सबके भोजन आरम्भ कर लेने के पश्चात् स्वयं भोजन करता था।[176] नियम यह था कि जब पंक्ति में बैठे हुए सभी व्यक्ति भोजन कर लें तब साथ उठें। यदि कोई व्यक्ति अन्य लोगों के भोजन करते समय ही उठ जाता था तो अन्य लोग भी उठ जाते थे। पंक्ति में कोई अयोग्य व्यक्ति योग्य एवं पवित्र व्यक्ति के साथ बैठकर भोजन नहीं ग्रहण कर सकता था।[177] इससे पंक्ति-पावन एवं पंक्तिदूषक की पहचान होती थी।[178] चरित्रवान्, तपस्वी एवं मानवोचित गुणों से सम्पन्न व्यक्ति पंक्ति-पावन तथा निकृष्ट-कर्म-मार्गी एवं पूर्वजन्म के कुकर्मों के कारण इस जन्म में घृणित फल को भोगने वाल पंक्तिदूषक की कोटि में आते थे।[179] धनिकों एवं राजाओं के यहां तो प्रायः ही ब्राह्मणों का सहभोज होता था।[180] चुल्लवग्ग में आदर्श बौद्ध संघ के सहभोज के विधि-विधान का उल्लेख है।[181]

कभी-कभी राजाओं का भी सहभोज होता था। एक उल्लेख कथा-सरित्सागर में आया है। इसके अनुसार राजाओं के सहभोज के लिए "भोजन भूमि" की व्यवस्था होती थी। यह भोजन-भूमि नाट्यशाला की तरह सजायी जाती थी। इसे वस्त्र एवं तिरस्करिणी आदि से सज्जित कर भोजन करने लिए असंख्य बर्तन रखे जाते थे।[182] भोजन-भूमि को गौ के गोबर से लीपकर उसे पवित्र किया जाता था। राजाओं के सहभोज सम्भवतः कम ही होते रहे होंगे और वे भी केवल सम्राटों आदि के ही जिनके अधीनस्थ अनेक राजा होते होंगे।

पेय-पदार्थ

भोजन की भांति पेय भी जीवन के लिए आवश्यक है। पेय में सर्वप्रथम स्थान जल का है। सृष्टि के आदि-काल से सभी जीवधारियों के लिए जल की आवश्यकता रही है। दूध, मधु, फलों एवं पौधों का रस आदि अन्य पेय हैं। इन्हें सामान्य-पेय

कह सकते हैं। इसके अतिरिक्त सोम, मदिरा आदि असाधारण पेय कहे जा सकते हैं।[183]

जल

पेय पदार्थों में जल का स्थान सर्वोपरि था। जल-ग्रहण करने से व्यक्ति जीवन-धारण किये रहता है। इसी से जल, जीवन का पर्याय माना गया है।[184] याज्ञवल्क्य के अनुसार अन्न के अभाव में गृहस्थ का यह कर्तव्य होता था कि वे पितरों एवं मनुष्यों को जल से तृप्तक करें। सायंकाल आये अतिथि को अन्न न रहने पर जल पिलाकर ही उसका अतिथि-सत्कार किया जाता था। व्रत में जल ग्रहण करने से व्रत पूर्ण होता है।[185] उत्सव आदि के अवसर पर सुगन्धित जल पीने का प्रचलन रहा है। नागकेसर, चम्पक, कमल, पाटल आदि फूलों से पानी को सुगन्धित करके सोने, चांदी, तांबे, मणि अथवा मृण्मय बर्तनों में जल पिया जाता था।[186] गर्म-जल को ठंडा करके पिया जाता था। जल को शीतल करने के लिए 'प्रवातस्थापन' (हवा में रख देना), 'उदक-प्रक्षेपण' (दो बर्तनों में हेर-फेर करना), 'यष्टिका-भ्रमण' (यष्टि से मंथन), 'व्यंजन' (पंखे से हवा देना), 'वस्त्रोद्धरण' (भीगे कपड़े में लपेटना), 'बालुका-प्रक्षेपण' (बालू में गाड़ देना), 'शिक्यावलम्बन' (छींके पर रखना) आदि तरीके प्रचलन में थे।[187] जल को अमृत भी कहते हैं और विष भी, इसका मतलब यह है कि युक्ति-पूर्वक पान किया गया जल अमृत तथा अनियमित या अव्यवस्थित ढंग से पिया गया जल विष तुल्य होता है।[188]

दुग्ध

जल के पश्चात् लोकप्रियता की दृष्टि से दूध दूसरा श्रेष्ठ पेय है। प्राय: सभी वर्ग के लोग दूध देने वाले पशु गाय-भैंस रखते आए हैं। प्राचीन भारत में गाय पालने का बड़ा प्रचलन था। राजा एवं ऋषि-मुनि, बहुत बड़ी संख्या में गौ पालते थे। दूध का पान राजा, ब्राह्मण, ऋषि-मुनि एवं सम्भ्रान्त परिवार के लोग तो करते ही थे। असंभव नहीं कि आर्थिक दृष्टि से कमजोर वर्गों के लोग भी करते रहे हों। दूध की शुद्धि भी होती थी। निषिद्ध दान ग्रहण करने वाला ब्रह्मचारी गौशाला में रहकर एक मास तक दुग्ध सेवन करने से शुद्ध हो जाता था।[189] व्रत के अवसर पर दूध का सेवन होता था। कृच्छातिकृच्छव्रत में मात्र दूध का सेवन इक्कीस दिन तक करने का विधान था।[190] वैदिक-ऋषियों ने दूध की अत्यधिक महत्ता स्पष्ट की है।[191] दुग्ध से लोगों की रक्षा होती है। वही उनका जीवन है।[192] दूध प्राण है।[193] दूध उबाल कर भी पिया जाता था।[194] दुग्ध में शक्कर, मधु तथा अन्य वस्तुएं भी मिलायी जाती थीं। दूध में घृत मिलाकर सेवन किया जाता था।[195] याज्ञवल्क्य के अनुसार दूध प्रातः, सायंकाल, भोजन के बाद एवं सम्भोग के अनन्तर उपयुक्त मात्रा में पिया जाता था।[196]

निषिद्ध दुग्ध-सेवन—याज्ञवल्क्य ने कुछ गायों के दुग्ध-सेवन को निषिद्ध माना है। उनके अनुसार बरदाई हुई, एक समय दूध देने वाली, जिसका बछड़ा मर गया हो, दूसरी गाय के बछड़े से दुही जाने वाली, एवं दस दिन से कम की ब्यायी हुई गाय का दूध नहीं पिया जाता था। साथ ही साथ ऊंटनी, एक खुर वाली मादा पशु (घोड़ी आदि), जंगली पशु एवं भेड़ आदि का दूध भी निषिद्ध था। इस तरह का विचार मनु, आपस्तम्ब, गौतम, वसिष्ठ, बौधायन में भी मिलता है।[197] वर्जित दूध का दही भी वर्जित है, किन्तु विश्वरूप के कथनानुसार वर्जित दूध का दही तथा उनके अन्य पदार्थ वर्जित नहीं हैं। अपवित्र भोजन करने वाली गाय का दूध भी वर्जित माना गया है।[198] अभक्ष्य दूध के विकार (उनसे बने पदार्थ दही, खोआ आदि) के खाने पर विद्वान् को प्रायश्चित रूप में सावधान होकर सात रात्रि व्रत करना चाहिए।[199] सम्भवतः वर्जित दूध का सेवन भी व्यावहारिक रूप में कुछ लोग करते रहे होंगे। उच्चवर्गीय एवं ऋषि आदि लोग ही शास्त्र-निषिद्ध दूध का सेवन नहीं करते थे।

सुरापान

याज्ञवल्क्य के अनुसार "ध्वजी" जाति के लोग सुरा बेचते थे।[200] मनु ने भी इसका उल्लेख किया है।[201] सोमदेव ने सुरा-विक्रयी के रूप में "ध्वजिन" अथवा "ध्वज" जाति का उल्लेख किया है।[202] सम्भवतः यही लोग सुरा बनाते भी रहे होंगे। ब्रह्मचारी को सुरापान करना निषिद्ध था। सुरापान का वर्णन वैदिक-काल से ही प्राप्त होता है। ऋग्वेद में इसका उल्लेख कई बार आया है।[203]

विश्वरूप ने चरक-शाखा की बात का उल्लेख करते हुए लिखा है कि जब श्वेतकेतु को विलास नामक चर्मरोग हो गया तो अश्विनों ने उनसे मधु (शहद् आसव) एवं मांस औषधि के रूप में खाने को कहा। श्वेतकेतु ने इस पर यह कहा कि वह ब्रह्मचारी के रूप में इन वस्तुओं का प्रयोग नहीं कर सकता, तो अश्विनों ने कहा कि मनुष्य को रोग एवं मृत्यु से अपनी रक्षा करनी चाहिए क्योंकि पुण्यकारी कार्य वह तभी कर सकता है जब जीवित रहे।[204] जैसा ऊपर याज्ञवल्क्य ने एक स्थान पर मांस एवं सुरा ब्रह्मचारी के लिए वर्जित बताया है। उनके समय में यह नियम रहा होगा शायद उनके बाद तक रहा पर बाद में इस नियम को समयानुकूल बनाने के लिए तथा रुग्ण ब्रह्मचारी को इसे दवा के रूप में देने लिए श्वेतकेतु की कथा का सहारा लिया गया। अपरार्क ने ब्रह्मपुराण का हवाला देते हुए लिखा है कि कलियुग में नरमेध, अश्वमेध एवं मद्यपान तीनों उच्चवर्णों के लिए वर्जित है और ब्राह्मणों के लिए तो सभी युगों में किन्तु यह युक्ति ऐतिहासिक तथ्यों एवं परम्पराओं के विरोध में पड़ती है।[205]

याज्ञवल्क्य के अनुसार सुरापान करने वाली भार्या त्याज्य है। मिताक्षरा में याज्ञवल्क्य के इस कथन की टीका करते हुए पराशर (10/26) एवं वसिष्ठ धर्म-सूत्र का हवाला देते हुए कहा है कि मद्यपान करने वाली स्त्री के पति का अर्ध शरीर

बड़े भारी पाप का भागी होता है।[206] सुरा पीने वाला महापातकी हो जाता है। सुरा पीने वाली भार्या का उपभोग करने वाला पति उपपातकी समझा जाता था।[207] सुरा का सेवन करने वाला सुरा, जल, घृत, गोमूत्र तथा दूध में से किसी एक को खूब खौलाकर पान करे और इससे यदि उसकी मृत्यु हो जाय तभी शुद्ध होता है। अज्ञान से सुरापान करने वाला ब्राह्मण पुनः संस्कार करने योग्य हो जाता है।[208] सुरापान करने वाली ब्राह्मणी पति लोक नहीं प्राप्त करती। वह अपने आगे के जन्मों में कुतिया, गिद्धनी एवं सूकरी होती है।[209] वसिष्ठ धर्मसूत्र के अनुसार यदि ब्राह्मणी सुरा का सेवन करती है तो वह अपने पति के लोक को मृत्यूपरान्त भी नहीं प्राप्त कर सकती और इस लोक में सीपी-घोंघा एवं जोंक बनकर जल में पुनः-पुनः जन्मती है।[210]

याज्ञवल्क्य (1/140) की टीका में विश्वरूप ने लिखा है कि मद्य या सुरा बेचने वाले को चाहिए कि वह अपनी दुकान के आगे एक झंडा गाड़ दे ताकि लोग उसे जान सकें, उसकी दूकान ग्राम के मध्य में होनी चाहिए, उसे चाहिए कि वह अन्त्यजों को, आपत्काल को छोड़कर अन्य समयों में सुरा न बेचे।[211] अपरार्क ने कुमारस्मृति को उद्धृत करते हुए लिखा है कि पांच वर्ष की अवस्था वाले बच्चे के लिए सुरापान करने पर कोई प्रायश्चित्त नहीं है, किन्तु उसके ऊपर एवं उपनयन के पूर्व सुरापान करने पर उसके माता-पिता, अन्य सम्बन्धी एवं मित्र को तीन कृच्छों का प्रायश्चित्त करना पड़ता है।[212]

रामायण में बहुविध सुरा के भेद-प्रभेद मिलते हैं।[213] ग्यारहवीं सदी में भारत आने वाले अरब यात्री अलबीरूनी का मन्तव्य है कि आसव-पान की अनुज्ञा शूद्र को ही है। वह उसे पी सकता है।[214] मेगस्थनीज की सम्मति है कि यज्ञ के समय को छोड़कर भारतीय कभी भी सुरापान नहीं करते थे।[215] ऐसा ही विचार स्ट्रैबों का भी है।[216] ह्वेनसांग ने लिखा है कि अंगूर एवं ईख की मदिरा क्षत्रिय पीते थे, वैश्य चुआई हुई सुरा पीते थे, बौद्ध-भिक्षु एवं ब्राह्मण गन्ने एवं अंगूर का रस पीते थे।[217] शुक्र ने मदिरा पीने की व्यवस्था दी है, क्योंकि इससे उनके अनुसार उत्साह, बुद्धि-प्रखरता, शीतलता और मस्तिष्क की विचार-शक्ति बढ़ती है।[218] अनेक संस्कृत ग्रंथों में नागरिकों के मद्यपान करने के उल्लेख मिलते हैं।[219] लक्ष्मीधर के अनुसार ब्राह्मण के अतिरिक्त राजा और वैश्य मदिरा-पान कर सकते हैं।[220] मैथिल लेखक चण्डेश्वर का भी यही विचार है।[221]

गुजरात में चालुक्य कुमारपाल ने मदिरा पीना ही नहीं वरन् मदिरा निर्माण-शाला भी बन्द करा दी थी।[222] किन्तु धर्मग्रन्थ इसके पक्ष में नहीं लगते। गौतम एवं याज्ञवल्क्य ने घोषित किया है कि यद्यपि सन्तान को पिता के ऋण से मुक्त होना चाहिए और ऐसा करना उनका पावन कार्य है, किन्तु पिता द्वारा सुरापान के लिए किए गए ऋण को अदा करने का उनका कोई कर्तव्य नहीं है। ब्राह्मण के वर्जित पेशों (व्यवसायों) में सुरा-व्यापार भी है।[223] राजतरंगिणी से इस बात की सूचना मिलती

है कि व्यापारी मदिरा के आदी थे।[224] इसका समर्थन कथासरित्सागर से भी होता है। उत्सवों के अवसर पर पान-भूमि अच्छी तरह से सजाई जाती थी। अनेक युवतियां, मदिरा से भरे हुए कलश लिए हुई खड़ी रहती थीं। स्त्री तथा पुरुष सभी सामूहिक रूप से मद पीते थे।[225] राजाओं के लिए अलग मधुशालाएं निर्मित की जाती थीं। उनमें अच्छी एवं सुगन्धित मदिरा की व्यवस्था होती थी।[226] अधिकतर त्यौहारों एवं उत्सव आदि के अवसर पर ही विशेष रूप से सुरा का सेवन होता था।

सुश्रुत ने अन्यान्य प्रकार की मदिराओं के गुण-अवगुण की व्याख्या करने के बाद अन्त में यह निष्कर्ष निकाला है कि वही मदिरा पीने योग्य है, जो सुगन्धित, पुरानी तथा सरस हो, जिससे मन उद्दीप्त हो जाय, वात एवं कफ के विकार दूर हो जाएं, तथा जिससे प्रसन्नता पैदा हो। सुश्रुत की दृष्टि में जिस प्रकृति का जो व्यक्ति होता है, उसी के अनुकूल मद उसमें उद्भूत होता है। सात्विक प्रवृति के मनुष्य में मदिरा-पान करने से शुचिता, उदारता, हर्ष, गीत, अध्ययन और उत्साह की भावना की वृद्धि होती है, किन्तु तमोगुणी व्यक्ति में मदिरा के कारण अपवित्रता, निद्रा, असत्य, आलस्य एवं कलुषित भावना की वृद्धि होती है।[227]

यात्रियों ने, यथा—सुलेमान, अबूजैद, इब्नखुरद्दब तथा अलमसूदी आदि के विवरण से पता चलता है कि हिन्द के लोग मदिरा-पान को त्याज्य समझते थे।[228] यद्यपि धार्मिक दृष्टि से मदिरा-पान घृणित माना जाता था फिर भी समाज में विभिन्न वर्ग के लोग सम्भवतः इसका सेवन करते थे।

अन्य पेय

उपर्युक्त पेय सामान्यतः अधिक प्रचलित थे। इनके अतिरिक्त समय-समय पर अन्य पेय पदार्थों का प्रचलन रहा। मधु उस समय के लोगों का प्रिय पेय रहा है। याज्ञवल्क्य के अनुसार स्नातक, आचार्य, राजा, प्रिय-मित्र और दामाद को प्रतिवर्ष अपने घर बुलाकर अर्घ्य (मधुपर्क) द्वारा सत्कार किया जाता था तथा यज्ञ आदि के समय इसका सेवन किया जाता था।[229] महाभारत के अनुसार मधु-माधवी का पान वन विहार के समय होता था।[230] वैज्ञानिक-दृष्टि से यह स्वास्थ्य-संवर्धक पेय माना जाता था। आगत अतिथियों को यह सर्वप्रथम दिया जाता था। कुछ आचार्यों ने मधु को त्याज्य माना है क्योंकि मधु निकालते समय असंख्य मधुमक्खियों की हत्या होती थी।[231] आज भी मधु का सेवन किया जाता है।

वस्त्र-आभूषण

वस्त्र

किसी भी देश के लोगों की सांस्कृतिक-स्थिति का पता उसमें रहने वाले लोगों की वेशभूषा से आंका जा सकता है। मोहन-जोदड़ों और हड़प्पा की सभ्यता में तो बहुधा लोग नंगे ही रहते थे और यदि कुछ लोग कपड़े पहनते थे तो लंगोटी या छोटी धोती के रूप में कभी-कभी लोग चादर भी ओढ़ लेते थे और अपने बाल फीते से बांध

लेते थे। वैदिक-काल से लेकर सातवीं सदी तक सिले हुये कपड़ों एवं आभूषणों का उल्लेख साहित्य में बराबर मिलता है और उनका चित्रों में अंकन भी हुआ है।[232] याज्ञवल्क्य ने सिले हुए वस्त्रों का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है।

वस्त्र के प्रकार

कम्बल—भेड़-बकरी के बाल से तैयार किया जाने वाला वस्त्र था और ओढ़ने एवं बिछाने के लिए प्रयुक्त होता था। याज्ञवल्क्य के अनुसार ऊन के मोटे सूत से कम्बल बनाया जाता था।[233] कम्बल का प्राचीनतम उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है।[234] ऊन को पहले रंग कर उसके बुनने की प्रक्रिया आरम्भ होती थी।[235] कम्बल नामक वस्त्र विशेष रूप से चित्रित होते थे।[236] वायुपुराण में ऊनी-वस्त्र तथा कम्बल के दानार्थ आदेश विहित है। आदिपुराण में भी इस वस्त्र का नाम आया है।[237] शिष्ट वर्ग में शुक्लवर्णी-कम्बलों का प्रचार अधिक था। पतंजलि ने अपने महाभाष्य में सर्वत्र शुक्ल-कम्बल का ही उल्लेख किया है। भाष्यकार ने कम्बल को "अजरिता" या न फटने वाला कहा है।[238] ह्वेनसांग के अनुसार यह भेड़-बकरों के ऊन से बनाया जाता था और मुलायम तथा सुन्दर होता था।[239] अष्टाध्यायी से ऋणार्थ कम्बल के प्रचलन की सूचना मिलती है।[240] याज्ञवल्क्य ने वस्त्रों की शुद्धता एवं स्वच्छता पर विशेष ध्यान दिया है। उनके अनुसार ऊनी वस्त्र ऊसर की मिट्टी (रेह) तथा जल अथवा गोमूत्र से धोने पर शुद्ध होता था।[241]

चर्म-वस्त्र—याज्ञवल्क्य ने ब्रह्मचारियों के लिए कृष्णमृग-चर्म धारण करने का उल्लेख किया है। मनु का कथन है कि ब्रह्मचारी कृष्ण-मृग तथा बकरे के चमड़े को धारण करता था।[242] ऋग्वेद से सूचना मिलती है कि ऋषि प्राय: पशुओं का चर्म धारण करते थे, जिसे 'मक्त' कहा जाता था।[243] विष्णुपुराण के अनुसार यज्ञानुष्ठान के अवसर पर केशिध्वज ने मृगचर्म धारण किया था। वायुपुराण में समुद्रशायी विष्णु का वस्त्र कृष्ण-मृगचर्म बताया गया है।[244] इसमें सन्देह नहीं कि चर्म-वस्त्र में पवित्रता का सन्निवेश माना जाता था।[245] गौतम ने इसे वानप्रस्थियों का परिधान माना है।[246]

चर्म के वस्त्रों को न तो धोने की आवश्यकता होती थी और न रंगने या चित्रित करने की। प्रकृति स्वयं प्राय: सभी चर्मों के रोयें और उन पर मनोरम चित्रकारी और सजावट कर देती थी।

वल्कल—याज्ञवल्क्य ने वृक्षों की छाल से वस्त्र बनाने का उल्लेख किया है।[247] छाल के वस्त्र को वल्कल कहा जाता था जो बौद्ध-भिक्षुकों को अविहित थे।[248] विष्णुपुराण में भी वल्कल-वस्त्र का उल्लेख मिलता है।[249] इसका प्रयोग अधिकतर जंगल में रहने वाली जातियां अथवा साधु-संन्यासी ही करते थे।[250] कालिदास ने कुमारसम्भव में वल्कल-वस्त्र का उल्लेख किया है।[251] बाणभट्ट ने उत्तरीय और चादर के रूप में वल्कल के प्रयोग का उल्लेख किया है।[252] हर्षचरित्र से ज्ञात होता

है कि सावित्री ने कल्पद्रुम की छाल से निर्मित वल्कल-वस्त्र धारण किया था।[253] याज्ञवल्क्य का विचार है कि ऊसर भूमि की मिट्टी (रेह) जल अथवा गोमूत्र आदि में श्रीफल मिलाकर धोने से यह स्वच्छ एवं शुद्ध होता था।[254]

कौशेय—याज्ञवल्क्य ने 'कौशेय-वस्त्र' का उल्लेख किया है।[255] 'कौशेय' का का प्रथम उल्लेख शतपथ-ब्राह्मण में मिलता है। कौशेय-वस्त्र वाजपेय-यज्ञ के अवसर पर यजमान की पत्नी धारण करती थी। टीकाकार हरिस्वामी ने कौशेय का अर्थ (रेशमी) कीट-कोश से परिकलित वस्त्र माना है।[256] अमरकोश में क्षौम के समान कौशेय भी रेशमी वस्त्र का ही प्रकार विशेष माना गया है।[257] कोश से बने वस्त्रों को कौशेय कहते थे। कोश वस्तुत: कृमिकोश होते थे। ये कृमि हरी पत्ती खाते थे और कोश प्रजनन करते थे। भाष्यकार ने इस बात पर विचार किया है कि कौशेय को कोश का विकास माना जाय या कोश से संभूत। अन्त में उन्होंने कोश के विकार को ही कौशेय माना है।[258] इस सब्द का उल्लेख प्राचीन जैन-ग्रन्थ आचारांग-सूत्र में भी मिलता है।[259] मोतीचन्द के अनुसार, "कौशेय का तात्पर्य रेशमी-वस्त्र से ही प्रतीत होता है।" शिशिर-ऋतु में कौशेय विशेष अभिरुचि में पहना जाता था।[260]

क्षौम-वस्त्र—याज्ञवल्क्य ने क्षौम-वस्त्र को शुद्ध माना है।[261] वैदिक-साहित्य में भी इसका उल्लेख है जिसे अलसी की छाल से निर्मित माना जाता है।[262] तैत्तिरीय संहिता में भी इसका उल्लेख है।[263] आश्वलायन-श्रौतसूत्र में क्षौम का उल्लेख दान देने के संदर्भ में हुआ है।[264] पुराणों में भी क्षौम का उल्लेख दान देने के सन्दर्भ में हुआ है।[265] क्षुमा का समीकरण सन[266] अलसी[267] से किया गया है। क्षौम अत्यधिक कीमती, मुलायम और सूक्ष्म होता था।[268] शाकुन्तल के अनुसार जिस समय शकुन्तला पति-गृह जा रही थी, वनस्पतियों ने उसे मांगलिक क्षौम-वस्त्र प्रदान किया था।[269] आसाम के राजा भास्कर वर्मन ने हर्ष को बहुत से क्षौम के लम्बे टुकड़े भेंट-स्वरूप प्रदान किये थे।[270] वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार यह आसाम और बंगाल में उत्पन्न एक प्रकार की घास से निर्मित किया जाता था।[271] काशी और पुण्ड्र देश क्षौम के लिए प्रसिद्ध थे।[272]

उपर्युक्त उल्लेखों से ज्ञात होता है कि क्षौम एक प्रकार का महीन, कीमती एवं सुन्दर वस्त्र था जिसका प्रयोग अधिकतर धनी, सम्पन्न एवं राजघराने के लोग मांगलिक अवसर पर करते थे।

कुतप—याज्ञवल्क्य ने कुतप-वस्त्र का उल्लेख किया है।[273] यह सम्भवत: पहाड़ी भेड़ों के बाल से निर्मित होता था। पतंजलि ने महाभाष्य में कुतप-वस्त्र की चर्चा की है।[274] कुतप सम्भवत: हल्का, गरम, ऊनी-कम्बल या शाल होता था। यह पर्वतीय विशेषत: नेपाली-ऊन का बना होता था।[275]

काषाय—याज्ञवल्क्य ने काषाय-वस्त्र की भी चर्चा की है। काषाय-वस्त्रधारी बौद्ध-भिक्षुओं का दर्शन अशुभ माना जाता था। अन्यत्र उन्होंने मोक्षार्थी

के लिए काषाय-वस्त्र धारण का उल्लेख किया है।[276] अन्तःपुर में काम करने वाले सभी लोगों के वस्त्र काषाय वर्ण के होते थे।[277] रानी काषायरक्त-वस्त्र धारण करती थी।[278] रामायण के अनुसार वाल्मीकि के आश्रम में रहते समय सीता भी काषाय-वसनी थी। राम वनगमन पर दशरथ शोक करते हैं कि राम काषाय-परिधान कैसे धारण करेंगे।[279]

वस्त्र धारण के नियम

वस्त्रों के सम्बन्ध में नियम था कि कौन कैसा वस्त्र पहने। नीला और लाल रंग का वस्त्र ब्राह्मणों को वर्जित था। यदि कोई धारण करता था तो उसके लिए प्रायश्चित्त का विधान था।[280] साधारणतः श्वेत-वस्त्र की सात्विकता से प्रभावित होकर जनता उसे सबसे अधिक चाहती थी।[281] श्वेत-वस्त्र से मनोविकार दूर होता है।[282] उद्यान-निर्माण करते समय यजमान का शुक्ल-वस्त्र धारण करना अतिआवश्यक माना जाता था।[283] स्नातक को सफेद एवं स्वच्छ वस्त्र धारण करने का उल्लेख याज्ञवल्क्य ने किया है।[284] मनुस्मृति में गृहस्थ को शुक्ल-वस्त्र धारण कर स्वाध्याय करने का विधान है।[285] विनायक से पीड़ित व्यक्ति को भी स्तुति करते समय सफेद वस्त्र धारण करने का नियम था।[286]

विज्ञानेश्वर ने शंख का उद्धरण प्रस्तुत कर टिप्पणी की है कि स्त्रियां घर से बिना कहे तथा चादर ओढ़े बाहर न जायें, नाभि को वस्त्रों से ढकी रखें, एड़ी तक वस्त्र धारण करे, स्तनों पर से कपड़ा आदि न हटायें एवं मुंह ढके बिना न हँसे।[287] साड़ी और उत्तरीय का प्रयोग स्त्रियां करती थीं।[288]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि लोग ऋतु के अनुसार ऊनी, सूती, रेशमी तथा वल्कल आदि वस्त्र को धारण करते थे। लोग वस्त्र शुद्ध एवं स्वच्छ करके ही धारण करते थे।

आभूषण

याज्ञवल्क्य-कालीन-समाज के लोग विभिन्न प्रकार के आभूषणों का भी प्रयोग करते थे। वस्त्रों को धारण करने के साथ-साथ आभूषणों का भी प्रयोग भारतीय-सभ्यता के विकास के साथ-साथ ही प्रारम्भ हुआ होगा।[289] वस्त्र मनुष्य की एक आवश्यकता है किन्तु आभूषण शरीर को अलंकृत करने के लिए ही मुख्यतः प्रयुक्त होता था। वैसे सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति के अनुरूप ही लोग आभूषणों का प्रयोग करते रहे होंगे।

याज्ञवल्क्य-स्मृति के विषय-वैशिष्ट्य के फलस्वरूप वस्त्र के समान ही इसमें आभूषणों का भी प्रसंगतः कम ही उल्लेख मिलता है। वस्तुतः जो कुछ आभूषण इसमें उल्लिखित हैं उनसे कहीं अधिक प्रकार के आभूषण समाज के विभिन्न वर्गों के स्त्रियों एवं पुरुषों में प्रचलित रहे होंगे। याज्ञवल्क्यस्मृति में निम्नलिखित आभूषणों का उल्लेख मिलता है।

कुण्डल— याज्ञवल्क्य-स्मृति में कुण्डल का उल्लेख किया गया है।[290] यह कान में पहना जाने वाला एक अलंकार था जिसे स्त्री-पुरुष दोनों धारण करते थे। कुण्डल की आकृति गोल-गोल छल्ले के समान होती थी। अमरकोष में इसे कान को लपेटकर पहना जाने वाला अभूषण बताया गया है।[291] मनु ने भी गृहस्थ के लिए सोने का सुन्दर कुण्डल धारण करने का उल्लेख किया है। कुण्डल वर्तुलाकार कर्णाभूषण थे।[292] वैसे यह अन्य आकारों में भी प्रयुक्त होता रहा होगा।[293] विष्णु एवं ब्रह्माण्डपुराण में कृष्ण को मकराकृत कुण्डल धारण करने का उल्लेख किया है। वायुपुराण में वर्णित है कि उत्तर कुरु के निवासी युवक कुण्डल धारण करते थे।[294] मत्स्यपुराण से सूचना मिलती है कि जिस समय ययाति देवयानी से बात कर रहे थे, वह कुण्डल पहने हुए थी।[395] वायु एवं ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार राक्षस भी कुण्डल पहनते थे।[296] अजन्ता की चित्रकला में भी कुण्डल चित्रित हैं।[297] स्त्री एवं पुरुष दोनों इस आभूषण को धारण करते थे। यह सोने मणि एवं रत्न आदि से निर्मित होता था।[298]

निष्क—याज्ञवल्क्य ने निष्क का भी उल्लेख किया है।[299] सम्भवत: यह गले में पहना जाता था। वैदिक-साहित्य के अनुसार यह मुद्रा थी, किन्तु इसका प्रयोग अलंकार के रूप में भी किया जाता था क्योंकि यह मुद्रा सुघठित और देखने में सुन्दर बनती थी।[300]

पुष्पमाला—पुष्पमाला भी आभूषणों के अन्तर्गत मानी जाती थी। माला पहनने की प्रथा सर्वाधिक थी। श्वेत-पुष्पों की माला धारण करने का उल्लेख याज्ञवल्क्य ने किया है।[301] स्नान एवं अनुलेपन के बाद माला पहनी जाती थी। माला सुगन्धित पुष्पों से बनाई जाती थी। "उत्पलमालधारिणी कन्या", से उत्पल मालाओं के प्रयोग का पता चलता है। उत्पल-माला आज भी ग्रामीण कन्याओं में बहुत प्रिय है। बाजार में भी माला की बिक्री बहुत थी। "मालाढकम" उदाहरण इसका प्रमाण है।[302] विष्णु-पुराण से यह सूचना मिलती है कि कृष्ण एवं बलराम गोचारण के अवसर पर वनमाल धारण करते थे।[303] आज भी पुष्पमाला का प्रयोग होता है।

याज्ञवल्क्य ने सोने, चांदी और अब्ज (मुक्ताफल, शंख और शुक्ति) आदि का भी उल्लेख किया है।[304] इनसे स्त्री एवं पुरुष के लिए अन्यान्य प्रकार के आभूषण बनाए जाते रहे होंगे। महाकाव्यों में भी स्त्री-पुरुष दोनों के विविध आभूषणों का उल्लेख हुआ है।[305] ये आभूषण सोने एवं चांदी के तो होते ही थे, साथ ही हीरे-जवाहरात से मण्डित भी होते थे। मेखला, केयूर, कुण्डल, मुक्ताहार, कण्ठसूत्र, चूड़ामणि, वलय, अंगद, अंगलीयक, नूपुर आदि विभिन्न प्रकार के आभूषण तद्युगीन समाज में प्रयुक्त होते थे। धनी वर्ग के लोग सोने, चांदी, जवाहरात तथा सामान्य एवं निर्धन व्यक्ति पीतल, मूंगा, कौड़ी आदि से निर्मित अलंकारों का प्रयोग करते थे।[306]

प्राचीन काल से ही स्त्रियां अधिक आभूषण-प्रिय रही हैं। विवाह तथा अन्य मांगलिक अवसर पर स्त्रियां आभूषण का प्रयोग अधिक करती थीं। स्त्रियों का आभूषण आदि से सम्मान किया जाता था।[307] वे पैरों में घुंघरू अथवा पाजेब धारण करती थीं।[308] अलबीरूनी का कथन है कि स्त्रियां कानों में कुण्डल, हाथों में चूड़ियां, हाथ की अंगुलियों में स्वर्ण की अंगुठियां, और पैरों की अंगुलियों में छल्ले पहनती थीं।[309] वर्तमान समय में भी कुछ परिवर्तनों के साथ स्त्री-पुरुष विभिन्न धातुओं के अन्यान्य प्रकार के आभूषण पहनते हैं।

मनोविनोद के साधन

भारतीय-समाज में प्राचीन काल से मनोविनोद का विशेष महत्व रहा है। भारतीय-प्रकृति ने भी मनोविनोद के अभ्युदय में सहयोग दिया है। वह सभी वस्तुओं में अपनी नित्य-नूतन-सुषमा के द्वारा मानव-हृदय को प्रफुल्लित और उल्लसित करके आनन्द मनाने के लिए प्रेरित करती है। नागरिक-संस्कृति का सर्वोच्च विलास मनोविनोद में व्यक्त होता था। प्रकृति के अन्य प्राणियों की अपेक्षा मानव अधिक विनोद-प्रिय रहा है।[310] याज्ञवल्क्य के समय में लोग विविध प्रकार से अपना मनोरंजन करते थे। याज्ञवल्क्य-स्मृति में कलात्मक मनोविनोद, क्रीड़ा, खेल-कूद तथा उत्सव-महोत्सव आदि का उल्लेख है।

संगीत-कला

नृत्य

याज्ञवल्क्य के अनुसार राजा सभी कार्यों से मुक्त होकर सन्ध्या समय नृत्य का आनन्द लेता था।[311] सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों से नर्तकियों की मूर्तियां मिली हैं। उनके शरीर परिधानरहित तथा अलंकृत हैं। सम्भवत: नर्तन करते समय शरीर की सभी अंग-भंगियों का प्रदर्शन करने में वस्त्र को अवरोधक मानकर उसका परित्याग ही कर दिया जाता था। नर्तकों की भी दो मूर्तियां मिली हैं। उस समय अनेक लोगों के समूह-नृत्य भी होते थे।[312] नृत्य-कला की सूचना हमें ऋग्वैदिक काल में भी मिलती है। उस समय औरतें नृत्य-कला का प्रदर्शन करती थीं।[313] काम-सूत्र में विविध कलाओं के अन्तर्गत नृत्य-कला का भी उल्लेख है।[314] याज्ञवल्क्य ने वेश्याओं का उल्लेख किया है जो सम्भवत: नृत्य एवं गायन में प्रवीण होती थीं।[315] राजा कुशनाभ की सौ कन्यायें गायन, नृत्य और वादन के द्वारा अपना आमोद-प्रमोद करती थीं।[316] राम के राज्याभिषेक के अवसर पर तालावचर (नर्तक) तथा गणिकायें राजभवन की दूसरी कक्षा में उपस्थित थीं। सम्भवत: नृत्य के लिए वेश्यायें भी बुलाई गई थीं।[317] गाय चरने वाले गोप तथा गोपियां भी नाचने, गाने और बजाने में निपुण होते थे। युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ के अवसर पर नर्तकों का समुदाय लोगों का मनोरंजन करता था।[318] दशरथ के यज्ञ के अवसर पर भी नर्तकों को नियुक्त किया गया था।[319] बुद्धचरित के अनुसार राजभवन में राजकुमार के मनोविनोद के लिए नर्तकियां रखीं गयी थीं।[320] जैन-साहित्य से सूचना मिलती है कि

बांस के सिरे पर लकड़ी लगाकर उस पर ढाल और तलवार लेकर सम्भवत: नट नाचते थे।[321] अर्थशास्त्र के अनुसार गणिकाओं की नृत्य की शिक्षा के लिए राजा प्रबन्ध करता था। आदि-पुराण से भी नृत्य-कला की सूचना मिलती है।[322] मंदिरों में नृत्य करने के लिए देवदासियां रखी जाती थीं। कालिदास ने नृत्य द्वारा आंगिक, सात्विक और वाचिक विषयों का अभिनय प्रस्तुत करने का उल्लेख किया है।[323]

याज्ञवल्क्य का नृत्य का उल्लेख राजा के दैनिक-कार्यक्रम से सम्बन्धित है, किन्तु नृत्य का मनोरंजन के साधन के रूप में सम्पूर्ण समाज में प्रचलन रहा होगा। नृत्य के साथ गीत भी होता रहा होगा।

गीत

गीत भी लोगों के मनोविनोद का एक साधन था। याज्ञवल्क्य ने गीत-कला का उल्लेख किया है। राजा भी सम्पूर्ण कार्यों से मुक्त होकर संध्या समय गीत द्वारा मनोविनोद करता था।[324] लेकिन इस उल्लेख से तत्कालीन गीत प्रकार आदि पर प्रकाश नहीं पड़ता। पर अनुमानत: यह कह सकते हैं कि गीत समाज के सभी वर्गों में प्रचलित रहा होगा। गीत की लोकप्रियता का प्रथम परिचय ऋग्वेद से मिलता है। ऋग्वेद में गायत्री और प्रगाथ-छन्दों में जिन सूक्तों की रचना हुई है, वे विशेषरूप से गाने के लिए ही थे। गायकों को पारितोषिक देने का भी प्रचलन था।[325]

शतपथ-ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण उदारता सम्बन्धी और क्षत्रिय वीरता-सम्बन्धी गाथाओं का गान करते थे।[326] कामसूत्र में भी संगीत-कला का उल्लेख है।[327] रामायण भी संगीत-शिक्षण की सूचना देता है। संगीत का उपयोग मृगया में भी होता था। आखेटक अपने गीत से मृग को निस्तब्ध करके उसे पकड़ लेता था।[328] महाभारत के अनुसार सोने के पहले राजकुमारों के मनोरंजन के लिए स्त्रियां संगीत प्रस्तुत करती थीं। कौटिल्य ने गायकों का उल्लेख किया है।[329] ब्रह्माण्डपुराण के अनुसार गीत एवं वाद्य द्वारा देवी को प्रसन्न किया जाता था।[330] आदि पुराण में तो संगीत-कला को मनोविनोद का अभिन्न अंग माना गया है।[331] मानसोल्लास में स्वर, ताल एवं पदबन्ध आदि में प्रवीण गायक को अति उत्तम बताया गया है।[332]

अनेक विदेशी लेखकों ने भारतीय-संगीत के विदेशों में अपनाए जाने का सोदाहरण उल्लेख किया है।[333] विदेशी संगीत के मर्मज्ञ भी भारत में विदेशों से बुलाये जाते थे।[334] पेरिप्लस के अनुसार भड़ौच के राजा के लिए जो सुन्दर यवनी-स्त्रियां उपहार में भेजी गयी थीं, वे संगीत के सब बाजे-गाजे साथ लेकर चली थीं। संगीत राजाओं के भी गौरव का कारण था।[335]

वाद्यकला

नृत्य एवं गान में वाद्य-कला का महत्वपूर्ण योग रहा है। याज्ञवल्क्य

के अनुसार वादन का मर्मज्ञ तथा ताल का ज्ञान रखने वाला व्यक्ति अपने अल्प प्रयत्न से ही मुक्ति का मार्ग प्राप्त कर लेता था ।[336] इससे लगता है कि गायकों और वादकों का समाज में पर्याप्त सम्मान था। याज्ञवल्क्य में वाद्यों के विभिन्न प्रकारों आदि का उल्लेख प्रसंग न होने के कारण नहीं मिलता । लेकिन यह अनुमान अन्य साहित्यिक आधार पर कर सकते हैं, उनके समय में अनेक प्रकार के पारम्परिक-वाद्य प्रचलित रहे होंगे। नृत्य और संगीत दोनों की संगति वाद्य से होती है ।[337] सिन्धु-सभ्यता के युग से ढोल, वीणा और कांस्यताल कोटि के बाजों का प्रचलन रहा है। इस कोटि के बाजों की प्रतिकृतियां तत्कालीन ताबीजों और मुद्राओं पर अंकित मिलती हैं। हड़प्पा से प्राप्त एक ताबीज में बाद्य के सम्मुख ढोल बजाने का दृश्य अंकित है ।[338] ऋग्वेद में बाण नामक एक वाद्य का उल्लेख है ।[339] फूंक कर बजाये जाने वाले बाजों में शंख वैदिक-काल से ही प्रमुख रहा है। शंख बजाना व्यवसाय रूप में भी प्रचलित था ।[340] फूंककर बजाये जाने वाले अन्य वाद्य वेणु, नाड़ी, तूणव थे ।[341] दुन्दुभि प्रायः युद्ध में बजाई जाती थी। ऋग्वेद में कुछ अन्य वाद्यों के नाम वकुर, गर्गर, गोध, पिंग आदि भी मिलते हैं ।[342]

कामसूत्र में कला के अन्तर्गत वाद्य-कला का विशिष्ट स्थान है ।[343] महाभारत के अनुसार पणव, मृदंग, दुन्दुभि, क्रकच, महानक, भेरी, झर्झर आदि बाजे युद्ध के समय बजाये जाते थे। इसके अतिरिक्त भेरी, पणव, आनक, क्रकच, पुष्कर तथा पटह अन्यान्य प्रकार के ढोलों के उल्लेख मिलते हैं। इनका उपयोग युद्धभूमि में होता था ।[344] युद्ध के समय मृदंग बजाये जाते थे। विजय प्राप्त होने पर कई मास तक भेरियां बजाई जाती थीं। वादकों को उचित शिक्षा दी जाती जाती थी ।[345]

रामायण के अनुसार वादित्रों के संघ थे। राम के अभिषेक के अवसर पर वह संघ-वाद्य प्रस्तुत करने के लिए राजधानी में उपस्थित हुआ था। ऐसे अवसर पर सभी वाद्य एकत्र किये जाते थे ।[346] लंका में रात के समय तूर्य बजाये जाते थे। रावण के भवन में भेरी, मृदंग और शंख का नाद हुआ करता था। अयोध्या में कैकयी के भवन में बाजों की ध्वनि से मनोरम निनाद होता था ।[347] जातक-साहित्य से सूचना मिलती है कि तूर्य, पाणिस्सर, सम्मताक, कुम्भत्थूण, भेरी, मृतिंगा, मुरज, आलम्बर, आनक, शंख, पणव-देण्डिमा, वेणु, खरमुख, गोधापरिवादेन्तिका, कुटुम्ब-तिण्डिमा आदि वाद्य बजाये जाते थे ।[348] राजाओं के मनोरंजन के लिए वीणा-वादन रंगमंच पर होता था। प्रथम शती ईसवी में प्रचलित वाद्यों के नाम अश्वघोष के बुद्धचरित में मिलते हैं। अश्वघोष ने लिखा है कि स्त्रियां तूर्य, स्वर्णपत्र-चित्रित वीणा, वेणु, मृदंग, परिवादिनी, पणव आदि वाद्यों से सिद्धार्थ का मनोरंजन करती थीं ।[349]

रघुवंश के अनुसार पुत्र-जन्म के अवसर पर तूर्य-वाद्य और गणिकाओं का नृत्य होता था। राजा भी वल्लकी नामक वीणा बजाते थे। राजाओं के

मनोविनोद के लिए स्त्रियाँ वीणा और वेणु बजाती थीं। उस युग के अन्य प्रचलित वाद्य, मृदंग, पुष्कर, मुरज, दुन्दुभि, जलज (शंख) और घण्टा आदि थे। समुद्रगुप्त के वीणावाद प्रकार के सिक्के[350] तथा प्रयाग-प्रशस्ति[351] से ज्ञात होता है कि वह एक उच्चकोटि का वीणावादक था। ह्वेनसांग ने स्नान के समय के वाद्यों का उल्लेख किया है।[352] मत्स्यपुराण के अनुसार शिव की बारात में मुरज, तुम्बर आदि बाजों को बजाया जाता था। विष्णु, वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों के वर्णनानुसार वासुदेव के जन्म के अवसर पर अनक, दुन्दुभि आदि बाजे बजाये जा रहे थे।[353] भुवनेश्वर के मन्दिरों में वीणा, नगाड़ा, बांसुरी, तुरही आदि का सन्निवेश था।[354]

द्यूतक्रीड़ा

जुआ खेलना प्राचीन भारत में मनोरंजन का एक प्रिय साधन था। याज्ञवल्क्य में द्यूत के कई उल्लेख मिलते हैं। जुआ के खेल में द्यूत-जुआरी (जितने वाले) के धन में से 'सभिक' (जुआ चलाने वाला) 5 प्रतिशत लेता था एवं दूसरों से 10 प्रतिशत वसूलता था सभिक राजा को यथोचित अंश कर के रूप में देता था। फलतः राजा द्वारा यह संरक्षित होता था। विवाद होने पर राजा जीते हुये व्यक्ति को धन दिलाता था। धूर्त जुआरियों को कुत्ते के पंजे आदि चिह्नों से दाग कर राज्य से निकाल दिया जाता था।[355]

याज्ञवल्क्य के उल्लेखों से लगता है कि उन्होंने द्यूत को राजकीय संरक्षण प्रदान कर, उसे राज्य की आय का साधन माना है। इसके विपरीत स्मृतिकार मनु एवं विष्णु ने जुआ खेलना राजा का चारित्रिक अवगुण माना है।[356] कौटिल्य ने भी नल और युधिष्ठिर का दृष्टान्त देते हुए जुए को राजाओं के लिए हेय बताया है।[357] लेकिन राजाओं के लिए द्यूत-क्रीड़ा को हेय एवं निषिद्ध मानते हुए भी सामान्य जनता में इसका पर्याप्त प्रचार था और इसे राजकीय संरक्षण प्राप्त था। द्यूतक्रीड़ा में कुशलता दिखाकर लोग राजा को प्रसन्न करते थे।[358] और थानेश्वर-चारणों के वर्णन से एक विशाल जुआ घर के समान लगता था।[359] इस तरह के वर्णनों से लगता है कि यह क्रीड़ा याज्ञवल्क्य के बाद भी लोकप्रिय रही।

प्राणीद्यूत—मनोरंजन का दूसरा प्रमुख साधन मल्लयुद्ध तथा पशु-युद्ध था। याज्ञवल्क्य ने सम्भवतः इसी का उल्लेख प्राणीद्यूत नाम से किया है। याज्ञवल्क्य के अनुसार इसमें पहलवान, भेंड़ा, भैंसा, मुर्गा आदि को लड़ाया जाता था।[360] याज्ञवल्क्य द्वार उल्लिखित प्राणीद्यूत यदि वस्तुतः मल्ल एवं पशु-युद्ध है तो यह द्यूत का भी एक प्रकार रहा होगा। इसीलिए इसे यह नाम दिया गया है। सम्भवतः इसमें लोग बाजी लगाते होंगे और इस प्रकार से प्राणी-युद्ध-द्यूत की कोटि में आतेहोंगे।

सिन्धु-सभ्यता से भी इस तरह के युद्ध की सूचना मिलती है। इस युग की दो मुद्राओं पर पहलवान चीते जैसे वन्य-पशुओं से भिड़े हुए तथा अन्त में उनको पछाड़ते

हुए दिखाये गये हैं। उनके हाथों में कोई अस्त्र-शस्त्र नहीं दिखाई पड़ते।[361] ऋग्वेद में भी मल्लयुद्ध का उल्लेख है।[362] पहलवानों की मुठभेड़ को "मल्लयुद्ध" कहा जाता था।[363] महाभारत में छोटी-छोटी बातों पर भी द्वन्द्व-युद्ध होने के उल्लेख मिलते हैं। इनसे लोगों का मनोरंजन होता था।[364] जातक-साहित्य में भी उपर्युक्त कोटि के मल्लयुद्ध का सांगोपांग वर्णन मिलता है।[365] अर्थशास्त्र के अनुसार कुछ वीर धनार्जन के लिए जनपदों में हाथी और चीतों से लड़ते थे।[366]

पुराण-साहित्य से भी मल्ल-युद्ध की सूचना मिलती है। भागवत में मल्ल-युद्ध का मनोरंजनात्मक रूप मल्ल-क्रीड़ा महोत्सव में मिलता है। इस अवसर पर रंग को सजाया जाता था तथा तूर्य और भेरीवादन होता था। वन में गोप नित्य मल्ल-युद्ध से क्रीड़ा करते थे।[367] चम्पा में मोर की लड़ाई में उनके स्वामी को सहस्त्रों मुद्राओं की आय हुई थी। पशुओं के युद्ध के उल्लेख अनेक स्थानों पर मिलते हैं।[368]

इन्द्रजाल

ऐन्द्रजालिकों के करतब से भी लोगों का मनोरंजन होता रहा होगा। याज्ञवल्क्य-स्मृति में इन्द्रजालिकों का उल्लेख हुआ है।[369] प्रारम्भ में इन्द्रजाल शब्द का उपयोग इन्द्र के जाल (माया) के अर्थ में हुआ।[370] शतपथ-ब्राह्मण में असुर विद्या (माया) का नाम मिलता है। यह इन्द्रजाल और यज्ञ के अवसर पर निष्पन्न होता था।[371] रामायण और महाभारत के युद्ध-प्रकरण में कुछ अलौकिक या दिव्य अस्त्र-शस्त्रों के उल्लेख मिलते हैं। इनकी सिद्धि भी तप, तंत्र, मन्त्र और देवताओं के वरदान के द्वारा होती थी। रावण ने माया के द्वारा सिंह, व्याघ्र, गृध्र, कुत्ते, मुर्गे आदि के समान मुंह वाले बाण बना दिये थे।[372] अर्थशास्त्र से सूचना मिलती है कि औषधियों एवं मन्त्रों के द्वारा अलौकिक सिद्धियां प्राप्त हो जाती थीं।[373] बौद्ध-साहित्य से भी इन्द्रजाल की सूचना मिलती है।[374] किसी वस्तु के टुकड़े-टुकड़े करके फिर उसे पूरा दिखाना अथवा उसे जलाकर फिर पूर्ववत् अदग्ध दिखाने का कार्य प्रदर्शित किया जाता था। जहां कोई वस्तु न हो, वहां किसी वस्तु को दिखा देने का अपूर्व कौशल था।[375] जैन-साहित्य से भी इन्द्रजालिकों की सूचना मिलती है।[376] ह्वानच्वांग ने इन्द्रजाल का वर्णन करते हुये लिखा है कि थानेश्वर के लोग इन्द्रजाल में प्रवीण थे।[377] बाण के मित्रों में कई ऐन्द्रजालिक थे।[378] रत्नावली के चौथे सर्ग का नाम ही ऐन्द्र-जालिक रखा गया है।[379] आज भी मनोरंजन का यह साधन समाज में व्यवहृत है।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि समाज में विभिन्न प्रकार के मनोरंजन के साधन उपलब्ध थे, जिनका लोग अपनी रुचि के अनुसार अनुगमन करते थे तथा अपने को सर्वदा स्वस्थ और स्फूर्तिपूर्ण बनाये रखते थे।

संदर्भ एवं टिप्पणियां

1. हरिदत्त वेदालंकार, हिन्दू परिवार-मीमांसा, पृ० 1।
2. याज्ञ०, 2/45-46।
3. याज्ञ०, 1/86।
4. ऋग्वेद, 10/85/42।
5. जातक, 2, पृ० 321-40; 3, पृ० 150-180
6. बा० रामायण, 2/27/4-5।
7. गौतम धर्मसूत्र, 28/1।
8. अर्थशास्त्र, 3/5।
9. नारदस्मृति, 16/2
10. बृहस्पति०, 26।
11. देवल०, 13।
12. मनु०, 9/104।
13. याज्ञ०, 2/117।
14. गौतम, 28/4; मनु०, 9/111।
15. कैलाश चन्द्र जैन, प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाएं, पृ० 111।
16 मातृदेवोभव, पितृदेवोभव, आचार्य देवोभव। तै० उप०, 301/11।
17. याज्ञ०, 1/35।
18. उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते॥ मनु०, 2/145; 9/26।
19. महा० शान्ति०, 108/17।
20. उपाध्यायाद्दशाचार्याः आचार्याणांशतंपिता। वसिष्ठ०, 13/ 48।
21. द्रष्टव्य, हर्षचरित।
22. संस्कार-प्रकाश, पृ० 479।
23. शाकुन्तलम्, 4/18।
24. रघुवंश, 3/1, 9।
25. शब्द-कल्पद्रुम, तृतीय काण्ड, पृ० 143।
26. ऋग्वेद, 4/17/17।
27. याज्ञ०, 1/157-158।
28. यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥ मनु०, 2/227।
29. महाभारत, 12/26/14-21।
30. विश्वरूप, याज्ञ०, 1/15।

31. मेधातिथि, मनु०, 3/3 ।
32. रामायण, 2/11/2 ।
33. याज्ञ०, 2/131 ।
34. व०ध०सू०, 151-153 ।
35. अर्थ०, 3/13; सरस्वती विलास, पृ० 278 ।
36. याज्ञ०, 2/175 ।
37. वही, 1/121; मनु०, 9/208 ।
38. महा०, 2/71/1; मनु० 8/416 ।
39. याज्ञ०, 2/114 ।
40. वही, 2/115 ।
41. पितृभ्यां यस्य यद् दत्तं तत्तस्यैव धनं भवेत् । वही, 2/123 ।
42. रामजी उपाध्याय, प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका, पृ० 288 ।
43. याज्ञ०, 1/14, 77, 83 ।
44. याज्ञ०, 1/82 ।
45. यः रथगताः कन्या रथाः सर्वे चतुर्युजः ।
शतं शतं रथे नागाः पद्मिनो हेममालिनः ॥ महाभारत, 2/298/16, तथा 2/51/8, 2/52/11, 2/33/5, 2, 12/29/65 ।
46. वही, 12/234/30, 2/33/52, 4/72/26 ।
47. त्रयः किलेमे ह्यधना भवन्ति दासः पुत्रश्चास्वतन्त्रा च नारी । वही, 2/71/1 ।
48. याज्ञ०, 2/175; नारद०, 7/5/12 ।
49. भर्याया विक्रयश्चैषामेकैकमुपपातकम् ॥ याज्ञ०, 3/242 ।
50. याज्ञ०, 1/72, 73, 76 ।
51. वही, 1/74, 82, 88 ।
52. याज्ञ०, 1/85, 81 ।
53. महाभारत, 5/37/18, 14/90/45 ।
54. रामायण, 6/115/5 ।
55. याज्ञ०, 1/89 ।
56. विश्वरूप, याज्ञ०, 179 ।
57. कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्स्नेहसारेस्थितम् ।
भद्रं तत्र सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते ॥ उत्तररामचरित्, 6/39 ।

58. याज्ञ०, 1/71; मनु०, 9/28।
59. शंखस्मृति, 1/15।
60. याज्ञ०, 1/78 पर मिताक्षरा।
61. याज्ञ०, 1/77, 83।
62. सदाप्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया।
    सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया॥ मनु०, 5/150।
63. याज्ञ०, 1/70, 68-69।
64. वही, 1/84; महा०, 13/123, 27; याज्ञ०, 1/66।
65. वही, 1/87; एरण अभिलेख, का० इ०, इ०, 3, पृ० 2।
66. व्यालग्राही यथा व्यालं बलादुद्धरते बिलात्।
    एवमुत्क्रम्य दूतेभ्यः पतिं स्वर्गं व्रजेत्सती।
    यमदूताः पलायन्ते तामालोक्य पतिव्रताम्॥ स्कन्दपुराण, 7/54-55।
67. जातक सं० 239, 267।
68. याज्ञ०, 1/47; भागवत०, 10/60, 31।
69. पत्नी मूलं गृहं पुंसा यदिच्छन्दोऽनुवर्तिनी।
    गृहाश्रमसमं नास्ति यदि भार्य्या वशानुगा॥
    तया धर्मार्थकामानां त्रिवर्गफलमश्नुते।
    प्राकाम्ये वर्तमाना तु स्नेहान्नतु निवारिता॥
    अदृष्टापतितां भार्य्यां यौवने यः परित्यजेत्।
    स जीवनान्ते स्त्रीत्वञ्च बन्ध्यत्वञ्च समाप्नुयात्॥
    दरिद्रं व्यधितं चैव भर्त्तारं यावमन्यते।
    शुनी गृध्री च मकरी च जायते सा पुनः पुनः॥ दक्ष०, 4/1-18।
70. ऋग्वेद, 10/85/43; अथर्ववेद, 14/1/22।
71. विक्रमोर्वशीय, पृ० 121।
72. याज्ञ०, 1/102; मनु०, 9/137; महा०, आदि०, 68/55, 62।
73. याज्ञ०, 1/73।
74. याज्ञ०, 1/69।
75. रघुवंश, 1/66, 67, 71, 2/64; याज्ञ०, 1/78।
76. हरदत्त वेदालंकार, हिन्दू परिवार मीमांसा, पृ० 189।
77. याज्ञ०, 2/237; 1/85; मनु०, 9/10-11।
78. बुद्धचर्या, पृ० 278।
79. आज्ञा याहं व्यतिक्रम्य नाहं जीवितुमुत्सहे॥ वा० रामायण, 2/30/32।
80. मनु०, 9/165; वसिष्ठ धर्मसूत्र, 17/12।

81. औरसो धर्मपत्नीजस्तत्सम: पुत्रिकासुत: । याज्ञ०, 2/128 ।
82. स्वक्षेत्रे संस्कृतायां तु स्वयमुत्पादयेद्धियम् ।
तमौरसं विजानीयात्पुत्रं प्रथमकल्पितम् ।। मनु०, 9/188 ।
83. औरसक्षेत्रजे पुत्रौ पितृरिक्थस्य भागिनौ ।
दशापुरे तु क्रमशो गोत्ररिक्थांशभागिन: ।। मनु०, 9/165 ।
84. क्षेत्रज: क्षेत्रजातस्तु सगोत्रेणेतरेण वा । याज्ञ०, 2/128 ।
85. वही, 1/68-69; मनु०, 9/167; 9/162; बौ०ध०सू०, 2/2/21-23 ।
86. अर्थ०, 3/7; महा०, आदि०, 1/106 ।
87. आपस्तम्ब०, 2/10/27/46; मनु०, 9/64-68; याज्ञ०, 1/68-69 ।
88. दद्यान्माता पिता वा यं स पुत्रो दत्तको भवेत् । याज्ञ०, 2/130 ।
89. माता पिता वा दद्यातां यमद्भि: पुत्रमापदि ।
सदृशं प्रीतिसंयुक्तं स ज्ञेयो दत्त्रिम: सुत: ।। मनु०, 9/168 ।
90. परजात: संस्कर्तुरेव न बधूनाम ।
तत्सधर्मा मातृपितृभ्यामद्भिर्दत्तौ दत्त: ।। अर्थशास्त्र, 3/7 ।
91. न त्वेकं पुत्रदद्यात्प्रतिगृह्णीयाद्वा स हि सन्तानायपूर्वेषाम् । वसिष्ठ०, 15/3; ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानव: । मनु०, 9/106 ।
92. चूड़ाधा: यदि संस्कारा: निजगोत्रेण वैकृता: । दत्तक मीमांसा, 58 ।
93. कृत्रिम: स्यात्स्वयंकृत: । याज्ञ०, 2/131 ।
94. सदृशं तु प्रकुर्याद्यं गुणदोषविचक्षणम् ।
पुत्तं पुत्रगुणैर्युक्तं स विज्ञेयश्च कृत्रिम: ।। मनु०, 9/169 ।
95. गृहे प्रच्छन्न उत्पन्नो गूढ़जस्तु सुत: स्मृत: । याज्ञ०, 2/129 ।
96. मनु०, 9/170; अर्थशास्त्र, 3/7; बौ०ध०सू०, 2/2/6 ।
97. उत्सृष्टो गृह्यते यस्तु सोऽपविद्धो भवेत्सुत: । याज्ञ०, 2/132 ।
98. मातापितृभ्यामुत्सृष्टं तयोरन्यतरेण वा ।
यं पुत्तं परिगृह्णीयादपविद्ध: स उच्यते ।। मनु०, 9/171 ।
99. कानीन: कन्यकाजातो मातामहसुतो मत: ।। याज्ञ०, 2/129 ।
100. वसिष्ठ०, 17/22-5 ।
101. मनु०, 9/172; नारद०, 13/17, 8 ।
102. लक्ष्मीदत्त ठाकुर, प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन, पृ० 175 ।
103. गर्भे विन्न: सहोढज: । याज्ञ०, 2/131 ।

104. या गर्भिणी संस्क्रियते ज्ञाताज्ञातापिवा सती ।
बोढ़: स गर्भो भवति सहोढ इति चोच्यते ॥ मनु०, 9/173 ।
105. मनु०, 8/226 ।
106. याज्ञ०, 2/131; मनु०, 9/174 ।
107. याज्ञ०, 2/130; मनु०, 9/175 ।
108. याज्ञ०, 2/131; मनु०, 9/177 ।
109. पुत्रिकासुत: । याज्ञ०, 2/128 ।
110. हिन्दू लॉ एण्ड कस्टम्स, पृ० 156-57 ।
111. वेदालंकार, हिन्दू परिवार मीमांसा, पृ० 377-78 ।
112. बृहदारण्यक उप०, 6/4/27 ।
113. याज्ञ०, 1/11; बृहदारण्यक उपनिषद्, 6/4/17; शंखस्मृति, 2/1; सुश्रुत, शारीरस्थान, अध्याय 2 ।
114. याज्ञ०, 1/55, 1/54 ।
115. वा० रामायण, 7/9/9; नारदस्मृति, 12/22 ।
116. अलतेकर, दि पोजीशन ऑफ वीमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन, पृ० 15 ।
117. पाणिनि, 6/2/86 ।
118. याज्ञ०, 1/13; मनु०, 9/18
119. अलतेकर, एजुकेशन इन ऐन्सियन्ट इण्डिया, पृ० 218 ।
120. ओमप्रकाश, फूड एण्ड ड्रिंक्स इन ऐंसियन्ट इण्डिया, पृ० 10 ।
121. याज्ञ०, 1/169, 1/110 ।
122. महा०, 7/64/8; 1/3/69; भोजाजानीय जातक, 23 ।
123. याज्ञ०, 1/167-168; पी० बी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, हिन्दी अनुवाद, भाग-1, पृ० 419-420 । मनु०, 4/207-22 ।
124. याज्ञ०, 1/171 ।
125. तैत्तिरीय ब्राह्मण, 2/5/1/1.
126. याज्ञ०, 3/49 ।
127. ओमप्रकाश, फूड एण्ड ड्रिंक्स इन ऐंसियन्ट इण्डिया, पृ० 42 ।
128. बेनी प्रसाद, ऐन्सियन्ट इण्डिया, पृ० 52-53 ।
129. सुश्रुत संहिता, अध्याय 46, फल-वर्ग; वाटर्स, ह्वेनसांग, भाग-1, पृ० 177 ।

130. डी० आर० भण्डारकर, अशोक, (हिन्दी अनुवाद), पृ० 282; डी० सी० सरकार, सेलेक्ट इन्सक्रिप्सन्स, पृ० 206-208।

131. सुश्रुत-सहिता, सूत्रस्थान, अध्याय 46, शाक-वर्ग।

132. याज्ञ०, 1/176, 171; मनु,० 5/19-20, 5-6; गौतम०, 17/32-33; वसिष्ठ०, 14/33; आपस्तम्ब ध० सू०, 1/5/17/25-27; अपरार्क०, पृ० 249; गृहस्थरत्नाकर, पृ० 354-356।

133. वृद्धहारीत, 7/113-119; स्मृतिमुक्ताफल, पृ० 434-435।

134. याज्ञ०, 1/177-78।

135. वा० रामायण, 4/17/39-40।

136. मनु०, 5/11-14; गौतम०, 17/29 एवं 34-35; वसिष्ठ०, 14/48।

137. मनु०, 5/14-15; वसिष्ठ ध० सू० 14/41-42; गौतम०, 17/36।

138. महावग्ग, 6/23/10-15; केशव जातक, 346।

139. याज्ञ०, 1/179।

140. मनु०, 5/27-42; वसिष्ठ०, 4/6; विष्णु धर्मसूत्र, 51/64; शांख्यायन गृह्यसूत्र, 2/16/1; याज्ञ०, 1/180।

141. मनु०, 5/38।

142. याज्ञ०, 1/258-260।

143. मनु०, 5/36; वा० रामायण, 3/11/50-64; महा०, वन०, 2/8।

144. महाभारत, 13/72/28; महाभारत, सभापर्व, 4/1-2; वनपर्व, 208/11-12; अनुशासनपर्व, 116/3, 16-19।

145. स्ट्रैबो, 16/1/59।

146. महाभारत, 4/72/28।

147. रामायण, 2/91/67-70; महाभारत, 3/265/13-15।

148. महापरिनिब्बानसुत्त, 8/5; दीघनिकाय, 2, पृ० 127।

149. डी० आर० भण्डारकर, अशोक, हिन्दी अनुवाद, पृ० 236।

150. जातक, 1, पृ० 166, 3, पृ० 429।

151. याज्ञ०, 1/172-175।

152. मनु०, 5/11-15।

153. गौतम०, 17/27/31; वसिष्ठ ध० सू०, 14/39-40; विष्णु ध० सू०, 51/6; शख, अपरार्क, पृ० 1167 में उद्धृत; कृत्यकल्पतरु, पृ० 304-8।

154. ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ० 235।

155. डी० आर० भण्डारकर, अशोक, हिन्दी अनुवाद, पृ० 277।

156. कथासरित्सागर, 3/9/16।

157. याज्ञ०, 1/181।

158. वर्षेवर्षे श्वमेधेन यो यजेत शतं समाः। मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम्॥ फलमूलाशनैर्मेध्येमुन्यन्नानां च भोजनैः। न तत्फलमवाप्नोति यन्मांसपरिवर्जनात्॥ मनु०, 5/53-54।

159. याज्ञ०, 1/27-28।

160. ऋग्वेद, 6/30/3।

161. शतपथ ब्राह्मण, 10/2/2/7।

162. छान्दोग्य उप०, 5/2/2; बृहदारण्यक उप०, 6/1/14; तै० ब्रा०, 2/1/11।

163. पी० वी० काणे द्वारा उद्धृत धर्मशास्त्र का इतिहास, हिन्दी अनुवाद, पृ० 414; मनु०, 2/52; महा० अनु०, 104/57।

164. मनु०, 4/76; महा०, अनुशासनपर्व, 104/61-62।

165. याज्ञ०, 1/182-83।

166. याज्ञ०, 1/106, 112; मनु० 2/54-55; वसिष्ठ धर्मसूत्र, 3/69-71।

167. याज्ञ०, 1/131 पर मिताक्षरा।

168. जातक, 260।

169. ह्वेनसांग : वाटर्स, भाग-1, पृ० 152।

170. तकाकुसु, रेकर्ड्स ऑव दि बुद्धिस्ट रिलीजन, पृ० 24।

171. ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ० 238।

172. अथर्ववेद, 3/30/16।

173. याज्ञ०, 1/219-220, 225।

174. वही, 1/226-228।

175. याज्ञ०, 1/239-241;250।

176. शंख की उक्ति अपरार्क के द्वारा पृ० 150 पर उद्धृत।

177. आ०ध०सू० 1/5/17/2.

178. जो लोग किसी पंक्ति में बैठते ही संपूर्ण पंक्ति को अपने प्रभाव से शुचि कर देते हैं, वे पंक्ति-पावन हैं। वे पंक्ति-दूषक हैं, जो सारी पंक्ति को दूषित कर देते हैं।
179. आ०गृ०सू०, 2/7/17/21; मनु०, 3/184-186.
180. महा०, वनपर्व, 222/40.
181. चुल्लवग्ग, 8/4.
182. कथासरित्सागर, 15/2/132.
183. रामजी उपाध्याय, प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका, पृ० 804-805.
184. छान्दो० उप०, 6/7/1, आपोमय: प्राण: ।
185. याज्ञ०, 1/104, 107; 3/314, 316-317 ।
186. सुश्रुत, सूत्रस्थान, 45/15 ।
187. सुश्रुत० 45/21; शतपथ-ब्राह्मण, 3/9/2/8 ।
188. यशस्तिलक चम्पू, पृ० 518, श्लोक, 368 ।
189. याज्ञ०, 3/289 पर मिताक्षरा ।
190. वही, 3/314, 317 320 पर मिताक्षरा ।
191. पियं दुग्धं न काम्यम् । ऋग्वेद, 5/19/4; अमृतं क्षीर-भोजनम् । पंचतंत्र, 1/139 ।
192. शतपथ०, 2/5/1/15; चरकसंहिता, 25/39 ।
193. शतपथ ब्राह्मण, 9/2/3/31 ।
194. अथर्ववेद, 7/73/1 ।
195. नित्य जातक ।
196. यशस्तिलक चम्पू, पृ० 518 श्लोक 363 ।
197. याज्ञ०, 1/170; मनु०, 5/8-9; आपस्तम्ब०, 1/5/17, 22-24; गौतम०, 17/25;
198. वसिष्ठ०, 14/35 । विष्णु ध०सू०, 51/41; अत्रि०, 301 ।
199. मनु०, मणिप्रभा, हिन्दी अनुवाद, हरगोविन्द शास्त्री, पृ० 247 ।
200. याज्ञ०, 1/141 ।
201. सुरापाने सुराध्वज: । मनु०, 4/85 ।
202. यशस्तिलक, पृ० 430 ।
203. याज्ञ०, 1/33 ऋग्वेद, 1/116/7; 8/2/12 ।
204. याज्ञ०, 1/33 पर विश्वरूप ।
205. अपरार्क, पृ० 63 ।

206. याज्ञ०, 1/73। पी० वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-1, पृ० 430।

207. याज्ञ०, 3/227; 3/239; मनु० 11/94; वसिष्ठ, 1/20।

208. याज्ञ०, 2/253, 303; 255; मनु०, 11/90-91; महा०, शान्ति०, 35/20।

209. याज्ञ०, 3/256।

210. वसिष्ठ धर्मसुत्र, 21/1।

211. पी०वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-1, पृ० 431।

212. अपरार्क, पृ० 1070।

213. मैरेय-आसव, शर्करासव, माध्वीका, पुष्पासव तथा पलासव। रामायण, 5/11/5-36; सुरा, वारुणी, सौवीरक आदि सुरा के भेदों के लिए देखिए, रामायण, 1/53/2; 2/91/15; 6/12/40; 3/48/45।

214. ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ० 240।

215. मेगस्थनीज, पृ० 69।

216. स्ट्रैबो, 15/1/53।

217. वाटर्स, ह्वेनसांग, भाग-1, पृ० 178।

218. शुक्र०, 1/116-17।

219. रघुवंश, 4/42; कुमारसम्भव, 6/42; शिशुपालबध, 10/1-31; कर्पूरमंजरी, 4/4 के अनुसार ग्रीष्म में शीतल सुरा पाई जाती थी; कथासरित्सागर, 4/1, 6-10; नैषधीयचरित, 16/98 आदि।

220. कृत्यकल्पतरु, नियतकाल-काण्ड, पृ० 331।

221. गृहस्थरत्नाकर, पृ० 394।

222. मोहराजपराजय, अंक 4, पृ० 83।

223. पी०वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, हिन्दी अनुवाद, भाग-1, पृ० 431।

224. राजतरंगिणी, 8/1866।

225. कथासरित्सागर, 54/170; 15/2/124-126।

226. रघुवंश, 4/42।

227. सुश्रुत-संहिता, मद्यवर्ग, 45/32/36-38।

228. इलियट एण्ड डाउसन, हिस्ट्री ऑफ इण्डिया ऐज टोल्ड बाई हर ओन हिस्टोरियन्स, वालूम नं० 1, पृ० 7-8, 13, 20।

229. याज्ञ०, 1/110; मनुस्मृति, 3/119।

230. महा०, आदि०, 76/3।
231. रामजी उपाध्याय, पूर्व लिखित कृति, पृ० 812।
232. मोतीचन्द, प्राचीन भारतीय वेशभूषा, भूमिका, पृ० 2, 3।
233. याज्ञ०, 2/179।
234. अथर्ववेद, 14/2/66-67।
235. शतपथ ब्राह्मण, 5/3/5/21।
236. रामायण, अयोध्या०, 70/19।
237. वायु पु०, 80/34; ब्रह्माण्ड पु०, 3/16/32; आदि पु०, 47/46।
238. पतंजलि, महाभाष्य, 1/1/64, पृ० 596; 3/105, पृ० 183।
239. वाटर्स, आन युवानच्वांग, 1, पृ० 148।
240. वासुदेवशरण अग्रवाल, पाणिनि कालीन भारत, पृ० 272।
241. याज्ञ०, 1/186; मनु०, 5/120।
242. याज्ञ०, 1/29; मनु० 2/41।
243. ऋग्वेद, 10/136/2।
244. विष्णु पु०, 6/6/13-20; वायु पु०, 25/32।
245. शतपथ०, 1/1/1।
246. जटिलश्चीराजिनवासः। गौतम धर्मसूत्र, 3/34।
247. याज्ञ०, 2/180/246; मनु०,6/6।
248. मोतींचन्द, प्राचीन भारतीय वेशभूषा, पृ० 31।
249. वल्कलपर्णचीरप्रावरण···। विष्णु पु०, 4/24/96।
250. समराइच्चकहा, 8, पृ० 789।
251. कुमारसम्भव, 6/92।
252. हर्षचरित 1, पृ० 34, 145; कादम्बरी, पृ० 31/232।
253. हर्षचरित, 1 पृ०, 10।
254. याज्ञ०, 1/186।
255. वही, 2/180।
256. पत्नीमुदानेष्यन्कौशं वासः परिधापयति। श० ब्रा०, 5/2/1/8।
257. क्रिमिकोश विकार भूतं वासः कौशम्। हरिस्वामी। अमरकोश, 2/6/111।
258. पतंजलि महाभाष्य, 4/3/42, पृ० 234।
259. आचारांग सूत्र, 2/5/1/4।
260. मोतीचन्द्र, प्राचीन भारतीय वेश-भूषा, पृ० 27; ऋतुसंहार, 5/8।

261. याज्ञ०, 1/187 ।
262. मोतीचन्द, प्राचीन भारतीय वेशभूषा, भूमिका, पृ० 4 ।
263. तैत्तिरीय संहिता, 6/1/1/3 ।
264. आश्वलायन श्रौत०, 2/3/4/17 ।
265. वायु पु०, 8/34-37; ब्रह्म० पु०, 3/16, 32-35 ।
266. मौनियर विलियम्स, संस्कृत—इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० 331 ।
267. गौतम धर्मसूत्र, 7/97 ।
268. आदि पु०, 12/172 ।
269. अभिज्ञान शकुन्तल, 4/5 ।
270. हर्षचरित, पृ०, 217 ।
271. वासुदेवशरण अग्रवाल, हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० 76 ।
272. मोतीचन्द, प्राचीन भारतीय वेश-भूषा, भूमिका पृ० 9 ।
273. याज्ञ०, 1/186 ।
274. पतंजलि महाभाष्य, 2/1/69, पृ० 330 ।
275. प्रभुदयाल अग्निहोत्री, पतंजलि कालीन भारत पृ० 200 ।
276. याज्ञ०, 1/273; 3/157 ।
277. नाट्यशास्त्र, 21/117-124 ।
278. कादम्बरी, पृ० 93 ।
279. रामायण, 7/97/13, 2/12/98 ।
280. विज्ञानेश्वर, याज्ञ०, पृ० 607 ।
281. अत्रिस्मृति, 243; वाटर्स, ह्वेनसांग, भाग-1, पृ० 148 ।
282. वायु पु०, 12/13 ।
283. मत्स्य पु०, 59/13 ।
284. याज्ञ०, 1/131 ।
285. शुक्लाम्बरः शुचिः। स्वाध्याये चैव युक्तः··· । मनु०, 4/35 ।
286. याज्ञ०, 1/292 ।
287. विज्ञानेश्वर, याज्ञ०, 1/87 ।
288. आर्कियोलाजी ऑव गुजरात, अध्याय-4, पृ० 118 ।
289. जे० सी० सिकदार, स्टडीज इन दी भगवती सूत्र, पृ० 241 ।
290. याज्ञ०, 1/133 ।
291. अमरकोश, 2/6/730, कुण्डलं कर्ण वेष्टम् ।
292. मनु०, 4/36 ।
293. प्रभुदयाल अग्निहोत्री, पतंजलि कालीन भारत, पृ० 204 ।

294. स्फुरन्मकरकुण्डलम् । विष्णु पु०, 5/18/41; मकरसदृशे कुण्डले सन्दधानः । ब्रह्माण्ड पु०, 3/42/20 । कुण्डभूषिताः; वायु पु०, 45/45 ।
295. मत्स्य पु०, 27/17 ।
296. सकुण्डलागदापीडा । वायु पु०, 70/62; ब्रह्माण्ड पु०, 3/8/68 ।
297. वासुदेवशरण अग्रवाल, हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, फलक 20, चित्र 78 ।
298. मनु०, 4/36; आदि पु०, 33/124, 9/190, 14/11 ; 4/177; 15/189 ।
299. याज्ञ०, 1/365 ।
300. ऋग्वेद, 5/19/3; अथर्ववेद, 5/143; महा० अनु०, 13/43 ।
301. याज्ञ०, 1/292 ।
302. प्रभुदयाल अग्निहोत्री, पतंजलि कालीन भारत, पृ० 204 ।
303. वनमाला विभूषितो । विष्णु पु०, 5/9/4 ।
304. याज्ञ०, 1/182 ।
305. रामायण, युद्धकाण्ड, 116/31 ।
306. वा० रामायण, 1/58/11; महाभारत, 13/48/32-33 ।
307. याज्ञ०, 1/58, 82 ।
308. नागानन्द, 2/13; रत्नावली, 1/17 ।
309. ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ० 244-45 ।
310. रामजी उपाध्याय, प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका, पृ० 901 ।
311. याज्ञ०, 1/330 ।
312. रामजी उपाध्याय, पूर्वलिखित कृति, पृ० 970, 908 ।
313. पुरुषोत्तम लाल भार्गव, इण्डिया इन दी वैदिक एज, पृ० 250 ।
314. एच० सी० चकलादार, सोशल लाइफ इन ऐन्सियन्ट इण्डिया, स्टडीज इन कामसूत्र, पृ० 165 ।
315. याज्ञ०, 2/292 ।
316. वा० रामायण, वा० 32/13 ।
317. रामा०, अयो०, 3/17 ।
318. महा०, वनपर्व, 229/8; सभापर्व, 20/48 ।
319. रामा०, बाल०, 13/7 ।
320. बुद्धचरित, 2/30 ।

321. जे० सी० जैन, लाइफ इन ऐन्सियन्ट इण्डिया पृ० 163-66, 241।

322. अर्थशास्त्र, प्रकरण 43, अध्याय 27, वाचस्पति गैरोला, पृ० 259-260; आदि० पु०, 12/188; 14/192; विष्णु पु०, 5/7/13; भागवत पु०, 10/10/33; महा पु०, 14/97-160।

323. राजतरंगिणी, 4/270; रघुवंश, 19/36।

324. याज्ञ०, 3/116, 330।

325. ऋग्वेद, 1/161/13।

326. शतपथ ब्राह्मण, 13/1/5/6; आप० श्रौ० सू०, 6/13-16।

327. एच० सी० चकलादार, सोशल लाइफ इन ऐन्सियन्ट इण्डिया, स्टडीज इन कामसूत्र, पृ० 165।

328. रामायण, अयोध्या का०, 2/34; 12/78।

329. महा०, सभापर्व, 52/36; अर्थशास्त्र, 2/27।

330. महाराज्ञीगुणनगायन्तो वल्लकीसवनै:। ब्रह्माण्ड पु०, 4/33/16।

331. आदिपुराण, 45/183।

332. मानसोल्लास, 4/16/1790-96।

333. ए पेजेन्ट ऑफ इन्डिया, पृ० 126।

334. रालिन्सन, एच० जी०, इन्टरकोर्स बिटवीन इण्डिया एण्ड द वेस्टर्न वर्ड, पृ० 117।

335. प्रतिज्ञायौगन्धरायण, अंक 2।

336. याज्ञ०, 3/115।

337. वेद में नृत्य, गीत और वादित्र शिल्प हैं। कोषी० बा०, 29/5।

338. रामजी उपाध्याय, पूर्व लिखित कृति, पृ० 924।

339. ऋग्वेद, 1/85/10।

340. वाजसनेयी सं०, 30/19; बृहदारण्यक उप०, 2/4/9; 4/5/10।

341. नाड़ी के लिए ऋग्वेद, 10/135/7; तृणव के लिए तै० सं०, 6/1/4/1; काठक सं०, 23/4; पंचविंश ब्राह्मण, 6/5/13; वेणु के लिए ऋग्वेद, 8/55/3; तै० सं०, 5/1/14 तथा अथर्ववेद, 1/28/3।

342. ऋग्वेद, 1/28/5; वकुर के लिए ऋग्वेद, 1/117/21; शेष के लिए, वही, 8/69/9।

343. एच० सी० चकलादार, सोशल लाइफ इन ऐन्सियन्ट इन्डिया, स्टडीज इन कामसूत्र, पृ० 165।

344. महा०, द्रोण०, 38/31; भगवद्गीता, 1/13; महा०, भीष्म०, 95/41।
345. महा० सभापर्व, 24/5; 19/15; द्रोणपर्व, 58/5।
346. रामायण, अयोध्या काण्ड, 14/40; 15/13।
347. सुन्दरकाण्ड, 6/12, अयोध्याकाण्ड, 10/13।
348. आर० एल० मेहता, प्री बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० 314-316।
349. गुत्तिल जातक 243; बुद्धचरित, सर्ग 5।
350. रघुवंश, 3/19, 8/41, 19/35, 13/40, 19/14, 10/76; 7/63, 7/41; कुमारसम्भव, 6/40।
351. अलतेकर, गुप्तकालीन मुद्राएं पृ० 50-51।
352. वाटर्स, ह्वेनसांग, भाग-1, पृ० 152।
353. मत्स्यपुराण, 154/463; विष्णु पु०, 4/14/28; वायु पु०, 96/145; ब्रह्माण्ड पु०, 3/71/146-147।
354. मित्रा, ऐंटिक्विटीज ऑव ओड़िसा, प्लेट 30, नं० 167/74।
355. याज्ञ०, 2/199-202।
356. मृगयाक्ष···परिहरेत। विष्णुस्मृति, 3/50; मनु, 7/50।
357. अर्थशास्त्र, शामशास्त्री, सम्पादित, पृ० 399।
358. मत्स्यपुराण, 216/8।
359. दूतस्थानमिति बन्दिभिः। हर्षचरित, सर्ग-3।
360. एष एव विधिर्ज्ञेयः प्राणीद्यूते समाह्वये॥ याज्ञ०, 2/203।
361. रामजी उपाध्याय, पूर्व लिखित कृति, पृ० 958।
362. ऋग्वेद, 5/37/7; 8/41/44; 8/80/8।
363. वाज० संहिता, 16/27; अथर्ववेद, 10/1/26।
364. महा०, आदि०, 126/30।
365. आर० एल० मेहता, प्री-बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० 356।
366. अर्थशास्त्र, 1/12।
367. भागवत, पु०, 10/44, 10/43/34; विष्णु पु०, 5/20, 5/98।
368. जे०सी० जैन, लाइफ इन ऐन्सियन्ट इण्डिया, पृ० 240।

369. याज्ञ०, 1/336।

370. अथर्ववेद, 8/8/8।

371. शतपथ ब्राह्मण, 13/4/3/11।

372. रामजी उपाध्याय, पूर्व लिखित, कृति, पृ० 955।

373. अर्थशास्त्र के इन प्रयोगों के पूर्ण विवरण के लिए देखिए, 14वें अधिकरण में प्रलम्भन तथा भैषज्य-मंत्र प्रयोग-प्रकरण।

374. दीघनिकाय, 1/1; महासील, 1/11 तथा केवट्टसुत्त।

375. कामसूत्र की टीका, 1/3/16 पर।

376. जे०सी०, जैन, लाइफ इन ऐंसियन्ट इण्डिया, पृ० 226-234।

377. वाटर्स, 1, पृ० 314।

378. हर्षचरित, पृ० 33।

379. ऐन्द्रजालिकोनाम अंक:, रत्नावली, अंक 4।

+●——●+

चतुर्थ अध्याय

शिक्षा–व्यवस्था

प्राचीन-भारतीय-समाज में चरित्र-निर्माण, प्रतिभाशाली-व्यक्तित्व, संस्कृति की रक्षा तथा सामाजिक एवं धार्मिक-कर्तव्यों को सम्पन्न करने के लिए शिक्षा को समाज का अनिवार्य अंग माना जाता था।[1] शिक्षा का स्वरूप अत्यन्त सुव्यवस्थित और सुनियोजित था। इसमें व्यक्ति के सर्वांगीण उन्नति के लिए शिक्षा की व्यवस्था थी। मनुष्य और समाज का बौद्धिक और आध्यात्मिक-उत्कर्ष शिक्षा के ही माध्यम से सम्भव माना जाता रहा है। विद्या से मुक्ति प्राप्त होती है तथा मनुष्य शिल्प में निपुणता प्राप्त करता है।[2]

शिक्षा का महत्व

प्राचीन समय में शिक्षा प्रकाश का स्रोत मानी जाती थी, जो जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में सच्चा मार्ग प्रदर्शन करती है। ज्ञान मनुष्य का तीसरा नेत्र है, जो उसे समस्त तत्वों के मूल को समझने में समर्थ बनाता है और उसे सही कार्य में प्रवृत्त करता है।[3] ऋग्वेद में विद्या को मनुष्य की श्रेष्ठता का आधार माना गया है।[4] विद्या के महत्व को स्वीकार करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि नैष्ठिक-ब्रह्मचारी आचार्य के समीप रहकर शरीर की साधना करते हुए और विशेष प्रयत्नपूर्वक इन्द्रियों पर विजय पाकर मोक्ष प्राप्त करता है।[5] उनके अनुसार विभिन्न विषयों का दैनिक अध्ययन अभीष्ट फलदायी है।[6] इसी प्रकार मनु के अनुसार वेद-शास्त्र आदि के तत्वों का ज्ञाता किसी भी आश्रम में क्यों न हो, वह इस लोक में रहते हुए ही मुक्ति प्राप्त कर लेता है।[7] वेदाध्ययन से सभी पापों से छुटकारा मिलता है।[8] श्रुति और स्मृति ब्राह्मणों की आंखें हैं। एक के बिना वह काना तथा दोनों के बिना अन्धा है।[9] महाभारत के अनुसार विद्या के समान दूसरा कोई नेत्र नहीं होता।[10] इस प्रकार विद्या असत् से सत्य की ओर तथा तम से प्रकाश की ओर अग्रसर करती है। यह मनुष्य के अवगुणों और अमानवीय (पाशविक) वृत्तियों को मिटाकर उसे मानव बनाने का प्रयत्न करती है।

शिक्षा से सुधार

शिक्षा से मस्तिष्क और बुद्धि प्रखर होती है। गुरु शिष्य का उपनयन-संस्कार करके उसे महाव्यहृतियों के साथ वेद और शौच के नियमों की शिक्षा देता था।[11] ब्रह्मचारी के लिए मधु, मांस, लेप, अंजन, जूठा भोजन, स्त्री, कठोर-वचन, जीव-हिंसा,

सूर्य-दर्शन (उदय और अस्त के समय)। अश्लीलता और असत्य भाषण तथा दोषन्वेषण आदि निषिद्ध थे।[12] ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्याश्रम में रहकर कठिन तपस्या से विद्या प्राप्त करता था। जिसके आचरण में विद्या और तपस्या दोनों हो, वही श्रेष्ठ माना जाता था।[13] अत्रि के अनुसार ब्राह्मण जन्म से ब्राह्मण होता है। जब उसके संस्कार सम्पूर्ण होते हैं तब वह द्विज कहा जाता है और विद्या प्राप्त कर लेने पर विप्र कहा जाता है। इन तीनों के समन्वय से वह "श्रोत्रिय" कहा जाता है, जो वेदों एवं शास्त्रों को पढ़ता है तथा उनका पालन करता है उसके वचन पवित्र करने वाले होते हैं।[14] शिक्षा ही हमें मनुष्य बनाती है और इसके बिना जीवन व्यर्थ और सारहीन है।[15] इससे स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय विचारक विद्या या शिक्षा को मनुष्य में मानवीय-संस्कारों के विकास के लिए आवश्यक मानते थे।

शिक्षा के विभिन्न कार्य

शिक्षा से निकृष्ट भावना दूर होती है। विरोधी दृष्टिकोण को ठीक से समझने के लिए मनुष्य को विवेकशील बनाती है।[16] इससे बुद्धि प्रखर होती है, बोध-क्षमता विकसित होती है और विवेक पुष्ट होता है। फलस्वरूप मनुष्य त्रुटि करने से बचता है।[17] याज्ञवल्क्य के अनुसार यज्ञ, तपस्या और शुभकार्यों, उपनयन आदि का अवबोधक होने से ही वेद द्विजातियों के लिए उपकारक होता है।[18] मनुष्य का शरीर और मन शिक्षा से ही परिष्कृत और पवित्र होता है, इसलिए वह अप्रतिम है।[19] इसके अतिरिक्त लौकिक सुखों की प्राप्ति भी विद्या के माध्यम से ही सम्भव मानी गयी है।[20]

शिक्षा से शारीरिक उन्नति

ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मचारी से जितेन्द्रियता अपेक्षित थी। ब्रह्मचारी प्राणायाम, सूर्यापस्थान एवं गायत्री का जप प्रतिदिन करता था।[21] इनसे उसका मस्तिष्क एवं शरीर स्वस्थ रहता था। प्राचीन भारतीय विचारक विद्यार्थियों को स्वस्थ बनाने पर इसलिए बल देते थे क्योंकि इससे न केवल सांसारिक अपितु धार्मिक-कार्यों में भी सफलता मिलती है।[22]

शिक्षा का अर्थ

शिक्षा, अभ्यास, विशेष-शक्ति, इच्छा-विशेष तथा सहन-शक्ति की इच्छा (सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय आदि के द्वन्द्वात्मक भावों में सामंजस्य स्थापित करने, इनको गम्भीरतापूर्वक समझाने) आदि के अर्थ में प्रयुक्त होती है।[23] शिक्षा को अनुशासन का दूसरा नाम कह सकते हैं। शिक्षा एक अर्थ में इसी के महत्व को प्रतिपादित करती है। दूसरे अर्थ में यह विद्या के क्षेत्र में पारगामिता प्रदान करती है। पराकाष्ठा के लिए शिक्षा के दोनों ही स्वरूप अपेक्षित हैं। याज्ञवल्क्य एवं मनु आदि इन्हीं दोनों अर्थों को लेकर शैक्षिक कार्यों को विषय में निर्देश प्रदान करते हैं।[24] अलतेकर ने भी प्राचीन काल की शिक्षा को "व्यापक" एवं "संकुचित" दो अर्थों में स्वीकार किया

है ।[25] व्यापक-अर्थ से उनका अभिप्राय शिक्षा से आत्म-संशोधन एवं आत्म-विकास की प्रवृत्ति से है तथा "संकुचित" अर्थ में शिक्षा का अभिप्राय शिक्षक-अवधि में विद्यार्थी के प्रशिक्षण एवं निर्देश से है । आपस्तम्ब धर्मसूत्र में कहा गया है कि स्नातक को प्रतिवर्ष विद्यालय में दो मास रहकर, अपनी शिक्षा की पुनरावृत्ति करनी चाहिए जिससे अर्जित-ज्ञान विलुप्त न हो ।[26] याज्ञवल्क्य ने अर्जित-ज्ञान का विस्मरण पाप माना है ।[27]

प्राचीन भारतीय विचारक शिक्षा का अर्थ केवल पुस्तकीय-ज्ञान नहीं मानते । पुस्तकीय-ज्ञान के साथ-साथ शिक्षा व्यक्ति में अन्तर्दृष्टि, अन्तर्ज्योति, अन्तर्ज्ञान और संस्कार उत्पन्न करती है । फलतः व्यक्ति जीवनयापन में आत्म-निर्भर होकर समाज का एक अच्छा नागरिक बनता है ।[28]

शिक्षा का उद्देश्य एवं आदर्श

1. मनुष्य की धार्मिक वृत्तियों का उत्थान

प्राचीन-भारतीय-शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य था धार्मिक-भावना का जागरण । "धर्म" शब्द से सब गुणों के सार का संकलन अवगुण्ठित है । संस्कार, व्रत, दैनिक संध्या-पूजन तथा धार्मिक-उत्सव विद्यार्थियों में धार्मिक-भाव पैदा करते थे । व्रत के परिपालन से संयमित मनुष्य को निश्चय ही अपने उस गूढ़ स्वरूप का ज्ञान होता है, जो उसके आत्मविश्वास का कारण होता है ।[29] याज्ञवल्क्य के अनुसार स्नान, अद्वैत मंत्र द्वारा मार्जन, प्राणायाम, सूर्योपस्थान तथा गायत्री का जप करना ब्रह्मचारी का कर्तव्य था ।[30] मनु का मन्तव्य है कि शौच, पवित्रता, आचार, स्नान-क्रिया आदि अग्नि-कार्य और सन्ध्योपासन ब्रह्मचारी का धर्म था ।[31] धर्म के परिपालन में उसे प्रमाद न करने का निर्देश था ।[32]

उपरियुक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि विद्यार्थियों के जीवन में भक्ति और धर्म की भावना का आरोपण शिक्षा के माध्यम से होता रहा है । विद्यार्थियों में भक्ति और धार्मिक भावना का विकास करना शिक्षा का पहला एवं मुख्य उद्देश्य था । प्रत्येक विद्यार्थी को समाज का एक योग्य तथा धर्मनिष्ठ सदस्य बनाना अनिवार्य था । भारतीय परम्परा में समस्त मानवीय गुण धार्मिक सन्दर्भ में देखे गये हैं । यह परम्परा इस प्रकार इनके वैयक्तिक-विकास के माध्यम से समाज को आदर्श बनाने के प्रयत्न में थी ।

2. चरित्र-निर्माण

शिक्षा का दूसरा मुख्य उद्देश्य चरित्र-निर्माण था । गुरु-उपनयन के अनन्तर वेद तथा शौच के नियम की शिक्षा से विद्यार्थियों का चारित्रिक-उत्थान करता था ।[33] चरित्र एवं आचरण का महत्व इतना अधिक था कि वेद का मर्मज्ञ भी सच्चरित्रता के अभाव में हीन था । इसके विपरीत केवल गायत्री-मंत्र का ज्ञाता सच्चरित्रता के कारण

पूज्य था ।[34] महाभारत के अनुसार चरित्रवान ही विद्वान् है ।[35] अलतेकर इस प्रवृत्ति की तुलना लॉक के विचार से करते हैं, जो इस मत का पोषक है कि केवल वैदिक-विकास इतने महत्व का नहीं है जितना चारित्रिक-विकास है ।[36]

3. व्यक्तित्व का उत्थान

शिक्षा के द्वारा ही मनुष्य के व्यक्तित्व का उत्कर्ष होता था । अन्यान्य प्रकार के विधि-विधानों से मनुष्य का जीवन संयमित और सुव्यवस्थित होता था ।[37] इससे उसके व्यक्तित्व का विकास होता था । स्नातक को समाज में आदर की दृष्टि से देखा जाता था । उपनयन-संस्कार उसमें आत्मविश्वास की भावना पैदा करता था । इस समय बताया जाता था कि दैविक-शक्तियां भी कार्य की सफलता में सहयोग देंगी, यदि अपने कर्तव्य का पालन किया जाय । सम्भवत: यही कारण था कि धनी एवं निर्धन सभी विद्यार्थी समान रूप से भिक्षा मांगते थे ।[38] इससे पारस्परिक भेद नहीं उत्पन्न होने पाता था और उनमें विनय का भाव उत्पन्न होता था ।

विवेक और न्याय का विकास विद्यार्थियों में धर्म, दर्शन, तर्क, काव्य और साहित्य के विषयों के अध्ययन से होता था । ये विषय वाद-विवादों से भरे पड़े हैं और विद्यार्थियों को दोनों पक्षों को समझना पड़ता था । शास्त्रार्थ में अपना मत निर्धारित करने वाले के लिए, उसका प्रतिपादन करना पड़ता था तथा अन्य मत का खंडन भी करना होता था ।[39] अत: व्यक्तित्व के उत्थान में इन सभी तत्वों का सक्रिय योग रहा है ।

4. सामाजिक-कर्तव्यों के पालन का आग्रह

सामाजिक-कर्तव्यों का परिपालन करना शिक्षा का चौथा उद्देश्य था । स्नातक के रूप में वह अपने ही हित का ध्यान नहीं रखता था, बल्कि वह अन्यान्य बालकों को नि:शुल्क शिक्षा भी प्रदान करता था । याज्ञवल्क्य का कथन है कि स्नातक-ब्राह्मण (वेदज्ञ), सांप, क्षत्रिय (या राजा) तथा अपनी आत्मा का अपमान नहीं करता था एवं किसी को दु:ख नहीं देता था । सुख-सम्पत्ति की आकांक्षा रखता था । कर्म, मन और वचन से यत्नपूर्वक धर्म का आचरण करता था और धर्म-विहित, लोक-विरुद्ध-कर्म और जिस कर्म से स्वर्ग की प्राप्ति न हो उसे नहीं करता था ।[40] माता, पिता, अतिथि, भाई, सुहागिन स्त्री, सम्बन्धी, मामा, वृद्ध, बालक, रोगी, आचार्य, वैद्य, आश्रितजन (पिता एवं माता पक्ष के), बान्धव, ऋत्विज, पुरोहित, पुत्र, पत्नी, दास, सहोदर, भाइयों आदि के साथ विवाद न करके गृहस्थ सभी लोकों को प्राप्त कर सकता है ।[41] इस प्रकार की शिक्षा स्नातकों को देकर समाज-कल्याण की भावना को विकसित किया जाता था । उसकी सम्पत्ति का उपभोग केवल परिवार के सदस्य ही नहीं करते थे वरन् अतिथि-सत्कार एवं दीनों को इससे सहायता भी दी जाती थी ।

5. सांस्कृतिक-जीवन का उत्थान

शिक्षा से सांस्कृतिक-जीवन का विकास होता है। शिक्षा के द्वारा ही भूत-कालीन संस्कृति वर्तमान में जीवित है तथा पूर्व से चली आती हुई परम्पराएं जीवन्त होती हैं। उदीयमान संतति को संस्कृति का अध्ययन करवा कर आने वाली पीढ़ियों के लिए ज्ञान-प्रसार की भली-भांति व्यवस्था की जाती थी।[42] वैदिक-साहित्य की शिक्षा और उसका प्रसार तत्कालीन शिक्षा का प्रधान आधार था। वेदों को कठस्थ करना उन्हें मस्तिष्क में सुरक्षित रखना तद्‌युगीन विद्यार्थियों का प्रधान कर्तव्य था। अलतेकर के अनुसार, व्यवसाय का प्रत्येक व्यक्ति अपने पुत्र को अपने व्यवसाय की शिक्षा देता था।[43] इस प्रकार अनेक पीढ़ियों का अनुभव नयी संतति को प्रारम्भ में सुलभ हो जाता था। वैदिक-साहित्य के संरक्षण का उत्तरदायित्व सम्पूर्ण आर्य जाति पर था। प्रत्येक आर्य को इस पवित्र साहित्य-निधि का कोई न कोई अंश अवश्य याद रखना पड़ता था। ब्राह्मण के लिए सम्पूर्ण वेदों को कण्ठस्थ करना तथा भावी संतति को कण्ठस्थ कराना धर्म माना गया था।[44]

सांस्कृतिक-जीवन के विकास के लिए त्रिऋण की अनिवार्यता मानी गई है।[45] प्रत्येक व्यक्ति तीनों ऋणों के साथ जन्म ग्रहण करता है। देवऋण, ऋषि-ऋण और पितृ-ऋण से मनुष्य को मुक्त होना अनिवार्य था। यज्ञ द्वारा देव-ऋण से मुक्ति मिलती थी। अध्ययन से ऋषि-ऋण से छुटकारा मिलता था। विवाह एवं संतति उत्पादन से पितृ-ऋण से मुक्ति मिलती थी। इसके अतिरिक्त माता, पिता, वृद्धों का आदर, स्वाध्याय तथा ऋषि-तर्पण भी सांस्कृतिक-उत्थान के द्योतक थे।

शैक्षिक-संस्कार

विद्यारम्भ—अक्षर और वर्णमाला की शिक्षा का प्रारम्भ विद्यारम्भ-संस्कार से होता है। इस संस्कार के बाद ही शिक्षा को आरम्भ किया जाता था। विश्वामित्र के अनुसार यह संस्कार बालक की आयु के पांचवें वर्ष में होता था।[46] यदि किसी अनिवार्य कारण से इसे स्थगित करना पड़ जाय तो, उपनयन-संस्कार के पूर्व किसी समय इसे करना आवश्यक था।[47]

विद्यारम्भ में बालक गुरू की वन्दना करता और उनके प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त करता था। कौटिल्य के मत के चौल-कर्म के साथ लिपि का ज्ञान कराया जाता था।[48] कालिदास ने चौल-क्रिया के साथ लिपिज्ञान का भी उल्लेख किया है।[49]

चीनी यात्री ह्वेनसांग ने बालकों की आरम्भिक शिक्षा का सिद्धमचंग से शुभारम्भ बताया है। "सिद्धम" सफलता का परिचायक था। "सिद्धम" की समाप्ति के पश्चात् सातवें वर्ष पंच-विद्याओं का अध्ययन कराया जाता था।[50] ईत्सिंग ने भी बालकों की प्रारम्भिक शिक्षा "सिद्धरस्तु" नामक पुस्तक से मानी है, जिसमें वर्णमाला, स्वर और व्यंजन का विनियोग था।[51]

उपनयन-संस्कार—विद्यारम्भ के बाद दूसरा शैक्षणिक-संस्कार उपनयन था। उपनयन से ही वास्तविक शिक्षा का आरम्भ मान सकते हैं। इसमें विद्यार्थियों को गुरु-आश्रम में रहकर शिक्षा अर्जित करनी होती थी। उपनयन के बाद ही बालक ब्रह्मचारी बनकर गुरु के घर रहकर अध्ययन करता था। गुरु-आश्रम में उसे गुरु-सुश्रूषा, शौच तथा आचार-व्रतों का पालन करते हुए सावधानी के साथ स्थिर बुद्धि से वेदाध्ययन करना होता था।[52] ब्रह्मचारी पलाश का दण्ड, कृष्णमृगचर्म, यज्ञोपवीत और मूंज की मेखला धारण करता था। जीवन-निर्वाह के लिए ब्राह्मणों के घर से भिक्षा मांगकर गुरु की आज्ञा से अन्न का सत्कार करते हुए मौन होकर भोजन ग्रहण करता था।[53]

याज्ञवल्क्य-स्मृति ब्राह्मण का उपनयन जन्म से आठवें वर्ष में, क्षत्रिय का 11वें वर्ष में तथा वैश्य का बारहवें वर्ष में करने का निर्देश देती है।[54] उपनयन-संस्कार के बाद गुरु उसे महाव्यवहृति-मन्त्रों को बताकर वेदों, शौच तथा आचार की शिक्षा दे। इसी प्रकार गुरु नित्य-कर्म, शौच, स्नान, सन्ध्या, गायत्री, अग्निकार्य, प्राणायाम, स्वाध्याय आदि की भी शिक्षा देते थे। शिष्य भी समाहित-चित्त से गुरु की उपासना करता हुआ स्वाध्याय करता था और गुरु द्वारा बुलाये जाने पर अध्ययन के लिए उपस्थित होता था। शिष्य गुरु से कुछ भी छिपाते नहीं थे। याज्ञवल्क्य के अनुसार गुरु एवं शिष्य दोनों ही को मन, वचन और कर्म से एक-दूसरे का हित करना चाहिए।[55]

गुप्तकाल में भी गुरुकुल-शिक्षा प्रचलित थी। ब्राह्मण आचार्यों के निवास विद्यार्जन के प्रधान केन्द्र थे। कालिदास के ग्रंथों में अनेक ऐसे आश्रमों का उल्लेख मिलता है जहां बौद्धिक-उत्कर्ष के निमित्त लोग जाते थे। बाण ने भी लिखा है कि वह अनेक वर्षों तक गुरु आश्रम में रहकर शिक्षित हुआ था।[56] अलबीरूनी के अनु-सार शिष्य दिन-रात गुरु की सेवा करते थे।[57] प्राचीन भारत में गुरुकुल-शिक्षा-व्यवस्था प्राय: प्रत्येक युग में प्रचलित थी।[58]

वेदारम्भ-संस्कार—उपनयन के पश्चात् ही वेदारम्भ-संस्कार किया जाता था। याज्ञवल्क्य का कथन है कि वेदाध्ययन का आरम्भ वनस्पतियों के उग आने पर श्रावण महीने में पूर्णमासी को अथवा श्रवण-नक्षत्र से युक्त दिन को अथवा हस्त-नक्षत्र से युक्त श्रावण-पंचमी को करना चाहिए।[59] इस अवसर पर गुरु अग्नि के पश्चिम विद्यार्थियों को बैठाता था। देवताओं को आहुतियां दी जाती थीं। इसके अतिरिक्त ब्रह्म, छन्दस तथा प्रजापति के लिए होम किये जाते थे। तदोपरान्त ब्राह्मण तथा पुरोहित को दक्षिणा देकर वेद का अध्यापन आरम्भ किया जाता था।[60]

समावर्त्तन-संस्कार—समावर्त्तन-संस्कार अन्तिम शैक्षणिक-संस्कार है। इससे शिक्षा एवं ब्रह्मचारी की स्थिति का अन्त होता है। समावर्त्तन का अर्थ है वेदाध्ययन के पश्चात् घर की ओर पुनः प्रस्थान। इस संस्कार के लिए कोई निश्चित आयु

निर्धारित नहीं है। विद्यार्थी-जीवन की समाप्ति जीवन का एक महत्वपूर्ण अवसर था। उसी समय विद्यार्थी को जीवन के दो मार्गों में से किसी एक का चुनाव करना पड़ता था---एक था प्रवृत्ति मार्ग, जिसमें विवाह कर सम्पूर्ण उत्तरदायित्वों को स्वीकार करते हुए व्यस्त सांसारिक-जीवन में प्रवेश करना। दूसरा मार्ग था निवृत्ति मार्ग। इसे स्वीकार करने वाले सांसारिक-बंधनों से दूर रहकर मानसिक तथा शारीरिक तपश्चर्या का जीवन व्यतीत करते थे। जो विद्यार्थी प्रथम मार्ग चुनते थे, वे "उप-कुर्वाण" और दूसरा मार्ग ग्रहण करने वाले "नैष्ठिक" कहलाते थे।[61]

याज्ञवल्क्य का कथन है कि वेद का अध्ययन या व्रतों को समाप्त कर अथवा वेदाध्ययन एवं व्रत दोनों ही पूरा करके, गुरु को यथाशक्ति दक्षिणा देकर उनकी आज्ञा से स्नान समावर्तन किया जाता था।[62] मनु के अनुसार गुरु की अनुमति प्राप्त कर समावर्तन-संस्कार करना चाहिए तथा उसके पश्चात् सवर्ण तथा लक्षणान्वित कन्या से विवाह करना चाहिए।[63] इससे स्पष्ट है कि यह संस्कार गृहस्थाश्रम में प्रवेश का द्वार माना जाता रहा है। इस संस्कार के लिए निर्धारित तिथि पर मध्याह्न के समय ब्रह्मचारी गुरु को प्रणाम करता था तथा समिधा द्वारा वैदिक-अग्नि को अन्तिम आहुति देता था। इस स्थान पर जल से भरे आठ कलश रखे जाते थे जो इस बात के प्रतीक थे कि समस्त दिशाओं से ब्रह्मचारी पर यश तथा सम्मान की वर्षा हो रही है। ब्रह्मचारी इन कलशों के जल से स्नान करते हुए देवगणों से अपनी समृद्धि, ऐश्वर्य पवित्रता तथा तेज के लिए प्रार्थना करता था। यह स्नान गृहस्थ-जीवन की शान्ति का भी परिचायक था। स्नान के बाद ब्रह्मचारी शुभ्र-वस्त्र, आभूषण एवं पुष्प आदि धारण करता था। गुरु का आशीर्वाद प्राप्त करने के बाद यह संस्कार समाप्त हो जाता था।[64] तदनन्तर ब्रह्मचारी गुरुकुल से स्वगृह वापस जाता था।

गुरु

प्राचीन काल से ही भारतीय समाज में गुरु अथवा आचार्य का स्थान अत्यन्त समादृत था। वह व्यक्ति द्वारा समाज को शिक्षित ही नहीं करता था बल्कि बौद्धिक और आध्यात्मिक-ज्ञान में उन्हें पारंगत भी करता था। वह छात्र को अज्ञान के तिमिर से ज्ञान-रूपी सूर्य के प्रकाश में लाता था। वस्तुतः विद्यार्थी अज्ञानरूपी दीपक से आवृत रहता है। गुरु दीपक के उस आवरण को हटाकर ज्ञान की किरणें फैला देता है।[65] गुरु पूज्य होता था। उसे 'आचार्य देवो भव' की संज्ञा से विभूषित किया जाता था।[66] याज्ञवल्क्य ने भी गुरु की महत्ता का उल्लेख किया है। उनके अनुसार गुरु वह होता है जो उपनयन तक की क्रियायें कराके ब्रह्मचारी को वेद की शिक्षा देता है। मात्र उपनयन-संस्कार करके वेद की शिक्षा देने वाले को आचार्य कहते थे।[67] वेद के एक भाग या अंग की शिक्षा देने वाले को उपाध्याय और यज्ञ-कर्म कराने वाले को ऋत्विज् कहते थे। ये सभी क्रमानुसार पूजनीय थे।[68]

महाभारत से स्पष्ट है कि कृष्ण और बलराम ने गुरु सान्दीपनि से षड्अङ्ग-वेद, लेख्य, गणित, गान्धर्ववेद, वैद्यक, हस्तिशिक्षा, अश्वशिक्षा, धनुर्वेद, आदि पढ़ा था। सन्दीपनि धनुर्वेद के श्रेष्ठ आचार्य थे।[69] कृष्ण ने गुरु सान्दीपनि के पुत्र को गुरु को वापस लाकर दिया और इस प्रकार उन्हें प्रसन्न किया।[70]

कालिदास ने यह कहा है कि गुरु विद्वान् ही नहीं होता बल्कि शिष्ट-क्रिया-युक्त, साधु-प्रकृति वाला पटु शिक्षक है।[71] महाभारत के अनुसार गुरु को विनयी, विनम्र, निष्पक्ष, शान्तचित्त, नैष्ठिक-ब्रह्मचारी, विद्या-पारंगत आदि गुण से युक्त होना चाहिए।[72] अध्यापक को आजन्म विद्याध्ययन करना चाहिए, जिससे उसके ज्ञान का कोष बढ़ता रहे।

गुरु एवं उनके परिवार की भोजनादि सम्बन्धी दैनिक आवश्यकताएं शिष्यों द्वारा लाई गई भिक्षा से होती थी। अध्यापक को वेतन नहीं मिलता था। शिक्षा समाप्त होने पर विद्यार्थियों द्वारा तथा त्यौहार एवं उत्सवों पर गांव वालों से जो भी दान-दक्षिणा मिलती थी उसी पर वे निर्भर थे। इसके अतिरिक्त समृद्ध लोग अपने बालकों के पढ़ाये जाने के उपलक्ष्य में विद्याध्ययन के अन्त में जो धनराशि उन्हें देते थे वह भी उनकी जीविका का सहारा था। फलतः इनकी कोई निश्चित आय नहीं थी।[73] एक तरह से इसे हम 'आकाशवृत्ति' ही कह सकते हैं।

याज्ञवल्क्य के अनुसार तद्युगीन समाज में पैसा लेकर पढ़ाने वाले अध्यापक तथा शिष्य दोनों हेय-दृष्टि से देखे जाते थे।[74] मनु[75] एवं महाभारत[76] की भी यही सम्मति है। विद्याध्ययन के बाद जो कुछ गुरु को दिया जाता था वह उसके विद्या देने की फीस नहीं थी, इसके पीछे यह भावना थी कि ज्ञानदान का भुगतान पैसे में नहीं किया जा सकता। इसका एक और मन्तव्य यह था कि परिवार की आर्थिक क्षमता पर बालक की शिक्षा निर्भर नहीं थी।[77] यह एक आदर्श था और इसका व्यवहारतः पालन भी होता था। गुरु-शिष्य अथवा उसके अभिभावक से जो दक्षिणा प्राप्त करते थे आधुनिक अर्थ में उसे ही उनके श्रम का पारिश्रमिक कहा जा सकता है। पर इसे वेतन कहना भ्रामक होगा। सम्भव है कि कुछ गुरु जो राजकुमारों एवं अभिजात-वर्ग के बच्चों को विद्याध्ययन कराते थे, वे अधिकांशतः सामान्य गुरुओं की तुलना में आर्थिक-दृष्टि से अधिक समृद्ध रहे हों।[78]

गुरु और शिष्य का सम्बन्ध

गुरु के प्रति शिष्य का भाव पावन और उदात्त था। इसी प्रकार गुरु का शिष्य के प्रति भाव स्नेह और सम्मानयुक्त होता था। गुरु मेधावी छात्रों को शिक्षा देने में आनन्द का अनुभव करते थे। दोनों का सम्बन्ध पिता और पुत्र जैसा था।[79] याज्ञवल्क्य ने गुरु को माता के कोटि में रखकर, दोनों को पूज्य बताया है।[80] इस प्रकार गुरु-शिष्य का माता-पुत्र जैसा सम्बन्ध था। द्विजातियों के दो मान्य-जन्म होते थे। पहला जन्म माता के गर्भ से और दूसरा जन्म उपनयन-संस्कार से माना जाता

था। द्वितीय जन्म का तात्पर्य गुरु से ज्ञान की प्राप्ति से था।[81] मनु के अनुसार द्वितीय जन्म की माता गायत्री और पिता आचार्य होता था।[82] याज्ञवल्क्य के अनुसार गुरु द्वारा बुलाये जाने पर शिष्य अध्ययन करता था। उसे जो कुछ प्राप्त होता था वह सब गुरु के चरणों में अर्पित कर देता था। मन, वाणी, शरीर और कर्मों द्वारा उनके अनुकूल कार्य करता था।[83] गुरु भी विद्यार्थी के रोगग्रस्त हो जाने पर उसकी सेवा करता था, औषधि देता था और उसके साथ पिता की तरह व्यवहार करता था।[84]

याज्ञवल्क्य के अनुसार गुरु के कार्य का सम्पादन करने में कभी-कभी शिष्य को अपने प्राणों की आहूति भी दे देनी पड़ती थी, (उसे रास्ते में जंगली पशु मार डालते थे)। इस पाप से मुक्ति पाने के लिए गुरु तीन कृच्छ्र-व्रत करते थे। गुरु के विपरीत कार्य करने पर शिष्य उन्हें प्रसन्न करके ही शुद्ध होता था।[85] इस प्रकार याज्ञवल्क्य के इस उल्लेख से लगता है कि वे सैद्धान्तिक-दृष्टि से शिष्य को गुरु-सेवा में एकनिष्ठ देखना चाहते थे। दशकुमारचरित में गुरु की प्रशंसा की गयी है तथा शिष्य को उसका अनुवर्ती होने का संकेत किया गया है। चन्द्रापीड ऐसा ही कर्तव्य-निष्ठ शिष्य था।[86]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है गुरु शिष्यों से पुत्रवत् व्यवहार करते थे। उन्हें न केवल शिक्षा देते थे वरन् उन्हें भावी-जीवन को अच्छी तरह जीने के लिए तैयार भी करते थे। इसके साथ ही शिष्य भी गुरुओं के प्रति तत्कालीन समाज एवं परम्परा द्वारा मान्य व्यवहार करते थे।

शिष्य

शूद्र के अतिरक्त तीनों वर्णों के लोगों को शिक्षा प्राप्त करने की सुविधा थी। वे किसी भी गुरु के शिष्य हो सकते थे। शिष्यत्व उपनयन से आरम्भ होता था। उपनयन-संस्कार ही बालक का दूसरा जन्म माना जाता था। इसके पूर्व सवर्ण बालक भी शूद्र माना जाता था। इस संस्कार के बाद ही उसे द्विजत्व प्राप्त होता था।[87] शिष्यत्व के इस काल को ब्रह्मचर्य-आश्रम कहते थे। शिक्षा के लिए इस आश्रम की आवश्यकता इसलिए थी कि वह एकाग्रचित्त होकर ज्ञान प्राप्त कर सके। इससे उसमें सतोगुण की वृद्धि होती थी। शिक्षा के इस काल में विद्यार्थी को ब्रह्मचर्य का पालन करने की सलाह दी गई है।[88]

याज्ञवल्क्य ने मन, वाणी तथा शरीर से गुरू के अनुकूल कार्य करना और उनकी आज्ञा से भोजन करना आदि ब्रह्मचारी का कर्तव्य माना है।[89] उन्होंने ब्रह्मचारी के लिए मधु, मांस, लेप, अंजन, जूठा-भोजन, कठोर-वचन, स्त्री, जीव-हिंसा, सूर्यदर्शन, अश्लील-भाषण आदि बातें निषिद्ध मानी हैं।[90] मनु उसे शरीर, वचन, बुद्धि, इन्द्रियों और मन को वश में कर, गुरू के सम्मुख खड़े होकर उसकी आज्ञा की प्रतीक्षा करने की सलाह देते हैं। उसे सर्वदा अपना दाहिना हाथ बाहर

किए हुए सदाचरणपूर्वक संयमित होकर गुरू की आज्ञा से बैठने का निर्देश था। उसे गुरु के उठने के पूर्व उठ जाना था तथा गुरु की आज्ञा का विधिवत् पालन करना पड़ता था। उसे गुरु से निम्न आसन पर बैठना तथा गुरु के नाम का उच्चारण भी नहीं करना था। वह न तो गुरु की निन्दा सुनता था न स्वयं ही करता था।[91] यह सम्भव है कि मनु-प्रतिपादित शिष्य के उपर्युक्त कार्य याज्ञवल्क्य के समय भी उसी प्रकार मान्य एवं प्रचलित रहे हों। इसीलिए उन्होंने इनका उल्लेख कम किया है किन्तु किन्हीं स्थितियों में शिष्य को धर्मच्युत गुरू की आज्ञा का पालन न करने की स्वतन्त्रता थी।[92]

याज्ञवल्क्यस्मृति अध्ययन-काल में शिष्य और पुत्र को लाड़ प्यार करने की अपेक्षा ताड़ना पर विशेष बल देती है।[93] याज्ञवल्क्य ने प्रतारणा का विधान सम्भवत: उन शिष्यों एवं पुत्रों के लिए किया है जो अध्ययन एवं आचार में त्रुटि करता हो। मनु ने भी सम्भवत: ऐसे ही शिष्य को समझाने या मधुर उपदेश देने की बात की है।[94] पर यदि इससे भी शिष्य अपने आपको नहीं सुधारता एवं अपराध की पुनरावृत्ति करता है तो उसे रस्सी से बांधा जा सकता है या दण्ड से पीटा जा सकता है; पर ऐसी स्थिति में प्रहार पीठ पर ही करना चाहिए।[95] सुधारने के लिए दण्ड का विधान महाभारत[96] एवं गौतम धर्मसूत्र में भी मिलता है।[97] गरुड़-पुराण के अनुसार प्यार में अनेक दोष एवं प्रतारणा में अनेक गुण हैं। फलत: इस ग्रन्थ में पुत्र एवं शिष्य को सम्भवत: उचित अवसर पर प्रताड़ित करने की सलाह दी गयी है।[98]

शिक्षा केन्द्र एवं संस्थाएं

प्राचीन भारत में दो प्रकार की शिक्षा संस्थाओं का अनुमान होता है। प्रथम श्रेणी में गुरुकुल आते हैं जिनमें गुरु-आश्रम में विद्यार्थी विद्याध्ययन करते थे। इस प्रकार के विद्या-केन्द्र सम्भवत: ब्राह्मण-परम्परा के शिक्षा-केन्द्र थे। द्वितीय श्रेणी में वे विद्या-केन्द्र आते हैं जो विहारों आदि में स्थित थे। ऐसे केन्द्र सम्भवत: अधिकांशत: बौद्ध एवं जैन-भिक्षुओं आदि को ही शिक्षा देते थे। याज्ञवल्क्यस्मृति से ज्ञात होता है कि छात्र गुरुकुल में रहकर विद्या ग्रहण करता था।[99] गुरुकुल ही शिक्षा केन्द्र थे। इस प्रकार याज्ञवल्क्य गुरु-आश्रम में शिक्षा-ग्रहण के समर्थक लगते हैं। मनुस्मृति से भी यही स्पष्ट होता है।[100] महाकाव्यों में भी गुरुकुलों का सन्दर्भ मिलता है, जो शिक्षा और विद्या के महान् केन्द्र थे। भारद्वाज और बाल्मीकि के आश्रम उच्चकोटि के गुरुकुल थे।[101] महाभारत की सूचना है कि कण्व और मार्कण्डेय ऋषि के आश्रम विद्या के प्रमुख केन्द्र थे।[102] इससे ज्ञात होता है कि गुरुकुल की शैक्षणिक महत्ता समाज में पूर्णतया स्थापित हो चुकी थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य बालक इन आश्रमों में शिक्षा-प्राप्ति के लिए जाते थे।

एक जातक से ज्ञात होता है कि चम्पा-निवासी दिशा प्रमुख आचार्य के आश्रम में 500 छात्र शिक्षा-ग्रहण करते थे।[103] पुराण-साहित्य से भी इसकी पुष्टि होती है।[104]

विद्यार्थियों के पांच लक्षण—काक-चेष्टा, बकोध्यान, श्वान-निद्रा, अल्पहारी और गृहत्यागी बताये गये हैं।[105] ये पांचों गुण विद्यार्थी गुरुकुल में सीखता था। याज्ञवल्क्य-स्मृति में प्राचीन भारत के किसी भी विश्वविद्यालय का उल्लेख नहीं है। स्पष्ट है कि नालन्दा[106] एवं विक्रमशिला[107] के विश्वविद्यालय इस ग्रन्थ के समय के बाद कभी प्रमुखता में आए। तक्षशिला[108] का इस ग्रन्थ के समय तक शैक्षणिक-केन्द्र के रूप में ह्रास हो चुका था। याज्ञवल्क्यस्मृति के समय में बौद्ध एवं जैन शिक्षा-केन्द्र भी अवश्य वर्तमान थे। उन्होंने उनका उल्लेख संभवतः दो कारणों से नहीं किया है। एक इसलिए बौद्ध एवं जैन दोनों ही धर्म ब्राह्मण-धर्म के विरोधी थे। दूसरा इसलिए कि इनकी शिक्षा-पद्धति इनके धर्म के अनुरूप थी और संन्यस्त लोगों को ही मुख्यतः शिक्षित करती थी।

इस समय वैदिक ऋचाएं अध्ययन-अध्यापन की मूल विषय होती थीं। इसके साथ ही व्याकरण, भाषा, विज्ञान, खगोल, दर्शन, इतिहास, धर्मशास्त्र आदि की शिक्षा भी विद्यार्थियों को दी जाती थी।

अनाध्याय

याज्ञवल्क्य के मत में शिष्य, ऋत्विज, गुरु और बन्धु के मरने पर, तीन दिन की छुट्टी होती थी। संध्या समय मेघ-गर्जन होने पर, आकाश में उत्पात की ध्वनि होने पर, भूकम्प, उल्कापात, तथा आरण्यक का अध्ययन पूरा कर लेने पर एक दिन और रात का अनाध्याय होता था। अमावस्या, पौर्णमासी, चतुर्दशी, अष्टमी, चन्द्र एवं सूर्यग्रहण के समय भी एक दिन और रात की छुट्टी होती थी। विद्यार्थियों के बीच मेढ़क, साही, बिल्ली आ जाने पर और इन्द्र-धनुष उठने पर भी अनाध्याय होता था। गधा, ऊँट, रथ, हाथी, घोड़ा, नौका, वृक्ष पर चढ़ने और ऊसर में चलने से भी अनाध्याय होता था।[109] याज्ञवल्क्य द्वारा किया गया यह अनाध्याय उल्लेख मनु[110] के उल्लेख से बहुत मिलता है। सड़क पर, श्मशान में, शारीरिक-अस्वस्थता के समय, चाण्डाल-बस्ती में एवं साथ-साथ पढ़ने वाले लड़के के अभाव में अध्ययन वर्जित था।[111] पुराण-साहित्य से भी अनाध्याय की सूचना मिलती है। विष्णुपुराण के अनुसार मेघ-गर्जना के समय, पर्व के दिनों में, ग्रहण के समय तथा अशौचकाल में अध्ययन करना वर्जित था।[112] मत्स्यपुराण के अनुसार श्राद्ध के अवसर पर स्वाध्याय करना निषिद्ध था।[113]

अध्ययन के विषय

राजनीति का अध्ययन

याज्ञवल्क्य ने आन्वीक्षिकी (आत्म-विद्या), दण्डनीति (योगक्षेमोपयोगी), त्रयी एवं वार्ता को विद्या बताया है।[114] इसी तरह का विचार कौटिल्य ने भी व्यक्त किया है।[115] उपर्युक्त वर्णन के अनुसार शिक्षा के यह चार प्रमुख विषय हुए।

आन्वीक्षिकी—इसके अन्तर्गत सांख्य, योग और लोकायत आते हैं। यह विद्या लोक का उपकार करती है; सुख-दुःख से बुद्धि को स्थिर रखती है, और सोचने,

विचारने, बोलने तथा कार्य करने में कुशल बनाती है।[116] इसके महत्व को स्वीकार करते हुए याज्ञवल्क्य ने राजा को इस विद्या का ज्ञान आवश्यक माना है।

दण्डनीति—राजकुमारों को दण्डनीति की शिक्षा दी जाती थी, क्योंकि राज्य प्राप्त होने पर राजा दुराचारियों को दण्ड देता था।[117] शास्त्र के अनुसार प्रयोग में लायें जाने पर दण्ड देवता, राक्षस और मनुष्यों सहित इस सम्पूर्ण संसार को आनंदित करता है। इसके विपरीत प्रयोग करने पर वह उसे कुपित ही करता है।[118] कौटिल्य के अनुसार दण्ड को प्रतिपादित करने वाली नीनि ही दण्डनीति कहलाती है। वह अप्राप्त वस्तुओं को प्राप्त कराती है। प्राप्त वस्तुओं की रक्षा करती है। रक्षित वस्तुओं की वृद्धि करती है और वही संवर्द्धित वस्तुओं को समुचित कार्यों में लगाने का निर्देश करती है। उस पर संसार की सारी लोक-यात्रा निर्भर है। इसलिए लोक को समुचित मार्ग पर ले चलने की इच्छा रखने वाला राजा सदा ही उद्यत-दण्ड (दण्ड देने के लिए प्रस्तुत) रहे।[119] इसलिए राजा को दण्डनीति की शिक्षा दी जाती थी।

त्र्य्यां—ऋक्, यजुष् एवं साम का समन्वित नाम ही त्र्य्यां है। कौटिल्य ने त्र्य्यां के स्थान पर त्रयी का उल्लेख किया है। इसके अन्तर्गत ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं सामवेद आते हैं। इसे विद्या या शिक्षा के एक स्वतन्त्र विषय के रूप में स्वीकार किया गया है। आगे इसमें अथर्ववेद भी सम्मिलित हुआ।[120] उपनयन के बाद ही वेद का अध्ययन आरम्भ होता था।[121] इसके अध्ययन का समय याज्ञवल्क्य ने बताया है।[122] पौष मास की रोहिणी या अष्टमी को (गांव से) बाहर जाकर जलाशय के निकट वेदों का विधि के अनुसार उत्सर्ग किया जाता था।[123]

वेद को अध्ययन का विशिष्ट विषय याज्ञवल्क्य मानते हैं। इसी से उनकी धारणा है कि जो द्विज प्रतिदिन ऋचाओं का अध्ययन करता है, वह मधु और क्षीर से देवगणों के लिए तथा मधु-घृत से पितरों के लिए तर्पण करता है। जो द्विज प्रतिदिन यथाशक्ति "यजुस्" मन्त्रों का अध्ययन करता है, वह घृत-नीर से देवताओं का तथा आज्य एवं मधु से पितरों को प्रसन्न करता है। जो द्विज प्रतिदिन सामवेद के मन्त्रों का पाठ करता है वह सोम और घृत से देवताओं के लिए तर्पण करता है, इसके अतिरिक्त मधु तथा घृत द्वारा पितरों को भी प्रसन्न करता है।[124]

याज्ञवल्क्य ने वेद के अध्ययन के लिए बारह अथवा पांच वर्ष का समय पर्याप्त माना है।[125] मनु के अनुसार ब्रह्मचारी का कर्तव्य है कि वह तीनों वेदों का अध्ययन करे यदि इतना न कर सके तो दो वेदों का और यदि इतना भी न कर सके तो एक वेद का ही अध्ययन करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे।[126] कृत्यकल्पतरु के अनुसार द्विजातियों को कम से कम एक वेद का अध्ययन करना उचित था, यह बारह वर्षों में सम्यक् रूप से पूरा होता था।[127] याज्ञवल्क्य ने जीवनपर्यन्त छात्र रहने वाले नैष्ठिक-ब्रह्मचारी का भी उल्लेख किया है।[128] ह्वेनसांग का कथन है कि ब्राह्मण चारों वेदों का अध्ययन करते थे। यह सम्भव है कि केवल नैष्ठिक-ब्रह्मचारी ही वेदों का पूरा अध्ययन करते हों। अन्य लोगों को वेदाध्ययन में इतना अधिक समय

लगाने का समय ही नहीं था। गृहस्थाश्रम में प्रवेश के इच्छुक विद्यार्थी सम्भवतः एक वेद के अध्ययन से ही काम चलाते रहे होंगे। इसके अतिरिक्त वेद का अध्ययन सम्भवतः ब्राह्मणेत्तर विद्यार्थियों में इतना लोकप्रिय भी नहीं रहा होगा। तत्कालीन सामाजिक-व्यवस्था में क्षत्रिय एवं वैश्य के वेद के ज्ञान का कोई बहुत औचित्य भी नहीं दिखाई पड़ता।

वेद वही ब्राह्मण पढ़ सकते थे जो इसका अर्थ और विश्लेषण करने में समर्थ होते थे। कभी-कभी अपवाद-स्वरूप वेद के अर्थ और उसकी व्याख्या न कर पाने वाले भी उसे पढ़ते। अपरार्क ने मात्र वेद कण्ठस्थ करने की रीति की आलोचना की है।[129] मेधातिथि ने लिखा है कि मात्र स्मरण के आधार पर वेद का अध्ययन त्रुटिपूर्ण है।[130] वेदाध्ययन की यह त्रुटिपूर्ण परिपाटी भारतीय-समाज में बहुत पहले से चली आ रही थी और यह वैदिक-साहित्य के दोषयुक्त ज्ञान की परिचायक है। निश्चित रूप से वेदाध्ययन की यह परम्परा अध्ययन के उस गुरु-शिष्य-क्रम से विकसित हुई जो वेद के अध्ययन में उच्चारण पर जोर देने के फलस्वरूप विकसित हुई थी।

वार्ता—याज्ञवल्क्य के समय में राजकुमारों को वार्ता की शिक्षा दी जाती थी। कौटिल्य के अनुसार कृषि, पशुपालन और व्यापार वार्ता-विद्या के विषय हैं। यह विद्या, धान्य, पशु, हिरण्य, ताम्र आदि खनिज-पदार्थों और नौकर-चाकर आदि की देने वाली परम उपकारणी है। इसी विद्या से उपार्जित कोश और बल पर राजा स्वपक्ष तथा परपक्ष को बस में कर लेता है।[131]

अन्य विषयों का अध्ययन

याज्ञवल्क्य के अनुसार पुराण, न्याय-मीमांसा, धर्मशास्त्र, व्याकरण आदि अंकों या गणित, वेद आदि चौदह विद्याएँ धर्म के स्थान हैं।[132] प्राचीन भारतीय समाज में इन सब चौदह विद्याओं की शिक्षा विद्यार्थियों को दी जाती थी। याज्ञवल्क्य ने विविध शास्त्रों के अध्ययन के महत्व का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि जो द्विज यथाशक्ति अथर्वांगिरस, वाकोवाक्य, पुराण, नाराशंसी, गाथा, इतिहास तथा पुराणादि विद्याओं का अध्ययन करता है वह देवताओं और पितरों को मांस, दूध, ओदन, मधु द्वारा तृप्त करता है। तृप्त होकर पितर एवं देवगण उसे अभीष्ट-फल प्रदान कर सुखी बनाते हैं।[133] यज्ञविधि को भी अध्ययन के विषय के रूप में स्वीकार किया गया है।[134] उपनिषदों से भी इन सभी विद्याओं की सूचना मिलती है। वेद (चार), इतिहास-पुराण, व्याकरण, भूत-विद्या, क्षात्र-विद्या, वाकोवाक्य, तर्कशास्त्र, शिक्षा, निरुक्त, छन्द, नक्षत्र-विद्या, ज्योतिष, राशि-एकायन आदि विभिन्न शिक्षा के विषय थे।[135] कौटिल्य ने आन्वीक्षकी (तर्क और दर्शन), त्रयी (तीन वेद—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद), वार्ता (कृषि, पशुपालन, वाणिज्य-व्यापार) तथा दण्डनीति (राजशास्त्र और प्रशासन) का उल्लेख विद्या के रूप में किया है।[136] वात्स्यायन ने 64 विद्याओं का उल्लेख किया है।[137] कालिदास ने चौदह विद्याओं का उल्लेख किया है—सांगोपांग वेद (चारों वेद और छहों वेदांग)। मीमांसा, न्याय, पुराण और धर्मशास्त्र। वेदांगों में छन्द (पिंग-

लादि), मन्त्र, निरुक्त (शब्दों का अर्थ), ज्योतिष (गणित और फलित), व्याकरण और शिक्षा (उच्चारण) गृहीत किये जाते थे। इनके अतिरिक्त उपवेदों (धनुर्वेद, आयुर्वेद और गांधर्ववेद) का अध्ययन भी किया जाता था।[138] प्रयाग-प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त संगीत में तुम्बरु और नारद जैसे गायक एवं वादक से भी इस क्षेत्र में अधिक कुशल होने का दावा करता है।[139] स्कन्दगुप्त भी विद्वान और गुणी सम्राट था।[140]

याज्ञवल्क्यकालीन शिक्षा का समर्थन अन्य ग्रन्थों से भी होता है। वेदों के अतिरिक्त धर्मशास्त्र, पुराण, ज्योतिष, व्याकरण, दर्शन, विज्ञान, भौतिक और रसायन आदि का भी अध्ययन पूर्व-मध्ययुग में किया जाता था। जैनेन्द्र, कातंत्र और हेमचन्द्र के व्याकरण के नवीन समुदाय का प्रभाव बढ़ गया था।[141] याज्ञवल्क्य के समय में धर्मशास्त्रों का अध्ययन अधिक होता था। उन्होंने स्वयं याज्ञवल्क्यस्मृति के आरम्भ में ही मनु, अत्रि, विष्णु, हारीत, याज्ञवल्क्य, उशनस, आंगिरस, यम, आपस्तम्ब, संवर्त्त, कात्यायन, बृहस्पति, पराशर, व्यास, शंख, लिखित, दक्ष, गौतम, शातातप, वशिष्ठ आदि धर्मशास्त्र-प्रणेताओं का उल्लेख किया है।[142] इनमें से मनु तथा याज्ञवल्क्य-स्मृति का बाद में विशेष महत्व मान्य हुआ।

इस काल में ज्योतिष, काव्य, नाटक, संस्कृत-साहित्य, धर्मशास्त्र न्याय तथा दर्शन की अनेक आस्तिक और नास्तिक शाखाओं में महत्वपूर्ण रचनाएं हुई। इस काल में कागज, मुद्रण या सस्ती पुस्तकें सुलभ न थीं, अतः इन विषयों के विशेषाध्ययन को ही प्रोत्साहन दिया गया। फलतः विद्या के विभिन्न शाखाओं में महत्वपूर्ण उन्नति हुई।[143]

भारतीय-समाज का विकास अपने ढंग का अकेला है। भारतीय विचारकों का दृष्टिकोण धर्मनिष्ट रहा है। सम्भवतः इन्हीं के चलते उन्होंने शिक्षा को भी इसी दृष्टि से देखा। यही कारण लगता है कि वेदादि के अध्ययन पर इतना अधिक बल दिया गया। भौतिक-विषय भी धर्म के अनुरूप ही देखे-समझे जाते रहे। याज्ञवल्क्य इस धार्मिक-सामाजिक-परम्परा के एक महत्वपूर्ण स्तम्भ हैं और वे अपने विवेच्य-विषय से इस बात को पूरी तौर पर सिद्ध करते हैं।

सैन्य-शिक्षा

याज्ञवल्क्यस्मृति में सैन्य-शिक्षा का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है, फिर भी सेनापति, युद्ध एवं सेना के उल्लेख से यह ज्ञात होता है कि तद्‌युगीन समाज में सैन्यशिक्षा की व्यवस्था सम्भवतः रही होगी।[144] सैन्य-शिक्षा के द्वारा युद्ध-विद्या-विशारद बनने की परम्परा सदैव प्रचलित रही है। युद्धभूमि में अधिक से अधिक उपयोगी बनने के लिए हाथी और घोड़ों तक को वर्षों शिक्षा दी जाती थी, फिर सैनिकों को सुशिक्षित बनाने की योजना का होना अवश्यम्भावी है। सैन्य-शिक्षा का विशद्, वर्णन वैदिक-युग के बाद लिखे हुए ग्रन्थों में प्रायः मिलता है। उपनिषदों में क्षत्रविद्या या युद्ध-विद्या के अध्ययन करने के उल्लेख मिलते हैं।[145] महाभारत में

ब्राह्मण आचार्यों के द्वारा धनुर्वेद की शिक्षा देने के असंख्य उल्लेख मिलते हैं। ऐसे आचार्यों में भारद्वाज, द्रोण, परशुराम आदि के नाम प्रमुख हैं। इनके शिष्यों में ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों वर्णों के शिष्य होते थे। क्षत्रिय-कुमारों का धनुर्वेद, अश्वपृष्ठ (घोड़े की सवारी), गदायुद्ध, असि-चर्म (ढाल और तलवार का प्रयोग), गज-शिक्षा और नीतिशास्त्र की शिक्षा दी जाती थी। विद्यार्थी आश्रम और व्यायाम में कुशल होते थे।[146] राजा को हस्ति-सूत्र, अश्व-सूत्र, रथ-सूत्र धनुर्वेद-सूत्र, यन्त्र-सूत्र, नगर-सूत्र और विष-योग आदि का सतत् अभ्यास करना पड़ता था।[147]

सैन्य-शिक्षण के लिए प्राचीन काल के महाविद्यालयों की उच्चता की परि-कल्पना बाण के कादम्बरी के उस प्रकरण से भी होती है, जिसमें उन्होंने क्षिप्रा नदी के तट पर स्थित राजकीय विद्या-मन्दिर के तुरंग-बाह्यली-विभाग का वर्णन किया है, विद्यालय में शस्त्र-विद्या (चाप, चक्र, चर्म, कृपाण, शक्ति, तोमर, परशु, गदा आदि से सम्बद्ध), रथ-चर्या, गज-पृष्ठ, तुरंगम, हस्ति-शिक्षा, तुरंग-वयोज्ञान, यंत्र-प्रयोग, विषापहरण, सुरुगोपभेद, तरण, लंघन, प्लुति, आरोपहण, सर्वदेश-भाषा आदि का प्रशिक्षण होता था।[148]

अलतेकर के अनुसार आधुनिक काल में जवानों को सरकारी सेना में भर्ती करके उन्हें सरकार की ओर से ही शिक्षा दी जाती है। प्राचीन भारत में यह बात नहीं थी, प्रत्येक ग्रामवासियों से आशा की जाती थी कि वह अपने धन-जीवन की रक्षा स्वयं कर लेगा, अर्थशास्त्र से यह सूचना मिलती है कि प्रत्येक ग्रामवासी को अपनी रक्षा स्वयं कर लेने योग्य होना चाहिए। फलत: प्रत्येक नागरिक आवश्यकता पड़ने पर अपनी रक्षा करने के उद्देश्य से आयुधों को रखता था और उसके परिचालन की शिक्षा ग्रहण करता था। इसके लिए कोई सैनिक विद्यालय नहीं होते थे, बल्कि ग्राम-वृद्धों से ही युवक धनुष-बाण, लाठी और बरछा चलाना सीख लेता था।[149] इस देश में ग्रामीण सैनिक शिक्षा को विशेष प्रोत्साहन मिला तथा राज्य को शिक्षित सैनिक देने के लिए योग्य शिक्षक अध्यापन के क्षेत्र में आये। अन्यान्य ऐसे शिक्षक तो दूसरी शताब्दी ई० पू० में भी विद्यमान थे। ये राजा को प्रशिक्षित-सैनिक देते थे। उसके बदले में राज्य उन्हें भूमि, धन, अश्व आदि दान करता था।[150]

उपरियुक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत के प्राय: सभी गांवों में गांव-पंचायत ही प्रचुर-प्रारम्भिक सैनिक-शिक्षा देती थी। राजा की आनुवंशिक सेना के अवसर-प्राप्त नायक तथा अन्य विशेषज्ञ अपने गांव में ही सैनिक-विद्यालय खोल लेते थे। जिसमें अधिकांश स्थानीय जवान भरती किये जाते थे। इससे भी ऊंची शिक्षा उन आचार्यों द्वारा मिलती थी जिनका यही व्यवसाय होता था। शिक्षा की परिसमाप्ति सेना में भरती होने के बाद नहीं, अभ्यास में होती थी। ऐसा ज्ञात होता है कि भारतीय सेना की निर्बलता का सर्वप्रमुख कारण यह था कि सैनिकों को स्वयं-सेवकों की हैसियत से भरती के पहले जो शिक्षा मिलती थी उस पर ही भरोसा रखा जाता था। यह शिक्षा आन्तरिक उपद्रवों से बचने के लिए तो पर्याप्त थी किन्तु सुशिक्षित विदेशी सैनिकों के सम्मुख नहीं टिक सकती थी।[151]

शिल्प और कलाएं

याज्ञवल्क्य ने शिल्प-कला के प्रशिक्षण का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है, किन्तु 'श्रेणी' शब्द का उल्लेख उन्होंने किया है। श्रेणी एक कुशल शिल्पियों का संघ होता था, जिसमें उसे शिल्प-कला का ज्ञान सम्भवत: अपने परिवार से परम्परागत रूप से प्राप्त होता था।[152] सिन्धु-सभ्यता के युग से प्राय: सदा से अन्यान्य प्रकार के शिल्पों के उच्चकोटि के आचार्य भारत में होते आये हैं। शिल्पों के क्षेत्र में यह उन्नति शिष्य-परम्परा से सम्भव हुई थी, किन्तु यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि छठीं शताब्दी ईसा पूर्व से पहले शिल्पों की शिक्षा के लिए विद्यालय थे या नहीं। नि:सन्देह शिल्पाचार्यों की अध्यक्षता में उनके साथ रहकर और काम करते हुए सदा से शिल्प सीखने की रीति भारत में प्रचलित रही है और वह सिन्धु-सभ्यता के युग में तथा वैदिक-काल में भी थी।[153]

जातक-साहित्य में तक्षशिला के विश्वविद्यालय में 18 शिल्पों की शिक्षा देने के अनेकश: उल्लेख मिलते हैं।[154] शिल्पों में गीत, वाद्य, नृत्य, चित्र आदि कलाओं के अतिरिक्त व्यावसायिक-विद्यायें भी सम्मिलित थीं। जातक-काल के राजकुमार संगीत, वीणा-वादन, मूर्ति-रचना, पंखा बनाना, माला गूंथना, भोजन पकाना आदि कामों में कुशल होते थे।[155] महाभारत के अनुसार गन्धर्व-विद्या के उच्चकोटि के विद्यालय थे। अर्जुन ने नृत्य, गीत, वाद्य आदि का अध्ययन गन्धर्व-विद्यालय में किया था। उसने राजा विराट के आश्रम में इन विद्याओं का प्रशिक्षण प्राप्त किया था। कुमारियों और राजघरानों में काम करने वाली कन्याओं को गीत, वाद्य, पाठ्य, नृत्य, नाट्य, अक्षर, चित्र, वीणा-वेणु-मृदंग आदि बजाना, गन्ध-माला आदि बनाना, संवाहन, वेश-भूषा पहनना इत्यादि सीखने वाली संस्थाओं के तीसरी शती ईसा पूर्व से पहले ही राजाओं द्वारा संचालित होने का उल्लेख अर्थशास्त्र में मिलता है।[156]

अलतेकर के अनुसार विज्ञान और शिल्प-कला की शिक्षा प्राय: उम्मीदवारी प्रथा से दी जाती थी। इस व्यवस्था के द्वारा विद्यार्थी को निश्चित समय तक आचार्य के साथ कार्य करने के लिए स्वीकृति देनी पड़ती थी। इस काल में आचार्य शिष्य के रहने और भोजन की व्यवस्था स्वयं करता था। विभिन्न शिल्पों के लिए विभिन्न काल स्वीकृत किये जाते रहे होंगे। शिक्षा की समाप्ति पर भी यह अवधि समाप्त न होती होगी---अपितु यह दीर्घतर होती रही होगी क्योंकि आचार्य विद्यार्थी की शिक्षा में जो परिश्रम तथा उसके भोजन-वस्त्र की व्यवस्था में जो अर्थ-व्यय करता था, उसकी पूर्ति के लिए कुछ समय तक शिक्षित-शिष्य के श्रम व कौशल का लाभ उसे मिलना आवश्यक समझा जाता था। आचार्य की अनुमति बिना शिष्य काल के सम्बन्ध में शर्त्तभंग नहीं कर सकता। यदि बिना कारण के आचार्य शिष्य को त्याग दे तो उसे शर्त की अवधि तक आचार्य के साथ रहने, सीखने और कार्य करने के लिए बाध्य किया जा सकता था। विद्याध्ययन की समाप्ति पर गुरु को शिष्य दक्षिणा देकर विदा लेता था।[157] इस प्रकार प्राचीन मूर्ति, वास्तु, चित्र, काष्ठ, कृषि आदि कलाओं की शिक्षा प्राचीन भारत में दी जाती रही होगी।

संदर्भ एवं टिप्पणियां

1. अ०स० अलतेकर, एजुकेशन इन ऐंसियन्ट इण्डिया, पृ० 326।
2. विष्णु पु०, 6/5/61।
3. सुभाषित रत्न संग्रह, पृ० 194।
4. अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेषु असमाबभूवुः। ऋग्वेद, 10/71/7।
5. याज्ञ०, 1/49-50।
6. याज्ञ०, 1/45-46।
7. मनु०, 12/102।
8. वही, 12/101।
9. अत्रिस्मृति, 349; हारीत-स्मृति, 1/24।
10. नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः। महा०, 12/339/6।
11. याज्ञ०, 1/15।
12. वही, 1/33।
13. वही, 1/200।
14. अत्रिस्मृति, 1/140-41।
15. सु०भा०र०भा०, 31-18।
16. नीतिशतक, 2।
17. सु०भा०र०भा०, 41-18।
18. याज्ञ० 1/40।
19. ब्रह्माण्ड पु०, 1/4/15, ज्ञानेनाप्रतिमेन।
20. वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या···जीवलोकस्य सुखानी। हितोपदेश, 16।
21. याज्ञ०, 1/22।
22. कुमारसम्भव, 5/30।
23. संस्कृत रत्नाकर "शिक्षांक 1940 में कीदृशी शिक्षा प्रणाली इदानीमपेक्ष्यते", पृ० 106।
24. लक्ष्मीदत्त ठाकुर, प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन, पृ० 126।
25. अ०स० अलतेकर, प्राचीन भारतीय शिक्षण-पद्धति, पृ० 2-3।
26. आपस्तम्ब ध०सू०, 10/1/2/21२।
27. याज्ञ०, 3/228।
28. कैलाशचन्द्र जैन, प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाएं, पृ० 158।
29. रश्मिमाला, 10/2।

30. याज्ञ०, 1/22 ।
31. मनु०, 2/69 ।
32. तै०उ०, 1/11 ।
33. याज्ञ०, 1/5 ।
34. मनु०, 2/118 ।
35. महाभारत, 10/321-78 ।
36. अ०स० अलतेकर, एजूकेशन इन ऐंसियन्ट इंडिया, पृ० 10 ।
37. याज्ञ0, 1/23-33 ।
38 वही, 1/29-30 ।
39. कैलाशचन्द्र जैन, प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाएं; पृ० 159 ।
40. याज्ञ०, 1/153, 156 ।
41. वही, 1/157-158 ।
42. वही, 1/34-35 ।
43. वही, 1/41-43-46 ।
44. अ०स० अलतेकर, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृ० 13 ।
45. शतपथ ब्राह्मण, 1/5/5 ।
46. वी०मि०सं०, भाग-1, पृ० 321 पर उद्धृत; अपरार्क, पृ० 30-31; स्मृतिचंद्रिका, 1, पृ० 26; संस्कारप्रकाश, पृ० 221-25; संस्कार रत्नमाला, पृ० 904-7 ।
47. राजवली पाण्डेय, हिन्दू-संस्कार, पृ० 140 ।
48. वृत्तचौलकर्मा लिपिं संख्यानचोपयुञ्जीत । अर्थशास्त्र, 1/2 ।
49. रघुवंश, 3/7 ।
50. वाटर्स, 1, पृ० 155 ।
51. तकाकुसु, रेकर्डस ऑफ बुद्धिस्ट रिलीजन, पृ० 165 ।
52. याज्ञ०, 1/15 ।
53. वही, 1/29-31 ।
54. वही, 1/14; मनु०, 2/36 ।
55. याज्ञ०, 1/26-27 ।
56. देखिए, हर्षचरित ।
57. ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ० 168 ।
58. स्मृतिचन्द्रिका, 2, पृ० 195 ।
59. याज्ञ०, 1/142 ।

60. राजबली पाण्डेय, हिन्दू-संस्कार, पृ० 183।
61. राजबली पाण्डेय द्वारा उद्धृत, या०स्मृति, 1/49, हिन्दू-संकार पृ० 188।
62. याज्ञ०, 1/51; वीरमित्रोदय, 1, पृ० 534।
63. मनु०, 3/4।
64. राजबली पाण्डेय, हिन्दू-संस्कार, पृ० 192-193।
65. यथा घटप्रतिच्छन्ना रत्नराज्ञा महाप्रभा:।
अकिंचित्करतां प्राप्तास्तद्व द्विद्याश्चतुर्दश ॥ अपरार्क द्वारा उद्धृत, याज्ञ०, 1/212।
66. तै० उ०, 1/11।
67. याज्ञ०, 1/34।
68. वही, 1/35; अवमन्ता गुरूणां यो···। विष्णु पु०, 2/6/12; मत्स्य पु०, 62/21।
69. सभापर्व, दक्षिणात्य पाठ, पृ० 802।
70. गरुड़ पु०, 1/50/33-34।
71. मालविकाग्निमित्र 1।
72. महाभारत, 33,33।
73. अ० स० अलतेकर, एजूकेशन इन ऐंसियन्ट इण्डिया, पृ० 57।
74. याज्ञ०, 1/223।
75. मनु०, 3/156।
76. महा०, शान्ति०, 260 आदि।
77. पी० एन० प्रभु, सोशल आर्गनाइजेशन, पृ० 126।
78. द्रष्टव्य—रघुवंश, सर्ग-5।
79. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 1/2/8।
80. याज्ञ०, 1/34-35।
81. वही, 1/39।
82. तत्र यद् ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबन्धनचिह्नतम्।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वचार्य उच्चते ॥ मनुस्मृति, 2/169-70।
83. याज्ञ०, 1/27; सौजात जातक, 18/2-20।
84. वृतान्त, पृ० 105-106; दे०, हर्षचरित सर्ग-2; बाल्मीकि अपने शिष्य लव और कुश के हित की सर्वदा चिन्ता करते थे। रामायण, सर्ग-93; भारद्वाज का द्रोण और द्रुपद के प्रति अपार स्नेह-भाव था। महा०, आदि०, 13/40-42।
85. याज्ञ० 2/283।
86. दशकुमारचरितम्, पृ० 21-22।

87. याज्ञ०, 1/10, 39; (जायते शूद्र: संस्काराद्विजमिति उच्यते। 11/5)।
88. मनु०, 2/180।
89. याज्ञ०, 1/15, 22, 25, 26-27, 31।
90. वही, 1/23।
91. मनु०, 2/192-201।
92. आचार्याधीनो भवति अन्यत्राधर्माचरणात्। गौ० ध० सू०, 3/1/15।
93. ननिन्दाताड़ने कुर्यात्पुत्रं शिष्यं च ताड़येत्। याज्ञ०, 1/155।
94. मनु०, 2/159।
95. भर्यापुत्रश्चदासश्चप्रेष्योभ्राता च सोदर:।
प्राप्तापराधास्ताड्या: स्यू रज्जवा वेणुदलेन वा॥
पृष्ठतस्तु शरीरस्य नौत्तमाङ्गे कथञ्चन।
अतोऽन्यथा तु प्रहरन्प्राप्त: स्याच्चोरकिल्बिषम्॥ मनु०, 8/299-300।
96. महा०, अनु०, 104/37।
97. गौ० ध० सू०, 2/42।
98. गरुड़ पु०, 1/115/9।
99. याज्ञ०, 1/15।
100. मनु०, 2/69।
101. रामायण, 6/123/15; 5/55/9-11।
102. महाभारत, 2/271/48; 1/70/18।
103. जातक, 6, पृ० 32।
104. मत्स्य पु०, 215/58; ब्रह्माण्ड पु०, 3/21/18-20; विष्णु पु०, 2/13/35-54।
105. दास, इण्डियन पंडित्स इन दी लैंड ऑव स्नो, पृ० 58।
106. अलतेकर, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृ० 99।
107. अलतेकर, पूर्वलिखित कृति, पृ० 98।
108. अलतेकर, पूर्वलिखित कृति, पृ० 92।
109. याज्ञ०, 1/144-152; बौ० ध० सू०, 1/11; गौ० ध० सू०, 2/7।
110. मनु०, 4/101-123।
111. आर० के० मुखर्जी, ऐंसियन्ट इण्डियन एजूकेशन, पृ० 193।
112. अकालगर्जितादौ च पर्वस्वाशौचकादिषु।
अनध्यायं बुध: कुर्यादुपरागादिके तथा॥ विष्णु पु०, 3/12/36।
113. मत्स्य पु०, 16/57।

114. याज्ञ०, 1/311 ।
115. आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति विद्याः । अर्थशास्त्र प्रकरण 1, अध्याय 1; नीति० पृ० 61 ।
116. वही ।
117. याज्ञ०, 1/354 ।
118. वही, 1/356 ।
119. अर्थशास्त्र, प्रकरण 1, अध्याय 3/2 ।
120. सामर्ग्यजुर्वेदात्रयत्रयी । अर्थशास्त्र, 2/1 ।
121. याज्ञ०, 1/15 ।
122. वही, 1/142 ।
123. वही, 1/143 ।
124. याज्ञ०, 1/41-43 ।
125. वही, 1/36 ।
126. वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम् ।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत् ।। मनु०, 3/2 ।
127. कृत्यकल्पतरु, गृहस्थकाण्ड, पृ० 263 ।
128. याज्ञ०, 1/49-50 ।
129. अपरार्क, पृ० 84 ।
130. मेधातिथि, मनु०, 3/19 ।
131. कृषिपशुपाल्ये वाणिज्या च वार्ता ।
धान्यपशुहिरण्यकुप्यविष्टिप्रदानादोषकारिकी ।
तया स्वपक्षं ए वशीकरोति कोशदण्डाभ्याम् ।। अर्थशास्त्र, प्रकरण । अध्याय 3 ।
132. याज्ञ०, 1/3 ।
133. वही, 1/44-46 ।
134. वही, 1/40-48 ।
135. छा० उ०, 7/1; श०ब्रा०, 4/6/9/20, 11/5/6/8 ।
136. अन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति विद्याः । अर्थशास्त्र, 1/1 ।
137. कामसूत्र, 1/2; 1/15 ।
138. रघुवंश, 5/11 ।
139. वासुदेव उपाध्याय, प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, द्वितीय-खण्ड, मूल लेख पृ० 49 ।
140. वही, पूर्व लिखित कृति, पृ० 70-71 ।
141. दि स्ट्रगल फार एम्पायर, पृ०319-20 ।

142. याज्ञ०, 1/4-5 ।
143. अलतेकर, प्राचीन भारतीय शिक्षण-पद्धति, पृ० 116 ।
144. याज्ञ०, 1/325-326, 329, 348 ।
145. छान्दोग्य०, 7/1/2 ।
146. महा०, आदि०, 102/16-18; रामा० बाल०, 18/25-28; विष्णु पु०, 4/13/106 ।
147. महा०, सभापर्व, 5/109-111 ।
148. कादम्बरी पूर्वभाग, पृ० 74-75 ।
149. अ०स० अलतेकर, प्राचीन भारतीय शिक्षण-पद्धति, पृ० 145 ।
150. वही, पृ० 146 ।
151. वही, पृ० 147 ।
152. याज्ञ०, 1/361 ।
153. रामजी उपाध्याय, प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका, पृ० 152-253 ।
154. कुशजातक, असदिसजातक, 181; भागवत०, 10/45, 33-36 ।
155. कुशजातक, 531; महाउम्मग्गजातक, 546 ।
156. गणिकाध्यक्ष प्रकरण से ।
157. अ०स० अलतेकर, प्राचीन भारतीय शिक्षण-पद्धति, पृ० 150-151 ।

+●——●+

पञ्चम् अध्याय

धर्म, दर्शन और पातक-प्रायश्चित्त

धर्म

धर्म शब्द "धृ" धातु से बना है। इसका तात्पर्य धारण करना, आलम्बन देना अथवा पालन करना है। धारण करने वाले को धर्म कहते हैं। धर्म प्रजा को धारण करता है और जो धारणा संयुक्त है, वह धर्म है।[1] कणाद् के अनुसार धर्म उसे कहते हैं जिसके द्वारा अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति होती है।[2] याज्ञवल्क्य की सम्मति है कि वेद, धर्मशास्त्र, सत्पुरुषों के आचरण, स्व-आत्मा के अनुकूल उत्तम कार्य एवं विवेकपूर्ण संकल्प से उद्भूत-इच्छा आदि सब धर्म के मूल है। पवित्र देश में उचित समय पर विधिपूर्वक जो भी स्वर्ण एवं द्रव्य आदि योग्य व्यक्तियों को दान में दिया जाता है वह सब धर्म का लक्षण है।[3]

यज्ञानुष्ठान, आचार, अहिंसा, वेदाध्ययन, दान, इन्द्रिय-निग्रह और योग अर्थात् बाह्य-चित्तवृत्ति के निरोध द्वारा आत्मा का बोध होता है। पुण्य-कर्मों में यही श्रेष्ठ धर्म है। वेद तथा धर्म-तत्त्व को जानने वाले चार व्यक्तियों की अथवा तीन विद्याओं के मर्मज्ञ तीन ही व्यक्तियों की पर्षत् होती है। पर्षत् जो भी कहे वह सब धर्म है। अध्यात्मज्ञान में निपुण मात्र एक व्यक्ति भी जो कुछ कहता है वह सब धर्म है।[4]

राधाकृष्णन् के मत में जिन सिद्धान्तों के अनुसार हम अपना दैनिक-जीवन व्यतीत करते हैं और जिनके द्वारा हमारे सामाजिक-सम्बन्धों की स्थापना होती है वही धर्म है। यह जीवन का सत्य है और हमारी प्रकृति को निर्धारित करने वाली शक्ति है।[5]

पी०वी० काणे ने भारतीय संदर्भ में धर्म की परिभाषा करते हुए कहा है कि "धर्म शब्द से धर्मशास्त्रकारों का अभिप्राय किसी ईश्वरीय मत अथवा सम्प्रदाय से न होकर जीवन के एक ऐसे तरीके अथवा आचरण की एक ऐसी संहिता से है जो एक व्यक्ति के रूप में समाज का सदस्य होने के नाते उसकी समस्त क्रियाओं को नियमित करता है तथा जिसका प्रयत्न व्यक्तित्व के लक्ष्य को प्राप्त करने से है।[6] अन्ततोगत्वा हम यह कह सकते हैं कि "श्रुति एवं स्मृति में प्रतिपादित नियमों का परिपालन करते हुए "मोक्ष" प्राप्त करना ही धर्म है।" भारतीय धर्म की परिधि में जीवन के सभी पक्षों और प्रवृत्तियों की व्याख्या की गयी है।

सामान्य या मानव-धर्म

यह वह धर्म है जिसका परिपालन करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक

है। यह मनुष्य के मानवता-युक्त नैतिक मूल्यों से सम्बन्धित है। याज्ञवल्क्य के अनुसार, सत्य, चोरी न करना, अक्रोध, धैर्य, दम (मदत्याग), इन्द्रिय-संयम, अहिंसा, क्षमा, विद्या, शील, दान देना, तथा धैर्य धारण करना आदि मनुष्य के साधारण धर्म हैं।[7] मनु[8] तथा व्यास[9] ने भी इस तरह के विचार व्यक्त किए हैं। श्रीमद्भागवत् में सामान्य-धर्म के बीस लक्षण बतलाये गए हैं। इन्हीं धर्मों को याज्ञवल्क्य तथा मनु ने दस तत्वों के अन्तर्गत समाविष्ट किया है।

सत्य—"सत्य" शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है किन्तु साधारण अर्थ में यथार्थ वचन को ही सत्य कहते हैं। सत्य बोलना एव सत्य का आचरण करना मनुष्य का सबसे महत्त्वपूर्ण धर्म है। याज्ञवल्क्य का कथन है कि असत्यवादी, पिशुन (चुगुलखोर), कठोर वाणी बोलने वाला तथा असंगत भाषण करने वाला व्यक्ति दूसरे जन्म में मृग और पक्षी की योनि में पैदा होता है। इसलिए मनुष्य को सत्य का आचरण करना चाहिए, इससे समाज तथा मनुष्य दोनों का उत्थान होता है। सत्य से श्रेष्ठ कुछ नहीं है।असत्यभाषी जरा और मृत्यु के दु:ख भोगते हैं।[10]

मनु ने सत्य भाषण का समर्थन किया है किन्तु उन्होंने अप्रिय सत्य बोलने का निषेध किया है। ऐसा आचरण ही सनातन धर्म है।[11] जो वस्तु जिस रूप में हो उसको उसी रूप में कहना तथा अपनी तरफ से कुछ मिलाकर उसे विकृत न करना ही सत्य की परिभाषा के अन्तर्गत आता है। किन्तु यदि सत्य बोलने से किसी की प्राण हानि की आशंका हो तो ऐसी परिस्थिति में झूठ बोलना अनुचित नहीं होता है। यद्यपि सामान्य परिस्थितियों में झूठ बोलना महान् पाप माना जाता है। सत्य के महत्व का उल्लेख करते हुए व्यास ने कहा है कि चित्त-शुद्धि, सत्य-प्राप्ति एवं यज्ञ का फल एक ही होता है। इस प्रकार सत्य ही सब धर्मों का मूल है। इसका सेवन करना प्रत्येक व्यक्ति का नैतिक कर्तव्य होता है। इसके विपरीत आचरण करने वाला व्यक्ति नरकगामी होता है।[12] इसके परिपालन से समाज तथा राष्ट्र की उन्नति होती है।

अहिंसा—प्राण-वियोग कर देना हिंसा का सामान्य अर्थ है। धर्मशास्त्र आचार्यों ने हिंसा को स्थूल-अर्थ में न लेकर बड़े सूक्ष्म-अर्थ में लिया है। वे मनसा, वाचा, कर्मणा किसी के चित्त को चोट पहुंचाने को भी हिंसा के अन्तर्गत ग्रहण करते हैं। इस अर्थ में हिंसा का प्रयोग भारत के आचार्यों के सूक्ष्म अन्तरंग परीक्षण का परिणाम है।

याज्ञवल्क्य की धारणा है कि जो मांस आदि का भक्षण न करने का संकल्प करता है वह सभी अभिलाषाओं एवं अश्वमेध-यज्ञ के फल को प्राप्त करता है। मांस का परित्याग करने वाला ब्राह्मण अपने घर में रहता हुआ भी मुनि-तुल्य होता है।[13] इस प्रकार अहिंसा पालन की प्रेरणा प्रदान की गई है। इसका पालन फलतः आवश्यक माना गया है।

जैन-धर्म में इसका इतना अधिक विधि-विधान है । जैन लोग रास्ते में भी झाड़ू लेकर चलते हैं और मुंह पर कपड़ा बांधे रहते हैं । इसका तात्पर्य यह है कि जहां कहीं बैठेंगे झाड़ू से बुहार कर बैठेंगे ताकि उस स्थान पर स्थित कीड़े-मकोड़े उनसे दबकर न मर जाएं तथा श्वास लेते समय मुख में कोई कीड़े न घुस जाएं क्योंकि मुख में जाने से वह मर जाएंगे । इस प्रकार जैन धर्म की अहिंसा अत्यन्त सूक्ष्म है ।[14] बौद्ध-संस्कृति के अनुसार अपनी प्राण-रक्षा के लिए भी किसी प्राणी का बध करना उचित नहीं है । गौतम बुद्ध के अनुसार जो व्यक्ति किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करता वह आर्य है ।[15] जैन एवं बौद्ध धर्म में अहिंसा पर विशेष बल दिया गया है । बौद्ध-धर्म में अहिंसा का चिंतन-विवेचन बहुत कुछ सीमित रहा, परन्तु यह सिद्धान्त जैन-धर्म में समस्त सदाचार की नींव ही नहीं अपितु धर्म का सबसे महत्व-पूर्ण अंग बन गया ।[16]

महाभारत में अहिंसा को परम धर्म कहा गया है ।[17] इस प्रकार धर्म वही है जिसमें अहिंसा को श्रेष्ठ स्थान प्राप्त हो । मनु ने भी इसका समर्थन किया है ।[18] मनुष्य अपने अहिंसात्मक व्यवहार से भी लोगों का प्रिय बन जाता है । अस्तु जिन सन्तों ने हिंसा के मध्य अहिंसा के सिद्धान्त की खोज की वे न्यूटन से अधिक बुद्धिमान और विलिंगटन से बड़े योद्धा थे । हिंसा पशुओं का धर्म है, इसके विपरीत अहिंसा मनुष्य का धर्म है ।[19] इसका परिपालन करना प्रत्येक व्यक्ति का नैतिक-धर्म है ।

ब्रह्मचर्य—जननेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त करना ही ब्रह्मचर्य है । ब्रह्मचर्य के महत्व को प्रतिपादित करते हुए याज्ञवल्क्य का कथन है कि नैष्ठिक-ब्रह्मचारी गुरु के समीप निवास करे, उनकी अनुपस्थिति में उनके पुत्र के समीप अथवा उनकी भार्या या अग्निहोत्र की अग्नि के समीप निवास करे । इस प्रकार विधि-विधानों का परिपालन करने वाला ब्रह्मचारी शरीर की साधना करते हुए जितेन्द्रिय होकर ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है और उसे पुनः इस संसार में जन्म नहीं लेना पड़ता ।[20]

इन्द्रिय-विषय में आसक्त होकर, व्यक्ति दोषयुक्त होता है और वश में करने वाला मोक्ष प्राप्त करता है ।[21] अनुशासन, तपश्चर्या तथा सत्पथ का अनुसरण ब्रह्म-चर्य के अन्तर्गत आता है । ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला व्यक्ति जीवन के मुख्य लक्ष्य "मोक्ष" को प्राप्त करता है ।[22]

दम—इन्द्रियों को नियन्त्रित करना ही दम है । याज्ञवल्क्य का मन्तव्य है कि दम या इन्द्रिय-निग्रही पुरुष-मन, वाणी, शरीर और कार्यों में संयम रखकर गुरु के अनुकूल कार्य करता है ।[23] मनुष्य की इन्द्रियों को संयमित करने के लिए वैसा ही प्रयत्न करना चाहिए जैसा इधर-उधर भागने वाले घोड़े को सारथी अपने वश में रखने के लिए करता है ।[24] जो मनुष्य सुनकर, छूकर, देखकर, खाकर और सूंघकर न तो

प्रसन्न होता है और न खिन्न होता है वही जितेन्द्रिय होता है।[25] कठोपनिषद् तथा महाभारत में भी इस तरह का विचार व्यक्त किया गया है।[26]

अस्तेय—चोरी करना निकृष्ट-कर्म माना जाता है। याज्ञवल्क्य ने चोर के लक्षण का उल्लेख किया है, जो व्यक्ति पहले से अपराधी हो (नामजद चोर) तथा जिसका निवास स्थान सही ज्ञात न हो आदि लक्षणों से युक्त व्यक्ति को चोरी के अभियोग में पकड़ना चाहिए।[27] अस्तेय व्यक्ति तथा समाज को उन्नति की ओर अग्रसर करता है। स्तेय अधर्म है। ऐसा करने वाले व्यक्ति को राज्य की तरफ से दण्डित करने का विधान बनाया गया था। बलपूर्वक बन्दी को छुड़ाने वाले, घोड़े तथा हाथी की चोरी करने वाले और किसी का बलपूर्वक घात करने वाले पुरुषों को दण्ड के रूप में शूली पर चढ़ाया जाता था। वस्त्र आदि की चोरी करने वालों को कड़ा दण्ड दिया जाता था। उनके हाथ और पैर काट लिए जाते थे।[28]

याज्ञवल्क्य के अनुसार अन्न चुराने वाले को अजीर्ण-रोग होता है। वाणी चुराने वाला गूंगा होता है। धान्य में मिश्रण करने वालों का कोई-कोई अंग बड़ा होता है। पिशुन की नाक दूषित रहती है। ब्राह्मण की चोरी करने वाला राक्षस होता है।[29] स्वयं चोरी न कर दूसरे द्वारा चोरी कराना, चोरी के धन को अपने पास रखना, राज्य द्वारा नियत सीमाओं के बाहर वस्तुओं का आयात-निर्यात करना, माप-तौल के बाद नियत परिमाण से हीनाधिक रखना और नकली वस्तुओं को असली के बदले में चलाना—ये पांच अचौर्य अणुव्रत के अतिचार हैं जिसका प्रत्येक गृहस्थ को परित्याग करना चाहिए।[30]

उपर्युक्त उल्लेखों से स्पष्ट है कि चोरी के बड़े अपराध शासन द्वारा निर्णीत होते थे। ऐसे वही छोटे अपराध न्यायालय में जाते थे जिन्हें कोई व्यक्ति ले जाता था। अन्य अपराध सम्भवतः स्थानीय रूप से ही सुलझा लिए जाते थे। ऐसे अज्ञात अपराध के अपराधी को अपराध करने से रोकने के लिए धर्म का आश्रय तत्कालीन विचारकों ने लिया था।

क्षमा—क्षमाशील व्यक्ति महान माना जाता है। निर्बल के प्रति क्षमा की भावना होनी चाहिए। क्षमाधर्म व्यक्ति के उत्थान में योग देता है। राजा को ब्राह्मणों के प्रति क्षमाशील होना चाहिए। वीर-पुरुषों में क्षमा का होना प्रशंसनीय माना जाता है।[31]

दान—दान का अर्थ भिक्षा देना नहीं, यह वह साधन है जिसके द्वारा त्याग, सहानुभूति और सामाजिक-गुणों का विकास होता है। पी०वी० काणे के अनुसार दान उसे कहते हैं जिसके द्वारा किसी दूसरे व्यक्ति को अपनी वस्तु का स्वामी बना दिया जाता है।[32] देवल के अनुसार शास्त्र द्वारा उचित ठहराये गए मनुष्य को विधि-पूर्वक प्रदत्त-धन को दान कहा जाता है।[33]

याज्ञवल्क्य के अनुसार योग्य व्यक्ति को विधिपूर्वक जो भी द्रव्य आदि दान दिया जाता है वह सब धर्म का लक्षण है। विद्या और तप से हीन व्यक्ति को दान नहीं लेना चाहिए। यदि ऐसा व्यक्ति दान लेता है, तो वह न केवल स्वयं को वरन् दाता को भी नरक में डाल देता है। गाय का दान स्वर्ग-प्राप्ति का समाधान है।[34] वैदिक-काल से ही दान के महत्व की सूचना मिलती है।[35]

दान के कई प्रकार सम्भव हैं। गोदान, भूमिदान एवं विद्यादान अधिक महत्वपूर्ण हैं। इनमें भी विद्या या ज्ञानदान को श्रेष्ठ बताया गया है।[36] अत्रि ने वशिष्ठ के समर्थन में ज्ञान-दान की ही महत्ता स्वीकार की है।[37] इसके विपरीत महाभारत में इन तीनों दानों में भूमिदान को श्रेष्ठ बताया गया है।[38]

याज्ञवल्क्य वेद के दान को सभी दानों से श्रेष्ठ मानते हैं। वेद दान करने वाला ब्रह्मलोक में स्थाई निवास प्राप्त करता है। दान लेने का पात्र होते हुए भी जो व्यक्ति दान नहीं लेता वह उन सभी लोकों को प्राप्त करता है जो दान देने वाले को प्राप्त होते हैं। यह राजा का सर्वश्रेष्ठ धर्म है कि वह युद्ध में प्राप्त धन ब्राह्मणों को दान करे तथा प्रजा को अभयदान दें। इस प्रकार दान देना धर्म का सबसे महत्व-पूर्ण लक्षण है।[39]

लोभी तथा शास्त्र-विरुद्ध आचरण करने वाले राजा से दान ग्रहण करने वाला क्रमश: इक्कीस नरक में गमन करता है। ब्रह्मवादी एवं मरणोपरान्त मोक्ष की कामना करने वाले ब्राह्मण राजा का दान नहीं ग्रहण करते।[40]

इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने जहां दान देना एक महत्वपूर्ण धर्म-कार्य माना है, वहीं दान स्वीकार न करने वाले की भी प्रशंसा की है। इसका तात्पर्य सम्भवत: ऐसे लोगों को दान लेने से रोकना था जिन्हें उसकी आवश्यकता नहीं थी। ये निर्देश सम्भवत: सम्पत्ति के समाज में विभाजन की एकरूपता देने के लिए दिए गए थे।

कलियुग में दान करना महान् धर्म माना गया है।[41] स्वयं जाकर दिया गया दान श्रेष्ठ है। बुलाकर दिया जाने वाला मध्यम और मांग कर लिया गया दान अधम होता है। सेवा के बदले प्राप्त दान फलरहित होता है।[42]

शौच—इसके द्वारा शरीर, मन तथा बुद्धि को पवित्र रखा जाता है। गुरु वेद पढ़ाने के साथ-साथ विद्यार्थियों को शौच की भी शिक्षा देते थे। जिसमें शौच में आलस्य न करना तथा शौचोपरान्त सफाई आदि की शिक्षा निहित होती थी। शुद्धता के लिए जल के साथ मिट्टी का भी प्रयोग करने का निर्देश था। तीन बार जल पीकर, दो बार मुख धोकर, नाक, कान, आँख तथा मुंह को स्वच्छ-जल से साफ करना चाहिए। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य क्रमश: हृदय, कण्ठ, तालु तक जल पहुंचाने पर पवित्र होते हैं। स्त्री और शूद्र तालु से एक ही बार जल-स्पर्श करने पर शुद्ध हो जाते हैं।[43] शौच पर इस तरह का विचार मनु ने भी व्यक्त किया है।[44]

याज्ञवल्क्य का विचार है कि दाढ़ी, मुंछ, मुंह तथा दांत में लगे हुए जूठे अन्न को साफ कर देने से शरीर की शुद्धि हो जाती है। स्नान करके, पानी पीकर, क्षुत, शयन, भोजन तथा रथ पर चलने के पश्चात् वस्त्र धारण करके पुन: आचमन करने से भी शरीर की शुद्धि होती है।[45] पवित्रता से ही मनुष्य सात्विकता की ओर अग्रसर होता है। आंतरिक-पवित्रता शारीरिक-पवित्रता से सम्बद्ध रहती है और बाह्य एवं आभ्यंतर-शुचिता ही आत्म-साक्षात्कार की आधारशिला है जो मोक्ष-मार्ग की ओर उन्मुख करती है। यही जीवन का चरम-लक्ष्य है।

अतिथि सेवा—गृहस्थ के घर एक रात्रि रुकने वाला ब्राह्मण "अतिथि" होता है। उसके आने एवं ठहरने की तिथि का निश्चय न होने के कारण ही उसे अतिथि कहा जाता है। अतिथि-सेवा करना व्यक्ति का महत्वपूर्ण धर्म माना गया है। याज्ञवल्क्य ने अतिथि-सेवा को पंच-महायज्ञों में एक माना है। मनु तथा व्यास ने भी पंचमहायज्ञों में अतिथि-सेवा का उल्लेख किया है। पथिक को अतिथि समझना चाहिए। श्रोत्रिय और वेद के विद्वान्, मोक्ष की कामना करने वाले गृहस्थ के लिए अतिथि हैं। बहुत से अतिथियों के एक साथ आ जाने पर वर्णक्रम से उन्हें भोजन कराना चाहिए। सायंकाल में भी अतिथि आये तो यथाशक्ति मधुर वचन, भूमि, तृण, और जल से उसका आदर करना चाहिए।[46]

श्रोत्रिय-अतिथि के आने पर बड़ा बैल या बकरा उसके भोजन के लिए प्रस्तुत करने की प्रथा थी। इसके पश्चात् आचमन, आसन आदि से स्वागत करना चाहिए। उसके बैठ जाने पर उसके पास बैठकर भोजन से तृप्त करे और प्रिय वाणी बोले। जाते समय उसे गांव की सीमा तक पहुंचाना चाहिए।[47] अतिथि-सत्कार करने से मनुष्य को आयु, धन, यश तथा स्वर्ग की प्राप्ति होती है। व्यास ने तो यहां तक कहा है कि यदि कभी शत्रु भी अपने घर पर आ जाय तो उसका भी अतिथि-पूजन करना चाहिए।[48] अन्य आचार्यों ने भी इसका समर्थन किया है।[49] इस प्रकार भारतीय-संस्कृति में अतिथि-पूजन एक महत्वपूर्ण-धर्म है। इसके पालन से ब्रह्मलोक या मोक्ष-प्राप्त होने की बात कही गई है।

प्राचीन भारत में अतिथि-सेवा को इतना अधिक महत्त्व क्यों दिया गया यह बहुत स्पष्ट नहीं है। प्राचीन भारत में आज के समान धर्मशालाओं एवं होटलों की व्यापक स्तर पर व्यवस्था नहीं थी, किन्तु आवागमन होते रहते थे। फलस्वरूप भारतीय विचारकों ने यात्रियों की सुविधा को गृहस्थ के महत्वपूर्ण धर्म के रूप में स्वीकार किया और उससे होने वाले धार्मिक लाभ का प्रलोभन दे समाज में इस व्यवस्था को प्रचलित किया। इस दृष्टि से देखने से अतिथि-सेवा गृहस्थ का एक सामाजिक-कर्तव्य प्रतीत होता है।

विद्या—मानव-जीवन में विद्या या ज्ञान का एक विशिष्ट-महत्त्व है। विद्या व्यक्ति को असत् से सत् की ओर तथा अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाती है।

अज्ञान अन्धकार के समान है।[50] ब्रह्मा ने वेद की रक्षा तथा पितरों एवं देवगणों की तृप्ति तथा धर्म की रक्षा के लिए ब्राह्मणों की उत्पत्ति की। अध्यात्म-तत्व को भलीभांति जानने वाले ब्राह्मण सभी ब्राह्मणों में श्रेष्ठ होते हैं। तपस्या से ही विद्या की प्राप्ति होती है। तपस्या और विद्या एक-दूसरे के पूरक हैं। दोनों के संयोग से ही व्यक्ति श्रेष्ठ होता है।[51]

आत्मज्ञानी, पवित्र, शान्त-चित्त वाला, तपस्वी, जितेन्द्रिय, धर्मनिष्ठ तथा वेद विद्या का ज्ञान रखने वाला, सत्वगुण-युक्त व्यक्ति देवलोक में जन्म पाता है।[52] भारतीय विचारकों ने तीन लोकों की कल्पना की है। मनुष्य-लोक, पितृलोक तथा देवलोक। इनमें से मनुष्य-लोक सन्तान द्वारा ही जीता जा सकता है। पितृ-लोक यज्ञादि कर्म द्वारा और देवलोक विद्या द्वारा जीता जा सकता है। उपर्युक्त तीनों लोकों में देव-लोक ही श्रेष्ठ है इसलिए विद्या प्रशंसनीय मानी जाती है।[53] विद्या ने ब्राह्मणों से आकर कहा कि मैं तुम्हारा खजाना हूं। मेरी रक्षा करो, मेरी निन्दा करने वालों को मुझे मत सौंपो, इससे मैं अत्यन्त वीर्यवती बनूंगी।[54] जिसे तुम पवित्र, रक्षक, आलस्य-रहित, जितेन्द्रिय तथा ब्रह्मचारी समझो उसी ब्राह्मण को मुझे प्रदान करो।[55]

प्राचीन काल में विद्या को सर्वश्रेष्ठ धन माना गया है, क्योंकि विद्या विनय प्रदान करती है, विनय से सुपात्रता, सुपात्रता से धन, धन से धर्म और धर्म से सुख की उपलब्धि सम्भव मानी गयी है। अत: स्पष्ट होता है कि विद्या इहलौकिक एवं पारलौकिक इन दोनों सुखों की प्राप्ति की आधारशिला है। जो व्यक्तिगत हित के साथ-साथ समाज एवं राष्ट्र के हित का मार्गप्रशस्त करती है।

युगधर्म—समय तथा परिस्थिति के अनुसार कर्म एवं रूढ़िवादी प्रवृत्तियों का परित्याग करना युग-धर्म है। सांस्कृतिक-जीवन के नैतिक-मूल्य समय-समय पर भिन्न-भिन्न रहे हैं। महाभारत के अनुसार प्रत्येक युग (कृत, त्रेता, द्वापर एवं कलि) अपने-अपने युग के धर्म व्यक्त करते हैं। मनु ने विनायक-पूजा तथा ग्रहशान्ति का उल्लेख नहीं किया है। इसके विपरीत याज्ञवल्क्य ने विस्तार के साथ इनका उल्लेख किया है।[56] फलत: याज्ञवल्क्य के समय में इनका प्रचलन अधिक रहा होगा। मनु ने ब्राह्मणों को शूद्र-कन्या के साथ भी विवाह की अनुमति दी है।[57] इसके विपरीत याज्ञवल्क्य ने इसका विरोध किया है।[58] स्पष्ट है कि वे सामयिक-परिस्थितियाँ जिनके चलते मनु ने शूद्रा के साथ विवाह की अनुमति दी थी, याज्ञवल्क्य के समय तक पूर्णतया समाप्त हो चुकी थी। इसीलिए उन्होंने अपने समय की स्थिति एवं सामाजिक-धारा के आधार पर ऐसे विवाह का विरोध किया।

अत: युग के अनुसार युग-धर्म का विधान होता है। सतयुग में तप, त्रेता में ज्ञान, द्वापर में यज्ञ और कलि में केवल दान को ही 'धर्म' कहा गया है। याज्ञवल्क्य ने भी दान को धर्म का लक्षण स्वीकार किया है।[59]

देवी-देवता

दुर्गा – याज्ञवल्क्य ने दुर्गा की स्तुति करने का उल्लेख किया है ।[60] विष्णु की योग-निद्रा महायमाया की प्रतिष्ठा दुर्गा के रूप में हुई मानी जाती है । उनका वर्ण लाल सूर्य जैसा और मुख पूर्ण-चन्द्र जैसा है । चतुर्मुख तथा चतुर्भुज हैं । आगे चलकर उनकी कल्पना अष्टभुज के रूप में की गयी । अपनी भुजाओं में वर, वरद एवं अभय मुद्राएं तथा पंकज, घंट, पाश, धनु व महाचक्र धारण किये हैं । उनके कानों में कुण्डल, सिर पर मुकुट और कटि-सूत्र तक लटकती वेणी है । देवी को महिषासुर-मर्दिनी एवं विन्ध्यवासनी बताया गया है ।[61] युधिष्ठिर की स्तुति से प्रसन्न होकर भगवती ने उन्हें निर्विघ्न अज्ञातबास का वर दिया था ।[62]

दुर्गा का अर्थ हर प्रकार की दुर्गति से उद्धार करने वाली है । इसी कारण उपासक भगवती की दुर्गा के नाम से उपासना करते हैं ।[63] दुर्गापूजा महानवमी के दिन विधिवत की जाती थी ।[64] पूर्वमध्यकालीन अभिलेखों से भी दुर्गा-पूजा की सूचना मिलती है जो शक्ति का उग्र रूप मानी गयी है ।[65] आज भी यह परम्परा हिन्दू परिवार में परिपालित होती है ।

अम्बिका— याज्ञवल्क्य के समय में अम्बिका की पूजा होती थी । शान्ति एवं समृद्धि के लिए लोग उन्हें फूल, चन्दन, दही, गुड़, लड्डू आदि से समय-समय पर पूजते थे ।

अम्बिका की पूजा याज्ञवल्क्य के समय में रूप, यश कल्याण, पुत्र एवं धन आदि कामनाओं की पूर्ति के लिए की जाती थी ।[66] आज भी भारतीय हिन्दू समाज से लोग अम्बिका देवी की पूजा करते हैं । ये ऐश्वर्य की अधिष्ठात्री देवी हैं ।

इन्द्र —इन्द्र देवताओं का राजा कहा गया है । इसकी स्तुति करने से व्यक्ति का कल्याण होता था ।[67] यह युद्धभूमि में विजयश्री दिलाने वाला तथा शत्रुओं को पर्वतों की गुफाओं में खदेड़ने वाला शक्तिशाली देवता था ।[68] नारद ने युधिष्ठर को इन्द्र की सभा के बारे में बताते हुए कहा है कि इन्द्र का प्रधान अस्त्र वज्र है । उसका मन्त्री बृहस्पति है । इन्द्र ने वृत्तासुर का बध किया था । इन्द्र-सभा में देवताओं तथा देवर्षियों का समागम होता है । उर्वशी, रम्भा आदि अप्सराएं नृत्य-गीत से उनका मन बहलाती हैं ।[69]

ऋग्वेद के अनुसार वह द्युलोक का प्रधान देवता था । उसका उल्लेख देवताओं के शासक के रूप में भी हुआ है । यज्ञों में भी इन्द्र की प्रमुखता थी । वह वीरता का प्रतीक था । बन्धन से मुक्त करवाने के लिए गृत्समद द्वारा की गयी इन्द्र की स्तुति में इन्द्र की वीरता का संकेत है । अपनी इच्छानुसार कोई भी रूप धारण कर लेने में वह सक्षम है ।[70] इसे वर्षा का देवता माना जाता है । इन्द्र की पूजा आज भी होती है ।

वरुण—यह जल का देवता है। इसे आकाश, पृथ्वी और सूर्य का निर्माता माना जाता है। मायारूप में वह सर्वत्र रहता है। इसका सम्बन्ध 'आप' से स्थापित किया गया है जिसका तात्पर्य जल से है। वह सभी प्राणियों के गुण एवं अवगुण का ज्ञाता है। समाज में उसकी पूजा होती थी। वह कल्याणकारी देवता है। क्षमा उसका मुख्य गुण है।[71] वह सत्य का ज्ञाता है, इसलिए सत्य-परीक्षाओं में कहा गया है कि हे वरुण तुम सत्य द्वारा मेरी रक्षा करो। इस प्रकार जल का आह्वान करके नाभि तक जल में खड़े हुए पुरुष की जांघों को पकड़ कर जल में डुबकी लगवायी जाती थी। यदि वह निर्दोष होता तो पानी में डूबा हुआ ही रहता है, अपराधी होने से जल के ऊपर आ जाता है। जल उसका निवास है।[72] उनकी शक्ति का नाम माया है जिसके माध्यम से वे जगत् का संचालन करते हैं। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि वरुण मधुमान जलबिन्दुओं की वर्षा करके जगत को मधुमयी तथा मोदमयी बनाता है। महादेव ने उन्हें जल के अधिपति पद पर नियुक्त किया है।[73]

ऋग्वेद में कहा गया है कि सत्कर्मी सुख भोगता है और दुष्कर्मी दुःख भोगता है। पर पापी प्रायश्चित्त करते हुए यदि वरुण को आत्मसमर्पण कर दे तो वह दोष से छूट जाता है। इसे वैष्णव-धर्म का बीज-देवता मान सकते हैं। अस्तु इसके साथ वैष्णव-धर्म की उत्पत्ति किसी न किसी रूप में जोड़ी जा सकती है।[74]

वायु—याज्ञवल्क्य के समय में वायुदेव की भी पूजा होती थी। वह मनुष्य के कल्याणकारी देवता थे। याज्ञवल्क्य के अनुसार वायु की उत्पत्ति आदिदेव के स्पर्श से हुई है।[75]

अग्नि—तत्कालीन समाज में अग्नि देवता का अत्यधिक मान था। याज्ञवल्क्य अग्नि की उत्पत्ति आदिदेव के मुख से मानते हैं।[76] अग्नि ने नारियों को पवित्रता प्रदान की है। गृहस्थ प्रतिदिन विवाहाग्नि अथवा विभाजन के समय अग्नि में आहुति देता था। अग्नि पवित्र देवता था। वह सत्य को प्रकट करता था। याज्ञिक-कार्य अग्नि के माध्यम से ही सम्पन्न होते थे। सूर्य की तरह प्रकाशमान होने के कारण सूर्य को भी अग्नि का ही रूप मानते थे।[77] देवताओं तक आहुति उसी के माध्यम से पहुंच कर उन्हें आनन्द प्रदान करती थी।[78] अग्नि को मित्र, बन्धु तथा पिता भी कहा गया है।[79] यह सम्भवतः अग्नि की मनुष्य के लिए उपयोगिता के कारण कहा गया है।

रुद्र—रुद्र, शिव, महादेव, शंकर आदि नामों द्वारा जिस देवता की कल्पना का बोध होता है, उसके उग्ररूप को रुद्र कहते हैं। याज्ञवल्क्य ने रुद्र को श्राद्ध-देवता कहा है। श्राद्ध से तृप्त होकर वह पितरों को तृप्त करते हैं। फलतः पितर प्रसन्न होकर दीर्घ-जीवन, सन्तान, धन, विद्या, मोक्ष, आनन्द एवं राज्य प्रदान करते हैं।[80]

महाभारत के अनुसार रुद्र-मूर्ति संहार का परिचायक है, किन्तु उनकी शान्त, एकाग्रचित्त, योगीन्द्र-मूर्ति कल्याणकारी है। स्तुति-वन्दना में प्रत्येक देवता को सर्व-

मंगलमय तथा सर्वशक्तिमान रूपों में देखा है ।[81] रुद्र का संहाररूप वैदिक स्तुतियों में विशेष रूप से दिखायी देता है । इसी संहार से अपनी वश-परम्परा, पशु तथा घर को बचाने के उद्देश्य से रुद्र की उपासना की जाती थी और उन्हें हवि प्रदान की जाती थी । वे प्राणिमात्र की चिन्ता करते हैं तथा साथ ही प्रायः सभी देवताओं को देखते हैं ।[82]

रुद्र की उत्पत्ति सभी देवगणों के उग्र अंशों के समन्वय से हुई थी । स्वयं अपनी कन्या पर मुग्ध प्रजापति को दण्डित करने के लिए ही रुद्र की उत्पत्ति हुई थी ।[83] कल्याण के उद्देश्य से उसे हवि दी जाती थी । शतरुद्रिय से उनके क्रोध को शान्त करते थे ।[84] उनको प्रसन्न करने के लिए ग्राम की सीमा से बाहर पशुबलि की व्यवस्था की जाती थी ।[85] कालान्तर में शिवपूजा का बहुत विकास हुआ । सामान्य जनों के अतिरिक्त अनेक राजा भी उनकी उपासना करते थे ।[86] वाराणसी शैव-धर्म का एक प्रधान केन्द्र था और यहां एक-सौ शिव मन्दिर थे ।[87] कल्चुरी-अभिलेखों में शिव को परम-ब्रह्म, देवदेव और जगद्गुरु कहा गया है, जिसकी सेवा में ब्रह्मादि अनेकानेक देव लगे रहते हैं ।[88] सम्भवतः कुषाण-काल में शिव-पूजा का अधिक प्रचार हुआ । कुषाणों के सिक्कों पर शिव के चित्रण काफी मात्रा में मिलते हैं । हर्ष भी शिव का उपासक था ।[89] पूर्वमध्यकाल में उत्तर-भारत में प्रतिहार, गहड़वाल और चन्देल शासकों के सहयोग से शैव-धर्म का अनुपम विकास हुआ तथा स्थाण-वीश्वर से लेकर कन्नौज तक और बुन्देलखण्ड के खजुराहों-कालिंजर में उदयन द्वारा एक मनोरम शिव-मन्दिर की स्थापना की गई थी ।[90]

वासुदेव—याज्ञवल्क्य के समय में वासुदेव की भी स्तुति होती थी । याज्ञवल्क्य ने इन्हें भी श्राद्ध-देवता माना है । यह भी सब तरह से कल्याणकारी देव थे ।[91] वासुदेव सम्भवतः कृष्ण का आरम्भिक नाम था और इनकी उपासना करने वाले "वासुदेवक" कहे जाते थे ।[92] वासुदेव उपासना का उल्लेख कुछ प्रारम्भिक अभिलेख भी करते हैं । बेसनगर (द्वितीय ई०पू०) के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि तक्ष-शिला में यूनानी दून होलिओ डोरस ने देवाधिदेव वासुदेव के सम्मान में एक गरुड़-ध्वज स्थापित कराया था । पहली सदी ई० पू० के नानाघाट अभिलेख से भी संकर्षण और वासुदेव का उल्लेख है, जो तद्युगीन वासुदेव-पूजन का प्रचलन स्पष्ट करता है ।[93]

ब्रह्मा—हिन्दू-धर्म में ब्रह्मा का स्रष्टा के रूप में प्रमुख स्थान है । उन्हें प्रजा-पति भी कहा जाता था । सम्पूर्ण लोकों की सृष्टि करने वाले ब्रह्मा की उत्पत्ति पर-मात्मा द्वारा जल में छोड़े गये बीज से हुई थी ।[94] याज्ञवल्क्य के अनुसार ब्रह्मा ने तपस्या करके वेद की रक्षा के लिए तथा देवताओं एवं पितरों की तृप्ति और धर्म की रक्षा के लिए ब्राह्मणों को उत्पन्न किया था ।[95]

प्रजापति को प्रजा का सर्जक माना गया है ।[96] बाल्मीकि के अनुसार ब्रह्मा

लोककर्त्ता थे ।[97] प्रजा का परिपालन करने के कारण उन्हें प्रजापति की संज्ञा दी गयी थी ।[98] ब्रह्मा स्वयंभू, चतुर्मुख, वागीश और सम्पूर्ण संसार के सृष्टिकर्ता के रूप में भी मान्य थे ।[99]

इन्द्र, यम, वरुण आदि की भाँति ब्रह्मा को भी पूजा में बलि का अंश दिया जाता था।[100] ब्रह्मा के स्वरूप और उनके वाहन का चित्रांकन अजन्ता की चित्रकला में देखने को मिलता है। वहां ब्रह्मा के तीन मुख दिखाये गये हैं तथा उनके वाहन हंस का भी चित्रांकन मिलता है ।[101]

यम —याज्ञवल्क्य-स्मृति में यम का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। पर यह कहा गया है कि यम मृत्यु के अधिपति हैं। अन्त्येष्टि करते समय यमसूत्र तथा गाथा का पाठ करना चाहिए ।[102] सावित्री उपाख्यान में उनके स्वरूप का चित्रण मिलता है। उनका वर्ण कृष्ण, आंखें लाल और शिखा बंधी हुई है। उनके वस्त्र लाल हैं, हाथ में पाश है और आकृति भयंकर है। यम पितृलोक के अधिपति हैं ।[103] ई० पू० प्रथम शताब्दी के नाना घाट अभिलेख में भी यम का उल्लेख हुआ है,[104] जो तत्कालीन समाज में यम पूजन का प्रचलन स्पष्ट करता है। रामायण में यम को लोकपाल इन्द्र, यम वरुण और कुबेर के अन्तर्गत रखा गया है। इन्हें क्रमशः पूरब, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर का अधिपति-देव बताया गया है [105] प्राचीन भारत में इन्द्र, ब्रह्मा, वरुण आदि के साथ यमदेव की पूजा का भी विधि-विधान था ।[106] याज्ञवल्क्य-स्मृति में यमदेव के स्वरूप आदि का उल्लेख नहीं है। अजन्ता में यमदेव को अन्य दिकपालों के साथ भैंसे पर सवार चित्रित किया गया है ।[107]

गणपति अथवा गणेश—प्राचीन भारतीय धार्मिक-जीवन में गणेश का विशेष महत्त्व था। गणपति का उल्लेख वेदों में हुआ है, जहां उनका नाम "ब्रह्मणस्पति" मिलता है। ब्रह्मणस्पति के अनेक मंत्रों में "गणपति" शब्द विशेष रूप से व्यवहृत है ।[108] गणपति का शाब्दिक अर्थ है, "गण" अर्थात् समूह का स्वामी। इसी अर्थ के आधार पर उन्हें गणेश भी कहा गया है। विनायक नाम का उल्लेख भी उनके लिए प्रयुक्त होता है, जो विचरण करने वाली आत्माओं के लिए प्रयुक्त होता है। रुद्र के अनेक गण हैं। इनमें मरुत भी है जिनके स्वामी गणपति हैं। कार्यों को सम्पन्न करने एवं उसमें विघ्न डालने के लिए रुद्र एवं ब्रह्मा ने विनायक को पुष्पदन्त आदि गणों का अधिपति बनाकर नियुक्त किया है। विनायक से ग्रस्त व्यक्ति के लक्षण याज्ञवल्क्य ने इस प्रकार बताये हैं। स्वप्न में जल में बहुत स्नान करता है, सिरमुंड पुरुषों को देखता है, गेरुआ वस्त्र धारण किये हुए पुरुषों को देखता है। मांसभक्षी पक्षी तथा व्याघ्र आदि पशु की सवारी करने का स्वप्न देखता है, खिन्न रहता है और अपना इच्छित फल नहीं पाता तथा बिना कारण दुःखी रहता है ।[109]

विनायक से त्रस्त राजपुत्र राज्य नहीं पाता, कन्या वर नहीं पाती, भार्या को गर्भ नहीं ठहरता, वेदपाठी को आचार्यत्व नहीं मिलता और विद्यार्थी अध्ययन से

वंचित रहता है, वणिक् तथा कृषक को लाभ नहीं होता है। इससे बचने के लिए विनायक से अभिभूत व्यक्ति को भद्र आसन पर बैठाकर उसके शरीर में सभी प्रकार की औषधि एवं लेप लगाकर श्रेष्ठ ब्राह्मणों से स्वस्ति-वाचन कराना चाहिए। इसके पश्चात् घुड़साल, गजशाल, बाल्मीक, नदी के संगम और पोखारे की मिट्टी, गोरोचन, चन्दन आदि गन्ध तथा गुग्गुल आदि उस जल में छोड़ना चाहिए। यह जल एक ही वर्ण के चार घड़ों में गहरे जलाशय से लिया गया होना चाहिए। श्रीपर्णी आदि के बने हुए उत्तम आसन की व्यवस्था होनी चाहिए। इसके बाद पवित्र जल से उसका अभिषिचन करना चाहिए। इस प्रकार उसके सभी दोष जल देवता नष्ट कर देते हैं। स्नान समाप्ति के बाद वृक्ष की स्रुवा तथा सरसों के तेल का हवन कराना चाहिए। मित, संमित, शाल, कंटकट, कूष्माण्ड और राजपुत्र के अन्त में स्वाहा जोड़कर हवन के मंत्र होते हैं। इन मन्त्रों से इन्द्र से ब्रह्मा तक अन्यान्य देवताओं को नमस्कारपूर्वक बलि देनी चाहिए। सूप में कुश बिछाकर चौराहे पर उसे रखने का भी विधान था। इन क्रियाओं के बाद माला, दही, गुड़, मांस, चावल, तिल आदि लेकर अम्बिका को नमस्कार करना था। नमस्कार के मंत्र इस प्रकार हैं—देवि ! मुझे रूप दो, यश दो, कल्याण दो, पुत्र दो, धन दो और सभी अभिलाषाएँ पूरी करो।[110]

इसके अनन्तर श्वेत-वस्त्र और श्वेत-पुष्प की माला धारण करके चन्दन तथा सुगन्धित वस्तुओं का लेप करके ब्राह्मणों को भोजन कराना एवं गुरु को दक्षिणा एवं वस्त्र देना चाहिए। इस प्रकार विनायक एवं ग्रहों की विधिपूर्वक पूजा से सभी कर्मों का फल प्राप्त करना सम्भव था। महागणपति की पूजा करने वाले व्यक्ति को सिद्धि प्राप्त होती थी।[111]

गणेश्वरों और विनायकों का उल्लेख महाभारत में देवताओं के साथ हुआ है, जो मानवीय क्रियाकलापों को देखते-परखते हुए सर्वत्र विद्यमान रहते हैं। उनकी स्तुति में उन्हें अनिष्टों को दूर करने वाला और सभी जगह व्याप्त रहने वाला कहा गया है।[112]

पंचायतन-पूजा में गणेश को अन्तिम स्थान (विष्णु, शिव, सूर्य, दुर्गा तथा गणेश) दिया गया है। यद्यपि हिन्दू धर्म में गणेश की पूजा सर्वप्रथम की जाती है। परन्तु लेखों तथा कलात्मक उदाहरणों से गणेश पूजा का अधिक प्रचार नहीं ज्ञात होता है। कई शैव-प्रशस्तियों में गणेश, शिव, पार्वती के साथ प्रार्थना में सम्मिलित हैं।[113] वैष्णव अभिलेख भी "ओं गणपतये नमः" से प्रारम्भ होते हैं। आरम्भ के श्लोकों में गणपति की स्तुति मिलती है।[114] विनायक नाम से जैन लोग भी गणेश की पूजा करते थे।[115] चन्देल-प्रशस्ति में गणेश को विनायक कहा गया है।[116]

ब्रह्मपुराण के अनुसार वाराणसी में गणेश की नित्य-प्रति पूजा होती थी।[117]

संस्कारों के अवसर पर, यात्रा के समय, वाणिज्य तथा कार्य की कठिनाई में जो व्यक्ति गजानन की स्तुति करता है, उसके सभी कार्य सफल होते हैं।[118]

सम्भवत: तद्युगीन समाज में गणपति या विनायक की पूजा अधिक प्रचलित थी। खजुराहों में गणपति की अनेक मूर्तियां उपलब्ध हैं।[119] कनिंघम के विचार से वहां गणपति का एक मंदिर भी था, जो अब पूर्णतया लुप्त हो गया है।[120] महाराष्ट्र में गणेश प्रमुख-देवता के रूप में पूजे जाते हैं। प्रत्येक धार्मिक विधान के प्रारम्भ में तथा विशेष अवसरों पर वे आज तक बड़ी श्रद्धा से पूजे जाते हैं। पृथ्वी पर स्यात् ही किसी देवी-देवता का प्रभाव इतने व्यापक रूप में फैला हो।[121]

त्रिवेन्द्रम की कला में हाथी-दांत की बनी हुई शिव और पार्वती की मूर्तियां उपलब्ध हैं। शिव के बाईं ओर पार्वती की मूर्ति है। दाहिनी ओर गणेश की मूर्ति बनी है। इसी प्रकार अजमेर संग्रहालय में पत्थर की बनी हुई शिव और पार्वती की मूर्तियों के निचले भाग में गणेश की मूर्ति है। यह मूर्ति शैशवावस्था की है तथा नग्न है।[122]

वर्तमान समय में भी हिन्दू मन्दिरों में गणेश की मूर्तियां तीन मुद्राओं में प्रस्थापित मिलती हैं—खड़ी, बैठी और नृत्य करती हुई। सभी मूर्तियों में गजमस्तक और बड़ा उदर चित्रित है। इनका वाहन मूषक है।

नवग्रह—हिन्दू ज्योतिषशास्त्र में सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुद्ध, वृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु और केतु को नवग्रह कहा जाता है। भारत के विभिन्न भागों में नवग्रह पूजा की परम्परा प्राचीन काल से ही चली आ रही है।[123] समृद्धि, शान्ति, वृष्टि (कृषि के लिए), दीर्घायु, पुष्टि एवं अभिचार (शत्रु-विनाश) की कामना करने वाले व्यक्ति, स्वर्ण, रजत, ताम्र आदि से निर्मित अथवा सुगन्धित लेप द्वारा पटलिखित नवग्रह प्रतिमाओं का पूजन याज्ञवल्क्य के अनुसार करते थे। याज्ञवल्क्य ने नवग्रहों का उल्लेख इस प्रकार किया है—सूर्य, चन्द्रमा, मंगल, बुध (चन्द्रमा का पुत्र), वृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु और केतु।[124]

गरुड़ पुराण में भी इसका इसी क्रम में उल्लेख आया है।[125] सम्बद्ध ग्रह के रंग के अनुसार उसे उस रंग का वस्त्र एवं पुष्प देना चाहिए। गंध, बलि, धूप तथा गुग्गुल आदि भी प्रदान करना चाहिए। इनमें से प्रत्येक देवता के लिए मंत्रोच्चारण के साथ चरु आदि बनाकर उसका हवन करना ही इन ग्रहों की पूजा विधि थी। इन ग्रहों के मंत्रों का उल्लेख भी याज्ञवल्क्य ने किया है।[126] आर्क, पलाश, खदिर, अपामार्ग, पीपल, उदुम्बर, शमी, दूर्वा एवं कुश ये क्रमश: इन नौ ग्रहों के लिए समिधा के रूप में प्रयुक्त होते थे। प्रत्येक ग्रह के लिए आठ-आठ सौ या अट्ठाइस-अट्ठाइस समिधाएं थीं, दूध और मधु में भिगोकर हवन करना चाहिए।[127]

ग्रहों को प्रसन्न करने के लिए उन्हें गुड़-मिश्रित भात, खीर, हविष्य, दूध के साथ साठी का भात, दही-भात, घी-भात, भक्ष्य-मांस युक्त-भात, तिलयुक्त-भात, अनेक

वर्णों के चावल का भात अर्पित करना चाहिए। तदनन्तर ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए। इसके पश्चात् दक्षिणा के रूप में ब्राह्मणों को गाय, शंख, बैल, स्वर्ण, पीतवसन, पाण्डुवर्ण का अश्व, कृष्ण गाय, लोहे के अस्त्र-शस्त्र आदि भी प्रदान करना चाहिए। ब्रह्मा ने इन ग्रहों को वर दिया था कि पूजा होने पर, तुम लोग पूजा करने वाले को सुख, शान्ति एवं प्रसन्नता प्रदान करोगे।[128] सम्भवत: इन्हीं के लिए ग्रह-पूजा की जाती रही होगी।

राजाओं का उत्थान एवं पतन वरन् जगत् की सृष्टि एवं विनाश भी ग्रहों के अधिकार में है। इसी को दृष्टि में रखकर इन ग्रहों की पूजा होती है। इनकी पूजा करने वाला व्यक्ति स्वस्थ एवं शक्ति सम्पन्न होकर सौ वर्ष का दीर्घ जीवन प्राप्त करता है।[129]

भारत के अनेक मन्दिरों में नवग्रह प्रतिमाएं मिलती हैं। उत्तर भारतीय मन्दिरों में इनकी पृथक-पृथक् मूर्तियां उपलब्ध नहीं हैं, वरन् सभी ग्रह सामूहिक रूप से शिला-पट्टों पर उत्तरंग के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। इसके विपरीत दक्षिण भारतीय मन्दिरों में प्रत्येक ग्रह की पृथक-पृथक् मूर्तियां प्राप्त हैं और उनकी स्थापना भी प्रत्येक ग्रह के लिए अलग-अलग बने मण्डपों में हुई है।[130] उत्तर एवं दक्षिण भारतीय नवग्रह चित्रण में यह एक महत्वपूर्ण अन्तर है।[131] आज भी इन ग्रहों की पूजा होती है।

यज्ञ

याज्ञवल्क्य के समय में यज्ञ का स्वरूप दो प्रकार का था—नित्य और नैमित्तिक। नित्य-यज्ञ पंचमहायज्ञों के रूप में थे, जिनका विवरण गृहस्थाश्रम के प्रकरण में दिया जा चुका है। अपने कार्य की सिद्धि के उद्देश्य से यजमान अपने पुरोहितों की सहायता से नैमित्तिक-यज्ञ करवाते थे। ऐसे उद्देश्य अन्यान्य प्रकार के हो सकते थे, जिनकी सीमा के भीतर प्राय: सभी प्रकार की इहलौकिक तथा पार-लौकिक सिद्धियां आ सकती थीं।[132] मनुष्य की सभी क्रियाओं में याज्ञिक-क्रिया ही श्रेष्ठ मान्य थी।[133]

तद्युगीन समाज में अग्निहोत्र-यज्ञ का विधान था। यह यज्ञ ब्रह्मचर्य काल से लेकर मोक्ष प्राप्ति तक प्रत्येक व्यक्ति को करना पड़ता था। जययज्ञ भी होता था। गृहस्थ को सोम, पशु-प्रत्ययन, ग्रहेष्टि और चातुर्मास्य यज्ञों का करना आवश्यक था। इनके अभाव में वह वैश्वानरी-इष्टि की जाती थी।[134]

अन्य यज्ञों की सूचना भी याज्ञवल्क्य-स्मृति से मिलती है। विधिपूर्वक प्रचुर दक्षिणा के साथ राजा लोग राजसूय-यज्ञ करते थे। कुछ लोगों की धारणा है कि यह यज्ञ वही व्यक्ति कर सकता है जिसने वाजपेय-यज्ञ न किया हो, किन्तु अन्य लोगों के मत मे वाजपेय-यज्ञ के उपरान्त ही यह किया जा सकता है। अश्वमेध

यज्ञ भी राजा करते थे ।[135] इन यज्ञों की सूचना प्रथम शती ई० पू० के नानाघाट गुहा-अभिलेख से भी मिलती है जिसमें यज्ञों के नाम तथा दान की विस्तृत विवेचना की गयी है ।[136] गुप्त शासक समुद्रगुप्त एवं कुमारगुप्त प्रथम ने अश्वमेध यज्ञ की स्मृति में अश्वमेध प्रकार के अपने सोने के सिक्के प्रचलित किए थे ।[137]

शूद्र से भिक्षा लेकर यज्ञ करने वाला ब्राह्मण चाण्डाल होता है । इसी प्रकार यज्ञ के लिए प्राप्त सम्पूर्ण धन न देने वाला व्यक्ति भाष या कौआ होता है ।[138]

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि द्रव्यहीन व्यक्ति यज्ञ नहीं कर सकता था । इसी दोष के कारण सम्भवत: यज्ञ का महत्त्व धीरे-धीरे कम होता गया और ज्ञान तथा भक्ति का उत्थान होने लगा । व्यास ने यज्ञ की अपेक्षा ज्ञान को ही उत्तम साधन के रूप में प्रतिपादित किया है ।[139]

दार्शनिक-विचार

याज्ञवल्क्य-स्मृति में भारतीय संस्कृति, धर्म एवं दर्शन का सुन्दर समन्वय है । याज्ञवल्क्य-स्मृति के प्रायश्चित्ताध्याय के यति-धर्म-प्रकरण में जीवात्मा की उत्पत्ति, जीवात्मा का स्वरूप, उसका गन्तव्य, जगत् का स्वरूप, जीवात्मा का जगत् के साथ सम्बन्ध, कर्म और पुनर्जन्म, मोक्ष तथा देवयान, पितृयान एवं अन्य दार्शनिक विषयों की चर्चा की गयी है । इस अध्याय में ब्रह्म और आत्मा से सम्बन्धित विचारों का भी उल्लेख है । इस स्मृति में याज्ञवल्क्य के अद्वैतवादी विचारों का प्रतिपादन है । बृहदा-रण्यक में अतिकुशलता के साथ याज्ञवल्क्य ने अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया है, किन्तु याज्ञवल्क्य-स्मृति में इस सिद्धान्त का संक्षिप्त उल्लेख है । याज्ञवल्क्य-स्मृति में प्रतिपादित प्रमुख दार्शनिक विचारों का अध्ययन इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है ।

तत्त्व विचार

याज्ञवल्क्य-स्मृति में ब्रह्म या आत्मा को मूल-तत्व स्वीकार किया गया है । यहां ब्रह्म एवं आत्मा शब्द का समानार्थक प्रयोग है । वह इस कथन से प्रमाणित है कि जहां एक ओर ब्रह्म से अनेक जीवात्मा की उत्पत्ति बतायी गयी है वहीं यह भी कहा गया है कि आत्मा ही अनेक शरीर धारण करता है । इस आत्मा से ही सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न है । आत्मा समग्र इकाई है, किन्तु यह अज्ञान के कारण या समष्टि-व्यष्टि भेद के कारण अनेक प्रतीत होता है, ठीक वैसे ही जैसे आकाश एक ही है किन्तु घट आदि पात्रों में पृथक्-पृथक् अनेक प्रतीत होता है एवं जिस प्रकार सूर्य एक होता हुआ भी भिन्न-भिन्न जलाशयों में अनेक प्रतीत होता है ।[140]

बृहदारण्यक में भी आत्मा को समग्र माना गया है । तथा अविद्या के कारण इसे नाना रूपात्मक भी स्वीकार किया गया है । यह आत्मा ही उपाधिभेद से नानाविध प्रतीत होता है तथा यह आत्मा ही ब्रह्म है । इससे भिन्न किसी सत्ता की परिकल्पना भी नहीं की जा सकती है ।[141] याज्ञवल्क्य-स्मृति में आत्मा की सिद्धि के लिए

प्रमाण दिए गए हैं।[142] आत्मा सत्य है यदि उसका अस्तित्व नहीं रहता तो अतीत काल के अनुभव की स्मृति नहीं हो पाती तथा स्वप्न का ज्ञान कौन करता ? जाति, रूप, आयु, वृत्त, विद्या का अहंकार कौन करता तथा भोगों के भोग के लिए उद्योग कौन करता ? यह आत्मा वाणी, बुद्धि आदि से भिन्न तत्व है। याज्ञवल्क्य-स्मृति में आत्मा के स्वयं-प्रकाशस्वरूपता एवं स्वप्रमाण का उल्लेख नहीं मिलता। यहां लौकिक क्रियाओं, स्वप्न आदि के माध्यम से ही आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयास किया गया है जबकि बृहदारण्यक के याज्ञवल्क्य इसे स्वयं-प्रमाण, स्वयं-ज्योति स्वीकार करते हैं।[143]

जीव-विचार

आत्मा ही अज्ञान के कारण अनेक रूप में प्रतीत होता है। यह निमित्त है, अविनाशी है, कर्त्ता है, ज्ञाता है, ब्रह्म-रूप है, स्वतन्त्र है तथा अजन्मा है, किन्तु शरीर धारण करने पर यह कहा जाता है कि आत्मा का जन्म हुआ। सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा आकाश आदि पंच-तत्वों की रचना करता है और जीवन बनकर उन सबको धारण करता है। जीव की उत्पत्ति के सन्दर्भ में स्मृति में यज्ञ द्वारा जीव की सृष्टि का विशेष उल्लेख मिलता है। याज्ञवल्क्य-स्मृति के अनुसार यजमान की आहुतियों से सूर्य पुष्ट होते हैं। सूर्य से वृष्टि होती है और वृष्टि से औषधियां (अन्न) उत्पन्न होती हैं और अन्न खाने से वीर्य बनता है तथा स्त्री और पुरुष के संयोग से वीर्य और रज के मिलकर शुद्ध होने पर पंचतत्त्वों को आत्मा स्वयं ही एक साथ ग्रहण करता है। इस बात का ठीक इसी प्रकार उल्लेख मनुस्मृति में भी मिलता है।[144] बृहदारण्यक के पंचाग्नि-विद्या प्रकरण में यज्ञ से स्थूल-शरीर (जीव) की उत्पत्ति का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। इसके अतिरिक्त ब्रह्म के अंगभूत से भी जीवात्मा की उत्पत्ति बतायी गयी है। ब्रह्म के मुख, बाहु, ऊरु और पैर से चारों वर्णों की उत्पत्ति याज्ञवल्क्य-स्मृति में बतायी गयी है। ब्रह्म के नासिका से प्राण, श्रोत्र से दिशाएं, स्पर्श से वायु, मुख से अग्नि, मन से चन्द्रमा, नेत्रों से सूर्य, जंघों से अन्तरिक्ष एवं चर और अचर जगत् की उत्पत्ति का भी उल्लेख है।[145] इसका उल्लेख ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में भी मिलता है। जीव सुख-दुःख, क्लेशादि का अनुभव करने वाला कर्त्ता तथा फलभोक्ता है। यह जन्म-जन्मान्तर पुण्य, पाप, स्वर्ग-नरक आदि का भागी होता है।[146]

जगत्-विचार

जगत् वह स्थली है जहां जीव कर्म करता है तथा अपने कर्मों के अनुरूप पुण्य, पाप, स्वर्ग, नरक आदि का अधिकारी बनता है। आत्मा से जगत् की उत्पत्ति बतायी गयी है। आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी से जड़-जगत् की रचना होती है। जड़-शरीर की रचना में भी यही तत्व विद्यमान है। आत्मा सहित इन तत्वों के समुदाय से चर और अचर संसार की उत्पत्ति होती है। याज्ञवल्क्य-स्मृति में इसे

एक उपमा द्वारा समझाया गया है, जिस प्रकार कुम्भकार, मिट्टी, दण्ड और चक्र के संयोग से घड़ा बना देता है, घर बनाने वाला जैसे मिट्टी और लकड़ी से घर बना देता है, स्वर्णकार सोने से नानाविध आभूषण बना देता है, जिस प्रकार मकड़ी अपने लार से अपना जाला बना डालती है, उसी प्रकार आत्मा भिन्न-भिन्न योनियों में भिन्न--भिन्न शरीर के रूप में अपना प्रकटीकरण कराती है।[147] आत्मा अनादि है, उसका शरीर से युक्त होना ही जन्म-ग्रहण कहा गया है। आत्मा से ही पृथ्वी आदि सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति होती है और पृथ्वी आदि प्रपंच से आत्मा स्थूल शरीर में उत्पन्न होती है। जगत् परिवर्तनशील, विकारी है तथा इसका लय होने पर यह आत्मा में ही विलीन हो जाता है। अग्नि और चिंगारी, मकड़ी और उसके जाले के उदाहरण द्वारा वृहदारण्यक में सृष्टि की उत्पत्ति को बताया गया है।[148]

मुक्ति-विचार

मोचनार्थक अर्थ में मुच् धातु से मुक्ति बनता है जिसका शाब्दिक-अर्थ छुटकारा पाना है। सांसारिक-क्लेश, अविद्या एवं भोगों से छुटकारा पाना मुक्ति है। यह उदासीन, अहंरहित, अज्ञानरहित, इन्द्रियजित, रागद्वेषादिरहित अवस्था है। यह सच्चिदानन्द की अवस्था है।[149] इस अवस्था को प्राप्त व्यक्ति रहट के समान बार-बार भवचक्र में आने-जाने से मुक्त हो जाता है। इस अवस्था को आत्म-ज्ञान या आत्म-साक्षात्कार की अवस्था कहा जाता है। मुक्त पुरुष आप्तकाम, आत्माराम होता है। वह व्यष्टि में समष्टि और समष्टि में व्यष्टि का दर्शन करता है। उसके लिए आकाश से कणपर्यन्त में एक ही तत्व का ज्ञान होता है। इसी अवस्था को प्राप्त करना जीव का लक्ष्य है।

मुक्ति के साधन

साध्य की पुष्टि साधन के बिना सम्भव नहीं है। अज्ञानी जीव तब तक मुक्ति नहीं पा सकता जब तक मुक्ति के लिए आवश्यक साधनों पर आचरण नहीं करता। याज्ञवल्क्य-स्मृति के दार्शनिक-विचारों का मुख्य-प्रतिपाद्य जीव को उसके वास्तविक-स्वरूप का बोध करना है। मुक्ति के लिए याज्ञवल्क्य-स्मृति में निम्नलिखित उपाय बताए गए हैं:—

(अ) कर्म-त्याग—कर्म अकृत, विकृत और सुकृत होते हैं। ये सभी फल प्रदान करने वाले होते हैं और इनका फल स्वर्ग, नरक आदि की प्राप्ति होती है। जब तक काम्य-कर्मों का नाश नहीं होगा तब तक जीव का संसार-चक्र में आवागमन होता रहेगा।[150] याज्ञवल्क्य-स्मृति स्पष्ट रूप से इस बात पर बल देती है कि (यज्ञ, दान आदि न कर सकने पर) सभी काम्य एवं निषिद्ध कर्मों का त्याग करके वेदाभ्यास और विशुद्ध आचरण के द्वारा मुक्ति प्राप्त हो सकती है। अपने भाष्यों में आचार्य शंकर ने इस बात पर विशेष रूप से प्रकाश डाला है कि जब तक काम्य-कर्मों का त्याग नहीं होगा, कर्म फल से निवृत्ति नहीं होगी तब तक भवचक्र में आवागमन समाप्त नहीं

होगा और क्लेशादि पीछा नहीं छोड़ेंगे ।[151] अत: इन सबके मूल में स्थित काम्य एवं निषिद्ध-कर्मों का परित्याग करने पर ही मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है ।

(ब) उपासना—याज्ञवल्क्य-स्मृति में उपासना को भी मोक्ष में सहायक माना गया है । यह उपासना अन्त:उपासना या आत्मोपासना है । इसके अन्तर्गत हृदय में स्थित परमात्मा को धारणा, ध्यान आदि द्वारा धारण करने की बात कही गयी है ।[152] जब बाह्य-विषयों से विरक्त-मन को अन्तर्मुखी करके उपासना की जाती है तो दीपक के समान प्रकाशवान आत्मा का साक्षात्कार होता है । उपनिषदों में भी बाह्य-वस्तु से विरहित रहने एवं आत्मशुद्धि के प्रयोजन से मुक्ति में उपासना को स्थान दिया गया है ।[153] आत्मशुद्धि के बाद ही आध्यात्मिक परिवेश में चेतना केन्द्रित हो सकती है ।[154] अत: उपासना मुक्ति के लिए आवश्यक है ।

(स) योगाभ्यास—योग में आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान और समाधि आदि तत्त्व आते हैं । याज्ञवल्क्य-स्मृति में कहा गया है कि "पद्मासन लगाकर, बायें हाथ में दाहिने हाथ को रखकर मुख को कुछ ऊपर उठाकर और वक्षस्थल से श्वास रोककर, आंखों को बन्द कर काम, क्रोध आदि को त्याग करके, दांतों को बिना मिलाए हुए, तालु स्थान में जिह्वा को निश्चल रखकर, मुख बन्द करके, अत्यन्त निश्चल होकर, इन्द्रियों को विषयों से पूर्णतया हटाकर तथा न अधिक नीचे न अधिक ऊँचे आसन पर बैठकर दुगुना या तिगुना प्राणायाम करने का अभ्यास करें । तदुपरान्त हृदय में निश्चल-दीप के समान स्थित प्रभु का ध्यान करना चाहिए और तब धारणा करते हुए उस हृदय में आत्मा को धारण करें। इससे योग की सिद्धि होती है । योग की सिद्धि के लक्षण बतलाते हुए याज्ञवल्क्य-स्मृति में कहा गया है कि अन्तर्धान होना (दूसरों द्वारा न देखा जाना), स्मृति (अतीन्द्रिय विषयों का ज्ञान), दृष्टि (भूत और भविष्यत् का ज्ञान), अपना शरीर छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश अपनी इच्छा के अनुसार वस्तुओं की सृष्टि—ये सभी योग की सिद्धि के लक्षण हैं । योग की सिद्धि हो जाने पर शरीर का परित्याग करके योगी ब्रह्मत्त्व-प्राप्ति में समर्थ होता है ।[155] इस प्रकार याज्ञवल्क्य योग पर विशेष बल देते हैं । उपनिषदों में योग पर स्पष्ट रूप से बल नहीं दिया गया है । वहां ज्ञान पर विशेष बल है ।

(द) ज्ञान—सभी क्रियाओं से विरत होकर, ज्ञाननिष्ठ होकर, तपस्या और ब्रह्मचर्य से युक्त होकर, केवल, मेधा सम्पन्न व्यक्ति मोक्ष पद प्राप्त करता है । उपनिषदों में ज्ञान को ही एकमात्र आधिकारिक उपाय स्वीकार किया गया है । यहाँ ज्ञान और मोक्ष को एकार्थक स्वीकार किया गया है । याज्ञवल्क्य-स्मृति मुक्ति हेतु ज्ञान पर बल देती है । मुक्ति अज्ञानरहित पूर्ण-ज्ञान की अवस्था है । ज्ञान के हेतु का उल्लेख करते हुए याज्ञवल्क्य-स्मृति में कहा गया है कि वेदसम्मत वचन, यज्ञ, ब्रह्मचर्य, तप, दान, श्रद्धा, विषयासक्ति के दोष का

नाश होने पर ध्यान और धारणा आदि ज्ञान में हेतु हैं। यह आत्म-ज्ञान श्रवण, मनन निदिध्यासन द्वारा प्राप्त होता है और आत्मा ही श्रवण मननादि का विषय है।[156]

जीवात्मा के शरीर त्याग के उपरान्त दो मार्ग

बृहदारण्यकोपनिषद् एवं छान्दोग्य में उल्लिखित जीवात्मा के दो यानों की चर्चा याज्ञवल्क्य-स्मृति में मिलती है। जो व्यक्ति स्मार्त-कर्मों (दान) में तत्पर रहते हैं वे अहंकार रहित होकर आत्मा के आठ गुणों से युक्त और सत्यवादी होते हैं, वे देवलोक को जाते हैं। देवताओं के मार्ग और अगस्त्य के बीच पितरों का मार्ग है। इस मार्ग की इच्छा लेकर अग्निहोत्र करने वाले स्वर्ग में पहुंचते हैं। पितृयान में अठ्ठासी हजार गृहस्थ मुनि निवास करते हैं जो पुनः पुनः वेद का उपदेश करने से धर्म रूपी वृक्ष की उत्पत्ति के निमित्त बीज के समान होते हैं।[157] उपनिषदों में भी यह बताया गया है कि जो व्यक्ति पितरों को तुष्ट करने की इच्छा से यज्ञदान, पिण्डदान इत्यादि करते हैं वे पितृयान को प्राप्त करते हैं और पुण्य शेष रहने तक वहां निवास करते हैं तथा पुण्य-समाप्ति के उपरान्त इसी लोक में पुनः आते हैं।[158] जो लोग निष्काम भाव से समष्टि संकल्प तथा यज्ञ आदि कर्म करते हैं वे देवलोक जाते हैं जहां से वे ब्रह्मलोक चले जाते हैं। लोकों में पितर लोक की अपेक्षा देवलोक श्रेष्ठ है और ब्रह्मलोक परम श्रेष्ठ है। यहां पहुंचने पर जीव का पुनरागमन नहीं होता। कर्मों के अनुसार ही जीवात्मा का पितृलोक, देवलोक गमन होता है। कर्म-फल के क्षय होने पर वह ब्रह्मीभूत हो जाता है। मोक्ष पद प्राप्त कर लेता है।

कर्म और पुर्नजन्म

मात्र आत्मा की उपासना करने वाला आत्मज्ञानी क्रमशः अग्नि, दिन, शुक्ल-पक्ष, उत्तरायण, देवलोक, सवितृ और तेज के लोक में जाते हैं तब इन्हें मानस-पुरुष ब्रह्मलोक में पहुंचाता है। ऐसे ज्ञानी पुरुष का इस संसार में पुनः जन्म नहीं होता। वे परमात्मा में विलीन हो जाते हैं, किन्तु यज्ञ, तपस्या और दान से जो मनुष्य स्वर्ग प्राप्त करते हैं वे धूम, निशा, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन, पितृलोक और चन्द्रलोक के देवताओं में जा पहुंचते हैं और फिर वायु, जल, पृथ्वी, अन्न और वीर्य-भाव को प्राप्त कर क्रमशः इस संसार में पुनः जन्म लेते हैं। और जो व्यक्ति देवयान और पितृयान इन दोनों मार्गों को नहीं जानता उसके किए गये कर्मों के अनुसार वह सांप, पतिंगा, कीड़ा अथवा कृमि का जन्म पाता है।[159] कर्मों का फल मनुष्य को कुछ इस लोक में और कुछ परलोक में भोगना ही पड़ता है और भोगोपरान्त कर्म-संस्कार के अनुरूप उसे पुनर्जन्म ग्रहण करना पड़ता है। इस बात को मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य-स्मृति दोनों स्वीकार करती हैं। बृहदारण्यक एवं छान्दोग्य में भी जीवात्मा के कर्मानुसार उसी देवयान, पितृयान-गमन तथा पुनः उसका उत्तम, एवं अधम शरीर धारण करने का उसी प्रकार उल्लेख है जिस प्रकार स्मृतियों में है।[160] गीता में भी कहा गया है कि चाहे नरक गमन हो या स्वर्ग

प्राप्ति, पुण्य के क्षीण होने पर मनुष्य को इस मर्त्यलोक में शरीर धारण करना पड़ता है।[161] स्मृतियों में इस बात का विस्तार से उल्लेख मिलता है कि कौन और किस प्रकार के कर्म करने से किन योनियों में कौन-कौन सा शरीर धारण करना पड़ता है। कर्म और पुनर्जन्म का सिद्धान्त इस बात का उल्लेख करता है कि शरीर-त्याग आत्मत्याग नहीं है। शरीर के त्याग के बाद भी आत्मा का अस्तित्व बना रहता है। यह आत्मा अजर-अमर है। साथ ही इस बात का भी संकेत मिलता है कि मरणोपरान्त आत्मा जीवात्मा के संस्कारों से आवेष्टित होकर गमन करता है।[162] अप्रत्यक्ष रूप से यह सिद्धान्त इसका भी उल्लेख करता है कि जब तक कर्मफलों से मुक्ति नहीं हो जाती तब तक जीव का आगमन होता ही रहेगा।[163] निषेधात्मक रूप से यह सिद्धान्त इसका भी संदेश देता है कि समस्त प्रयास से कर्म-फलों से मुक्ति पाने पर ही जीवात्मा की मुक्ति सम्भव है और तभी उसके क्लेशादि की भी निवृत्ति हो सकती है। इसी स्थिति को प्राप्त कराने का याज्ञवल्क्य-स्मृति, समस्त उपनिषदों, गीता एवं ब्रह्मसूत्र आदि का भी लक्ष्य है।[164]

पातक-प्रायश्चित्त

पाप की परिभाषा देना कठिन है। 'पाप' या 'पातक' ऐसा शब्द है जिसका सम्बन्ध आचारशास्त्र की अपेक्षा धर्म से अधिक है। सामान्यतः ऐसा कहा जा सकता है कि पाप एक ऐसा कृत्य है जो समाज द्वारा मान्य किसी व्यवहार (कानून) के उल्लंघन अथवा जान-बूझकर उसके विरोध से उद्भुत होता है। यह सामाजिक मान्यता ईश्वरकृत् इसलिए प्राचीन काल में कही जाती थी ताकि अधिक से अधिक लोग उसका पालन करें। इसी से इसे ईश्वर की उस इच्छा का विरोध माना गया है जो किसी प्रामाणिक-ग्रन्थ में अभिव्यक्त है, अथवा उस ग्रन्थ में दिए नियमों के पालन में असफलता का परिचायक है।[165]

नैतिक-दृष्टिकोण के विरुद्ध किये जाने वाले कार्य 'पातक' कहे जाते हैं। जिस प्रकार आत्मा का अभ्युदय करने वाले कार्य धर्म की कोटि में आते हैं उसी प्रकार आत्मा के बन्धनों को दृढ़ करने वाले कार्य या उसका पतन करने वाले कार्य अधर्म अथवा पातक कहे जाते हैं। "पातक" अपराधों का नैतिक दृष्टिकोण से किया गया नामकरण है। मानवीय आचरण ऐसे अनेक कार्य करता रहता है जो शास्त्रों के दृष्टिकोण से वर्जित है। वह अनेक ऐसे कार्य भी किसी कारण से नहीं करता है जिनको उसे शास्त्रों की आज्ञा मानकर करना ही चाहिए।[166] इस प्रकार समाज द्वारा मान्य कार्य न करना एवं उनका उल्लंघन कर उनके विरुद्ध कार्य करना पातक की श्रेणी में रखे गए हैं।

पातक के विकास के बाद उसके दुष्परिणाम एवम् उसके अनन्तर उनसे छुटकारे की प्रक्रिया पर भी प्राचीन विचारकों ने विचार किया है। याज्ञवल्क्य का मन्तव्य है कि पापकर्मों में निरत रहने वाले व्यक्ति यदि प्रायश्चित्त अथवा पश्चाताप

नहीं करते तो वे भयंकर एवं कष्टमय नरकों में जाते हैं ।[167] याज्ञवल्क्य पुनः कहते हैं कि नित्य, नैमित्तिक आदि विहित-कर्म न करने से, सुरापान आदि निषिद्ध-कर्म करने से, तथा इन्द्रियों का संयम न रखने से मनुष्य पतित होता है । इस पतन के प्रतिकार के लिए मनुष्य को प्रायश्चित्त करना चाहिए। इस प्रकार उसकी अन्तरात्मा और लोक सभी शुद्ध होते हैं ।[168] मनु ने भी इसी तरह का विचार व्यक्त किया है ।[169]

याज्ञवल्क्य ने पातकों को दो वर्गों में विभाजित किया है। प्रथम को वे महापातक कहते हैं और द्वितीय को उपपातक कहते हैं। याज्ञवल्क्य-स्मृति के अनुसार महापातक पांच प्रकार के हैं—(1) ब्राह्मण की हत्या, (2) सुरापान, (3) (ब्राह्मण का) स्वर्ण चुराना, (4) गुरुपत्नी से भोग। यह चार महापातक हैं। पांचवां महापातक है इन चारों प्रकार के महापातकियों के साथ निवास ।[170] मनु ने भी ऐसा वर्णन किया है ।[171] वशिष्ठ के अनुसार महापातक पांच हैं—गुरु की शय्या को अपवित्र करना, सुरापान, भ्रूण (विद्वान् ब्राह्मण) की हत्या, ब्राह्मण के हिरण्य का स्तेय एवं पतित से संसर्ग ।[172] याज्ञवल्क्य ने इन्हीं पांच प्रकार के पातकों से अनेक प्रकार के पातकों की तुलना की है ।[173] मनुस्मृति में भी इसी तरह का विचार व्यक्त किया गया है ।[174] दोनों के विचारों में पर्याप्त समता दिखलाई पड़ती है ।

याज्ञवल्क्य ने उपपातकों की एक लम्बी सूची प्रस्तुत की है। जो इस प्रकार है—गौ का बध, व्रात्यता (पतित सावित्री), स्तेय (चोरी), ऋण न लौटाना, अग्निहोत्र न करना, न बेचने योग्य वस्तु (नमक आदि) बेचना, सहोदर (जेठे भाई) के अविवाहित रहते स्वयं विवाह करना, वेतन लेने वाले अध्यापक से पढ़ना तथा वेतन लेकर पढ़ाना, पर स्त्री का भोग, सहोदर-छोटे भाई के विवाहित होने पर स्वयं अविवाहित रहना, नमक बनाना, वार्धुष्य (निषिद्ध ब्याज लेना), स्त्री (ब्राह्मणी और रजस्वला के अतिरिक्त) का बध, शूद्र का बध, (अदीक्षित) वैश्य और क्षत्रिय का बध, निषिद्ध-धन का उपार्जन, नास्तिकता, व्रतलोप (ब्रह्मचारी होकर स्त्री-प्रसंग आदि), पुत्रों को बेचना, धान्य (कांसा, सीसा आदि) कुप्य और पशुओं की चोरी, जाति एवं कर्म से दूषित व्यक्तियों के यहां यज्ञ करना, निर्दोष माता, पिता तथा पुत्र का परित्याग करना, तालाब, उद्यान और उपवन आदि बेचना, किसी कन्या का संदूषण (अंगुली से उसकी योनि का विदारण), परिविन्दक (जिसने सहोदर जेठे भाई के अविवाहित रहते अपना विवाह किया हो) का यज्ञ कराना, कुटिलता (गुरु के अतिरिक्त अन्य के साथ), व्रत (स्नातक व्रत) का लोप, मात्र अपने लिए भोजन आदि बनाना, सुरा पीने वाली स्त्री का उपभोग, स्वाध्याय का त्याग, श्रौत-स्मार्त अग्नियों का त्याग, पुत्रत्याग, चाचा, मामा, आदि बान्धवों का त्याग, भोजनार्थ ईंधन के लिए हरे वृक्ष को काटना, औषधि से जीविका चलाना, घातक हथियार बनाना, व्यसन (मृगया आदि), स्वयं को बेचना, शूद्र की सेवा, नीच व्यक्ति से मित्रता, हीन

कोटि की स्त्री का उपभोग, किसी आश्रम में न रहना, दूसरे के अन्न से जीवन चलाना, निन्दित शास्त्रों का अध्ययन, सोने आदि की खान पर अधिकार तथा भार्या आदि का विक्रय—ये सब उपपातक माने गये हैं। मनु ने भी इसी तरह की सूची प्रस्तुत की है, जो द्रष्टव्य है।[175]

महापातक-प्रायश्चित

पाप कर्म चाहे अनजाने में किया हो या जानबूझकर किया हो, उसका प्रायश्चित्त करना पड़ता है। पाप की दो प्रकार की शक्ति (प्रभाव) होती है। प्रथम शक्ति नरक प्रदान करने वाली और दूसरी समाज में उसके (पापी के) व्यवहारों को सीमित करने वाली शक्ति। इसी आधार पर प्रायश्चित्त भी दो प्रकार के होते हैं। एक नरक से बचाने वाला और दूसरा व्यवहार को शुद्ध करने वाला। उपपातकों में प्रायश्चित्त के द्वारा निष्कृति हो जाती है (अर्थात् पापी नरक गमन की आशंका से भी मुक्त हो जाता है) तथा वह समाज में व्यवहार के योग्य भी माना जाने लगता है।[176] परन्तु ज्ञानपूर्वक किये गये महान पातकों का प्रायश्चित्त करने पर व्यक्ति व्यवहार करने योग्य हो जाता है किन्तु वह पाप से मुक्त नहीं हो पाता।[177]

याज्ञवल्क्य ने कामकृत और अकामकृत पापों का प्रायश्चित्त करने की व्यवस्था दी है किन्तु ब्रह्महत्या के पाप में वे दो प्रकार के प्रायश्चित्त बतलाते हैं। उनका विचार है कि ब्रह्महत्या करने वाला व्यक्ति बारह वर्षों तक जंगल में कुटी का निर्माण कर मृतक ब्राह्मण के सिर को ध्वजा में अंकित करके, भिक्षा मांग कर अपनी जीवन-वृत्ति चलाने से शुद्ध होता है।[178] यह भी कहा है कि ब्रह्म-हत्या करने वाला महान पातकी युद्धभूमि में शस्त्रधारियों का लक्ष्य बन कर यदि मर जाता है तो वह ब्रह्महत्या के पाप से मुक्त हो जाता है।[179] अग्नि प्रज्वलित करके मुंह नीचा करके अपने आपको तीन बार इस प्रकार उसमें गिराये कि मर जाये तभी उसे पाप से निष्कृति मिलती है।[180]

याज्ञवल्क्य, मनु एवं गौतम का कथन है कि अश्वमेध के उपरान्त स्नान-कृत्य के लिए उपस्थित राजा एवं पुरोहित के समक्ष यदि कोई ब्रह्मघातक अपना अपराध उद्घोषित करता है और उनकी आज्ञा पर स्नान में सम्मिलित हो जाता है तो भी वह पाप से मुक्त हो जाता है।[181] हरदत्त के विचार से यह एक पृथक् प्रायश्चित्त है परन्तु मिताक्षरा एवं अपरार्क के मत से ऐसा नहीं है, अपितु 12 वर्षों के प्रायश्चित्त की अवधि में ऐसा हो सकता है।[182] याज्ञवल्क्य के अनुसार यदि घातक बहुत दिनों से रुग्ण एवं यों ही पथ में पड़े हुए किसी ब्राह्मण या गाय को दवा करता है और उसे अच्छा कर देता है तो वह ब्रह्महत्या के महापातक से मुक्त हो जाता है।[183]

प्राचीन एवं मध्य-काल के धर्मशास्त्रकारों के समक्ष एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह रहा है कि क्या आत्मरक्षा के लिए कोई व्यक्ति आततायी ब्राह्मण की हत्या कर सकता है? क्या ऐसा करने से पाप लगेगा? क्या उसे राजा दण्डित कर सकता

है ? इस विषय में मिताक्षरा का कथन है कि यदि ब्राह्मण आततायी आग लगाने, विष देने अथवा खेत उजाड़ने की इच्छा से आता है तो आत्म-रक्षार्थ उसका विरोध किया जा सकता है, किन्तु यदि आक्रामक ब्राह्मण आत्म-रक्षार्थ के रक्षा प्रयास में न चाहते हुए भी उसके हाथों मारा जाता है तो राजा उसे (आत्मरक्षणी को) नहीं दण्डित करता। उसे मात्र हल्का सा प्रायश्चित्त करना पड़ता था। इस प्रकार वह ब्रह्महत्या का अपराधी नहीं होता था।[184]

सुरापान

याज्ञवल्क्य के अनुसार सुरा पीने वाला महापातकी सुरा, जल, घृत, गोमूत्र और दूध में से किसी एक को खूब खौलाकर पिये और इससे उसकी मृत्यु हो जाये तब वह शुद्ध होता था।[185] अन्यथा बकरे आदि के बाल से निर्मित वस्त्र धारण करके ब्रह्महत्या के लिए विहित व्रत करने का भी उसके लिए विधान था। अज्ञानवश सुरा, वीर्य एवं मूत्र आदि पीने पर तीनों द्विजाति-वर्ण पुनः संस्कार योग्य हो जाते हैं। सम्भवतः सुरापान करने वालों में पुनः उपनयन-संस्कार केवल ब्राह्मण का ही होता था। शेष लोगों को 'तप्तकृच्छ्र' नामक प्रायश्चित्त करके पुनः उपयनन-संस्कार करना पड़ता था।[186] याज्ञवल्क्य के अनुसार जो ब्राह्मणी-स्त्री सुरापान करती है वह पतिलोक नहीं प्राप्त करती है। वह उसी लोक में कुतिया, गिद्धनी और सूकरी होकर जन्म लेती है। लहसुन, प्याज आदि निषिद्ध-पदार्थों का जानबूझकर भक्षण, कुटिलता, उत्कर्ष प्राप्ति के लिए असत्य भाषण तथा रजस्वला स्त्री के मुख का चुम्बन—ये सुरापान के समान ही महापातक हैं।[187] इनके लिए भी सम्भवतः उपर्युक्त प्रायश्चित्त विधि-विधान प्रयुक्त होता रहा होगा।

सोने की चोरी

याज्ञवल्क्य ने सुवर्ण की चोरी को महापातक माना है। उनके अनुसार ब्राह्मण का घोड़ा, रत्न, मनुष्य, स्त्री, भूमि और गाय आदि की चोरी सभी सोने की चोरी के समान ही महापातक हैं।[188]

याज्ञवल्क्य के अनुसार ब्राह्मण का स्वर्ण चुराने वाला अपने कर्म को बतलाते हुए राजा के हाथ में मूसल दे और राजा द्वारा मूसल से मारे जाने पर या मुक्त कर दिये जाने पर भी वह शुद्ध हो जाता है।[189] यदि वह राजा से इस विषय में निवेदन नहीं करता है तो सुरापान करने वाले महापातकी के लिए विहित-व्रत का आचरण करते हुए अपने बराबर या जितने से ब्राह्मण सन्तुष्ट हो जाय उतना सोना दान देने पर इस पातक से शुद्ध हो जाता है।[190] मेधातिथि का मन्तव्य है कि यदि चोरी गयी वस्तु न लौटायी जा सके तो प्रायश्चित्त दूना होता है। इसके अतिरिक्त चोरी के कुछ मामलों में यदि राजा द्वारा शारीरिक-दण्ड या मृत्यु-दण्ड नहीं दिया जाता था तो चोर को चोरी गयी वस्तु का ग्यारह गुना अर्थदण्ड देना पड़ता था।[191]

गुरु-पत्नी भोग

याज्ञवल्क्य ने इसे भी महापातक माना है। मित्र की भार्या, उत्तम जाति की

अविवाहित कन्या, बहन, चाण्डाली, समान गोत्र वाली स्त्री तथा पुत्र-वधू (पतोहू) आदि के साथ सम्भोग भी गुरु-पत्नी के भोग के समान ही महापातक है। इनके प्रायश्चित्त के विधि-विधान के विषय में याज्ञवल्क्य की सम्मति है कि गुरुपत्नी-भोगी तप्त होकर लाल हुई लोहे की शय्या पर जलती हुई लोहे की मूर्ति के साथ सोवे, अथवा लिंग और अण्डकोष को काटकर उसे हाथ में लेकर नैर्ऋत्य दिशा को लगातार चलते हुए शरीर त्यागने से शुद्ध होता है।[192] इसके अतिरिक्त गुरु-पत्नी का भोग करने वाला तीन वर्ष तक प्राजापत्य-कृच्छ्रव्रत करे या तीन मास तक वेद-संहिता का जप करता हुआ चान्द्रायण व्रत करे, तब शुद्ध होगा। पराशर ने भी तीन प्रायश्चित्तों की व्यवस्था दी है— लिंग काट लेना, तीन कृच्छ्र या तीन चान्द्रायण अपनी माता, बहन या पुत्री से व्यभिचार करने वाले के लिए बताया है।[193] याज्ञवल्क्य के अनुसार यदि कोई व्यक्ति चाची, मामी, पुत्र-वधू, मौसी आदि से उनकी सहमति से संभोग करता है तो उस व्यभिचारिणी स्त्री को मृत्यु का राजदण्ड मिलता है और उसे वही प्रायश्चित्त करना पड़ता है जो पुरुष के लिए निर्दिष्ट है।[194]

महापातकियों के साथ जो एक वर्ष तक रहता है वह भी इनके समान महापातकी हो जाता है। उसे संसर्ग पाप से मुक्त होने के लिए महापातक वाला ही व्रत (प्रायश्चित्त) करना पड़ता है। इन पातकियों की कन्या को उपवास कराके पिता का (वस्त्रादि) कुछ भी न लेते हुए विवाह किया जा सकता है।[195] ब्राह्मण एवं शूद्र के संसर्ग के विषय में प्रायश्चित्त में कोई अन्तर नहीं था, यद्यपि अन्य बातों में प्रत्येक वर्ग के लिए 1/4 छूट दी जाती थी। यदि संसर्ग एक वर्ष से कम होता था तो उसी अनुपात से प्रायश्चित्त में छूट मिलती थी। केवल पतित ही निन्द्य नहीं माना जाता था, प्रत्युत पतित होने के उपरान्त उत्पन्न पुत्र भी पतित माना जाता था और उसे उत्तराधिकार से वंचित कर दिया जाता था। किन्तु पतित की पुत्री ऐसे नियम से बाधित नहीं थी। उससे विवाह करने वाले व्यक्ति को दोष नहीं लगता था।[196]

उपर्युक्त विवेचना से ज्ञात होता है कि महापातकियों के लिए प्राचश्चित्त विधान अत्यन्त कठोर था, किन्तु इस कठोर विधान का पालन व्यवहारत: किस सीमा तक होता था, कहना कठिन है।

उपपातक-प्रायश्चित्त

याज्ञवल्क्य ने उपपातकों के प्रायश्चित्त का भी उल्लेख किया है। उनके अनुसार सभी उपपातकों से शुद्धि गोबध के लिए उल्लिखित प्रायश्चित्त या चन्द्रायण से या एक मास तक केवल दूध पीकर रहने या पराक-व्रत से होती है।[197] काणे के अनुसार पराक-व्रत उसके लिए है जो उसे करने में समर्थ है, चन्द्रायण उसके लिए है, जो दुर्बल हैं और गोसव उसके लिए है जो एक ही उपपातक को बार-बार करता है या एक ही समय कई उपपातकों का अपराधी होता है।[198]

याज्ञवल्क्य ने उपपातकों में गोवध को सबसे पहले रखा है। उनके अनुसार गाय की हत्या करने वाला पंचगव्य (गोमूत्र, गोबर, दूध, दही, घृत) पीने और एक मास तक संयम से रहे। वह गौशाला में सोने, गायों के पीछे चलने से (गो सेवा करने) और मासान्त में एक गौ का दान करने से शुद्ध होता है। इसके अतिरिक्त सावधान होकर एक मास तक कृच्छ्र और अतिकृच्छ्र-व्रत करने तथा तीन दिन-रात तक उपवास करके दस गायों और एक सांड का दान करने से ही शुद्ध होता है।[199]

क्षत्रिय का बध करने पर प्रायश्चित्त कर्ता को एक सांड़ के साथ एक हजार गायों का दान या ब्रह्महत्या-व्रत तीन वर्षों तक करने का विधान था। वैश्य का बध करने वाले के लिए एक वर्ष तक ब्रह्महत्या व्रत और एक सांड के साथ सौ गौ का दान करने का निर्देश है। शूद्र का बध करने पर 6 मास तक ब्रह्महत्या व्रत या एक सांड़ के साथ नई ब्याई दस सवत्सा गायों का दान करने पर शुद्ध हो जाता है।[200]

याज्ञवल्क्य के अनुसार व्यभिचारिणी स्त्री का वध करने पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र प्रायश्चित्त-कर्त्ता क्रमश: जल भरने वाला चर्म का मशक, धनुष, बकरा, तथा भेड़ का दान करने से शुद्ध होता था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र की ईषद् व्यभिचारिणी स्त्री का बध करने पर प्रायश्चित्त कर्त्ता पूर्वोक्त शूद्र-हत्या विषयक व्रत करे या नई ब्याई दश-सवत्सा गायों का दान करने से इस पाप से मुक्ति पाता था। गिरगिट आदि हड्डी वाले एक हजार जन्तुओं का वध होने पर तथा जूँ, खट-मल, डांस एवं मच्छर आदि बिना हड्डी वाले एक बैलगाड़ी असंख्य जन्तुओं का बध हो जाने पर प्रायश्चितकर्ता शूद्र-हत्या-व्रत अर्थात् प्राकृत-ब्रह्मचर्य या नई ब्याई हुई दस सवत्सा गायों का दान करने पर इस पाप से छुटकारा पाता था।[201]

याज्ञवल्क्य का कथन है कि बिलाव, गोह, नेवला, मेढ़क, चाष, कौआ तथा उल्लू आदि का बध करने पर तीन अहोरात्रि मात्र दुग्ध पान करे अथवा पादकृच्छ्र (एक योजन तक पैदल चलना) व्रत करने पर शुद्धि होती है। हाथी का बध होने पर पांच नील बैल, सुग्गा (तोता) पक्षी का बध हो जाने पर दो वर्षों का बछड़ा, एवं गदहा, बकरा तथा भेड़ के बध पर एक-एक बैल तथा क्रौन्च पक्षी का बध होने पर तीन वर्ष के बछड़े का दान देने का विधान था।[202]

याज्ञवल्क्य ने प्राणियों के साथ ही वनस्पतियों की हत्या का विशेष ध्यान दिया है। यदि कोई व्यक्ति वृक्ष, गुल्म, लता तथा विरवा (बिना यज्ञ कार्य के) काटता है तो उसे गायत्री आदि ऋचा का सौ बार जप करना चाहिए। औषधियों को बिना प्रयो-जन काटने पर दिनभर केवल दुग्धपान करे और गाय की सेवा करने से पापमुक्त होता है।[203] स्पष्ट है कि ऋषियों को आध्यात्मिकता के साथ ही मानव कल्याण के लिए वृक्ष, लता-गुल्म आदि का महत्व भी भलीभांति ज्ञात था।[204]

याज्ञवल्क्य का विचार है कि व्यभिचारिणी भार्या, बन्दर, गदहा, ऊँट, घोड़ा एवं कौआ द्वारा दांत या चोंच से काटे जाने पर जल में खड़ा होकर प्राणायाम करने

तथा घी खाने पर शुद्धि होती है। स्वप्नदोष, जल में अपनी छाया देखने पर, असत्य भाषण आदि करने पर गायत्री जप का विधान था।[205]

व्यभिचार करने वाले ब्रह्मचारी को निर्ऋति देवता के लिए पशुयज्ञ करने का निर्देश था। मधु तथा मांस खाने पर कृच्छ्र और अवशिष्ट-व्रत एवं गुरु के आदेश के विपरीत कार्य करने पर उन्हें प्रसन्न करने पर ही ब्रह्मचारी शुद्ध होता है। किसी कार्यवश भेजे गए शिष्य की मृत्यु होने पर गुरु को तीन कृच्छ्र-व्रत करने पड़ते थे। दूसरों पर झूठा महापातक या पातक लगाने वाला एक मास तक जल पीकर इन्द्रियों को सम्यक् रूप से संयमित रखे तथा बिना नियोग के बेटे या छोटे भाई की भार्या से भोग करने पर चान्द्रायण-व्रत का विधान था। शरण में आये हुए व्यक्ति की रक्षा न करने वाला एक वर्ष तक जौ का भात खाने पर पाप से मुक्त होता है।[206]

याज्ञवल्क्य के अनुसार निषिद्ध-दान लेने वाला व्यक्ति गौशाला में निवास करते हुए एक मास तक गायत्री का जप करने से शुद्ध होता है। गदहे तथा ऊँट-गाड़ी पर चढ़ने, नंगे होकर नहाने आदि के लिए जल में प्रवेश कर स्नान एवं प्राणायाम करने पर व्यक्ति पाप से छुटकारा पाता है। किसी ब्राह्मण को मारने की इच्छा से डंडा उठाने पर कृच्छ्रव्रत से तथा डंडा मार देने पर अति-कृच्छ्र-व्रत से, मार कर रुधिर निकाल देने पर कृच्छ्रातिकृच्छ्र व्रत से और उसके चोट के स्थान पर रुधिर आ जाने पर, कृच्छ्र-व्रत से शुद्धि होती है। देश, समय, आयु, शक्ति और पाप का सावधानी से निरीक्षण करके ही अन्य प्रायश्चितों की कल्पना कर लेनी चाहिए जिनका विधान नहीं किया गया है। पतित व्यक्ति यदि प्रायश्चित्त व्रत करके बन्धु-बान्धवों में मिलता है, तो वह शुद्र होता है। यही विधान पतित स्त्रियों के लिए भी था। व्यभिचार, गर्भपात, पतिहिंसा आदि भयंकर पाप करने वाली स्त्री तथा पुरुष प्रायश्चित करने पर भी व्यवहार करने योग्य नहीं होते हैं। यदि वे जलाशय से भरा हुआ घड़ा लेकर आवे तथा सपिण्ड आदि जाति के लोगों के बीच रहकर गायों की सेवा करे और उसे कोमल दूब आदि खिलाए तथा यदि गौएं उसके द्वारा दी गई घास खाती हैं तभी जाति के लोग उसका सत्कार करते हुए उसे जाति में पुनः सम्मिलित कर सकते थे।[207]

रहस्य-प्रायश्चित

सामान्य प्रायश्चित के अतिरिक्त याज्ञवल्क्य ने इसके एक-दूसरे प्रकार 'रहस्य-प्रायश्चित' का उल्लेख भी किया है। इस श्रेणी में सम्भवतः वे अपराध आते हैं जो उन्हें करने वाले के अतिरिक्त किसी अन्य को ज्ञात नहीं। याज्ञवल्क्य का कथन है कि जिसका पाप लोगों को ज्ञात न हो उसे गुप्त-रूप से प्रायश्चित (व्रत) करना चाहिए। ब्राह्मण की हत्या करने वाला तीन दिन उपवास करके, जल में खड़ा होकर अघमर्षण ऋषि के सूक्त "ऋतं च सत्यं च" आदि का जप करके एक दूध देने

वाली गौ का दान करने पर शुद्ध होता है। इसके अतिरिक्त एक दिन-रात उपवास करके रात्रि भर जल में रहकर, प्रातःकाल जल से निकलकर "लोमभ्य: स्वाहा" आदि आठ मन्त्रों से प्रत्येक मन्त्र के साथ पांच-पांच आहुति देकर चालीस बार आहुति करने पर शुद्ध होता है। यही ब्रह्महत्या का रहस्य-प्रायश्चित है।[208]

सुरापान करने वाला तीन दिन-रात उपवास करके कूष्माण्ड ऋषि के "यद्-देवादेवहेऽनम्" आदि मन्त्रोच्चारण से चालीस बार आहुति करने पर शुद्ध होता है। ब्राह्मण का स्वर्ण चुराने वाला जल में खड़ा होकर "नमस्ते रुद्र मान्यवे" जप करके पवित्र होता है।[209] यही सुरापान तथा स्तेय का रहस्य-प्रायश्चित्त था।

याज्ञवल्क्य ने गुरु-पत्नी भोगी के रहस्य-प्रायश्चित का उल्लेख करते हुए कहा है कि गुरु-पत्नी का भोग करने वाला "सहस्त्रशीर्षा" आदि सोलह ऋचाओं के सूक्त का जप करने से शुद्ध होता है। सुरापी, सुवर्णहारी तथा गुरुतल्पग को त्रिरात्रव्रत के अन्त में शुद्धि के लिए एक दुधारू गाय को दान करने का विधान था।[210]

याज्ञवल्क्य ने उपपातकों के लिए भी रहस्य-प्रायश्चित्त का उल्लेख किया है। उनके अनुसार उपपातकों तथा अन्य सभी पापों का जिनका उल्लेख नहीं किया गया है। उनसे मुक्ति पाने के लिए सौ बार प्राणायाम-व्रत करने की व्यवस्था दी है।[211] दिन में उपवास करके रात्रि भर जल में रहकर सूर्योदय होने पर एक सहस्र बार गायत्री का जप करने पर ब्रह्महत्या के अतिरिक्त शेष सभी महापातकों से शुद्धि हो जाती है।[212]

याज्ञवल्क्य ने पाप कार्मों को करने वाले व्यक्तियों को शान्ति देने के लिए एकमात्र उपाय "प्रायश्चित्त" बताया है। भारतीय पुनर्जन्म, कर्म का सिद्धान्त, स्वर्ग-नरक एवं मन के दुःख पर विश्वास करते हैं।[213] संस्कारों पर आस्था रखने वाला व्यक्ति संस्कारहीन रहकर सुखशान्ति का अनुभव नहीं कर सकता। प्रायश्चित के द्वारा एक घोर पातकी व्यक्ति भी अपने कुकृत्यों से दुःखी होकर स्वयं को एक स्वस्थ नागरिक के रूप में बदल सकता है। चोर और डाकू चाहे जैसे वैभव तथा सुख-सामग्री का उपभोग कर रहे हों, पर पुलिस का भय उन्हें सदैव सताया करता है जिससे सभी प्रकार के भोग मिट्टी हो जाते हैं। इसी प्रकार स्वयंकृत पाप, जिसका चाहे समाज और सरकार द्वारा कोई दण्ड न मिले तो भी व्यक्ति के अन्दर एक घोर अशान्ति का वातावरण उत्पन्न कर देता है। इससे उसका जीवन नीरस एवं भारस्वरूप बन जाता है। ऐसी परिस्थिति के लिए याज्ञवल्क्य ने प्रायश्चित्त विधि का विधान किया है जिसे स्वयं ही दण्डस्वरूप सहन करके व्यक्ति मानसिक भार तथा सन्तोष से मुक्ति पा सकता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि अनेक कार्य अपराध की श्रेणी में आते हुए भी सामाजिक-दृष्टि से इतने गम्भीर माने जाते थे कि उनके कर्ता के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया गया। प्रायश्चित्त का विधान सम्भवत: ऐसे अपराधों को पाप-कर्म मानने

के फलस्वरूप हुआ होगा। इनके द्वारा अपराधी न केवल अपने पाप से शुद्ध होता था बल्कि वह समाज में सामान्य नागरिक की तरह स्वीकृत हो सकता था। इस दृष्टि से यह भी कह सकते हैं कि प्रायश्चित का विधान सम्भवत: अपराधियों को सुधारने की दृष्टि से किया गया होगा। वर्तमान स्थिति में यह कहना कठिन है कि पातक-उपपातक के अपराधी व्यवहारत: प्रायश्चित्त करते थे या नहीं और यदि करते थे तो किस सीमा तक करते थे।

प्रायश्चित्तों के नाम

मिताक्षरा का कथन है कि प्रायश्चित्त शब्द मुख्यरूप से उस कर्म या कृत्य का परिचायक है जिसे नैमित्तिक कहा जाता है, अर्थात् इसका उपयोग तभी होता है जबकि उसके लिए कोई अवसर आता है। यह पाप-नाश के लिए भी प्रयुक्त होता है। अत: यह काम्य भी है।[214]

संस्कृत में "अय" का अर्थ शुभ-विधि (अत: शुभावहोविधि:) वह प्र अर्थात् प्रणष्ट (विगत) हो गई, उसकी फिर से चित्ति करना (चयन करना, प्रतिष्ठा करना) प्रायश्चित्त कहलाता है।[215]

अधमर्षण

याज्ञवल्क्य ने अधमर्षण प्रायश्चित्त (व्रत) का उल्लेख किया है। उनके कथनानुसार व्यक्ति जल में खड़ा होकर, "ऋतं च सत्यं च" अधमर्षण ऋषि के सूक्त आदि का जप करने पर, शुद्ध माना गया है। ऋग्वेद में सर्वप्रथम इस व्रत का उल्लेख मिलता है।[216]

अतिकृच्छ्

तीन दिन में केवल एक मुट्ठी भोजन से जीवनयापन करने वाला ही अतिकृच्छ्-व्रती है।[217] मनु का विचार है कि यह प्रायश्चित्त तीन दिनों तक केवल प्रात:-काल एक कौर भोजन तथा उतना ही सन्ध्या-काल भोजन से पुन: तीन दिनों तक बिना मांगे एक कौर भोजन से और अन्त में तीन दिनों तक पूर्ण उपवास से सम्पादित किया जाता है। गौतम का मन्तव्य है कि महापातकों को छोड़कर अन्य पाप इस प्रायश्चित्त (व्रत) से नष्ट हो जाते हैं।[218]

अतिसान्तपन

याज्ञवल्क्य-स्मृति से इस प्रायश्चित्त की सूचना मिलती है। याज्ञवल्क्य का कथन है कि सान्तपन के (गोमूत्र आदि छ:) द्रव्यों से पृथक्-पृथक् (अर्थात् एक-एक दिन एक-एक को पीकर) छ: दिन बिताकर एक दिन उपवास करके एक सप्ताह का महासान्तपन कृच्छ्-व्रत होता है।[219] मिताक्षरा ने यम को उद्धृत कर इसके लिए 12 दिनों की व्यवस्था की ओर संकेत किया है।[220] मदन पारिजात एवं प्रायश्चित्तसार के अनुसार याज्ञवल्क्य द्वारा वर्णित सान्तपन को ब्रह्मचर्य-व्रत भी कहा जाता है।[221]

अर्द्धकृच्छ्

एक दिन में केवल एक बार और दूसरे दिन केवल रात्रि में एक बार भोजन करे इसे अर्धकृच्छ् व्रत कहा गया है तीसरे दिन बिना मांगे ही प्राप्त भोजन करे और चौथे दिन उपवास रखने से पादकृच्छ्व्रत होता है ।[222]

कृच्छ्

कई प्रायश्चित्तों के लिए यह एक सामान्य शब्द है । याज्ञवल्क्य ने इसे प्राजापत्य के नाम से पुकारा है । "कृच्छ्" शब्द बिना किसी विशेषण के "प्राजापत्य" का द्योतक है ।[223]

कृच्छ्रातिकृच्छ्

याज्ञवल्क्य का विचार है कि केवल दूध पीकर इक्कीस दिन बिताने पर 'कृच्छ्रातिकृच्छ् प्रायश्चित्त' होता है । इस प्रायश्चित से व्यक्ति के सभी पाप कट जाते हैं ।[224] यह प्रायश्चित्त उसके लिए उपयोगी-मान्य है जिसने किसी ब्राह्मण को किसी अस्त्र से मारकर रक्त निकाल दिया है ।[225]

चान्द्रायण

चन्द्र के बढ़ने एवं घटने के अनुरूप ही जिसमें भोजन किया जाय उस कृत्य को चान्द्रायण व्रत कहते हैं ।[226] यह शब्द पाणिनि में भी आया है ।[227] याज्ञवल्क्य के अनुसार जब स्मृतियों में कोई विशिष्ट प्रायश्चित्त न व्यवस्थित हो तो चान्द्रायण से पाप से मुक्ति मिल सकती है । एक वर्ष इसे करने के बाद कर्त्ता मृत्यु के पश्चात् चन्द्रलोक को जाता है ।[228]

तप्तकृच्छ्—याज्ञवल्क्य के अनुसार दूध, घी और जल में से प्रत्येक को गर्म करके एक-एक दिन पीकर और फिर एक दिन-रात (चौथे दिन) उपवास रहने पर 'तप्तकृच्छ्-व्रत' होता है ।[229] मिताक्षरा ने इसे महातप्तकृच्छ्-व्रत कहा है तथा दो दिनों के तप्तकृच्छ् की भी व्यवस्था दी है ।[230] काणे के अनुसार 12 दिनों का तप्तकृच्छ् बड़े पापों तथा चार दिनों का हलके पापों के लिए व्यवस्थित है ।[231]

पराकव्रत—याज्ञवल्क्य ने बारह दिन के उपवास को पराकव्रत कहा है ।[232] इस व्रत से सारे पाप कट जाते हैं ।

पादकृच्छ्—यह वह प्रायश्चित्त है जिसमें पापी एक दिन केवल दिन में, दूसरे दिन रात में केवल एक बार एवं आगे केवल एक बार (दिन या रात में) भोजन करे किन्तु बिना किसी अन्य व्यक्ति, नौकर या भार्या से मांगे और अगले दिन पूर्ण उपवास करे । इस प्रकार यह चार दिनों का व्रत है ।[233]

पर्णकृच्छ्

याज्ञवल्क्य का कथन है कि पलाश, उदुम्बर (गूलर) कमल एवं बिल्वपत्र में से एक-एक को एक-एक दिन जल में उबालकर पीने से तथा अन्तिम दिन (पांचवें दिन) कुश का जल पीने से 'पर्णकृच्छ्-व्रत' होता है ।[234]

प्राजापत्य

पादकृच्छ्-व्रत को तिगुना करके व्रत करने पर 'प्राजापत्य-कृच्छ्' कहा जाता है।[235] काणे के अनुसार जब कृच्छ् का कोई विशेषण न हो तो उसे प्राजापत्य समझना चाहिए।[236]

सौम्यकृच्छ् व्रत

याज्ञवल्क्य के अनुसार यह छः दिनों तक किया जाता है। प्रथम पांच दिनों तक क्रम से तेल की खली, चावल (उबलते समय) का फेन, तक्र (मट्ठा), केवल जल एवं जौ का सत्तू खाया जाता है और छठे दिन पूर्ण उपवास किया जाता है।[237]

उपर्युक्त पदार्थ उतनी ही मात्रा में खाना चाहिए जिससे व्यक्ति जीवित रह सके।[238]

तुला पुरुष-व्रत

उपर्युक्त पिण्याक आदि में क्रमशः एक-एक का तीन-तीन दिन तक सेवन करने पर पन्द्रह दिन का 'तुला-पुरुष-व्रत' होता है। अत्रि ने भी इसी तरह का विचार व्यक्त किया है।[239] अपरार्क के अनुसार, इसमें उशीर (खस) से बनी कर्ता की दो आकृतियां सोने या चांदी या चन्दन की बनी तराजू के एक पलड़े पर रखी जाती हैं और दूसरे पलड़े पर कंकड़-पत्थर रखे जाते हैं या महादेव एवम् अन्य देवों, तथा अग्नि, वायु एवं सूर्य की स्थापना और पूजा की जाती है।[240]

इस प्रकार जो धर्म की इच्छा से 'कृच्छ्-व्रत' करता है वह उसी प्रकार अत्यन्त प्रचुर (राज्य आदि) विभूति प्राप्त करता है जिस प्रकार बड़े यज्ञों राजसूय आदि का कर्त्ता उनके फल को प्राप्त करता है।[241] जिन पापों के लिए प्रायश्चित्त का विधान नहीं है उन्हें व्रत द्वारा शुद्ध किया जाता था।

संदर्भ एवं टिप्पणियां

1. धारणाद्धर्ममित्याहुधर्मो धारयति प्रजा: ।
   यत् स्यात्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चय: ॥
   महा०, कर्ण०, 69/58; शान्ति०, 109/11; दे०, रवीन्द्रनाथ टैगोर रिलीजन ऑफ मैन, पृ० 143-44 ।
2. यतोभ्युदय—नि:श्रेयससिद्धि: स धर्म: । कणादसूत्र, 1/1/2 ।
3. याज्ञ०, 1/6-7 ।
4. वही, 1/8-9 ।
5. एस० राधाकृष्णन, धर्म और समाज, पृ० 104 ।
6. पी०वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, हिन्दी अनुवाद, भाग-2, पृ० 3 ।
7. याज्ञ०, 1/122; 3/66 ।
8. धृति: क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रह: ।
   धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ मनु०, 6/92 ।
9. महा०, शान्ति०, 161/5-6; वनपर्व, 2/71-73 ।
10. याज्ञ०, 3/135, 185; रामायण, अयोध्याकाण्ड, 109वां सर्ग; महाभारत, 74/105; शतपथ ब्राह्मण, 2/2/2/20; महा०, शान्ति०, 183वां अध्याय ।
11. सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्नब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
    प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्म: सनातन: ॥ मनु०, 4/138; शतपथ ब्रा०, 3/1/2/10 तथा 1/1/1/1 ।
12. सत्याज्यायो नृतं वच: । महा०, द्रोण०, 189/47; आदि, 3/15 ।
13. याज्ञ०, 1/181, 316, 3/297, 298;
    यो बन्धनवधक्लेषान्प्राणिनां न चिकीर्षति ।
    स सर्वस्य हितप्रेप्सु: सुखनत्यन्तमश्नुते ॥ मनु०, 5/46 ।
14. दशवैकालिक सूत्र, 6/11; आचारांग सूत्र, 1/2/3; सूत्रकृतांग, 1/1/1/3 ।
15. डी०आर० भण्डारकर, अशोक, हिन्दी अनुवाद, पृ० 245; सिंगाल जातक, 124 ।
16. हीरालाल जैन, भारतीय संस्कृति में जैन-धर्म का योगदान पृ० 255 ।
17. अहिंसा परमो धर्म: सर्वप्रणभूतां परम । महा०, आदि०, 11/13 ।

18. मनु०, 2/159; कुरान शरीफ, 5/35।
19. प्रज्ञा, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका, अंक 23 (भाग-2) एवं (भाग-1), वर्ष 1978, पृ० 294।
20. याज्ञ०, 1/49-50।
21. इन्द्रियाणां प्रसंगेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिमयच्छति॥
यश्चैतान्प्राप्नुयात्सर्वान्यश्चैतान्केवलांस्त्यजेत्।
प्रपणात्सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते॥ मनु०, 2/93, 95।
22. ये तपश्च तपस्यान्ति कौमार ब्रह्मचारिणः।
विद्यावेदव्रतस्नाता दुर्गाण्यावर्तिरन्ति ते॥ महा०, शान्ति०, 110/14।
23. याज्ञ०, 1/27।
24. इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान्यन्तेव वाजिनाम्॥ मनु० 2/88।
25. श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः।
न हृष्यति ग्लायति वा, स विज्ञेयोऽजितेन्द्रियः॥ वही, 2/98।
26. आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च।
बुद्धि तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥ कठोपनिषद्, 1/3/3; महा०, भीष्म०, 27/6-7
27. याज्ञ०, 2/266-268; मनु०, 8/232; नारद०, 14/17।
28. याज्ञ०, 2/269, 2/270-271; 73-74।
29. वही, 2/210-215।
30. हीरालाल जैन, भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० 259।
31. याज्ञ०, 1/334; महा०, शान्ति०, 111/68।
32. पी०वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, हिन्दी अनुवाद, भाग-1, पृ० 448।
33. देवल अपरार्क, पृ० 287; दान क्रिया कौमुदी, पृ० 2, हेमाद्रि, दानखण्ड, पृ० 13 आदि; काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, हिन्दी, भाग-1, पृ० 447 पर उद्धृत।
34. याज्ञ०, 1/6, 202, 205-208।
35. ऋग्वेद, 10/107/27: तैत्ति०ब्रा०, 2/2/5।
36. त्रिण्याहुरतिदानानि गावः पृथ्वी सरस्वतीम्।
अतिदानं हिरण्यानां विद्यादान ततो अधिकम्॥ वशिष्ठस्मृति, 19/20।

37. सर्वेषामेव दानानां विद्यादानं ततोऽधिकम् । अग्नि०, दानफल वर्णन, श्लोक 338 ।

38. महा०, अनु०, 62/11 ।

39. याज्ञ०, 1/212-213, 323 ।

40. उन 21 नरकों के नाम ये हैं—1. तामिस्र, 2. अन्धतामिस्र, 3. महारौरव, 4. रौरव, 5. कालसूत्र नरक, 6. महानरक, 7. संजीवन, 8. महावीचि, 9. तपन, 10. सम्प्रतापन, 11. संहात, 12. काकोल, 13. कुड्मल, 14. प्रतिमूर्तिक, 15. लोहशङ्कु, 16. ऋजीष, 17. पन्था, 18. शाल्मली, 19. वैतरणी नदी, 20. असिपत्रवन और 21. लोहदारक आदि । मनु०, 4/89-90, 87, 89, 91 ।

41. द्वापरे यज्ञमित्यूचुर्दानमेकं कलौयुगे ॥ बृहस्पति०, 1/23 ।

42. अभिगम्योत्तमं दानमाहूतञ्चैव मध्यमम् ।
अधम याच्यमानं स्यात् सेवादानञ्च निष्फलम् ॥ वही, 1/29 ।

43. याज्ञ०, 1/15, 17, 20-21 ।

44. हृदगाभि: पूयते विप्र: कण्ठगाभिस्तु भूमिप: ।
वैश्योऽद्भि: प्राशिताभिस्तु, शूद्र: स्पृष्टाभिरन्तत: ॥ मनु०, 2/60-62 ।

45. याज्ञ०, 1/195-96 ।

46. मनु०, 3/102; याज्ञ०, 1/102; मनु०, 3/79; महा०, अनु०, 7/12; याज्ञ०, 1/11, 107 ।
आसननावसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनाम् ।
उत्तमेपूत्तमं कुर्याद्धीने हीनं समे समम् ॥ मनु०, 3/107 ।

47. याज्ञ०, 1/109, 113 ।

48. धन्यं यशष्यमायुष्यं स्वर्ग्यं वाऽतिथिपूजनम् । मनु०, 3/196; महा०, शान्ति०, 146/5 ।

49. गौतम ध०सू०, 8/20-21; भागवत पु०, 11/17/21 ।

50. अन्धं तम इवाज्ञानम् । विष्णु पु०, 6/5/62 ।

51. याज्ञ0, 1/198; 1/99; 1/200 ।

52. वही, 3/137 ।

53. अथ त्रयो वा लोका: । मनुष्यलोक: पितृलोको देवलोका इति । सोऽयं मनुष्यलोक. पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा । कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोक: । देवलोको वे लोकानां श्रेष्ठ: । तस्माद् विद्यां प्रशंसति । बृ० उप०, 1/5/16 ।

54. विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्षमाम् ।
असूयकाय मां मादास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा ॥ मनु०, 2/114 ।

55. यमेव तु शुचिं विद्यान्नियतब्रह्मचारिणम् ।
तस्मै मां ब्रूहि विप्राय दिधिपायाप्रमादिने ॥ मनु०, 2/115 ।

56. महा०, 209; याज्ञ०, 1/27-308 ।

57. शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्व च विशः स्मृते ।
तै च स्व चैव राज्ञश्च स्वा चाग्रमन्मनः ॥ मनु०, 3/13 ।

58. याज्ञ०, 1/59 ।

59. तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते ।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे ॥ मनु०, 1/86; याज्ञ० 1/6 ।

60. याज्ञ०, 2/12-13 ।

61. सुखमय भट्टाचार्य, महाभारतकालीन समाज, (इलाहाबाद, 1966), हिन्दी अनुवाद, पृ० 299.

62. महा०, विराट०, 6वां अध्याय ।

63. दुर्गात्त्रयसे दुर्गं तत्वं स्मृता जनैः । महा०, विराट०, 6/20 ।

64. गरुड़ पु०, 1/116; विष्णु पु०, 5/1/70-86 ।

65. एपि० इण्डि०, भाग-14, पृ० 177; ए०इं०, भाग-1, पृ० 334 ।

66. याज्ञ०, 1/287-292 ।

67. याज्ञ०, 1/282; ऋग्वेद, 11/89/10 ।

68. यो दासं वर्णमधरं गुहाकः । ऋग्वेद, 2/12/4 ।

69. महा०, आदि०, 123/22; 227/29; महा०, सभा०, 6/21; महा०, शान्ति०, 122/27 ।

70. ऋग्वेद, 2/1/9; 4/2/61 ।

71. याज्ञ०, 1/281; ऋग्वेद, 7/87/7 ।

72. याज्ञ०, 2/108-109; वाजसनेयि-संहिता, 10/7 ।

73. ऋ०, 5/63/5; पुरा यथा महाराजो वरुणं वेजलेश्वरम्; महा०, शल्य०, 45/22; महा०, शान्ति०, 122/29 ।

74. एस० राधाकृष्णन्, इण्डियन फिलॉसफी, भाग-1, पृ० 78 ।

75. याज्ञ०, 1/282 ।

76. याज्ञ०; 3/127; 1/7, 97, 99, 114, 193; 2/104; मनु, 1/23 ।

77. ऋग्वेद, 3/12/3, 1/89 ।

78. याज्ञ०, 3/71।
79. ऋग्वेद, 10/7/1।
80. याज्ञ०, 1/269-270।
81. स रुद्रो दानवान हत्वा कृत्वा धर्मोत्तरं जगत्।
रौद्रं रुपमथोत्क्षिप्य चक्रे रूपं शिवं शिव:।। महा०, शान्ति०, 166/63।
82. ऋग्वेद, 1/144 तथा 7/47/2।
83. ऐतरेय ब्राह्मण, 3/33/1।
84. शतपथ ब्राह्मण, 2/6/3/17-18
85. आ०गृ०सू०, 4/9।
86. डी०सी० सरकार, सेलेक्ट इन्सक्रिप्सन्स, पृ० 130; का०इं०, भाग-3, पृ० 74 व 152; ए०इं०, भा० 1 व 16, पृ० 238, 13; उदयपुर प्रशस्ति० ए०इं० 1, पृ० 233; हर्ष शिलालेख, ए०इं० 2, पृ० 123, श्लोक 35; इं०ए०, 15, पृ०306।
87. बील, 2 पृ० 44-45।
88. ओम् ज्ञानानन्दम् परम ब्रह्म ब्रह्मादि सुरसेवितम्।
वंदेमहि महादेवं देवदेव जगद्गुरुम्।। इपि०इं० 2, पृ० 18, से उद्धृत।
89. जर्नल ऑफ न्यूमिस्मेटिक सोसाइटी, 11, भाग-1, पृ० 103-106, प्लेट, चित्र 1।
90. उदयन इति राजा य: कुले पाण्डानां सकलभुवन नाथस्यास्य भद्रेश्वरस्य, पवन कुलित चिह्न रम्यकांतेष्टकाभि: गृहत्रमति भक्त्या कारितं तेनपूर्वम्। आर्केयोलाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, 21।
91. याज्ञ०. 1/269-270।
92. वासुदेवार्जुननाभ्यां तुन्। अष्टाध्यायी, 4/3/98; दे०, दी कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया, 4, पृ० 42।
93. डी०सी० सरकार, सेलेक्ट इंसक्रिप्सन्स, पृ० 28, 193
94. तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।
तस्मिन्जेह स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामह:।। मनु०, 1/9।
95. याज्ञ०, 1/98।
96. प्रजापति: प्रजां असृजत······। शतपथ ब्राह्मण, 2/6/3/5।
97. रामायण, बालकाण्ड, 15/5।
98. पातिर्यस्मात्प्रजा: सर्वा: प्रजापतिरत: स्मृत:। वायुपुराण, 5/29-37।

99. अहो रूपमहो रूपमिति चाह प्रजापतिः। मत्स्यपुराण, 3/33।
100. पी० बी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-1, पृ० 406।
101. जे० यन० बनर्जी, डेवलपमेन्ट ऑफ हिन्दू आइकनोग्रैफी, पृ० 551।
102. याज्ञ०, 3/1-2।
103. बौद्धमोलिं वपुष्मन्तमादित्यसमतेजसम्। महा०, वन०, 296/8-9। यमं वैवस्वतन्चपि पितृणामकरोत् प्रभुम्। महा०, शान्ति०, 122/27।
104. डी० सी० सरकार, सेलेक्ट इन्सक्रिप्सन्स, पृ० 193।
105. जे० यन० बनर्जी, डेवलपमेंट ऑफ हिन्दू आइक्नोग्रैफी, पृ० 520।
106. पी० बी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-1, पृ० 406।
107. जे० यन० बनर्जी, डेवलपमेंट ऑफ हिन्दू आइक्नोग्रैफी, पृ० 485।
108. गणानां त्वा गणपतिं हवामहे, कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम्।
ज्येष्टराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत आनः शृण्वन्नूतिभिः सीद सदनम्॥
ऋग्वेद, 2/23/1, तैत्तिरीय संहिता, 2/3/143।
109. याज्ञ०, 1/271-274।
110. वही, 1/275-291; गरुड़ पु०, 1/129/11, 13; अग्नि० पु०, 179/4।
111. याज्ञ०, 1/292।
112. महा०, अनु०, 151/26; 150/75।
113. बासुदेव उपाध्याय, प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन पृ० 137।
114. एपिग्राफिका इण्डिका, भाग-1, पृ० 288।
115. जर्नल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, भाग-18, पृ० 158।
116. ए० इं०, भा०-9, पृ० 279।
117. एवं संपूज्यते तल नित्यमेव गणेश्वरः। ब्रह्माण्ड पु०, 3/66/46।
118. ब्रह्माण्ड पु०, 3/42/42-44; मत्स्य पु०, 154/502-505।
119. रामाश्रय अवस्थी, खजुराहो की देव-प्रतिमाएं, प्रथम-खण्ड, पृ० 38।
120. ए० यस० आई०, वाल्यूम 11, पृ० 418।
121. सम्पूर्णानन्द, हिन्दू देव परिवार का विकास, पृ० 148।
122. टी० ए० गोपीनाथ राव, एलिमेन्ट्स ऑफ हिन्दू आइकोनोग्राफी (भाग-2, खण्ड-1), पृ० 136-137, फलक 25। फलक 26, चित्र-2।

123. रामाश्रय अवस्थी, खजुराहो की देव-प्रतिमाएं, प्रथम-खण्ड पृ० 189।
124. याज्ञ०, 1/295-298।
125. सूर्यः सोमो मंगलश्च बुधश्चैव बृहस्पतिः।
शुक्रः शनैश्चरो राहुः केतुर्ग्रहगणाः स्मृता ॥ गरुड़ पु०, 1/101/3-12।
126. याज्ञ०, 1/299-301। "आकृष्णेन", "इमं देवा," "अग्निर्मूर्धा", "दिवः कुकुत्", "उद्बुध्यस्व", "बृहस्पते अतियदर्यः", अन्नात्परिस्रुतेः", "शं नो देवी" और "काण्डात्केतु कृण्वन्।"—ये यथा क्रम नौ देवताओं के मंत्र हैं।
127. याज्ञ०, 1/302-303।
128. याज्ञ०, 1/304।
129. वही, 1/308।
130. ए० हि०, आ०, 1-2, पृ० 300।
131. सी० शिवरामामूर्ति, ए० आइ० नं० 6, पृ० 35।
132. शतपथ ब्राह्मण, 2/6/48।
133. यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म। वही, 1/7/3/5।
134. याज्ञ०, 1/25, 99, 101, 124-126।
135. वही, 1/314-315; शुक्ल यजुर्वेद संहिता, 9/10; शतपथ ब्रा०, 5/2; कात्यायन श्रौतसूत्र, 25; याज्ञ०, 1/81।
136. डी० सी० सरकार, सेलेक्ट इन्सक्रिप्सन्स, पृ० 193-195।
137. अ० स० अलतेकर, गुप्तकालीन मुद्राएं, (पटना, 1972 ई०), पृ० 43, 140।
138. याज्ञ०, 1/127; दे०, गरुड़ पु०, 96/33।
139. ज्ञानं विशिष्टं न तथा हि यज्ञाः।
ज्ञानेन दुर्गं तरते न यज्ञैः ॥ महा०, शान्ति, 319/109।
140. याज्ञ०, 3/69, 67, 69, 117-118।
141. बृ०उप०, 2/4/6; वही, 2/5/19; छा०उप०, 7/25/2।
142. याज्ञ०, 3/150-151।
143. बृ०उप०, 4/3/6।
144. याज्ञ०, 3/69, 72, 120; मनु०, 3/76।
145. बृ०उप०, 6/2/9-13; याज्ञ०, 3/126-128।
146. ऋ०, पुरुष सूक्त।

147. याज्ञ०, 3/145, 148 ।
148. बृ०उप०, 2/1/20 ।
149. याज्ञ०, 3/62; मनु०, 6/71 ।
150. याज्ञ०, 3/204 ।
151. श्वेताश्वतर उप० सम्बन्ध-भाष्य, पृ० 2-4 ।
152. याज्ञ०, 198-201 ।
153. बृ० उ० प०, 1/4/15 स य आत्मनमेव प्रियमुपास्ते ॥
154. अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषंदिव्यं याति पार्थानुचिन्तयम् ॥ गीता, 8/8; बृ० उप०, 4/2/1; एस० एन० दासगुप्ता, भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग-2, पृ० 513 ।
155. याज्ञ०, 3/198-203 ।
156. याज्ञ०, 3/187-192 ।
आत्मा वा अरे दृष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निद्धियासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञान इदं सर्वं विदितम् । बृ० उप० 4/5/6 ।
157. याज्ञ०, 3/185-186 ।
158. बृ० उप०, 6/2/15-16 ।
रजस्तमोभ्यानाविष्टश्चक्रवद भ्राम्यते हिद्यसौ । याज्ञ०, 3/182 ।
159. याज्ञ०, 3/194; 196-197; गीता, 8/28, 9/4 ।
160. बृ० उप०, 6/2/15-16 ।
161. क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकेविशन्ति । गीता, 9/21 ।
162. तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः । ब्र० सू० शांकरभाष्य, 3/1 ।
163. बृ० उप० शांकरभाष्य, 6/2/15; तुलनीय, स० वे० लि० सा० सं०, श्लोक 27 ।
164. याज्ञ०, 3/194, 97; कठ० उप०, शां० भा०, 1/1/18; ब्र० सू०, 3/1/17 ।
165. पी० वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-3, हिन्दी अनुवाद, पृ० 1015 ।
166. लक्ष्मीदत्त ठाकुर, प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन पृ० 61 ।
167. याज्ञ०, 3/221; शत० ब्रा०, 4/5/7 ।
168. याज्ञ०, 3/219-220 ।
169. अकुर्वन्विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन् ।
प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः ॥ मनु०, 11/44 ।

170. याज्ञ०, 3/227।

171. ब्रह्महत्या सुरापानंस्तेयं गुर्वांगनागमः।
महान्तिपातकन्याहुः संसर्गश्यापि तैः सह ॥ मनु०, 11/54।

172. वसिष्ठ०, 20/4-12।

173. याज्ञ०, 3/228, 229, 23, 231, 232।

174. मनु०, 11/55, 56, 57, 58 आदि।

175. याज्ञ०, 3/234-242; मनु०, 11/58-71, बौधा० ध० सू०, 2/1/60-61।

176. लक्ष्मीदत्त ठाकुर, प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन पृ० 62-63।

177. बौधायन स्मृति, 2/1/1/6।

178. याज्ञ०, 3/248; मनु०, 11/72।

179. याज्ञ०, 3/248; आप०ध०सू०, 1/9/25/12; गौतम०, 22/3।

180. याज्ञ०, 3/247; आपस्तम्ब ध० सू०, 1/9/25/13; गौतम०, 22/8; मनु, 11/74।

181. याज्ञ०, 3/244; मनु०, 11/82; गौतम०, 22/9।

182. याज्ञ०, 2/244 पर मिताक्षरा; अपरार्क, पृ० 1057।

183. याज्ञ०, 3/245; मनु०, 11/80।

184. पी० वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, हिन्दी अनुवाद, भाग-3, पृ० 1024।

185. याज्ञ०, 3/253; गौतम०, 23/1; आप० ध० सू०, 1/9/25/3; बौधा०, ध० सू०, 2/1/21; वसिष्ठ०, 20/22; मनु०, 11/90-91; अपरार्क, पृ० 1071।

186. याज्ञ०, 3/254; मनु०, 11/92; याज्ञ०, 3/255; गौतम०, 23/2-3; मनु०, 11/146; अत्रि०, 75; वसिष्ठ०, 29/19।

187. याज्ञ०, 3/256, 229; मनु०,5/19।

188. याज्ञ०, 3/230।

179. याज्ञ०, 3/257; मनु०, 8/315, 11/109, 11/54, 99।

190. याज्ञ०, 3/258; आप० ध० सू०, 1/25/8; प्राय० वि०, पृ० 117-127; प्राय०सार, पृ० 49; मदन-पारिजात, पृ० 828-834; स्मृत्यर्थसार, पृ० 108-109; स्मृतिमुक्तापल, पृ० 883-885।

191. मनु०, 11/164; वही, 8/521, 323; विष्णु०, 5/82।

192. याज्ञ०, 3/231, 269; गौतम०, 23/8-11; आप० ध० सू०, 1/9/25/1-2; बौधा०ध०सू०, 2/1/14-16; वसिष्ठ, 20/13-14; मनु०, 11/103-104।
193. याज्ञ०, 3/260; मनु०, 11/290; पराशर० 10/10-11; 10/12-14।
194 याज्ञ०, 3/233; आप०ध०सू०, 1/9/27/11;—पी० वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, हिन्दी अनुवाद, भाग-3, पृ० 1066-1067।
195. याज्ञ०, 3/261; मनु०, 11/181; विष्णु०, 54/1।
196. पी०वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, हिन्दी अनुवाद, भाग-3, पृ० 1067-68।
197. याज्ञ०, 3/25; मनु०, 11/117; विष्णु०, 37/35।
198. पी०वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, हिन्दी अनुवाद, भाग-3, पृ० 1068।
199. याज्ञ०, 3/263-64; वसिष्ठ, 21/18; मनु०, 11/108/116; विष्णु०, 50/76-14; संवर्त०, 130-135; पराशर०, 8/31-41; देखिए, पी०वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, हिन्दी अनुवाद, भाग-3, पृ० 1068-1071।
200. याज्ञ०, 3/266-267; मनु०,11/127, 126।
201. याज्ञ०, 3/268-269; मनु०, 11/70; आप० ध०सू०, 1/9/25/41।
202. याज्ञ०, 3/270-275; गौतम०, 22/19-22; मनु०, 11/133-137; विष्णु०, 50/24-32; पराशर०, 6/1-15।
203. याज्ञ०, 3/276; वशिष्ठ०, 19/11-12; मनु०, 11/142।
204. पी०वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, हिन्दी अनुवाद. भाग-3, पृ० 1070।
205. याज्ञ०, 3/277, 279; वशिष्ठ०, 23/31; मनु०, 11/199।
206 याज्ञ०, 3/280-288; मनु०, 11/208।
207. वही, 3/289-299; मनु०, 11/124-125, 201-202, 183-84, 112-113; गौतम०, 19/5/7; 19/10/17।
208. अनभिख्यातदोषस्तु रहस्यं व्रतमाचरेत्॥ याज्ञ०, 3/300।
209. वही, 3/303; मनु०, 11/249, 256।
210. याज्ञ०, 3/304; मनु०, 11/251।

211. याज्ञ०, 3/305; मनु०, 11/252।

212. याज्ञ०, 3/311।

213. याज्ञ०, 3/131-139।

214. याज्ञ०, 3/220 पर मिताक्षरा; लक्ष्मीदत्त ठाकुर, प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन, पृ० 67।

215. याज्ञ०, 3/301।

216. ऋग्वेद, 10/190/1-3; गौतम०, 24/11; बौधा०ध०सू०, 4/2/19/20; मनु०, 11/259-260; विष्णु०, 55/7; शंख०, 18/1-2।

217. अयमेवातिकृच्छ्र: स्यात्पाणिपूरान्नभोजन: ।। याज्ञ०, 3/319; गौतम० 26/18-19; विष्णु०, 51-30; लौगाक्षि गृ०, 5/12-13; पराशर०, 11/45-55; वशिष्ठ०. 24/1-2; बौधायन ध०सू०, 4/5/8।

218. मनु०, 14/213; गौतम०, 26/22।

219. याज्ञ०, 3/315।

220. मिताक्षरा, याज्ञ०, 3/315; अग्नि पु०, 171/10; विष्णु०, 46/21; प्राय०, मयूख, पृ० 23।

221. मदनपारिजात, पृ० 729; प्रायश्चित्तसार, पृ० 189।

222. याज्ञ०, 3/318; मिताक्षरा; आपस्तम्ब स्मृ०, 9/43-44; प्राय० वि०, पृ० 509।

223. याज्ञ०, 3/319; आप०ध०सू०, 1/9/27/7; गौतम०, 26/2-16; मनु०, 11/211; देखिए, पी०वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-3, हिन्दी अनुवाद, पृ० 1082-1083।

224. याज्ञ०, 3/320; देवल०, 86; गौतम०, 26/20, 23।

225. मनु०, 11/208; विष्णु०, 53/30।

226. मिताक्षरा, याज्ञ०, 3/323-324; मनु०, 11/27; बौध०ध०सू०, 4/5/18।

227. परायणं-तरायण-चन्द्रायणं वर्तयति। पाणिनि, 5/1/72।

228. याज्ञ०, 3/326; गौतम०, 27/18।

229. याज्ञ०, 3/317; बौधा० ध० सू०, 4/5/10; मनु०, 11/214; शंखस्मृ०, 18/4; अग्नि पु०, 171/6-7; अत्रि०, 122-123; पराशर०, 4/7।

230. मिताक्षरा, याज्ञ०, 3/317।

231. पी० वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-3, हिन्दी अनुवाद, पृ० 1086।

232. द्वादशाहोपवासेन पराकः परिकीर्तितः । याज्ञ०, 3/320; बौधा०ध०सू०, 4/5/16; मनु०, 11/215; अत्रि०, 28; अग्निपु०, 170/10 ।
233. याज्ञ०, 3/318; देवल०, 85; परा०भा०, 2, भाग-2, पृ० 172 ।
234. याज्ञ०, 3/316 ।
235. याज्ञ०, 3/319; बौधा०ध०सू०, 4/5/6; मनु०, 11/211; विष्णु, 47/10; अत्रि०, 110-120; शंख, 18/3 ।
236. पी०वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, हिन्दी अनुवाद, भाग-3, पृ० 1090 ।
237. याज्ञ०, 3/321; अत्रि०, 128-129 ।
238. मदनपारिजात, पृ० 717; प्रायश्चित्तसार, पृ० 178 ।
239. याज्ञ०, 3/322; अत्रि०, 129-130 ।
240. अपरार्क, पृ० 1239-124; मदनपारिजात, पृ० 718-727; प्रायश्चित्तसार, पृ० 179-181 ।
241. याज्ञ०, 3/327 ।

+●——●+

षष्टम् अध्याय

आर्थिक-स्थिति

समाज का उत्कर्ष आर्थिक-जीवन की सम्पन्नता और समुन्नति पर निर्भर करता है। व्यक्ति का भौतिक-सुख उसके आर्थिक-विकास से प्रभावित होता है। प्राचीन काल में आर्थिक-जीवन का मूल आधार कृषि तथा व्यापार रहा है। वस्तुतः निश्चित स्थितियों के अन्तर्गत कृषक तथा औद्योगिक-वर्ग के सदस्यों द्वारा निश्चित कार्यक्रम की अपेक्षा की जाती रही है। निश्चित परिस्थितियों के कारण उनके कार्यक्रम में समयानुसार संशोधन भी होते रहे हैं। आर्थिक-जीवन की प्रेरक ये प्रवृत्तियां[1] प्रत्येक युग में स्वभावतः उत्पन्न होती हैं और समाज को सुव्यवस्थित एवं समुन्नत बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

अर्थ का महत्व

पुरुषार्थ भारतीय जीवन का मूल आधार बताया गया है।[2] पुरुषार्थ चार हैं—धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष। जीवन का मुख्य उद्देश्य मोक्ष प्राप्त करना है। तीनों पुरुषार्थों को प्राप्त किये बिना कोई भी व्यक्ति मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता।[3] कुछ आचार्यों ने धर्म तथा अर्थ को, कुछ ने काम तथा अर्थ को, कुछ ने अर्थ तथा काम को, उपायभूत होने से धर्म को तथा कुछ ने धर्म और अर्थ का साधन होने से अर्थ को ही श्रेष्ठ माना है।[4]

महाभारत में कहा गया है कि अर्थ के द्वारा धर्म, काम और मोक्ष प्राप्त किये जा सकते हैं।[5] अर्थ-अर्थ को खींचता है[6] और अर्थ के अभाव में यह लोक तथा परलोक दोनों ही कष्टदायक होते हैं।[7] अर्थहीनता इस लोक में महापाप है।[8] बृहस्पति ने अर्थ को संसार का मूल माना है।[9] याज्ञवल्क्य, नारद, कौटिल्य आदि विचारकों ने धर्मशास्त्र के व्यवहार में अर्थशास्त्र की भी प्रतिष्ठा की है।[10] शुक्र का कथन है कि अर्थार्जन अर्थशास्त्र से संयुक्त था।[11] रामायण से भी अर्थ का महत्व स्पष्ट होता है।[12] कौटिल्य के अनुसार धर्म और काम का मूलाधार अर्थ है।[13] जैन लेखक हरिभद्र सूरि का मन्तव्य है कि व्यक्ति का सब कुछ अर्थ पर ही निर्भर है, इसलिए वह देवता है।[14] सर्वदर्शनसंग्रह में चारों पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) में अर्थ और काम को जीवन का मुख्य लक्ष्य बतलाया गया है।[15]

आदि तीर्थंकर ने अपने पुत्र भरत को अर्थशास्त्र की शिक्षा दी थी।[16] जो अर्थ के महत्व को सूचित करता है। आर्थिक कार्यक्रम व्यक्ति का मानवीय सम्बन्ध ही नहीं, बल्कि सामाजिक सम्बन्ध भी अभिव्यक्त करता है।[17] इससे स्पष्ट होता है कि प्राचीन

काल में जीवन के चारों पुरुषार्थों में अर्थ का अत्यधिक महत्व था। किसी भी राष्ट्र अथवा राज्य की सुव्यवस्था, उत्थान, उसके निवासियों का जीवन-स्तर, सुख-शान्ति, वैभव आदि उस राष्ट्र की आर्थिक-व्यवस्था पर आधारित होता है।

कृषि

भारत प्राचीन-काल से ही कृषि प्रधान देश रहा है। यह सम्भवत: भूमि की उत्कृष्टता तथा जलवायु की अनुकूलता के कारण हुआ होगा।

क्षेत्र की तैयारी—याज्ञवल्क्य के अनुसार वैश्य ही मुख्यत: कृषि-कर्म करते थे और इसके विकास में यत्नशील थे।[18] खेत में भृत्य से श्रम का कार्य कराया जाता था, और वही खेतों की देखभाल भी करते थे।[19] कृषि-योग्य भूमि को क्षेत्र कहा जाता था।[20] खेत को जोतने के लिए याज्ञवल्क्य ने 'कारयेत' शब्द का व्यवहार किया है।[21] शतपथब्राह्मण में खेत को जोतने के लिए 'कर्षण', बोने के लिए 'वपन', काटने के लिए 'कर्तन' और माड़ने के लिए 'मर्दन' शब्द का प्रयोग हुआ है।[22] बौद्ध-साहित्य में खेत जोतने की क्रिया को कर्मान्त कहते थे।[23] किसान नित्य ही खेतों पर जाकर उनकी तैयारी करने में जुटे रहते थे।[24] क्षेत्र को भलीभांति तैयार करने के बाद ही बीज बोने से उपज अधिक होती थी।[25] कृषि के आयोग्य भूमि को ऊसर माना जाता था और जहां पशु चरते थे उसे "गोचर" भूमि कहते थे।[26] जुती हुई भूमि को 'हल्य' या 'सीत्य' के नाम से अभिहित किया गया था।[27]

बीज वपन—याज्ञवल्क्य के समय में बाजार आदि से क्रय किया गया व्रीहि आदि का बीज दस दिन में परीक्षण करके बोया जाता था।[28] बीज बोने का उपयुक्त समय तथा तिथियां भी निश्चित थीं।[29] बीज अच्छा नहीं होता था तो उपज भी अच्छी नहीं होती थी।[30] दिव्यावदान में बीज की सत्ता इस जातियां बतायी गयी हैं।[31]

याज्ञवल्क्य ने फसल के लिए 'सस्य' शब्द का प्रयोग किया है।[32] बिना जोती हुई भूमि पर स्वत: उत्पन्न विभिन्न अन्य नीवार, वेणु तथा श्यामाक कहे जाते थे। इनका प्रयोग प्राय: वानप्रस्थी एवं योगी लोग करते थे।[33] इस प्रकार फसल दो प्रकार की होती थीं। कृष्टपच्य और अकृष्टपच्य। कृष्टपच्य उस फसल को कहते थे, जो कृषि द्वारा उत्पन्न की जाती थी तथा अकृष्टपच्य उसे कहते थे जो विभिन्न स्थानों पर स्वयं उत्पन्न हो जाती थी।[34] कौटिल्य ने तीन प्रकार की फसलों का उल्लेख किया है जो क्रमश: वर्षा के आरम्भ, मध्य एवं अन्त में बोयी जाती थीं। शालि (अगहनी धान), व्रीहि (धान), कोदो, तिल, ककुनी, दारक, वरक (लोबिया), ये सात प्रकार के अन्न वर्षा काल के आरम्भ में बोये जाते थे। मूंग, उड़द और शिम्ब (बोड़ा) वर्षा के मध्य भाग में तथा कुसुम्भ, मसूर, कुलथी, जौ, गेहूं, मटर अलसी और सरसों वर्षा के अन्त में बोए जाते थे।[35] सीताध्यक्ष को चाहिये कि खेत के लिए जल की कमी-वेशी के अनुसार केदार-क्षेत्र (धान बोने योग्य खेत) में बोने योग्य,

हेमन्त-काल में बोने योग्य अथवा ग्रीष्म-काल में बोने योग्य बीज यथा समय बोवाएं।[36]

यूनानी लेखकों ने भारत-भूमि की उर्वरता की भूरि-भूरि प्रशंसा की है तथा अन्यान्य प्रकार के अनाज और फल-फूलों का वर्णन किया है।[37] धान, गेहूं, जौ, दाल फल आदि उनके द्वारा उल्लिखित हैं।[38]

सिंचाई—पेड़-पौधे अपना भोजन घोल के रूप में ग्रहण करते हैं। इसलिए उनको मिट्टी से पौष्टिक-तत्त्व पहुंचाने के लिए सिंचाई आवश्यक थी। समयानुसार वृष्टि हो जाने पर सिंचाई की समस्या नहीं होती थी। वृष्टि न होने पर कुएँ, जलाशय एवं नहरों द्वारा सिंचाई की व्यवस्था की जाती थी। याज्ञवल्क्य ने सिंचाई के साधनों में कूप, वापी तथा सेतु का उल्लेख किया है। सम्भवतः तद्युगीन समाज में सिंचाई के प्रमुख साधन यही रहे होंगे।[39] नहरों से खेत की सिंचाई का अनुमान सिन्धु-सभ्यता से भी होता है।[40] महाभारत के अनुसार कृषि वर्षा के अधीन नहीं छोड़ी जानी चाहिए। यथास्थान बड़े-बड़े जलपूर्ण जलाशय सिंचाई के लिए होने चाहिए।[41]

मौर्य-काल में आधुनिक जूनागढ़ प्रान्त के गिरिनगर में ऊर्जवत पर्वत की घाटी को बांधकर एक बड़ी झील बनाई गई थी। चन्द्रगुप्त मौर्य और अशोक के समय तथा उसके बाद तक इससे सिंचाई होती रही। यह बांध 150 ई० में टूट गया पश्चिम भारत के शक राजा रुद्रदामन प्रथम ने इसकी मरम्मत कराई।[42] बाद में यह बाँध एक बार और टूटा और स्कन्दगुप्त ने इसका पुनर्निर्माण कराया।[43] इस प्रकार के बांध बनाने का काम तथा सिंचाई के प्रबन्ध अन्य राजाओं ने भी किये होंगे। खारवेल ने 300 वर्ष ई० पूर्व नन्दों के द्वारा बनवाई हुई तनसुलि नहर को अपनी राजधानी तक बढ़ाया।[44]

मनु ने कुआं, तालाब, बावली आदि बनवाने को अक्षय-धन, सुख तथा यश प्राप्ति का कारण बताया है। साथ ही इन कृत्रिम जल-साधनों को स्वामी के आज्ञा के बिना उसके उपयोग में लाने वाले को पाप का अधिकारी बताया है।[45] सेतु-भंग करने वाले को मृत्यु-दण्ड देने का विधान मिलता है।[46] सेतु का अभिप्राय सम्भवतः तालाब, नहर, नदी आदि के बांधों से है, जिनका उद्देश्य समुचित उपयोग के लिए जल को संग्रहीत रखना एवं बाढ़ आदि से क्षेत्रों की सुरक्षा करना था।[47]

तक्षशिला, हस्तिनापुर, उदयपुर, अहिच्छत्र, कौशाम्बी, भीटा, नासिक और उज्जैन आदि उत्खननों[48] से पश्चिमोत्तर भारत के अनेक तालाबों एवं जलाशयों के अस्तित्व सामने आते हैं; जिनसे सम्भवतः उस काल से सिंचाई भी होती रही होगी, वस्तुतः इनमें से अधिकांश का अधार धार्मिक ही रहा है।[49] उत्खनन के आधार पर डॉ० मार्शल ने इनका काल दूसरी-तीसरी सदी ई० पू० से प्रथम सदी ई० सन् तक माना है।[50]

याज्ञवल्क्य के अनुसार दो खेतों की सीमा के विवाद का निर्धारण वृद्ध पुरुष, गोप (चरवाहे), सीमा के खेत जोतने वाले लोगों से खेत की सीमा के चिन्ह पूछ कर

सामन्त करता था ।[51] कोई चिह्न स्पष्ट न होने पर सामन्त, आसपास के चार, आठ अथवा दस ग्रामवासी के सिर पर मिट्टी का ढेला रखकर लाल रंग का वस्त्र धारण करके सीमा का निर्धारण करते थे ।[52] सामन्त के झूठ बोलने पर राजा उसे मध्यम-साहस का दण्ड देता था और स्वयं सीमा का निर्धारण करता था ।[53] मनु से भी ऐसी व्यवस्था समर्थित है ।[54] इस व्यवस्था का पालन वाटिका, आयतन (बैठक), गांव, वापी, कूप, जलस्थल, उद्यान तथा घर की सीमा के निर्धारण में भी होता था ।[55]

खेतों को एक दूसरे से विभाजित करने वाली मेड़ को तोड़ने और इस सीमा को पार (अधिक जोतने) करने तथा धमका कर खेत छीन लेने पर क्रमशः अधम, उत्तम और मध्यम साहस का दण्ड दिया जाता था ।[56] खेत में बने सेतु पर तथा उससे होने वाले फल पर खेत के स्वामी का ही अधिकार होता था । क्षेत्रपति के न होने पर वह लाभ राजा को मिलता था ।[57]

याज्ञवल्क्य के अनुसार खेत के स्वामी से खेत लेकर थोड़ा बहुत जोतकर यदि कोई व्यक्ति उसे न स्वयं जोतता है और न किसी अन्य व्यक्ति को जोतने देता है तो उस खेत से जितना अन्न पैदा होता है उतना अन्न उसके स्वामी को दिलाए तथा खेत को जोतने के लिए दूसरे व्यक्ति को दे ।[58]

इससे लगता है कि सम्भवतः याज्ञवल्क्य के समय में कुछ लोग अधिया पर खेती करते थे । किन्तु यदि किसी कारण से खेत अधिया पर लेने वाला व्यक्ति उसमें फसल पैदा करने में अक्षम होता था, तो उससे क्षेत्रपति क्षति-पूर्ति प्राप्त करने का अधिकारी था ।

फसल की सुरक्षा—फसल की सुरक्षा के लिए बाड़ा लगाया जाता था ।[59] खेत चारागाहों एवं अरण्य के आस-पास भी होते थे ।[60] फलतः पालतू एवं जंगली जानवरों द्वारा फसल को खा जाने का भय किसानों को सदा बना रहता था ।[61] इनसे फसल को सुरक्षित रखने के लिए कृषक अपने खेतों के चारों तरफ ऊँची-ऊँची बाड़ लगाते थे ।[62] इन ऊँची बाड़ों का दूसरा लक्ष्य खेतों को एक दूसरे से पृथक रखने के लिए उनकी सीमा बनाए रखना भी था । इससे बोने के बाद बीज जल-प्रवाह एवं वायु से उड़कर दूसरे के खेतों में जाने से बचता भी था ।[63] इसके अतिरिक्त उन दिनों जन-साधारण में यह विश्वास था कि वृक्षों में जीव होता है और हरी वनस्पति को हानि पहुंचाना जीव हिंसा है । यह धारणा भी पालतु-पशुओं से खेतों की रक्षा में सहायक थी ।[64]

यदि किसी की भैंस, गधा, तथा ऊंट बाड़ में प्रवेश करके फसल को क्षति-ग्रस्त करता है, तो उससे आठ 'माष' दण्ड के रूप में वसूल किया जाता था ।[65] इसके विपरीत गाय द्वारा क्षतिग्रस्त फसल पर चार 'माष' तथा बकरे एवं भेड़ द्वारा खाई गयी फसल पर दो 'माष' दण्ड स्वरूप वसूल किया जाता था ।[66] मूल से खेत में पशुओं के पड़ने पर पशु-स्वामी का दोष नहीं माना जाता था । जान-बूझकर पशुओं को छोड़ने वाला चोर के समान दण्ड का भागी होता था ।[67] राजा एवं दैव से पीड़ित तथा

स्वामी हीन पशु को क्षति पहुँचाने पर भी छोड़ दिया जाता था।[68] श्राद्ध एवं अन्य विधानों में छोड़े गये सांड आज भी स्वच्छन्द रूप से किसानों के खेत में विचरण करके फसलों को क्षतिग्रस्त करते हैं। इन्हें देखने पर कृषक अपने खेत से भगा देते हैं। ऐसे पशु को दण्ड देने पर सरकार दण्ड देने वाले व्यक्ति को दण्डित करती थी। पशु-पालक अधर्म तथा राजदण्ड के भय से अपने पशुओं को प्राय: खेतों से दूर ही रखते थे।[69] वन्य-पशुओं से सुरक्षा के लिए कभी-कभी खेतों के चारों तरफ खाई खुदवाने का उल्लेख भी मिलता है।[70]

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि खेत की रखवाली महत्त्वपूर्ण कृषि-प्रक्रिया थी। आज भी इन सब विधि-विधानों का परिपालन समाज में व्यवहृत होता है।

पालतू-पशु

प्राचीन भारत में भी पशुपालन एक महत्त्वपूर्ण पेशा था। भूमि और जलवायु की उत्कृष्टता के कारण सर्वत्र चरागाह रहे होंगे। जनसंख्या स्वल्प होने के कारण चारागाह आज की अपेक्षा कई गुने अधिक रहे होंगे। इन मैदानों में घास चरने वाले तथा पेड़-पौधों की पत्तियां खाने वाले पशु निर्द्वन्द्व होकर चरते थे। पीने के लिए जल भी सर्वत्र प्राप्त था।[71] पशुपालन प्राय: वैश्य-वर्ण के लोग करते थे।[72] किन्तु यह असम्भव नहीं कि अन्य वर्णों के लोग भी पशु पालते रहे हों। पशु को वैदिक-काल से ही धन का एक रूप माना गया है।[73] तत्कालीन समाज में पशु के आर्थिक महत्व को दृष्टि में रखकर ही उसे यज्ञ और प्रजापति कहा गया है।[74]

स्मृति-काल में निम्नलिखित पालतू-पशुओं का उल्लेख प्राप्त होता है।

गाय—पशुओं में गाय का बड़ा महत्त्व था।[75] गाय से दूध प्राप्त किया जाता था तथा उससे उद्भूत बछड़े बड़े होकर हल और गाड़ी खींचने के उपयोग में लाये जाते थे। गाय की लोकप्रियता का प्रधान कारण था, उसका जीविका प्रदान करने के लिए सर्वोच्च साधन होना। इस दिशा में अन्य पशुओं से गाय की कोई तुलना नहीं थी।[76] किसी-किसी परिवार के पास सहस्रों गायें होती थीं।[77] इनको रहने के लिए गौशालाओं का निर्माण कराया जाता था।[78]

गाय का महत्त्व वैदिक-काल से ही प्रमाणित है। लोग गायों और अश्वों के द्वारा धनी बनने की कामना करते थे।[79] दुहने के लिए गाय को अत्यन्त प्रेम एवं श्रद्धापूर्वक बुलाते थे।[80] संधिनी (बरदाई हुयी, एक समय दूध देने वाली दूसरी गाय के बछड़े से दुही जाने वाली), दस दिन से कम की ब्याई हुई तथा जिसका बछड़ा मर गया हो ऐसी गाय का दूध पीना वर्जित था।[81] गाय के पैर पड़ने से अशुद्ध पृथ्वी शुद्ध हो जाती है।[82] गाय को दान में भी दिया जाता था। ऐसी धारणा थी कि गाय का दान करने वाला व्यक्ति उसके तथा बछड़े के शरीर में जितने रोएं होते हैं उतने

युग तक के लिए स्वर्ग प्राप्त करता है।[83] उपाध्यायों व गुरुओं को श्रद्धा की प्रतीक गाय भेंट में दी जाती थी।[84]

गायों के चरने के लिए राज्य की ओर से चरागाह की व्यवस्था की जाती थी।[85] चरवाहे की त्रुटि से पशु का नाश होने पर चरवाहे को साढ़े तेरह 'पण' दण्ड स्वामी को देना पड़ता था।[86] याज्ञवल्क्य ने पाप से मुक्ति पाने के लिए अधिक संख्या में गाय के दान का उल्लेख किया है।[87] इससे यह भी ज्ञात होता है कि लोग अन्य पशुओं की अपेक्षा गाय अधिक संख्या में पालते थे। अत: आर्थिक एवं धार्मिक दोनों दृष्टि से गायों का महत्व अधिक था। वर्तमान समय में भी गायों की महत्ता स्वीकार की जाती है।

बैल—बैल स्मृति काल की अर्थव्यवस्था के एक महत्वपूर्ण अंग थे।[88] बैल हल एवं गाड़ी खींचने के काम आते थे।[89] बैल दक्षिणा के रूप में भी दिये जाते थे। महाभाष्य में आगे चलकर श्रेष्ठ बैल बनने वाले बछड़े को आर्शभ्य[90] कहा गया है। बैल रथ खींचने के काम भी आते थे।[91] इस प्रकार बैल अत्यन्त उपयोगी पशु माने जाते थे।

भैंस—लोग भैंस भी पालते थे।[92] इससे दूध प्राप्त होता था। यदि किसी की भैंस दूसरे की फसल नष्ट करती थी, तो उससे आठ माष दण्ड के रूप में वसूल किया जाता था। भैंस भी गाय, बैल, भेड़, बकरी की भांति राज्य की बहुमूल्य सम्पत्ति मानी जाती थी।[93]

भेड़—लोग भेड़ भी पालते थे।[94] इनका दूध पीना वर्जित था।[95] दूसरे के खेत में यदि भेड़ चरती हैं, तो पालने वाले से दो माष दण्ड वसूल किया जाता था।[96] भेड़ों को मारकर रक्त निकालने पर चार पण दण्ड देना पड़ता था।[97] मार डालने पर मध्यम-साहस का दण्ड दिया जाता था।[98] भेड़ से ऊन प्राप्त होता था। इनकी यह उपयोगिता वैदिक-काल से रही है। ऋग्वेद में भेड़ के लिए अर्गावती शब्द भी प्रयुक्त है।[99] भेड़ पालने वाले को अविपाल, भेड़ों के बैठने को अविपट तथा उनके समूह को अविकट कहते थे।[100] कुछ राजाओं के यहां भी भेड़ें पाली जाती थीं और भेड़ें दान में भी दी जाती थीं।[101] इनका ऊन छ: महीने बाद उतारा जाता था।[102] भेड़ों के ऊन से कम्बल और अन्य वस्त्र बनाये जाते थे।[103] ये अनेक प्रकार के होते थे और इनमें से कुछ अत्यन्त बहुमूल्य होते थे।[104] इनकी सींग और अस्थियों से पात्र बनाये जाते थे।[105] सम्भवत: लोग भेड़ का मांस भी खाते थे। इनका मांस बेचा भी जाता था।[106] इस प्रकार पालतू-पशुओं में भेड़ का आर्थिक-दृष्टि से अत्यधिक महत्व प्रतीत होता है। आज भी इनकी उपयोगिता स्वीकार की जाती है।

बकरा-बकरी—अजापाल बकरियों को चराने वाले को कहते थे।[107] ब्राह्मण भी बकरे पालते थे।[108] अजा को कृषक का धन माना गया है।[109] भेड़-बकरियों के परिपालन का मुख्य उद्देश्य उनसे ऊन और मांस प्राप्त करना था। गौ और अज दोनों की यज्ञ में बलि दी जाती थी।[110]

गर्दभ—भार ढोने के लिए गर्दभ पाला जाता था।[111] विशेषकर धोबी (रजक) जाति के लोग गर्दभ पालते थे। गदहे सम्भवतः गाड़ियों में भी जोते जाते थे।[112] इनकी भारभारितमा (सबसे अधिक भार ढोने वाला पशु) की उपाधि आज भी चरितार्थ हो रही है।[113] गर्दभ के नाम पर लोगों के नाम भी रखे जाते थे। गर्दभीमुख और गर्दभीविपींत नाम के दो आचार्य उल्लिखित हैं।[114] पर सम्भवतः ये उनके वास्तविक नाम नहीं हैं। ये नाम उन्हें उनके सहयोगियों ने दिये होंगे फलतः वे इसी नाम से प्रसिद्ध हुए। गोशाला की भांति खरशाल का वर्णन मिलता है।[115] गदहे से मिलते-जुलते खच्चर होते थे। भार ढोने के साथ-साथ वे गाड़ी खींचने के प्रयोग में लाए जाते थे।[116] प्रज्ञापना-सूत्र में इन्हें अश्वतर कहा गया है।[117] इस प्रकार आर्थिक-दृष्टि से गदहे बड़े उपयोगी पशु थे।

कुत्ता—कुत्ता एक पालतू पशु था।[118] यह रखवाली का कार्य करता था। अच्छे नस्ल के कुत्ते को कौलेयक कहते थे।[119] महाभाष्य से इस बात की सूचना मिलती है कि कुत्ता इक्षु (ईख) के खेतों को शृंगाल के खाने से बचाता था।[120] कुत्तों के निवास स्थान को गोष्ठश्व कहते थे।[121] कुछ निम्न जाति के लोग कुत्ते का मांस खाने के उपयोग में भी लाते थे।[122] सम्भवतः इनका प्रयोग शिकार खेलने के लिए भी किया जाता था।[123]

ऊंट—तद्युगीन समाज में ऊंट भी बोझा ढोने के लिए पाले जाते थे।[124] याज्ञवल्क्य ने ऊंट-गाड़ी का भी उल्लेख किया है।[125] ऊंट सम्भवतः गाड़ी में जोते जाते थे।[126] ऐसी ऊंट गाड़ियां बड़ी होती होंगी। छोटी ऊंटगाड़ियां भी होती होंगी जिनमें केवल एक या दो ऊंट ही जोते जाते होंगे। यदि किसी का पालतू ऊंट दूसरे के बाड़े में प्रवेश कर फसल को क्षतिग्रस्त करता था, तो उससे 16 माष दण्ड लिया जाता था।[127] खोए हुए ऊंट के पुनः मिलने पर राजा को दो पण दण्ड के रूप में दिया जाता था।[128]

अश्व—घोड़े[129] के स्वामी प्राचीन भारतीय समाज में प्रतिष्ठित तथा मान्य थे।[130] साधारण अश्व एक दिन में सामान्यतः चार योजन तथा अच्छी नस्ल का अश्व आठ योजन की दूरी तय कर सकता था।[131] वैदिक-काल में घोड़े का मांस खाने वाले व्यक्ति का सिर काट लिया जाता था।[132] सम्भवतः घोड़े पवित्र माने जाते थे।[133] घोड़े दक्षिणा में ब्राह्मणों को दिये जाते थे।[134] घोड़ों का प्रयोग राजा द्वारा अश्व-सेना में भी होता था।[135] इनके रहने के लिए घुड़सालों का निर्माण किराया जाता था।[136] इससे घोड़े की उपयोगिता और उसके महत्व का अनुमान होता है। घोड़े का यह महत्व परवर्ती युग में भी बना रहा, सैनिक प्रयोग के अलावा इनका प्रयोग आवागमन के लिए भी होता था।

हाथी—भारत में वैदिक-काल से ही हाथी सर्वोच्च महत्त्व का पशु रहा है।[137] हाथी को स्वर्ण के अलंकारों से अलंकृत किया जाता था। हाथी की अस्थियों एवं दांतों से पात्र भी बनाए जाते थे।[138] इनके रहने के लिए गजशालाओं का निर्माण कराया

जाता था ।[139] राजा इनका प्रयोग गज-सेना में करता था ।[140] इसके साथ ही साथ यह राजाओं एवं अन्य सम्पन्न लोगों की सवारी के काम आता था । गज को द्विप भी कहा जाता था ।[141] क्योंकि वह मुख तथा सूड़ दोनों स्थानों से जल आदि पी सकता था । जंगली-हाथी को अरण्य-गज कहा जाता था ।[142] भारतीय हाथी विदेशी राजाओं को उपहार में दिए जाते थे । इन हाथियों ने पश्चिम के अनेक युद्धों में अपनी वीरता का परिचय दिया ।[143] विवाह आदि मांगलिक-कार्यों के लिए प्रस्थान करते समय हाथी को आगे रखा जाता था ।

बिल्ली—यह भी एक ग्राम्य-जीव था ।[144] इसे पालते भी थे । बिना पाले भी यह बस्ती में रहता था । भाष्यकार के अनुसार यह चूहे मारता था ।[145] मोटा मार्जार स्थूलोत्तु कहलाता था ।[146]

अरण्य-पशु

पालतू पशुओं के साथ-साथ अरण्य-पशुओं का भी उपयोग था । लोग मृग आदि का शिकार कर उनका मांस खाते थे । व्याघ्र, सिंह आदि के चर्म का भी उपयोग होता था । याज्ञवल्क्य में निम्नलिखित अरण्य-पशुओं का उल्लेख है ।

मृग—याज्ञवल्क्य ने मृग का उल्लेख किया है ।[147] ये स्वच्छन्द विचरण करते थे ।[148] इनके चर्म का उपयोग प्रायः ब्रह्मचारी एवं यती लोग करते थे ।[149] बाद में ताम्रमृग, चित्रमृग और कृष्ण मृग का मांस लोगों को खिलाया जाता था ।[150] भाष्यकार ने इन्हें वातमज[151] अर्थात् वायु के समान शीघ्रगामी कहा है । मृग की एक जाति ऋश्य थी, जिसकी मादा को रोहित कहते थे ।[152] काले मृग को कृष्ण-सारंग भी कहते थे ।[153] चंवर बनाने के लिए चमरी (मृग की एक जाति) का शिकार किया जाता था ।[154] यजुर्वेद से सूचना मिलती है कि पृषत् नामक मृग का चर्म वस्त्राभाव की पूर्ति करता था ।[155]

शूकर—शूकर पालतू तथा जंगली दोनों प्रकार के होते थे ।[156] शूकर मांस और बाल के लिए पाले जाते थे और इनकी अस्थियों से पात्र भी बनाये जाते थे ।[157] ग्राम्य-शूकर का मांस खाना निषिद्ध था ।[158] महाभाष्य से ज्ञात होता है कि बाल निकालने के लिए शूकर को बांध दिया जाता था और फिर उसका एक-एक बाल खींचकर उखाड़ते थे ।[159]

खरगोश—यह ग्राम्य-जीव के साथ-साथ अरण्य-पशु भी था ।[160] इसका मांस भक्षण किया जाता था । इसका मांस द्विजातियों के लिए भक्ष्य था । श्राद्ध आदि अवसरों पर इसका मांस खिलाने का अत्यधिक महत्त्व था ।[161] आज भी लोग खरगोश के मांस के लिए उसका शिकार करते हैं ।

गेण्डा—यह अरण्य-पशु था ।[162] इसका मांस श्राद्ध आदि अवसरों पर लोगों को खिलाना महत्त्वपूर्ण माना जाता था । इसका चर्म भी सम्भवतः उपयोग में लाया जाता रहा होगा ।

सिंह—यह एक हिंसक जंगली पशु था।[163] हिंस शब्द "हिंस्" धातु से वर्ण विपर्यय होकर बना है।[164] व्याघ्र, सिंह आदि से व्याप्त जंगलों का उल्लेख महाभाष्य में मिलता है।[165] इसका चर्म अनेक कार्यों में आता था। लोग उसे वस्त्र के रूप में भी धारण करते थे।

सियार—महाभाष्य में इसे शृंगाल कहा गया है।[166] यह हुवा-हुवा आवाज करता है।[167] इसका कुत्ते से शाश्वत-वैर है।[168] शृंगाल को मरुज भी कहते थे।[169] यह जंगली पशु था।

बिल्ली—यह ग्राम्य जीव के साथ-साथ अरण्य पशु भी था।[170]

हाथी—यह पालतू एवं जंगली दोनों प्रकार का पशु होता था। जंगली हाथियों को अरण्य-गज कहते थे।[171] जंगल से हाथी पकड़कर लाये जाते थे और हस्तिपक उन्हें प्रशिक्षित करता था।[172] उन्हें आघात पहुंचाने वालों को दण्डित किया जाता था।[173]

बन्दर—यह भी पालतू एवं अरण्य दोनों प्रकार का पशु होता था।[174] याज्ञ-वल्क्य का कथन है कि फल चुराने वाले व्यक्ति अगले जन्म में बन्दर होते थे।[175] व्यभिचारिणी-स्त्री बन्दर द्वारा दांत से काटने पर पवित्र हो जाती है।[176] पालतू बन्दरों को लोग नचाकर उससे बच्चों का मनोरंजन करते थे और उससे प्राप्त धन से अपनी जीविका चलाते थे। मदारी आज भी ऐसा करते हैं।

व्याघ्र—बाघ, चीता नामक जंगली हिंसक पशु था।[177] व्याघ्री का भी उल्लेख महाभाष्य में मिलता है।[178]

पक्षी

पक्षियों को भी समाज की सम्पत्ति समझा जाता था। यजुर्वेद संहिता से ज्ञात होता है कि अग्नि के प्रयोग करने के लिए कुटर मुर्गा नामक पक्षी प्राप्त करें। वन-स्पतियों के ज्ञान के लिए उल्लू जाति के पक्षी को प्राप्त करें. उनके जीवन का अनुशीलन करें। अग्नि और जल की परीक्षा के लिए चाष नामक पक्षियों को देखें। स्त्री-पुरुष के संयमी, प्रेमी और सुन्दर सुखप्रद आलाप के लिए मयूर को देखें। मित्र और वरुण अर्थात् मित्रता और स्नेह तथा परस्पर वरण के लिए कपोत नामक पक्षी देखें। वैदिक-युग में जहां पशु एक प्रधान धन था वही विहंग एक प्रकृष्ट मनो-विनोद का साधन था। याज्ञवल्क्य-स्मृति में निम्नलिखित पक्षियों का उल्लेख है।

कुक्कुट—यह पालतू पक्षी था।[179] मुर्गों का मांस भी खाया जाता था, यद्यपि ग्राम-कुक्कुट अभक्ष्य था।[180] मुर्गा भूख लगने पर कुट-कुट करता था।[181] प्राचीन काल से ही मुर्गा प्रभात की सूचना देता आया है।[182] आदिपुराण से भी कुक्कुट के विषय में सूचना मिलती है।[183]

मयूर—यह भी पालतू पक्षियों की श्रेणी में गिना जाता था।[184] याज्ञवल्क्य की सम्मति है कि शाक चुराने वाला व्यक्ति दूसरे जन्म में मयूर होता था।[185] मयूर को महाभाष्य में व्यंसक (धूर्त) कहा गया है।[186] मयूर और मयूरी दोनों साथ-साथ

नृत्य करते थे।[187] आदिपुराण से भी मयूर की सूचना मिलती है।[188] इस समय इसे राष्ट्रीय पक्षी का स्थान प्राप्त है।

हंस—आदि पुराण में भी हंस-हंसी[189] एवं राजहंस का उल्लेख किया गया है[190] भाष्य में स्त्री। हंस को वरटा नाम से सम्बोधित किया गया है।[191]

तोता—इसे पकड़कर पालतू बनाते थे।[192] महाभष्य से शुकी की सूचना मिलती है।[193] शुक की चर्चा खण्डिक और उलूक के साथ की गई है।[194] आदिपुराण में भी शुक का उल्लेख किया गया है।[195]

कौआ—याज्ञवल्क्य के अनुसार दूध चुराने वाला व्यक्ति अगले जन्म में कौवा होता है।[196] वैश्य देव आदि का होम करने के उपरान्त अवशिष्ट अन्न कौवों के लिए पृथ्वी पर फेंका जाता था।[197] याज्ञवल्क्य के अनुसार व्यभिचारिणी स्त्री कौए द्वारा काट लिए जाने पर मुक्त हो जाती थी।[198]

गृद्ध—यह एक मांसाहारी पक्षी है।[199] गृद्ध-सम्बन्धी वस्तु को गार्ध कहते थे।[200] गृद्ध अपनी दूरदृष्टि की अद्भुत क्षमता के लिए प्रसिद्ध है।

चातक—आदिपुराण से भी चातक और चातकी की सूचना मिलती है।[201] प्राचीन भारतीय वाङ्मय में चातक का भावपूर्ण वर्णन प्रायः मिलता है।

बगुला—याज्ञवल्क्य-स्मृति में अन्य पक्षियों की भांति इसका भी उल्लेख मात्र ही प्राप्त होता है।[202]

जलकुक्कुट—याज्ञवल्क्य ने इसका भी मात्र नामोल्लेख ही किया है।[203] यह पानी में तैरती है और इसका रंग काला होता है, यह प्रायः ताल-तलैयों में तैरकर अपने आहार की पूर्ति करती है। इसके अतिरिक्त कलविंग (ग्राम चटक), ककोल (द्रोणकाक), कुरर, रज्जुदालक (कठफोड़वा), खंजन आदि पक्षियों का भी नामोल्लेख याज्ञवल्क्य ने किया है।[204]

क्षुद्र जन्तु

सर्प—याज्ञवल्क्य ने सर्प का अपमान करना वर्जित माना है।[205] सर्प वल्मीक (बिल) में रहता है। सांप सरकता है, इसलिए इसका नाम सर्प पड़ा है। उसकी चाल को सृप्त कहते थे। क्रोध के समय फन को उठाकर फुफकारने की अवस्था को ओजायमान कहते थे।[206] घने और भयानक जंगलों में सबसे बड़ा सर्प अजगर[207] पाया जाता था। आदिपुराण में भी अजगर, अहि, उरग, कृष्णहि, दंदशूक (विषैला भयंकर सर्प) नाग, पन्नग, भुजंग इत्यादि सर्पों की विभिन्न जातियों का उल्लेख मिलता है।[208]

इसके अतिरिक्त नेवला, साही, चूहा आदि क्षुद्र-जन्तुओं का नामोल्लेख भी याज्ञवल्क्य ने किया है।[209]

जलचर

जल में रहने वाले जीव यथा मछली, मेंढ़क, कछुआ आदि का उल्लेख भी याज्ञवल्क्य स्मृति में आया है। उपयोगिता की दृष्टि से मछली का महत्त्व अत्यधिक था।

मछली—याज्ञवल्क्य के अनुसार मछलियों में सिंही, रोहित (रोहू), पाठीन, राजीव (पद्म के समान रंग वाली) और सशल्क (शुक्ति के आकार वाली) द्विजातियों के लिए भक्ष्य होती है। श्राद्ध में पाठीन आदि मछलियों का मांस देने पर पितृ अधिक समय तक तृप्त रहते हैं। महाशल्क मछली के मांस का पिण्ड देने वाला व्यक्ति सम्पूर्ण अनन्त-फल का भोग प्राप्त करता है।[210] संभवत: मछलियों का क्रय-विक्रय भी होता रहा होगा। महाभाष्य के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि मछली मारने वाले को 'मैनिक' कहा जाता था।[211] मछली के कांटों को सफाई कर उसे काटकर टुकड़े कर लिए जाते थे।[212] मीन, मत्स्य, तिमिरगेल (एक बड़ी मछली) आदि मछलियों का आदि पुराण में उल्लेख मिलता है।[213]

कछुआ—यह जल जन्तु है।[214] भूमि पर भी रह सकता है। इसका मांस द्विजातियों द्वारा खाया जाता था। आज भी बहुत से लोग कछुए का मांस खाते हैं। इससे एक प्रकार का तेल निकाला जाता है, जो औषधि के रूप में प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार यह एक अत्यन्त उपयोगी जलजन्तु था।

व्यापार-वाणिज्य

प्राचीन भारत में अर्थोपार्जन के साधनों में वाणिज्य एवं व्यापार को प्रमुख माना गया है। याज्ञवल्क्यकालीन समाज में आन्तरिक एवं बाह्य दोनों प्रकार के व्यापार काफी समृद्ध थे। व्यापार का मुख्य लक्ष्य समाज के लिए विभिन्न प्रकार की आवश्यकता की वस्तुओं को उत्पादक के पास से उपभोक्ता के पास पहुंचाना था। याज्ञवल्क्य ने वाणिज्य एवं व्यापार को वैश्यों की वृत्ति माना है।[215]

बाजार

मनु ने बाजार के लिए 'आपणम्' शब्द का उल्लेख किया है।[216] इसका तात्पर्य आजकल हाट अथवा बाजार के रूप में संभवत: लिया जा सकता है। दूकान अथवा बाजार के लिए 'आपण' शब्द का व्यवहार किया जाता था।[217] बाजार एवं दूकान के माध्यम से जो वस्तुएं बेची जाती थीं वे 'पण्य' या 'पणितव्य' के नाम से अभिहित थीं।[218] याज्ञवल्क्य ने भी 'पण्य' शब्द का उल्लेख इसी अर्थ से किया है।[219]

बाजार सामग्री

याज्ञवल्क्य-स्मृति के अनुसार औषधि, घृत, द्रव, पदार्थ, नमक, गन्ध धान्य, गुड़, मिट्टी, चमड़ा, मणि, सूत, लोहा, लकड़ी, वल्कल वस्त्र आदि की उस समय के बाजारों में बिक्री होती थी।[220] याज्ञवल्क्य ने व्यापारिक वस्तुओं के लिए "पाण्य" शब्द का व्यवहार किया है। पाण्य वस्तुओं में प्राय: सभी प्रकार के खाद्यान्न शाक, पेय, वस्त्र, सुगन्ध, अलंकार, मूर्तियां, माल्य, संगीत-सामग्री, राग (रंग), चर्म, पात्र, पशु, औजार, धातु निर्मित वस्तुएं, तुला, वाहन आदि सम्मिलित थे। जातकों से भी ज्ञातव्य है कि बाजारों में कपड़े, रथ, अन्न, शाक, रत्न, सोना, चांदी, आभूषण आदि का क्रय-विक्रय होता था।[221]

वाहन

बाजारों से व्यापारिक वस्तुओं को ले आने तथा ले जाने के लिए सम्भवत: बैलगाड़ी व ऊंटगाड़ी का प्रयोग होता था ।[222] मनु स्मृति में गाड़ी का वर्णन है। इनमें बैल, खच्चर, भैंसे आदि नाथे जाते थे ।[223] निशीथ चूर्णी से भी इस बात की सूचना मिलती है कि व्यापारिक-सामग्री ढ़ोने के लिए गाड़ी का प्रयोग किया जाता था ।[224] गाड़ी के अतिरिक्त भार वाहक पशुओं का प्रयोग भी सामान लाने ले जाने के लिए किया जाता रहा होगा। व्यापार स्थल-मार्ग से ही प्राय: होता था। बैल, घोड़े, ऊंट, गधे और भैंसों पर लदकर सामान गन्तव्य स्थान तक जाता था। कभी-कभी गाड़ियों और रथों का भी प्रयोग होता था ।[225]

जलमार्ग द्वारा भी व्यापारिक वस्तुओं को लाया तथा ले जाया जाता था। याज्ञवल्क्य-स्मृति में नदी पार करने के लिए नाव का उल्लेख है ।[226] सम्भवत: इससे व्यापारिक-सामग्री का स्थानान्तरण भी होता रहा होगा। मनु ने ऐसी नावों का उल्लेख किया है जो व्यापारिक वस्तुएं दूर-दूर तक ले जाती थी ।[227] कभी-कभी नाव चालकों की उपेक्षा के कारण सामग्री नाव पर ही नष्ट हो जाती थी। ऐसी स्थिति में माल की पूर्ति नाव चालक करते थे। समुद्र यात्री को समुद्र-यायी कहा गया है ।[228] स्ट्रैबो का मन्तव्य है कि 120 भारतीय जलपोतों को ईरान और अरब के देशों से होकर मिस्र की ओर जाते हुए देखा था ।[229] अलमसूदी ने लिखा है कि भारत के पोत वस्त्र, सिरफ, ओमन; जावा और चम्पा से होकर खनफु (कैन्टन) जाते थे ।[230] किन्तु याज्ञवल्क्य-स्मृति में जल मार्ग से होने वाले वैदेशिक-व्यापार का उल्लेख नहीं है।

माप-तोल और मूल्य

याज्ञवल्क्य-स्मृति से यह ज्ञात होता है कि बाजारों में तारजू एवं बाट से वस्तुओं का वजन होता था। उनका मूल्य-निर्धारण तोल के ही आधार पर किया जाता था। इसमें किसी प्रकार की चोरी या धूर्तता करने वाले विक्रेता के लिए उत्तम-साहस का दण्ड निर्धारित था ।[231] याज्ञल्क्य ने लिखा है कि राजा द्वारा निर्धारित मूल्य पर ही प्रतिदिन वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता था। उससे जो कुछ शेष बचता था, वही वणिकों का लाभ होता था ।[232]

राजा को तुलामान और प्रतिमान आदि की अच्छी तरह जांच करने का निर्देश मिलता है। यह जांच प्रति छ: मास पर होनी आवश्यक थी ।[233] वस्तुओं का उचित मूल्य लेना श्रेयस्कर माना जाता था। याज्ञवल्क्य के अनुसार अनधिकृत रूप से बेची गई वस्तु लौटाई जा सकती थी। बिक्रीत वस्तु का अवैध होना प्रमाणित होने पर उसे लौटाने की व्यवस्था थी ।[234] अनुचित रूप में बेचा गया माल सौ साल में भी लौटाया जा सकता था ।[235] आवश्यकता की वस्तुएं विनिमय द्वारा भी प्राप्त की जा सकती थीं। हेमचन्द्र के समय में जौ की अपेक्षा मट्ठे का मूल्य आधा था। एक सेर

जौ देने पर दो सेर मट्ठा प्राप्त होता था। यही मट्ठे के परिवर्तन का आधार मूल्य था।[236]

सिक्के

वस्तु विनिमय सम्भवतः विनिमय या क्रय-विक्रय का प्राचीनतम रूप है। भारत में वैदिक-युग से ही वस्तु-विनिमय के प्रचलन का अनुमान होता है। वस्तु विनिमय की कठिनाइयों के कारण कालान्तर में सिक्कों का प्रचलन हुआ। सिक्कों द्वारा वस्तुओं का क्रय-विक्रय अधिक सुविधाजनक था, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि सिक्कों का प्रचलन कब हुआ। याज्ञवल्क्य ने धातुओं का वर्णन किया है।[237] मनु के अनुसार मुद्रा तांबे, चांदी और सोने की होती थीं।[238]

याज्ञवल्क्य ने कई मुद्राओं के परिमाण का परिचय दिया है।[239] इसके अनुसार—

8 त्रसरेणु = 1 लिक्षा ; 3 लिक्षा = 1 राजसर्षप
3 राजसर्षप = 1 गौरसर्षप; 6 गौरसर्षप = 1 मध्ययव
3 मध्ययव = 1 कृष्णल; 5 कृष्णल = 1 माष
16 माष = 1 सुवर्ण; 4 या 5 सुवर्ण = 1 पल
2 कृष्णल = 1 रूप्यमाष; 16 रूप्यमास = 1 धरण
10 धरण = 1 शतमान 4 सुवर्ण = 1 निष्क
1 कर्ष = 1 पण।

मनु ने भी इसी तरह का विचार व्यक्त किया है।[240]

कृष्णल

संहिता काल में रक्तिका या कृष्णल अच्छी तरह ज्ञात था।[241] तैत्तरीय-ब्राह्मण के अनुसार बाजपेय-यज्ञ के अवसर पर जो एक-एक (कृष्णल) प्रत्येक व्यक्ति को दिया जाता था, वह सम्भवतः यह स्वर्ण का तोल, कृष्णल ही था।[242] निम्न तथ्यों के प्रति विद्वान् सहमत हैं।

2 कृष्णल = 1 रूप्यमाष
16 रुप्यमाष = 1 धरण = 32 कृष्णल
10 धरण = 1 शतमान = 30 कृष्णल।[243]

यह प्रमाण चांदी के रूप्यमाष कहे जाने वाले सिक्के के प्रति ठीक बैठता है, जिसका भार 32 रक्तिका या कृष्णल होता था। वस्तुतः शतमान के 320 रक्तिका या कृष्णल भार वाले होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। इसका एक ही अर्थ हो सकता है कि शतमान को सौ रत्ती का या कृष्णल मानने वाला माप अधिक दिनों तक मान्य नहीं रहा। फिर मौर्योत्तर-काल में समुचित भार के सिक्के ढाले गए। शतमान एक

ऐसे सिक्के के रूप में प्रचलित रहा जिसका भार 220 रत्ती या कृष्णल के बराबर माना गया है। इसी प्रकार की बात स्वर्ण सिक्कों के विषय में भी मिलती है।[244]

5 कृष्णल	=1 स्वर्णमाष	
16 स्वर्ण माष	=1 स्वर्ण	=80 कृष्णल
4 सुवर्ण	=1 पण	=320 कृष्णल।

सुवर्ण

प्राचीनतस साहित्यिक-सूत्रों से पता नहीं चलता कि वस्तुतः स्वर्ण सिक्का था या नहीं। पाणिनि ने यद्यपि सुवर्ण का उल्लेख अपने सूत्रों में किया है, परन्तु वह उल्लेख सिक्कों के रूप में न होकर स्वर्ण-सम्पदा के सम्बन्ध में है।[245] कौटिल्य ने भी सुवर्ण को सिक्का न मानकर माप-तौल की एक इकाई माना है जिसका भार 1 कर्ष या 80 गुजां (140 ग्रेन) के बराबर माना जाता था। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अर्थशास्त्र में सुवर्ण सिक्का न होकर एक भार मापन की इकाई मात्र था।[246] अर्थशास्त्र में सुवर्ण के तात्कालिक मुद्रा होने के कोई साक्ष्य नहीं मिलते। कौटिल्य की मुद्रा सम्बन्धी सूची में तांबे और चांदी के सिक्कों का तो उल्लेख है, परन्तु उनमें सुवर्ण का नाम नहीं है। यद्यपि अष्टाध्यायी और अर्थशास्त्र में सुवर्ण के सिक्के होने के कोई प्रमाण नहीं मिलते। परन्तु कौटिल्य के सुवर्ण का भार इकाई मानने का समर्थन गुप्त काल की स्वर्णमुद्राओं के भार से हो जाता है। द्वि-स्वर्ण धन, आधा है, स्वर्ण धन आदि उदाहरणों से यह निश्चित होता है कि सुवर्ण 1 कर्ष भार वाले सिक्के थे।[247] अर्थशास्त्र तथा जातकों में हिरण्य-सुवर्ण साथ-साथ आया है। इस प्रकार सम्बद्ध शब्द में हिरण्य का अर्थ 11 करोड़ तथा सुवर्ण का अर्थ स्वर्ण-सिक्का होगा। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि पाणिनि और कौटिल्य में सुवर्ण के मुद्रा होने के स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलते। फिर भी इस बात का संकेत अवश्य मिलता है कि ये सिक्कों से सम्बद्ध अवश्य थे।[248]

यदि हम महाकाव्य के साक्ष्यों का अवलोकन करें तो हमें यह पता चलता है कि सुवर्ण एक सिक्का था। यहां "शतसहस्राणिसुवर्ण" सुवर्ण सिक्के का नाम हो सकता है। वासुदेवशरण अग्रवाल का मत है कि मुख्य कथा में यह भागवत-सन्दर्भ बाद में जोड़ा गया प्रतीत होता है। यह सम्भवतः गुप्तकाल में जोड़ा गया। इस कथा में कृष्ण द्वारा यज्ञ में सुवर्ण दान करने का उल्लेख है।[249] सम्भवतः इस कथा के माध्यम से गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त या चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के दान का वर्णन किया गया है। अतः यह सन्दर्भ सन्देहास्पद है।[250] सभापर्व में एक अन्य सन्दर्भ में जिसमें शक, तुषार, कनिष्क, शृंगिन आदि द्वारा सुन्दर तथा तीव्रगामी घोड़े और शुद्ध सुवर्ण (करोड़ों सिक्के) युधिष्ठिर को भेंट करने का वर्णन है।[251] इसके अतिरिक्त महाभारत में सुवर्ण का मुद्रा सम्बन्धी साक्ष्य मिलता है जिसमें युधिष्ठिर द्वारा द्यूत-क्रीड़ा के दौरान आहत स्वर्ण सिक्कों से भरे 400 ताम्रपात्रों वाले अपने सम्पूर्ण कोष को दांव पर लगा देने

का उल्लेख है। आहत सुवर्ण मुद्राशास्त्र का तकनीकी शब्द है जिसका समर्थन पाणिनी के सूत्र 'रूपादहतप्रशंसयोर्यंब' से भी होता है, जो इस बात का प्रतीक है कि पाणिनी के समय में सिक्के ढालते समय धातुओं के टुकड़ों पर कुछ प्रतीक अंकित किये जाते थे।[252] आहत-सुवर्ण जो कि कोष में जमा किया जाता था, कुछ चिह्नों से युक्त था जोकि स्थान और स्वामित्व की ओर संकेत करते थे। महाभारत के आदिपर्व में कृष्ण ने अन्धक वृष्णि संघ के कोष से सुभद्रा के दहेज के लिए 10 मनुष्य भार कृताकृत स्वर्ण लिया।[253] राजकोष में सुवर्ण हिरण्य (या टुकड़े) या अकृत तथा सुवर्ण (चिह्नित) या कृत के रूप में जमा किया जाता था।[254]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि सुवर्ण एक सिक्का था और काफी मात्रा में प्रचलित था। इस बात के स्पष्ट प्रमाण हमें मिल जाते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि प्रारम्भ में सुवर्ण अपने प्रारम्भिक रूप में था, निश्चित रूप में इसे सिक्के के रूप में परिणित होने में कुछ समय लगा होगा।

निष्क

"निष्क" शब्द के मुख्यत: 4 अर्थ हैं—(क) 108 सुवर्ण सिक्के, (ख) छाती पर स्वर्ण निर्मित आभूषण, (ग) पल स्वर्ण भार जिसे तोला भी कहा जाता है; (घ) दीनार—गुप्तकाल में प्रचलित दीनारी सिक्का है।[255] ऋग्वेद में निष्क का गले की माला के रूप में उल्लेख है।[256] परवर्ती काल में भी निष्की, निष्किन्य:, निष्क-कंठय: जैसे शब्दों से भी माला या आभूषण का बोध होता है। ऋग्वेद में भी निष्क का एक ही निष्कयुक्त माला के रूप में उल्लेख है। अथर्ववेद से भी इस मत की पुष्टि होती है कि निष्क एक ऐसा आभूषण था जो गले में पहना जाता था। सम्भवत: यह एक ही निष्क का होता था।[257] इस प्रकार उपर्युक्त उल्लेखों से ज्ञात होता है कि निष्क शब्द पहले आभूषण एवं सम्पदा के संदर्भ में प्रयुक्त हुआ। परवर्ती काल में निष्क स्वर्ण-सिक्के के रूप में स्वीकार किया गया। महाभारत से इसके स्वर्ण-सिक्का होने का प्रमाण मिलता है।[258] द्रोणपर्व में राजा रन्तिदेव द्वारा निष्क के दान का वर्णन मिलता है।[259] अमरकोष से भी इस बात की सूचना मिलती है कि एक निष्क 108 स्वर्ण के बराबर होता था।[260] निष्क के सिक्के होने का स्पष्ट प्रमाण अनुशासनपर्व से भी होता है।[261] जिसमें निष्क को सौ गुना मानना चाहिए तथा हजार गुना गिनना चाहिए। विश-स्तैन्य कथायुक्त जातक में यह उल्लेख है कि सौ निष्क और एक हजार निष्क मर्यादा, धन, एवं समृद्धि के प्रतीक हैं। इसे अधिक एकत्र करना पाप है। इसी तरह का विचार पाणिनी के अष्टाध्यायी में भी व्यक्त किया गया है।[262] सौ स्वर्ण निष्कों का उल्लेख अथर्ववेद में भी दुहराया गया है।[263] इसकी अधिक सम्भावना है कि वे पृथक् स्वर्ण के टुकड़े थे, जिनका एक निश्चित भार और आकार था जो माला से भिन्न थे और जिन्हें सिक्के के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।[264] सिगाल जातक से भी निष्क के मुद्रा होने की सूचना मिलती है।[265] धम्मपद से भी इस बात

की सूचना मिलती है कि उन्हें स्वर्ण धातु की शुद्धता का पर्याप्त ज्ञान था। याज्ञ-वल्क्य[266] और मनु[267] के उल्लेख भी इसी सिक्कों की कोटि में रहते हैं।

शतमान

शतमान चांदी का होता था। इसका भार सौ रत्ती या 180 ग्रेन होता था। इसके अन्य कई छोटे भाग—अर्द्धशतमान (50 रत्ती), पाद शतमान (25 रत्ती), पादार्धशतमान (12½ रत्ती) आदि होते थे। इसके अतिरिक्त त्रिंशतक (60 रत्ती) और विंशतक (40 रत्ती) को भी शतमान का अनुभाग माना गया है।[268] वैदिक-साहित्य से शतमान के सुवर्ण मुद्रा होने की भी सूचना मिलती है।[269] किन्तु शतपथ-ब्राह्मण से उसका रजत तथा सौ कृष्णल भार का होना ज्ञात होता है। भण्डारकर ने शतमान को सोने के सिक्के के रूप में माना है, चांदी के सिक्के के रूप में नहीं।[270] ए० बी० कीथ ने भी भण्डारकर के मत की पुष्टि की।[271]

डी०सी० सरकार के मत का खण्डन करते हुए अल्तेकर ने लिखा है कि यह पूर्णरूपेण ठीक प्रतीत नहीं होता कि संहिता-काल में शतमान को रजत मुद्रा माना जाता था। इसका हिरण्य के रूप में वर्णन इसे निश्चित रूप से स्वर्ण मुद्रा ही सिद्ध करता है।[272] आधुनिक शब्दकोष में यद्यपि इसका अर्थ स्वर्ण के अतिरिक्त अन्य बहु-मूल्य धातुओं के रूप में भी लगाया जाता है, परन्तु यही अर्थ संहिता काल में भी रहा होगा। यह बात सन्देहास्पद है। व्रात्यों ने रजत निष्क तथा आर्यों ने स्वर्ण-निष्क ढाले।[273] अत: शतमान को भी रजत शतमान और स्वर्ण शतमान (हिरण्य रहने पर) माना जाना चाहिए जैसाकि हिरण्य का अर्थ होता है। कात्यायन श्रौतसूत्र 16वें अध्याय में दक्षिणा के रूप में 100 स्वर्ण शतमान देने का उल्लेख है। यद्यपि अन्य स्थान पर कात्यायन ने शतमान के रजत होने का भी उल्लेख किया है। साहित्यिक-स्रोत भी यह प्रकट करते हैं कि 600 ई०पू० (श्रौतसूत्र काल) के लगभग रजत शत-मान प्रचलन में आ चुकी थी।[274] डा० अग्रवाल के 100 रत्ती भार के सिक्कों को शतमान मानने के मत को स्वीकार कर लिया जाना चाहिए। जिनका कि 400 ई०पू० के लगभग चलन था। इसका पुरातात्त्विक साक्ष्यों द्वारा भी समर्थन होता है। बालिया नामक स्थान पर प्राप्त मौर्य काल के पहले के पंच मार्कड सिक्कों में 25 रत्ती के बहुत छोटे-छोटे टुकड़े पाये गए हैं।[275] क्यों न उन्हें पाद शतमान (25 रत्ती) मान लिया जाय। इसी बात का समर्थन लखनऊ-संग्रहालय की छोटी-सी मुद्रा निधि के 13 पतले चौड़े सिक्के करते हैं। उन सभी का भार 42 ग्रेन (25 रत्ती के लगभग) है।[276] सोनपुर के चांदी के सभी आहत सिक्कों का भार 21 ग्रेन[277] या 12½ रत्ती के लगभग है, तो क्यों न इन्हें भी पादार्ध-शतमान मुद्रा मान लिया जाय? प्राचीन कौसल से भी कुछ बड़े और पतले सिक्के पाये गए हैं जिनका भारत 76 से 79 ग्रेन या 50 रत्ती से थोड़ा कम है। ये भी अर्द्धशतमान सिक्के माने जाने चाहिएं।[278]

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि जब 32 रत्ती वाले आहत सिक्के प्रचलन में आये तो, उसके पहले से ही शतमान मुद्रा का प्रचलन था: जिसका भार 100 रत्ती था। उसके अन्य रूप अर्द्धशतमान आदि भी गंगा घाटी के क्षेत्र में प्रचलित थे। परवर्ती काल में शतमान एक सामान्य मुद्रा हो गयी जिसका मूल्य 10 धरण के बराबर था।[279]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि शतमान सिक्के चांदी और सोने दोनों प्रकार के सम्भवतः प्रचलित रहे होंगे।

पण

यह तांबे की मुद्रा होती थी।[280] संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थों में पण का उल्लेख नहीं मिलता है। इसका सर्वप्रथम उल्लेख पाणिनी ने अष्टाध्यायी में किया है।[281] महाभारत में भी इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। अष्टाध्यायी में इसको स्पष्टतः प्रचलित सिक्का कहा गया है। इसका दूसरा नाम "कार्षापण" है।[282] कार्षापण ही इसका प्रसिद्ध नाम है। "पण" उसका संक्षिप्त नाम है, जोकि अर्थशास्त्र में उल्लिखित है।[283] जातकों में "कार्षापण" या "पण" को "कहापण" कहा गया है।

कार्षापण चांदी का आहत सिक्का होता है, जिसकी बहुत-सी निधियां भारत के अनेक भागों से प्राप्त हुई हैं। यह कार्षापण 600 ई०पू० से लेकर उसके काफी बाद तक विनिमय का बहुत बड़ा माध्यम था, आधुनिक रुपये की भांति इसके भी लघु रूप थे। यथा—पण, अर्धपण, पाद, द्विमाष आदि।

जातकों से भी इस बात की पुष्टि होती है कि "कहापण" एक महत्वपूर्ण मुद्रा थी।[284] पतंजलि का कथन है कि अष्टाध्यायी में उल्लिखित "एकादशम शतां एकादाशम सहस्त्राम्" का उल्लेख 1100 कार्षापण के लिए हुआ है। अष्टाध्यायी "कार्षापण" और "पण" दोनों नामों का उल्लेख करती है। "प्रति" और "प्रतिका" पण या कार्षापण के लिए प्रयुक्त परवर्ती नाम है। "प्रति" का उल्लेख सभापर्व में मिलता है।[285] तथा प्रतिका का वर्णन उषवदात्त के नासिक अभिलेख में मिलता है, जिसमें 200 कार्षपण पर 1 प्रतिमा ब्याज का उल्लेख है।[286] अर्थशास्त्र तथा गंगमाल जातक[287] और पाणिनी की अष्टाध्यायी में काहापण या कार्षपण के लघु रूपों का वर्णन इस प्रकार मिलता है—

पाणिनी	जातक	अर्थशास्त्र
1/1 कार्षापण	काहापण	पण
1/2 अर्द्ध कहापण	अद्धा	अर्द्ध-पण
1/4 पाद	पाद या चत्वारोमाषक	पाद
1/8 द्विमाष	द्वे-माष	अष्ट भाग

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि कार्षापण या पण अपने समय की विनिमय की एक महत्वपूर्ण मुद्रा थी, जिसका प्रचलन काफी समय तक रहा तथा जिसके साहित्यिक तथा पुरातात्त्विक-प्रमाण काफी मात्रा में मिलते हैं।

वैदेशिक व्यापार

याज्ञवल्क्य-स्मृति से ज्ञात होता है कि तत्कालीन भारतीय व्यापारी व्यापार के लिए विदेश जाया करते थे। जो व्यापारी आपस में मिलकर दूसरे देश से लायी गयी वस्तु को कम मूल्य पर बिकने से रोकते या अधिक मूल्य पर विक्रय करते थे, उन्हें उत्तम-साहस का दण्ड दिया जाता था।[288] विदेश से वस्तु लाकर बेचने वालों को 10 प्रतिशत लाभ लेने की अनुमति थी।[289] कभी-कभी विक्रेता सौदे का मूल्य लेकर सामान क्रेता को नहीं देता था तो, उससे राजा क्रेता को ब्याज के साथ सौदा वापस दिलवाता था। यदि क्रेता दूसरे देश में जाकर ऐसा सौदा खरीदे हो तो, उसे अपने देश में बेचने पर जितना लाभ उसे मिलता वह भी दिलवाया जाता था।[290]

याज्ञवल्क्य के समय स्थल एवं जल दोनों मार्गों द्वारा वैदेशिक व्यापार सम्भवत: होते थे। याज्ञवल्क्य ने नौका का उल्लेख किया है।[291] यह जल मार्ग से व्यापार का प्रमुख साधन था। स्ट्रैबों ने लिखा है कि मिस्र और भारत में सीधे व्यापारिक सम्बन्ध की स्थापना हो चुकी थी। उसकी सूचना के अनुसार एक समय 120 व्यापारिक नावें मिस्र से भारत के लिए लाल सागर के बन्दरगाह म्योज होरमोज से चलीं थीं।[292] पहली शती ई० में हिप्पालस नामक नाविक ने पूरे अरब सागर को मानसून की सहायता से पार करते हुए सीधे भारत पहुंचने का मार्ग निकाला था।[293] इस युग में कावेरीपत्तन तत्कालीन विश्व के महत्त्वपूर्ण सामुद्रिक व्यापार केन्द्रों में से था। इस नौस्थान पर ग्रीस से लेकर चीन तक के सभी देशों के व्यापारी आते थे।[294]

अन्य स्रोतों से भी ज्ञात होता है कि भारत काव्यापार बाह्य देशों से चला करता था।[295] 656-658 ई० में भारत के बहुत से प्रदेश यथा —चान-पो (चम्पापुर), कानचिह्-फो (कांचीपुर), सिंह्-ली-चुन (सम्भवतः चालुक्य राज्य) और मोलो (मलाया) आदि ने चीन देश से व्यापारिक समझौते के लिऐ अधिकारिक सम्बन्ध स्थापित किये थे।[296] सातवीं शताब्दी में धर्मपाल नामक बौद्धभिक्षुक ने बंगाल से सुवर्ण द्वीप को प्रस्थान किया था।[297] आठवीं शताब्दी के एक अभिलेख में भारतीय व्यापारियों द्वारा लंका से व्यापार करने का उल्लेख है।[298] रोम की मुद्राएं भारत के कोयम्बटूर, बम्बई, मैसूर, मध्य प्रदेश आदि अनेक स्थानों से मिली है, जो भारत और रोम के बीच व्यापारिक-सम्बन्ध दर्शित करती है। सिवेल ने लिखा है कि दोनों के बीच यह व्यापारिक सम्बन्ध पहली सदी ईस्वी से तीसरी सदी ईस्वी तक अपनी परा-

काष्ठा पर था।[299] इस युग में चीन और पूर्वी देशों में भी भारतीय व्यापार का प्रसार हुआ था। बैक्ट्रिया गए चीनी राजदूत ने वहां के बाजार में चीन के बने बांस और वस्त्र बिकते देखे थे। पूछने पर उसे पता चला कि ये वस्तुएं वहां भारतीय व्यापारियों द्वारा अफगानिस्तान के पथ से पहुंची थीं।[300] चीन से भारत का राज-नीतिक और व्यापारिक सम्बन्ध बहुत पुराना था। दोनों देशों की वस्तुओं का पारस्परिक आदान-प्रदान होता था।

उपर्युक्त विचारों से ज्ञात होता है कि याज्ञवल्क्य के समय में वैदेशिक-व्यापार खूब होता था। व्यापारी काफी समृद्ध थे। वस्तुओं का आयात-निर्यात अधिकतर जलमार्ग द्वारा ही होता था। व्यापारियों के लिए राज्य की ओर से हर प्रकार की सुख-सुविधा प्रदान की गयी थी।

शिल्प

याज्ञवल्क्य-स्मृति में कुछ तत्कालीन भारतीय शिल्पों के नाम आये हैं। ये शिल्पी अपने हस्त-कौशल के द्वारा अपनी जीविका चलाते थे। हस्तकौशल के द्वारा जीवन-निर्वाह करने वालों में बढ़ई, लोहार, कुम्हार, सुनार, चमार, जुलाहा आदि प्रमुख थे। वैदिक-युग से ही समाज में अनेक प्रकार के उद्योग-धन्धे प्रचलित थे। उत्तर वैदिक काल में तक्षा, कर्मार, रथकार, हिरण्यकार, चर्मकार आदि शिल्पी वर्ग थे।[301] कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में शिल्पी शब्द की व्याख्या करते हुए स्नायक, संवाहक, अरन्तक, रजक, मालाकार आदि को तो शिल्पी कहा है। इसके साथ-साथ उबटन बनाना, सुगन्धित चूर्ण तैयार करना, चन्दन द्रव तैयार करना भी शिल्पियों का ही कार्य था।[302] याज्ञवल्क्य-स्मृति में यद्यपि शिल्प के विषय में कोई विशेष सूचना नहीं मिलती किन्तु कुछ शिल्पियों का नाम प्रसंगतः आया है।

स्वर्णकार—ये सोने और चांदी के विभिन्न प्रकार के आभूषण तैयार करते थे।[303] ऋग्वेद से भी सूचना मिलती है कि स्वर्णकार या हिरण्यकार सोने के आभूषण निर्मित करता था।[304] स्वर्ण भूमि से निकाला जाता था।[305] शांखायन के अनुसार यज्ञ में सम्मिलित होने वाली भार्या स्वर्णाभूषण धारण किये रहती थीं।[306] यज्ञों में चांदी, सोने और जवाहरात के असंख्य आभूषण आते थे।[307] स्वर्ण को तपाकर आभूषण बनाया जाता था। महाभाष्य में सोने को एक बार तपाने की प्रक्रिया के लिए 'निष्टपति सुवर्ण स्वर्णकारः' अस्तु बार-बार तपाने के लिए निस्तपति शब्द का उल्लेख हुआ है।[308] स्वर्णकार विभिन्न प्रकार के आभूषणों का निर्माण करता था जो अत्यन्त कलात्मक और आकर्षक ढंग से बनाये जाते थे। तत्कालीन समाज के अधिकांश लोग स्वर्णाभूषणों के प्रति रुचि रखते थे तथा शरीर सज्जा में उनका उपयोग करते थे।[309]

लोहार—उस समय धातु का कर्म करता था। कर्मकार या लोहार कृषि के निमित्त अभ्रदाल या सृण्य फाल (हल) आदि निर्मित करता था।[310] घरेलू सामान

के अतिरिक्त धातु के विभिन्न अस्त्र-शस्त्र भी लुहार बनाते थे यथा—असि, परशु, प्रवीर, बाण, भाला आदि।[311] लोहे की भटिठ्यों में कच्चा लोहा पकाया जाता था। गर्म एवं जलते हुए लोहे को सड़ासी से पकड़कर उठाया जाता था और फिर नेह (अहिकारिणी) पर रखकर कूटा जाता था। उससे अनेक प्रकार की उपयोगी वस्तुएं तैयार की जाती थीं।[312]

कुलाल—कुलाल मिट्टी के विभिन्न प्रकार के वर्तन बनाते थे। इन्हें आज कुम्हार कहा जाता है। इस वर्ग का विकास उत्तर-वैदिक युग में हुआ, किन्तु इनका व्यवसाय अत्यन्त उन्नत था।[313] विभिन्न प्रकार के पात्र बनाये जाते थे जो अनेक प्रकार के उपयोग में आते थे।[314] कुम्हार मिट्टी, डण्डे और चाक के सयोग से घड़ा बनाता था।[315] कुम्भ (घड़ा) बनाने के कारण ही इन्हें कुम्भकार कहा जाता था।[316] बड़े-बड़े मटके चतुर कुलाल ही बना सकता था, जिसे महाकुम्भकार कहते थे।[317] अश्वमेध यज्ञ के समय कुलाल की आवश्यकता पड़ती थी। राजा उसे आमंत्रित करता था और छोटी-बड़ी ईंट और पोत बनाने का आदेश देता था, जो अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न करने के लिए अनिवार्य था।[318] इस प्रकार कुलाल एक कुशल शिल्पी होते थे। इनके द्वारा विभिन्न प्रकार के निर्मित मिट्टी के पात्र समाज में भोजन एवं जल के लिए अत्यन्त पवित्र माने जाते थे।

धोबी—इसे रजक कहा जाता था। याज्ञवल्क्य-स्मृति से सूचना मिलती है कि धोबी वस्त्र धोने का कार्य करता था। धोने के लिए दिए गये वस्त्र को यदि वह स्वयं धारण करता था तो, उसे तीन पण दण्ड देना पड़ता था। यदि वह उसे बेच दें, भाड़े पर दे देने, बन्धक रखने या मंगनी देने की स्थिति में उस पर 10 पण दण्ड का विधान था। कौटिल्य के अनुसार फूल की कली के समान श्वेत वस्त्र धोकर धोबी एक दिन में ग्राहक को देता था। अगर वह संगमरमर की तरह वस्त्र धोता था तो, उसे एक दिन का और समय मिलता था। तीन दिन में धुले हुए वस्त्र ग्राहक को मिलते थे। अत्यधिक उज्ज्वल वस्त्र चार दिन में धुलकर ग्राहक को प्राप्त होता था।[319] रजक वीथी से लगता है कि बड़े नगरों में इनके अलग मुहल्ले होते थे, जहां कपड़े धोने वाले निवास करते थे।[320] कपड़े साफ करने के लिए क्षार (सोडा) का प्रयोग किया जाता था।[321]

तन्तुवाय—वस्त्र बुनने वाले के लिए प्राचीन नाम तन्तुवाय का ही प्रचलन था।[322] उस युग में बुनकर के करघे को 'तन्त्र' और ढरकी को "प्रवाणी" कहा जाता था। शैफलिक (पारिजात से रंगा हुआ), माध्यमिक (माध्यमिका का बना हुआ), शाटक (मथुरा का बना हुआ) आदि प्रख्यात वस्त्रों का उल्लेख पतंजलि ने किया है, जो उस समय के समाज में अत्यधिक प्रचलित थे।[323] कौटिल्य के समय में अनेक प्रकार के वस्त्र तन्तुवाय बुनते थे। क्षौम (स्थूल रेशमी वस्त्र), दुकूल (महीन रेशमी

वस्त्र), कीमितान, कंकट (सूती) आदि वस्त्रों का उल्लेख उसने किया है। ऊन, वल्कल (छाल के रेशे), कपास, सेमर, सन और क्षौम के सूत विधवा, अंगहीन, अनाथ कन्याएं, संन्यासिनयां, अपराधिनियां, वेश्याओं की वृद्धा माताएं, राजदासियां और देवदासियां आदि कातती थीं।[324] राजगृह नगर के बाहर एक सड़क का उल्लेख मिलता है जहां बुनकर ही रहते थे।[325]

नाई—यह क्षौर कर्म करता था।[326] यह कैंची, कंघी एवं छूरे के सहयोग से लोगों का बाल काटता था, दाढ़ी एवं मूंछ को बनाता था। वर्तमान समय में भी नाई उपर्युक्त कार्य करता है।

रंगरेज—वस्त्र रंगने का कार्य करते थे।[327]

सूपकार—सूप बनाने का कार्य करते थे। इससे अन्न को साफ किया जाता था।[328]

श्रेणी-संगठन

प्राचीन साहित्य में श्रेणी के लिए अनेक शब्द प्रयुक्त हैं यथा—कूल, पूग, जाति, व्रात, संघ, समुदाय, समूह, सम्भूय-समुत्थान, परिषत्, वर्ग, सार्थ और निगम। ऋग्वेद के अनुसार श्रेणी हंसों की तरह समूह में कार्य करती थी।[329] कौटिल्य ने शिल्पकारों के समूह को श्रेणी कहा है।[330] मनु पर भाष्य करते हुए ये मेधातिथि का मन्तव्य है कि वेदज्ञ ब्राह्मण, वणिक्, शिल्पकार आदि के संघ ही श्रेणी हैं।[331] मिताक्षरा का विचार है कि भिन्न जाति के लोगों का भिन्न संगठन श्रेणी था, जो अपनी किसी एक वस्तु का विक्रय करता था।[332] इस प्रकार श्रेणी संगठन में अन्यान्य जाति के लोग भिन्न-भिन्न शिल्पों से संबंधित थे। महाभारत में श्रेणी का प्रयोग व्यापारियों के संगठन के अर्थ में किया गया है।[333] श्रेणी धन उधार ब्याज पर देती थीं। मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि वे आधुनिक बैंकों का काम भी करती थी। उनके द्वारा दी जाने वाली ब्याज की दर 12 से 9 प्रतिशत तक थी। ये श्रेणियां, जिनकी बैंकों का जाल सारे देश में फैला हुआ था, नियमबद्ध व्यवस्था वाली रही होंगी, जिसे जनता अपनी बड़ी धनराशि सौंप सकने का विश्वास करती रही होगी।[334]

याज्ञवल्क्य ने पूग का उल्लेख किया है जिसका भाष्य करते हुए मिताक्षराकार का कहना है कि विभिन्न वृत्तियां अपनाकर एक ही नगर अथवा ग्राम में निवास करने वाले विभिन्न जाति के लोगों का वर्ग पूग था।[335] कात्यायन की धारणा है कि वणिकों के समूह को पूग कहा जाता था।[336]

श्रेणी संगठन के विविध कार्य

याज्ञवल्क्य के अनुसार श्रेणी के कर्तव्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थे। जो समाज और राष्ट्र के उत्थान के प्रधान तत्त्व थे। वह अपने पृथक् नियम बनाती थी,

जिसका उल्लंघन राजद्रोह के समान माना जाता था। उनके प्रतिनिधि प्राय: उनके नाम पर न्यायालय सम्बन्धी कार्य सम्पन्न करते थे जहां उनका बड़ा सम्मान था। अत्यन्त चरित्रवान्, कुछ व्यक्ति उनके कार्यचितक (प्रबन्ध अधिकारी) नियुक्त किये जाते थे। इनकी नियुक्ति राजा द्वारा या सदस्यों द्वारा होती थी। यह स्पष्ट नहीं होता, किन्तु सम्पूर्ण साक्ष्यों के आधार पर यह सम्भावना व्यक्त की जा सकती है कि दूसरा तरीका ही प्रचलित था। अवमानना करने वाले सदस्यों को वह दण्ड देता था। किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि वह निरंकुश था, बल्कि वह समिति के माध्यम से संगठन के नियमों को परिपालित करता था। निगम के नियमों और प्रथाओं द्वारा वे बाधित थे और यदि अपने अधिकारों का उपयोग करते हुए स्वयं उन नियमों की अवहेलना करते या उनके तथा साधारण सदस्यों के मध्य विचार भेद होते, तब राजा को हस्तक्षेप करना पड़ता था और वह उन्हें निगम की प्रतिष्ठित प्रथाओं का पालन करने के लिए बाध्य करता था।[337] नारदस्मृति में भी इसी से मिलती-जुलती बातें कही गई हैं।[338]

ईसवी शती की आरम्भिक सदियों के लगभग श्रेणी के स्वतन्त्र रीति-रिवाजों का मान बढ़ता दिखाई पड़ता है। राजा न्याय करते समय श्रेणी के नियमों को दृष्टि में रखकर निर्णय देते थे।

संदर्भ एवं टिप्पणियां

1. मार्शल, प्रिंसिपुल्स ऑव इकनामिक्स, 1, पृ० 556-70।
2. महाभारत, 12/59, 72-76; 18/5, 50; 2, 5, 6; मनु०, 7/100; गोपीनाथ कविराज, अभिनन्दन ग्रन्थ, लल्लनजी गोपाल, पृ० 406।
3. याज्ञ०, 1/115।
4. मनु०, 2/224 तथा कामसूत्र, 1/2/15-16।
5. महा०, शान्ति०, 8/17; 8/21।
6. वही, 8/20।
7. नाधनस्यास्त्यमं लोको न परः पुरुषोत्तम्। वही, 8/22।
8. दारिद्रं पातक लोकेकस्तच्छंसितमर्हति। वही, 8/14।
9. अर्थशास्त्र, 1/70/10-11; बृहस्पतिसूत्र, 6/7-12।
10. याज्ञ०, 2/21; नारद, 1/1/39; अर्थशास्त्र, 1/70/10-11।
11. शुक्र०, 4/355।
12. रामायण, 2/100/48।
13. अर्थशास्त्र, 1/7; अर्थ एवं प्रधान इति कौटिल्याः। अर्थमूलो हि धर्म कामौ इति।
14. समराइच्चकहा, 4, पृ० 246 अत्थरहिओ पुरिसो अपुरिसो चेव।
15. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० 2; प्रबोधचन्द्रोदय, पृ० 56।
16. आदिपुराणि, 16/119।
17. मैक्स वेबर, द स्टडी ऑव सोशल ऐण्ड इकनामिक आर्गनाइजेशन, पृ० 150-54।
18. याज्ञ०, 1/119; मनु०, 8/410; महा०, 12/188/1-18; गोम्यो वृत्ति समास्थाय पिताः कृष्योपजीविनः। गौतमधर्मसूत्र, 2/1/50।
19. मिताक्षरा, याज्ञ०, 2/192; का० श्रौ० सू०, 22/10।]
20. याज्ञ०, 2/155; अष्टाध्यायी, 5/2/1।
21. याज्ञ०, 2/158।
22. श०ब्रा०, 1/6/2/3।
23. लेफमैन, ललित०, 128/26।
24. दिव्या०, 2/21, 23/24।
25. वही, 43/28-30.
26. वही, 3/2/182; 3/3/119।
27. वही, 4/4/97, 4/4/9।
28. याज्ञ०, 2/177।

29. दिव्यावदान, 414/24-25; 415/20; 415/21।
30. वही, 332/2।
31. वही, 131/26, 27।
32. याज्ञ०, 2/159।
33. याज्ञ०, 3/46।
34. अष्टाध्यायी, 3/1/114।
35. शालिव्रीहिकोद्रवतिलप्रियङ्गुदारकवरकाः पूर्ववापाः। मुद्गमाषाशैम्ब्या मध्यवापाः। कुसुम्भमसूर कुलत्थयवगोधूम कलायातसी सर्षपाः पश्चाद्वापाः। अर्थशास्त्र, 2/24।
36. कर्मादकप्रमाणेन कैदारं हैमनं ग्रैष्मिकं वा सस्यं स्थापयेत्। अर्थशास्त्र, 2/24।
37. स्ट्रैबो, 15/1/16/20।
38. वही, 15/1/13; फ्रैग्मेंट, 32।
39. यार०, 2/154, 156; अर्थ०, 7/14; सेतुवार्तागजबन्ध, रघु०, 16/2।
40. स्टुअर्ट पीगोट, प्री-हिस्टोरिक इण्डिया, (लन्दन, 1952), पृ० 70।
41. महा०, सभा०, 5/67; अनुशासन०, 64/6।
42. डी०सी० सरकार, सलेक्ट-इन्सक्रिप्सन्स, पृ० 176-177।
43. वही, पृ० 312-314।
44. वही, पृ० 215।
45. मनु०, 4/226, 4/202।
46. विष्णु०, 5/15 'सेतुनेदकन्'; 9/279।
47. शर्मा, आर०एस०, लाइट ऑन अर्ली इण्डियन सोसाइटी एण्ड इकानमी, पृ० 90-91।
48. विस्तृत विवरण के लिए देखिये प्रोसीडिंग्स ऑफ इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस; 1957।
49. आढया, जी०एल०, अर्ली इण्डियन इकनामिक्स, पृ० 40 तथा शर्मा, आर०एस०, लाइट ऑन अर्ली इण्डियन सोसाइटी एण्ड इकानमी,
50. मार्शल, तक्षशिला, 2/463, 1/104, 145, 180 तथा 1/463-64।
51. याज्ञ०, 2/150-151।
52. याज्ञ०, 2/152।

53. याज्ञ०, 2/153।
54. मनु०, 8/263-264।
55. याज्ञ०, 2/154।
56. वही, 2/155।
57. वही, 2/157।
58. वही, 2/158।
59. याज्ञ०, 2/160।
60. भगवतीसूत्र, 18/10/647।
61. अग्निहोत्री, प्रभुदयाल, पतंजलिकालीन भारत, पृ० 258।
62. महाभाष्य, 8/4/8; मनु०, 8/239।
63. मनु०, 9/54।
64. प्रभुदयाल अग्निहोत्री, पतंजलिकालीन भारत, पृ० 258; सुत्रकृतांग, श्रुतस्कन्ध। अध्यायं 11, गाथा 7-8।
65. याज्ञ०, 2/160-161।
66. याज्ञ०, 2/159।
67. वही, 2/262।
68. वही, 2/163।
69. महाभाष्य, 1/4/27 सस्य विनाशे धर्मश्चैव राजभयं च, तथा 1/4/52।
70. बृहत्कल्पभाष्य पीठिका, 721।
71. रामजी उपाध्याय, प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका, पृ०, 708।
72. याज्ञवल्क्य०, 1/119; मनु०, 9/327-328; महा०, भीष्म०, 42/33; विष्णु०; 3/8/3।
73. ऋग्वेद, 5/4/11।
74. श्रीचन्द जैन, हमारे पशु-पक्षी. पृ० 41।
75. याज्ञ०, 1/155, 163; 207/2।
76. शतपथ०, 6/5/2/19।
77. महाभाष्य, 2/1/51, पृ० 305।
78. याज्ञ०, 1/134।
79. ऋग्वेद०, 1/29।
80. ऋग्वेद, 1/41।
81. याज्ञ०, 1/170।
82. वही, 1/128।

83. याज्ञ०, 1/204-206।
84. महाभाष्य०, 1/4/32, पृ० 167।
85. ग्राम्येच्छया गोप्रचारो भूमिराजवशेनवा। याज्ञ०, 2/166।
86. वही, 2/165।
87. वही, 2/266-267, 269, 301, 304।
88. याज्ञ०, 1/109।
89. वही, 2/299; 3/269; ऋग्वेद, 6/19/1; महावस्तु जि०, 2/70/61
90. महाभाष्य, 5/1/13, पृ० 305।
91. वही, 2/2/24, पृ० 336; शतपथ ब्राह्मण,5/2/4/13।
92. याज्ञ०, 2/159-160।
93. औपपातिक सूत्र, 6; हरिभद्र, आवश्यक टीका, पृ० 128।
94. याज्ञ०, 2/159।
95. वही, 1/170।
96. वही, 159।
97. वही, 2/225।
98. वही, 2/226।
99. ऋग्वेद, 8/67/3।
100. वही,
101. महाभाष्य, 5/2/29, पृ० 376।
102. ऋग्वेद, 8/56/3, भारतीय विद्या भवन, दि एज ऑफ इम्पीरीयल यूनिटी' (1960), पृ० 44।
103. अर्थ०, अधिकरण-2, अध्याय-29, श्लोक 43।
104. याज्ञ०, 1/186।
105. वही, 1/185।
106. दिव्या०, 6/11-12।
107. याज्ञ०, 2/225-226; 1/197-260।
108. ऋग्वेद, 8/67/3।
109. महाभाष्य, 1/146, पृ० 280।
110. वही, 4/1/92, पृ० 155 (गोरनुबध्यो जोविनपोमीय:)।
111. याज्ञ०, 1/148, 151; महाभाष्य, 8, 3, 33, पृ० 354।
112. याज्ञ०, 3/290; ऐतरेय ब्रा०, 4/9।
113. तै० ब्रा०, 5/1/5/5।
114. याज्ञ०, 3/290; वंश ब्राह्मण, 2/6; शतपथ ब्राह्मण, 14/6/10/11।

115. महाभाष्य, 4/3/35।
116 तै०सं०, 7/1/12/3; अथर्व०, 4/4/8, 8/8/22; ऐत० ब्रा०, 3/47; शत० ब्रा०, 12/4/1/10; छान्दो० उप०, 4/2/1।
117. प्रज्ञापनासूत्र, 13/4।
118. याज्ञ०, 1/148।
119. महाभाष्य, 4/2/96, पृ० 202।
120. वही, 3/4/12, पृ० 467।
121. वही, 4/2/77, पृ० 504।
122. महाभाष्य, 3/134, पृ० 197।
123. एस०एन० वैश्य, इण्डिया इन दी रामायण एज, पृ० 242।
124. याज्ञ०, 1/151; जगदीशचन्द्र जैन, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० 180।
125. याज्ञ०, 3/290; मनु०, 11/201।
126. याज्ञ०, 3/290; ऋग्वेद, 8/6/48; अथर्व०, 20/127/2।
127. याज्ञ०, 2/195, 160।
128. वही, 2/174।
129. वही, 1/151, 2/174।
130. शतपथ०, 6/3/3/13।
131. महाभाष्य, 5/3/55, पृ०446।
132. ऋग्वेद, 8/4/18।
133. याज्ञ०, 1/193-194।
134. याज्ञ०, 1/306।
135. वही, 1/326, 1/348।
136. वही, 1/279।
137. वही, 1/151।
138. वही, 1/185।
139. वही, 1/279।
140. वही, 1/325।
141. महाभाष्य, 3/2/5, पृ० 209।
142. वही, 4/2/139; पृ० 216; वही, 1/3/67, पृ० 15; महा०सभा०, 48/36।
143. एच० जी० रालिन्सन, इन्टरकोर्स⋯इण्डियन एण्ड वेस्टर्न वर्ल्ड, पृ० 92।
144. याज्ञ०, 147।
145. महाभाष्य, 3/2/84, पृ० 334।

146. महाभाष्य, 6/1/94, पृ० 151 ।
147. याज्ञ० 1/184 ।
148. वही, 1/2 ।
149. वही, 1/29; 1/184 ।
150. वही, 1/258-259 ।
151. भाष्य०, 3/2/28, पृ० 215 ।
152. वही, 6/3/34, पृ० 318 ।
153. वही, 2/1/69, पृ० 320 ।
154. वही, 2/3/36, पृ० 431 ।
155. श्रीचन्द जैन, हमारे पशु-पक्षी, पृ० 33 ।
156. याज्ञ०, 1/185 ।
157. वही, 1/259, 3/207 ।
158. वही, 1/176; आपिशल शिक्षा 1, पृ० 11 ।
159. महाभाष्य०, 8/2/44, पृ० 362 ।
160. याज्ञ०, 1/177 ।
161. वही, 1/259 ।
162. वही, 1/260 ।
163. याज्ञवल्क्य-स्मृति में सिंह का स्पष्ट उल्लेख नहीं है ।
164. महाभाष्य, 3/1/123, पृ० 191 ।
165. महाभाष्य, 5/2/115, पृ० 418 ।
166. याज्ञ०, 1/148 ।
167. महाभाष्य०, 1/3/21, पृ० 62 ।
168. वही, 2/4/12, पृ० 467 ।
169. वही, 1/1/47, पृ० 228 ।
170. याज्ञ०, 1/47 ।
171. महाभाष्य०, 4/2/129, पृ० 216 ।
172. वही, 1, 3, 67, पृ० 15 ।
173. याज्ञ०, 2/226, 3/274, 2/271 ।
174. वही, 3/272 ।
175. वही, 3/214 ।
176. याज्ञ०, 3/277 ।
177. वही, 3/272 ।
178. महाभाष्य, 4/1/48, पृ० 60 ।
179. याज्ञ०, 1/176 ।
180. आपिशल शिक्षा, 1/11 ।

181. महाभाष्य०, 6/1/142, पृ० 190।
182. महाभाष्य०, 1/3/47, पृ० 67।
183. आदिपुराण, 4/64।
184. याज्ञ०, 3/272।
185. वही, 3/213।
186. महाभाष्य०, 2/1/72, पृ० 330।
187. वही, 7/3/87, पृ० 212।
188. आदिपुराण, 3/170।
189. याज्ञ०, 1/172।
190. आदिपुराण, 4/74, 14/69, 9/54; 6/74, 11/27, 12/21; 9/3।
191. महाभाष्य, 6/3/34, पृ० 318।
192. याज्ञ०, 1/172।
193. महाभाष्य, 4/1/63, पृ० 74।
194. वही 4/2/45, पृ० 181।
195. आदि० पु०, 6/72, 461, 15/114।
196. याज्ञ०, 3/214, 270।
197. वही, 1/103।
198. याज्ञ०, 3/277।
199. वही, 1/172।
200. महाभाष्य० 4/3/156, पृ० 269।
201. आदिपुराण, 4/61, 3/170, 5/218; 7/150, याज्ञ०, 1/172-173।
202. याज्ञ०, 1/173।
203. वही, 1/173।
204. याज्ञ० 1/174।
205. वही, 1/153, 3/273।
206. महाभाष्य, 7/1/69, पृ० 323; 2/3/67, पृ० 454; 3/1/11, पृ० 45।
207. समराइच्चकहा, 2, पृ० 152, 5/442।
208. आदि० पुराण, 1/81, 4/70, 5/105, 121; 6/80, 9/55; 10/28-29।
209. याज्ञ० 1/147.
210. वही, 1/175, 1/177; 1/258-261।

211. महाभाष्य, 4/1/63, पृ० 740 तथा 1/1/68, पृ० 425।
212. वही, 1/1/39, पृ० 516।
213. आदिपुराण, 5/34, 28/171, 11/199, 4/117, 10/30, 28/182।
214. याज्ञ०, 1/177.
215. वही, 1/119; गौतम०, 10/4-6; महा०, शान्ति०, 299/21; वही, 189/6
216. मनु०, 8/398; महाभाष्य, 3/1/101, 3/3/19, 6/1/82
217. अष्टाध्यायी, 3/3/119; काशिका, एत्म तस्मिन् आपणन्त इत्यापण:।
218. वही, महा०, शान्ति०, 186/20, पडयानां शोभनं पण्यम्।
219. याज्ञ०, 2/250; मनु०, 8/398.
220. याज्ञ०, 2/245-246.
221. थेरीगाथा, 24; जातक, 4/445, 3/49, 6/98; चुल्लवग्ग, 10/104/4; विनयपिटक, 4/250.
222. याज्ञ०, 2/299, 3/290.
223. मनु०, 8/290.
224. निशीथचूर्णि, 4, पृ० 111-अणुरंगाणामथसिओ तथा 3, पृ० 99, अणुरंगा गड्डी।
225. ऋग्वेद, 8/46/30, 1/10/4, 1/3/9/9, 8/46/28, 8/82/8.
226. इपि० इण्डि०, 11/8, पृ० 37 और 43.
227. याज्ञ०, 2/263.
228. मनु०, 8/406-08.
229. स्ट्रैबो, 3/5/12.
230. दि एज ऑफ इम्पीरियन कन्नौज, (बम्बई, 1955), पृ० 401
231. याज्ञ०, 2/240, 244; महा०, अनु०, 32/33; आदि०, 64/22.
232. याज्ञ०, 2/251; मनु०, 8/401-402.
233 तुलामानं प्रतीमानं सर्व च स्यात्सुलक्षितम्।
षट्सु षट्सु च मासेषु पुनरेव परीक्षयेत्॥ मनु०, 8/403.
234. याज्ञ०, 2/168।
235. वात्स्यायन, 705, 706।

236. द्वौ गुणावेषां मूल्यभूतानां यवानामुदश्वितः द्वियवा, उदश्वितो मूल्यम् ।
शब्दानुशासन, 7/1/153 ।
237. याज्ञ०, 2/178 ।
238. मनु०, 8/131; जर्नल ऑफ दि न्यूमिस्मेटिक सोसाइटी (1964).
भाग-1, पृ० 26.
239. याज्ञ०, 1/362-365 ।
240. मनु०, 8/132-137 ।
241. मैत्रेयी संहिता, 2/2; तैत्तिरीय संहिता, 3/2/1 ।
242. तैत्तिरीय ब्रा०, 1/3/6/7 ।
243. वी०एस० अग्रवाल, क्वाइन डाटा इन दि जर्नल ऑफ न्यूमिस्मेटिक
सोसाइटी ऑफ इण्डिया, वाल्यूम 18, (वाराणसी, 1956),
पृ० 152 ।
244. वही, वाल्यूम 18, पृ० 152 ।
245. अष्टाध्यायी, 6/2/55 ।
246. अर्थशास्त्र, 2/19 ।
247. अष्टाध्यायी, 5/1/29 ।
248. वासुदेवशरण अग्रवाल, ऐन्सियंट क्वाइन्स नोन टू पाणिनी, जर्नल ऑफ
न्यूमिस्मेटिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया, वाल्यूम- 5, भाग-1 (वारा-
णसी, 1953), पृ० 29 ।
249. वासुदेवशरण अग्रवाल, क्वाइन डाटा इन महाभारत, जर्नल ऑफ
न्यूमिस्मेटिक सोसायटी ऑफ इण्डिया, वा०-18, पार्ट-2, (वाराणसी,
1956), पृ० 148 ।
250. वही, पृ० 140 ।
251. महा०, सभापर्व, 47/26-27 ।
252. वासुदेवशरण अग्रवाल, क्वाइन डाटा इन महाभारत, जर्नल ऑफ
न्यूमिस्मेटिक सोसायटी ऑफ इण्डिया, वाल्यूम-18, भाग-2,
पृ० 149 ।
253. वही, पृ० 150 ।
254. वही, पृ० 149 ।
255. अमरकोष, 3/3/13-14; 2/9/86 ।
256. ऋग्वेद, 5/19/3 ।
257. अथर्ववेद, 5/143 ।

258. महा०, विराट०, 36/39; वैदिक इंडेक्स, वो०-1, पृ० 445 के अनुसार ऋग्वेद, 1.126-2 में 100 निष्कों का दान निष्क का मुद्रा होना प्रकट करता है।
259. महा०, द्रोण०, 69/10।
260. अमरकोष, 3/3/13-14।
261. महा०, अनुशासन०, 13/43।
262. अष्टाध्यायी, 5/2/119।
263. अथर्व०, 20/131/5; 20/137/3।
264. ऋग्वेद, 8/47/15।
265. सिगाल जातक, 113।
266. याज्ञ०, 1/365।
267. चतुः सौवर्णिको निष्कोविज्ञेयस्तु प्रमाणतः। मनु०, 8/137।
268. डी०सी० सरकार, शतमान, जर्नल ऑफ न्यूमिस्मैटिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया, वोल्यूम-15, भाग-2, पृ० 136।
269. तस्य त्रीणि शतमानानि हिरण्यानि दक्षिणा। शतपथ ब्रा०, 5/5-16।
270. जर्नल ऑफ दि न्यूमिस्मैटिक सोसायटी ऑफ इण्डिया, वाल्यूम, 15, पार्ट-2, पृ० 137।
271. ए०बी० कीथ, कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, वाल्यूम-1, पृ० 137।
272. डी०सी० सरकार, (शतमान) जर्नल ऑफ न्यूमिस्मैटिक सोसायटी ऑफ इंडिया, वोल्यूम-15, भाग-2, पृ० 149।
273. पंचविंश ब्राह्मण, 17/1-4।
274. डी०सी० सरकार, (शतमान), जर्नल ऑफ न्यूमिस्मैटिक सोसायटी ऑफ इण्डिया, वोल्यूम 15, भाग-2, पृ० 149।
275. डी०सी० सरकार, शतमान, जर्नल ऑफ न्यूमिस्मैटिक सोसायटी ऑफ इण्डिया, भाग-2, पृ० 27।
276. एन० एस०, 45, पृ०, 9-12।
277. डी०सी० सरकार, शतमान, जर्नल ऑफ न्यूमिस्मैटिक सोसायटी ऑफ इण्डिया, 13, पृ० 92, एफ-एफ। वही, 15, पृ० 54 एफ.एफ.।
278. वही, 3, पृ० 51; एन०एस०, 14, पृ० 9-12।
279. वही, वाल्यूम 15, भाग-2, पृ० 150।
280. याज्ञ०, 1/365 पर मिताक्षरा; मनु०, 8/136; राधाकुमुद मुकर्जी, हिन्दू सभ्यता, पृ० 185।
281. अष्टाध्यायी सूत्र, 5/1/3-4।

282. वही, सूत्र, 5/1/29 ।
283. अर्थशास्त्र, 2/12 ।
284. डी०आर० भण्डारकर, ए०आई०एन०, पृ० 79 ।
285. महाभा०, सभापर्व, 5/64 ।
286. एपिग्राफिया इण्डिका, 8/82; जे० एन०एस०आई०, 7/32 ।
287. गंगमाल जातक, 3/448 ।
288. याज्ञ०, 2/250 ।
289. वही, 2/252, 2/253 ।
290. वही, 2/254, 255, 256 ।
291. याज्ञ०, 2/263; ऋग्वेद म० 1, सूक्त, 122/6-7; महा०, शान्ति०, 169/2; 298/28; 300/55; वनपर्व, 283/26-29; शल्य०, 19/2; आदि०, 140/5; एम०के० दास, इन दी इकोनामिक हिस्ट्री ऑफ ऐंसियन्ट इण्डिया, पृ० 28-29; रायल, एसे आन दी एन्टीक्वूटी ऑफ हिन्दू मेडिसिन, पृ० 122।
292. स्ट्रैबो, आई०आई०सी०, 118 ।
293. शाफ, पेरिप्लस, पृ० 8 ।
294. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, वा० 1, पृ० 212-213 ।
295. महावस्तु, 3/351/1-3; अवदान०, जि० 1/370/2; दिव्य०, 17/11, 11/21, 55/10-11; 15/128; 452/19-26; अवदान०, जि० 1/129/6; अवदान०, जि०, 1/370/2 ।
296. जर्नल ऑफ दी मलाया ब्रांच ऑफ दी र्‌वायल एशियाटिक सोसायटी, 32, भाग-2, पृ० 74-75 ।
297. इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली 13/593, 596 ।
298. जर्नल ऑफ दी एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, 1935, पृ० 12 ।
299. जर्नल ऑफ दी एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, पृ० 591 ।
300. दि एज ऑव इम्पीरियल यूनिटी, पृ० 644.
301. तैत्तिरीय संहिता, 4/5/4/2.
302. अर्थशास्त्र, (चौखम्बा प्रकाशन, 1962), पृ० 514.
303. हेनमात्रमुपादाय रूपं वा हेमकारकः । याज्ञ०, 3/147.
304. हिरण्यमिवरोचते, । ऋग्वेद, 1/43/5; हिरण्यमुतभोगं ससान । ऋग्वेद 3/34/9 ।
305. शुभे रुक्मं न दर्शतं निरवात । वही, 1/110/5; अथर्ववेद, 12/1/6, 26/14 ।

306. शांखायन गृ० सू०, 1/22/16-17, पृ० 49, मोदमयीगापयेत । महा-हेमवीं वा ।
307. आपस्तम्ब श्रौ० सू०, 20/115/9.
308. पतंजलि महाभाष्य, 8/3/102.
309. रीज डेविडस, बुद्धिस्ट इण्डिया, (कलकत्ता, 1950), पृ० 90.
310. याज्ञ०, 1/163, अथर्ववेद, 7/5/6, वैदिक इण्डेक्स, 1, पृ० 30; ऋग्वेद, 78/10, हस्तं दात्रं च न आददे । सृण्य: पक्वं एयात् ।, 4/57/9; श्रुतं न फाला: विकृषन्तु भूमिम् ।
311. वही, 1/162/20, 10/79/6; 1/27/3, अथर्ववेद, 3/19/4; आश्व० गृ० सू०, 3/129/10 ।
312. आश्व० गृ० सू०, 3/129-10 ।
313. याज्ञ०, 1/41, यजुर्वेद, 3/2/1; वैदिक इण्डेक्स, 1, पृ० 171; वही, 2, पृ० 176; मैत्रयिणी, उपनिषद् 2/6, मृत्पचेनेदं शरीरं, प्रतिष्ठापितम । वही, 3/3, तानिह् वा एतानि गुणानि पुरुषेणेरितानि चक्रमिव मृत्पनेति ।
314. ऋग्वेद, 1/116/7; शतंकुभान असिचतं सुराया: वही, 1/117/6, शतं कुंभान असिचतं मधूनाम्, वही 1/117/12, हिरण्यस्य इव कलशं ।
315. मृद्ण्डचक्रसंयोगात्कुम्भकारो तथा घटम् । याज्ञ०, 3/146 ।
316. पतंजलि महाभाष्य, 1/3/3, पृ० 23 ।
317. वही, 3/1/92, पृ० 167 ।
318. बौ० श्रौ० सू०, 15/14 ।
319. मुकुलावदातं शिलापट्टशुद्धं धौतसूत्रवर्ण ऽमृष्टश्वेत्तरं चैकरात्रोत्तरे दद्यु: । वही, 2/238 ।
320. घटजातक, 4/81 ।
321. मज्झिमनिकाय, 1/37 ।
322. याज्ञ०, 1/163; अ वयन्ति अस्मिन् । पाणिनि, 3/3/112 ।
323. महाभाष्य, 5/3/55 ।
324. क्षौमंदुकूलकिमितानकंकट हरिताल । अर्थशास्त्र, 2/23; मेधातिथि, मनु०, 2/8, 8/32, 8/326 ।
325. बर्लिगेम, बुद्धिस्ट लीजेन्ड्स 29, 2, पृ० 86-87 ।
326. याज्ञ०, 1/166 ।
327. वही, 1/187 ।

328. याज्ञ०, 1/187 ।

329. ऋग्वेद, 1/163/10, हंसा इव श्रेणिशो यतन्ते ।

330. अर्थशास्त्र, 5/2, एकेन शिल्पेन पण्येन वा ये जीवन्ति तेषां समूहः श्रेणी; अष्टाध्यायी, 2/1/59, श्रेणयः कृतादिभिः; मेधातिथि; मनु०, 8/41 ।

331. मेधातिथि, मनु०, 8/41 ।

332. मिताक्षरा, 2/192, एकपण्यं शिल्पोजवीविन: श्रेणय: । याज्ञ० 2/192;
श्रेणिनैगमपाखण्डिगणानामप्ययं विधिः । मिताक्षरा, श्रेणियो नाना-जातीनामेक जातीयककर्मोपजीविनां संघातः । वीरमित्रोदय, 7/333; नारद०, 1/7 ।

333. महाभारत, वनपर्व, 249/16 ।

334. कृष्णदत्त बाजपेयी (अनुवादक), प्राचीन भारत में संघठित जीवन, पृ० 37; लूडर्स संख्या 1133; एपि० इण्डि०, जिल्द 8, पृ० 82-86; 88 ।

335. नृपेणाधिकृतः पूगाः श्रेण्यो यकुलानि च ।; पूगाः वर्ग समूहाः भिन्न-जातीनां भिन्नवृत्तानामेकस्थाननिवासिनां यथा ग्रामनगरादयः । याज्ञ०, 2/30 पर मिताक्षरा ।

336. समूहो वाणिजादीनां पूगा संपरिकीर्तितः । कात्यायन०, 48 ।

337. याज्ञ०, 2/186-192 ।

338. नारदस्मृति, 10/2/3-10/6 ।

+●——●+

सप्तम् अध्याय

राज्य

राज्य की उत्पत्ति

राजशास्त्र प्रणेताओं ने मनुष्य के सर्वांगीण विकास के लिए राज्य को आवश्यक माना है। किन्तु राज्य की उत्पत्ति कब और किन परिस्थितियों में हुई आदि प्रश्नों का उत्तर विवाद का विषय है। प्राचीन भारतीय दार्शनिकों ने राज्य की उत्पत्ति जैसे विषयों पर भी अपने मत व्यक्त किए हैं, किन्तु इस विषय से सम्बन्धित उनके विचार प्राय: बहुत संक्षिप्त हैं। फिर भी इनके आधार पर आधुनिक राजनीतिक दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित राज्य की उत्पत्ति विषयक अनेक मतों का अनुमान प्राचीन भारत में किया जाता है। प्राचीन भारतीय ग्रंथ बहुधा राजा एवं राज्य में अन्तर नहीं करते हैं। कौटिल्य ने संक्षेप में राजा को राज्य भी कहा है। सम्भवत: इसी वजह से इनकी उत्पत्ति एक ही है। याज्ञवल्क्य राज्य अथवा राजा की सृष्टि के सम्बन्ध में मौन हैं। लगता है कि उन्होंने मनु के मत से सहमत होकर उसका पुन: उल्लेख करना समीचीन नहीं समझा। अन्य सहायक ग्रंथों के आधार पर राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रकाश डाला जा सकता है।

दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त

राजपद की प्राचीनता और उसके महत्त्व को बढ़ाने के लिए प्राचीन भारतीय विचारकों ने राजा की उत्पत्ति के लिए ईश्वर को उत्तरदायी माना है।[1] मनु राजा को विभिन्न देवताओं के अंशों का सम्मिलित रूप मानते हैं। उनके अनुसार राजा इन्द्र; वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा और कुबेर आदि के अंश से ईश्वर-निर्मित है। इसलिए वह सबको अपने तेज से अभिभूत करता है और वह अपने प्रभाव से अग्नि आदि उपर्युक्त देवताओं का रूप धारण करता है।[2] ऋग्वेद तथा तैत्तिरीय-ब्राह्मण से भी दैवी-उत्पत्ति के सिद्धान्त की सूचना मिलती है।[3] कौटिल्य ने भी दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का उल्लेख किया है। वह राजा को इन्द्र और यम का स्थानीय मानते हुए उसका अपमान करने वाले के लिए दैवी दण्ड का प्राविधान करते हैं। महाभारत के अनुसार राजा को ही समयानुसार अग्नि, सूर्य, कुबेर आदि रूप धारण करने वाला कहा गया है।[4] रामायण के अनुसार राजा देव है। वह इस पृथ्वी तल पर मनुष्य शरीर धारण कर विचरण करता है। उसकी हिंसा, निन्दा, तिरस्कार या विरोध सर्वथा वर्जित है। महान् चरित्र-बल से युक्त राजा से महाबली यम, कुबेर, इन्द्र और वरुण भी छोटे हैं।[5] नारद ने भी अग्नि, इन्द्र आदि से राजा की तुलना करने

के उपरान्त उसमें देवत्व स्थापित किया है। शुक्रनीति में राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए कहा है कि राजा का निर्माण इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेर इन आठ देवों के अशों से हुआ है।[6] पुराणों में भी राजा को सर्वदेवमय कहा गया है।[7]

राजा की दैवी उत्पत्ति का यह सिद्धान्त गुप्त युग में भी प्रचलित रहा। इस युग में भी राजा कुबेर, वरुण, इन्द्र और यम का साक्षात् रूप समझा जाता था। लोग राजा को मनुष्य रूप में देवता समझते थे। राजा को देव एवं अचिंत्य पुरुष आदि शब्दों से सम्बोधित किया गया है। गुप्तकालीन शिलालेखों से ऐसा सिद्ध होता है।[8] इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वालों के अनुसार राजा की उत्पत्ति ईश्वर के गुणों को लेकर ईश्वर द्वारा ही की गयी है।[9]

राजा एवं देवताओं के गुणों की समानताओं को देखते हुए सम्भवतः इस मत के प्रतिपादन के लिए प्राचीन भारतीय मनीषी प्रेरित हुए होंगे। आगे चलकर जब विभिन्न राजनीतिक विचारक राजा में दैवी-स्थिति अर्थात् उसे देवता मान बैठे तो उसका महत्त्व फिर उसी प्रकार स्वीकार किया जाने लगा। मनु ने देवता की कल्पना करते हुए बालक के भी राजा के रूप में रहने पर उसके तिरस्कार किये जाने का विरोध किया है। महाभारत में भी इसी तरह का विचार व्यक्त किया गया है। इस प्रकार राजा को पृथ्वी पर राज्य में देवता का स्थान देकर या देवत्व को प्रचारित करके उसके प्रजा जन में राजा की स्थिति सुदृढ़ करने का प्रयास राजनीतिक विचारक अपनी ओर से सिद्धान्तः कर रहे थे। राजा ही नहीं अपितु दण्ड की उत्पत्ति भी ब्रह्मतेज या ईश्वर से कल्पित है।[10] इसी दण्ड या दण्डशक्ति के प्रयोग के लिए राजा की सृष्टि हुई थी। आगे चलकर इसका और भी विकास हुआ।

सामाजिक समझौते का सिद्धान्त

शासक और शासित के बीच हुए समझौते के परिणामस्वरूप राजा की उत्पत्ति का अनुमान ही इस सिद्धान्त का मूल है। बौद्ध-ग्रन्थ सामाजिक समझौते द्वारा राज्य की उत्पत्ति का संकेत करते हैं, जनता की प्रभुता के सिद्धान्त का समर्थन किया है।[11] शान्तिपर्व में राज्य की उत्पत्ति के पूर्व की भयानक अराजक दशा का विवरण है। सर्वत्र मत्स्य-न्याय व्याप्त था। जिस प्रकार जल में बड़ी मछली छोटी मछली को खाती है उसी प्रकार बलवान दुर्बलों को सताते थे। इस स्थिति से त्रस्त लोगों ने एक समय निर्धारित किया और उसका परिपालन सबके लिए आवश्यक माना गया परन्तु इस समय का परिपालन बहुत दिनों तक नहीं हो सका। फलतः पुनः अराजक स्थिति उत्पन्न हो गयी। लोग ब्रह्मा के पास गये और कहा कि स्वामी विहीन हम लोग नष्ट हो रहे हैं। आप किसी स्वामी का निर्देश दीजिए जिसकी हम लोग पूजा करें और जो हम लोगों का पालन करे। ब्रह्मा ने मनु को राजपद पर नियुक्त किया वस्तुतः मनु ने यह कह कर अस्वीकार किया कि राज्य-व्यवस्था चलाना एक दुष्कर कार्य है, विशेष कर ऐसे

व्यक्तियों में जो सदा पाप वृत्ति का आचरण करते हैं। परन्तु प्रजा ने मनु को आश्वासन दिया और अपनी उपज का एक निश्चित भाग रक्षा के बदले में देना स्वीकार किया।[12] इससे स्पष्ट होता है कि प्रजा ने दो समझौते किये। एक आपस में और दूसरा राजा के साथ। आपस में समझौता किया कि जो भी सामाजिक-नियमों की अवहेलना करेगा दण्ड का भागी होगा और राजा के साथ यह समझौता किया कि प्रजा उसे अपनी उपज का एक निश्चित भाग कर के रूप में देगी और इसके बदले राजा प्रजा की रक्षा करेगा। अत: स्पष्ट है कि ब्रह्मा की इच्छा समझौते के आगे तुच्छ थी।

कौटिल्य के एक उल्लेख से भी इस सिद्धान्त का अनुमान होता है। कौटिल्य के अनुसार मत्स्यन्याय से अभिभूत प्रजा ने मनु को अपना राजा बनाया एवं धान्य का छठवां और सुवर्ण का 18वां भाग कर के रूप में उन्हें देने का निश्चय किया।[13] दीघनिकाय[14] में आरम्भिक स्वर्णयुग की परिकल्पना की गयी है। कालान्तर में इसका अध: पतन हुआ। इस दयनीय दशा का अन्त करने के लिए प्रजा ने एक योग्य व्यक्ति को राजा बनाया। चूंकि यह सबकी सम्मति से राजा बना था इसलिए महाजन-सम्मत कहलाया। अलतेकर के अनुसार इस सिद्धान्त का विकास यूरोप में प्रोटेस्टेंट आन्दोलन के बाद ही हुआ। हाब्स, लॉक और रूसो इसके प्रमुख समर्थक थे।[15] यह सिद्धान्त ऐतिहासिकता से परे होने के कारण वर्तमान राजनीतिकशास्त्रियों को स्वीकार्य नहीं है। इसे वे अव्यवहारिक, अतार्किक एवं अव्यवस्थित मानते हैं।[16]

बल-सिद्धान्त

महाभारत से एक नवीन सिद्धान्त की सूचना मिलती है। इसके अनुसार राजा की उत्पत्ति ऋषियों द्वारा हुई थी। शान्तिपर्व में कहा गया है कि लोक और परलोक दोनों को दृष्टि में रखकर आचार्यों ने राजा नामक महान शक्ति सम्पन्न व्यक्ति की उत्पत्ति की। यह उल्लेख उस कथा की ओर संकेत करता है जिसके अनुसार महर्षियों ने वेण की दाहिनी भुजा का मन्थन करके पृथु की सृष्टि की थी। एक दूसरे स्थल पर कहा गया है कि सप्त ऋषियों ने इन्द्र को स्वर्ग में देवराज के पद पर प्रतिष्ठित किया और वे स्वयं प्रजा पर प्रशासन करने लगे। उनके बाद विपृथु नामक राजा पृथ्वी का शासक हुआ तथा और भी बहुत से क्षत्रिय विभिन्न क्षेत्रों के राजा हुए।[17] अलतेकर के अनुसार बहुत पुराने जमाने में लोगों ने स्वेच्छा से किसी व्यक्ति विशेष अधिकार दिया। या तो वह पुरोहित था जो देवताओं को प्रसन्न कर सकता हो या वह मंत्रवेत्ता था जो मंत्र बल से पानी बरसा सकता हो अथवा वह वैद्य था जिसमें रोग दूर करने की क्षमता थी। इस प्रकार अधिकार पा जाने पर अपने प्रभुत्व से और बाद में बल प्रयोग द्वारा भी इसके लिए अपने अधिकार कायम रखना या उनका विस्तार करना कठिन न था। सम्भव है कि कुछ जातियों में इस प्रकार की शासन संस्था या राजा की उत्पत्ति हुई हो।

युद्धमूलक-सिद्धान्त

ऐतरेय-ब्राह्मण के एक उल्लेख के अनुसार देवासुर-संग्राम में असुरों द्वारा पराजित होने पर देवगणों ने सोचा कि वे राजा के अभाव के कारण ही पराभूत हो रहे हैं। इस प्रकार उन्होंने राजा की आवश्यकता का अनुभव किया और इन्द्र को राजपद प्रदान किया। इससे ज्ञात होता है कि युद्ध की आवश्यकताओं से प्रेरित होकर ही राजा की सृष्टि हुई थी। आधुनिक विद्वान यह अनुमान करते हैं कि देवासुर संग्राम भारत में आर्य और अनार्यों के युद्ध को परिलक्षित करता है। वे यह भी अनुमान करते हैं कि प्रारम्भ में आर्य समुदाय में राजा नहीं था और उन्होंने अपने अनार्य प्रतिपक्षियों का अनुसरण करते हुए युद्ध की परिस्थिति के कारण ही राजा की नियुक्ति की थी।[18] यह समीचीन प्रतीत होता है क्योंकि प्राचीन समय में अन्यान्य राज्यों में परस्पर संघर्ष चल रहे थे। जिस प्रकार बिना गोप की गायें विनष्ट हो जाती हैं, उसी प्रकार राज्य की रक्षा के लिए एक योग्य नेता की उपस्थिति अनिवार्य थी जो संकट के समय सही नेतृत्व दे सके। फलतः राजा में सैन्य-गुण आवश्यक रहा होगा। आधुनिक युग में भी किसी युद्ध की सफलता योग्य सेना नायक पर ही निर्भर करती है। इस सिद्धान्त की पुष्टि यहूदियों के धर्मग्रन्थों से भी होती है। शान्तिपर्व से भी इस बात की सूचना मिलती है कि प्रारम्भ में समाज में व्याप्त अराजकता तो दूर करने के लिए लोग एकत्र होकर ब्रह्मा के पास गये और उनसे एक राजा नियुक्त करने की प्रार्थना की, जिससे उनकी सुरक्षा हो सके। इस पर ब्रह्मा ने उसी क्षण मनु को उत्पन्न कर राजा नियुक्त किया। तब लोगों ने राजा को यह वचन दिया कि उनके सशक्त आदमी युद्धभूमि में राजा का साथ देंगे। इससे राजा की शक्ति और प्रभाव में वृद्धि हुई। इस प्रकार लोगों ने राजा से अपने शत्रुओं से रक्षा के लिए निवेदन किया।[19] उपरियुक्त उल्लेख से युद्धमूलक-सिद्धान्त की पुष्टि होती है। ग्रेगरी सप्तम ने भी शक्ति के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि एक ग्राम के द्वारा दूसरे ग्राम की विजय, एक जाति के द्वारा दूसरे जाति की विजय और लगातार चलने वाले युद्धों के अनन्तर जाति से राज्य और राज्य से साम्राज्य के उदय की कल्पना की थी।[20] उपरियुक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि राज्य उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्तों में युद्धमूलक सिद्धान्त की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही होगी।

विकासवादी-सिद्धान्त

अलतेकर का मन्तव्य है कि तुलनात्मक भाषाविज्ञान से इस बात की सूचना मिलती है कि अपने आदि देश में भी आर्य सम्मिलित कुटुम्बों में ही रहते थे। इन कुटुम्बों में दादा, पिता, चाचा, भतीजे, लड़के तथा पतोहू सभी थे। होमर के काल में दो-दो सौ और तीन-तीन सौ व्यक्तियों के परिवारों का उल्लेख मिलता है। इस परिवार के गृहपति को परिवार के सदस्यों पर पूर्ण प्रभुत्व था। उसे अपने वंशवर्ती किसी भी व्यक्ति को बेचने, बन्धक रखने या अपराध करने पर अंगच्छेद और बध

करने का भी अधिकार था।[21] वैदिक-सूत्रों से भी इस तरह की सूचना मिलती है। प्रागैतिहासिक काल में सभी आर्य जातियों में कुटुम्ब के गृहपति के अधिकार और पद प्राय: राजा के ही समान थे। गांव के सबसे बड़े कुल के सबसे वृद्ध गृहपति को सारा समाज अत्यन्त आदर से देखता था और अन्य ग्राम वृद्धों की सलाह से वह ग्राम की व्यवस्था करता था।[22] ऋग्वेद के अनुसार आर्य समाज कुटुम्बों, जन्मनो, विशों तथा जनों में विभक्त था।[23] जन्मन सम्भवत: एक ही पूर्वज के वंशजों का ग्राम था। इस प्रकार कई ग्रामों का समूह विश् कहलाता था और इनका मुखिया विशपति कहलाता था। विश् का संगठन ठोस था। युद्धभूमि में हर एक विश् की अपनी अलग टुकड़ी होती थी। कई विशों को मिलाकर जन का निर्माण होता था। इसका प्रमुख जनपति या राजा होता था। प्राचीन रोम की समाज-व्यवस्था और ऊपर वर्णित वैदिक समाज-व्यवस्था में साम्य था।[24]

वैज्ञानिक-विकासवाद अथवा ऐतिहासिक-विकासवाद वर्तमानयुगीन चिन्तन का परिणाम है। इस दृष्टिकोण के अनुसार विकासशील, शक्ति-प्रधान ग्रामीण-वातावरण में राज्य का उद्भव हुआ होगा। ग्रामीण वातावरण में संयुक्त रूप से अनेकों परिवारों के संगठन, अनेकों पीढ़ियों का एक परिवार में निवास, वंश तथा वंशपरम्परा ग्रामीण-जीवन का स्रोत होता था। पारस्परिक संघर्ष एवं सीमा विवाद ग्रामीण जीवन के संगठन का कारण होता था। ग्रामीण का महत्त्व सांस्कृतिक तथा राजनीतिक कारणों से विशेष रूप से होता था। सिंहल के इतिहास से स्पष्ट हो जाता है कि अनुराधापुर तथा मागम के शासक बहुत बाद तक अपनी ग्रामीण पृष्ठभूमि के द्योतक सांकेतिक शब्द "गामणी" को अपने नाम के साथ प्रत्यय के रूप में लगाते रहे।[25] इस प्रकार राज्य-संस्था क्रमिक, विकास का परिणाम है। यह सिद्धान्त वर्तमान समय के राजनीतिशास्त्र विशारदों के सिद्धान्त से अनेक अंशों में समता रखता है।[26]

अत: कहा जा सकता है कि राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त का प्रश्न बड़ा ही जटिल है। प्राय: सभी सिद्धान्त कल्पना एवं अनुमान पर आधारित हैं। राज्य की उत्पत्ति किन परिस्थितियों में हुई इसको जानने के लिए हमारे पास कोई ठोस साधन नहीं है। जब ऐतिहासिक साक्ष्य किसी तथ्य का पता लगाने में असमर्थ सिद्ध होते हैं, तब चिन्तनशील आचार्य कल्पना एवं अनुमान का सहारा लेकर अन्यान्य निष्कर्षों पर पहुँचते हैं। यह उनके लिए स्वाभाविक है। अन्ततोगत्वा यह कहा जा सकता है कि ये सिद्धान्त पूर्णत: सही नहीं हैं किन्तु इनमें सत्य का कुछ अंश है।

राज्य का महत्व एवम् आवश्यकता

प्राचीन भारतीय राजनीतिक शास्त्र के आचार्यों ने राजा को राज्य के सप्तांगों में प्रधान अंग माना है। लगभग सभी प्राचीन ग्रंथों में राजा को राज्य में प्रमुख स्थान प्रदान किया है। राजा का रत्नियों में सर्वप्रथम नाम आता है। यद्यपि राजा के लिए विभिन्न शब्दों का प्रयोग किया गया है, किन्तु लगभग सभी

प्राचीन भारतीय राज-शास्त्र के प्रणेताओं ने राजा के महत्व और उसकी आवश्यकता पर विशेष जोर दिया है। प्राणी-मात्र के लिए राजा का कितना महत्व है तथा उसकी कितनी आवश्यकता है इसका याज्ञवल्क्य-स्मृति में विस्तृत वर्णन किया गया है। याज्ञवल्क्य के अनुसार राजा दुराचारियों तथा अपराधियों को दण्ड देता है। मनु के अनुसार यदि राजा अपराधियों को दण्ड न दे तो शूल पर मछली की भांति सबल लोग निर्बलों को भून डालें। राजाहीन राज्य में सुख और शांति का सर्वथा लोप रहता है। पुन: राजा को दण्ड का प्रतिरूप बताते हुए कहा है कि वस्तुत: दण्ड ही राजा है, वही नेता है एवं वही हाकिम अर्थात् शासन करने वाला है।[27] उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि राजा-राज्य-शासन को सुचारू रूप से कार्यान्वित करने के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

याज्ञवल्क्य के अनुसार राजा प्रजा में शान्ति और रक्षा की व्यवस्था करता है और वही ब्राह्मण आदि कुलों, मूर्धावसिक्त आदि जातियों, ताम्बूलिक-श्रेणियों, गणों और जनपदों को अपने धर्म से भ्रष्ट होने पर दण्ड देकर पुनः धर्म-सम्मत मार्ग में प्रतिष्ठित करता है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में राजा के महत्व और उसकी आवश्यकता का वर्णन करते हुए कहा है कि मत्स्यन्याय से पीड़ित होकर लोगों ने मनु को अपना राजा बनाया। राजा प्रजा में शांति और सुरक्षा की व्यवस्था करता है और वही मनुष्यों को वर्णाश्रम धर्म का पालन करने के लिए बाध्य करता है।[28] बाल्मीकि रामायण के अनुसार राजा के बिना राज्य स्थिर नहीं रह सकता। बिना जल की नदियां, बिना घास के वन और बिना गोपाल के गांवों की जो दशा होती है वही दशा राजविहीन प्रजा की होती है। जिस देश में राजा न हो उसमें निर्णय के लिए मनुष्य सभा नहीं कर सकते। देश को उन्नत करने वाले उत्सव और सभाएं नहीं हो सकतीं।[29] महाभारत के अनुसार संसार में धर्म की स्थिति राजा के अधीन है। प्रजाजन, राजा के भय से ही एक दूसरे को नहीं मारते। पुन: महाभारत में कहा गया है कि जिस प्रकार सूर्य अथवा चंद्र के उदय न होने पर समस्त प्राणी अंधकार में लीन हो जाते हैं और परस्पर एक-दूसरे को देख नहीं सकते, जिस प्रकार थोड़े जल से युक्त तड़ाग में मछली और बहेलिये के भय से रहित स्थान में पक्षी एक दूसरे का नाश करते हुए निर्विघ्न विचरण करते हैं तथा आक्रमण कर अभाव को प्राप्त होते हैं, ठीक उसी प्रकार राजा के अभाव में प्रजा नष्ट हो जाती है और ग्वालों से रहित पशुओं की भांति गहरे अंधकार में इधर-उधर भटक कर नष्ट हो जाती हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि राजा के अभाव में सारे राज्य का नाश हो जाता है और उसकी स्थिति में समस्त जगत् की स्थिति निहित है। ऐसे राजा की कौन पूजा नहीं करेगा।[30] बृहस्पति के मतानुसार राजारहित देश में कृषि, वाणिज्य, लेन-देन, प्रजा-रक्षण आदि कार्य सम्पादित नहीं किए जा सकते। इसलिए वर्णाश्रम-धर्म के सम्यक् पालन के निमित्त नेता का निर्माण पहले ही से किया गया। राजा के भय से ही लोग अपने-अपने धर्म के अनुसार आचरण करते हैं। शुक्र के मत में यदि प्रजा का नेता राजा न हों तो प्रजा इस प्रकार विपत्ति में मग्न हो जाती है जिस

प्रकार बिना कर्णधार के समुद्र में नौका डूब जाती है। प्रजापालक राजा के बिना प्रजा अपने कर्तव्यों पर स्थित नहीं रह सकती। यही नहीं इस पृथ्वी तल पर बिना राजा के प्रजा किंचित् भी शोभित नहीं होती। राजा राज्य रूपी शरीर का शीर्ष माना गया है।[31] कामंदकीय नीतिसार में राजा को राज्य का मूल कहा गया है।[32]

उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि अराजकता का आवश्यक परिणाम मत्स्य-न्याय, अव्यवस्था और धर्म का लोप था। इन बुराइयों को दूर कर सुव्यवस्थित एवं सुसंगठित समाज की स्थापना के लिए ही प्राचीन भारतीय आचार्यों ने राज्य की आवश्यकता एवं महत्व का प्रतिपादन किया है।

राज्य के कार्य

प्राचीन भारतीय आचार्यों ने राज्य के कार्यों का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। राज्य की आवश्यकता के कारणों की चर्चा से स्पष्ट होता है कि प्रजा की रक्षा करते हुए शान्ति तथा सुव्यवस्था और प्रजा के सर्वांगीण विकास के लिए आदर्श वातावरण की स्थापना के लिए ही राज्य की उत्पत्ति हुई थी। इससे अनुमान होता है कि आधुनिक राज्यों की भांति प्राचीन भारतीय राज्य भी सम्भवतः दो प्रकार के कार्य करते थे—आवश्वक और ऐच्छिक। न्याय-व्यवस्था, विभिन्न आपत्तियों एवं स्वतन्त्रता की रक्षा आदि आवश्यक कार्य माने जाते थे।[33]

वैदिक काल में राज्य, बाहरी शत्रुओं का प्रतिकार और आन्तरिक-व्यवस्था और समाज-परम्परा की रक्षा करता था।[34] अलतेकर के अनुसार राज्य के कार्य-क्षेत्र में मनुष्य जीवन के धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक सब क्रियाकलाप आते हैं। देश की प्राकृतिक सम्पत्ति और साधनों के विकास के लिए जंगलों और खानों का विकास करना तथा उद्योग-व्यवसाय आदि को उन्नतिशील बनाना राज्य का कार्य होता था। मौर्य एवं गुप्तकाल में उपरि-निर्दिष्ट सभी कार्य होते थे।[35]

ऐच्छिक कार्यों के अन्तर्गत सम्भवतः लोकोपकारी कार्य आते हैं। याज्ञवल्क्य ने राज्य के ऐच्छिक कार्यों का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है, किन्तु अन्य सहायक-ग्रंथों से इस पर प्रकाश डाला जा सकता है। चिकित्सा की व्यवस्था, यातायात की सुविधा, कुएं, जलाशय, सड़कों और पुलों का निर्माण आदि ऐच्छिक कार्य के अन्तर्गत आते हैं। राज्य द्वारा इन कार्यों का सम्पादन करने के अनेक ऐतिहासिक साक्ष्य मिलते हैं। मौर्य सम्राट अशोक ने अपने शासन-काल में अनेक लोक हितकारी कार्य किए। उसके द्वितीय अभिलेख से इस बात की सूचना मिलती है कि देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने मनुष्य और पशु-चिकित्सा का प्रबन्ध किया। जहां-जहां औषधियां नहीं थीं, वहां उन्हें लाया और लगाया गया। इसी प्रकार रुद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख में सुदर्शन झील का इतिहास वर्णित है। इसका निर्माण चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में वैश्य पुष्यगुप्त नामक प्रान्तीय अधिकारी एवं पुनरुद्धार अशोक के गवर्नर यवन राज तुषास्य ने कराया था।[36] इसके उपरान्त इसका जीर्णोद्धार रुद्रदामन ने तथा उसके उपरान्त

स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य ने भी कराया था। खारवेल के हाथी गुम्फा अभिलेख से इस बात की सूचना मिलती है कि अभिषिक्त राजा ने प्रथम वर्ष में क्षतिग्रस्त गोपुर एवं प्राकार-निवास का संस्करण कराया। कलिंग नगरी खिवीर तथा शीतल तड़ागबन्धों को बनवाया समस्त बाग-बगीचों को लगवाया और 1135 मुद्राएं व्ययकर प्रजा का मनोरंजन किया।[37] याज्ञवल्क्य के अनुसार राज्य की ओर से राजा ब्राह्मणादि को भोग के लिए धन देता था। ब्राह्मण, ताम्बूलिक-श्रेणी, गण और जनपद को अपने धर्म से भ्रष्ट होने पर राज्य या राजा उन्हें दण्ड देकर पुन: स्वधर्म का परिपालन करने के लिए बाध्य करता था। लोगों के मनोविनोद के लिए राज्य की ओर से द्यूत एवं प्राणीद्यूत की व्यवस्था की गयी थी।[38]

प्राचीन भारतीयों ने राज्य को व्यापक अधिकार इसलिए नहीं दिए थे कि वे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का महत्व न जानते थे वरन् इसलिए कि वे जानते थे कि राज्य ही विविध-हितों का समन्वय तथा विभिन्न परस्पर विरोधी स्वार्थों का सामंजस्य करके समाज का सबसे अच्छा सम्मान कर सकता है, खास करके जब राजकर्मचारी जनसंस्थाओं के पूरे सहयोग से काम करें।[39]

अत: कहा जा सकता है कि प्रजा के हित में ही राज्य का हित निहित था। इसलिए राज्य उन कार्यों की ओर विशेष ध्यान देते थे जो राज्य की रक्षा तथा प्रजा की सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक उत्थान के लिए आवश्यक था।

राज्य का स्वरूप

प्राचीन भारतीय आचार्यों ने राज्य की कल्पना सप्तांगों के रूप में की है। याज्ञवल्क्य के अनुसार राजा, अमात्य, जन, दुर्ग, कोश, दण्ड (सेना) और मित्र—ये सात राज्यांग हैं। इन्हें प्रकृति भी कहा गया है। मनु का सप्तांग-वर्णन याज्ञवल्क्य के समान है, परन्तु उन्होंने जन तथा दुर्ग के स्थान पर पुर तथा राष्ट्र का उल्लेख किया है। मनु के इस उल्लेख में सम्भवत: पुर दुर्ग के लिए एवं राष्ट्र जन के लिए प्रयुक्त है। नारदस्मृति से मात्र इतनी सूचना मिलती है कि राज्य के सात अंग होते हैं।[40]

मनु तथा याज्ञवल्क्य में प्राप्त होने वाले अन्तर का विशेष महत्व नहीं है। मनु द्वारा बताया गया पुर नामक अंग राजधानी का द्योतक है तथा राष्ट्र राज्य या जनपद के लिए प्रयुक्त है। इन दोनों स्थान पर याज्ञवल्क्य ने जन नामक अंग रखा है। परन्तु मनु ने दुर्ग को सप्तांग की सूची में अलग स्थान न देते हुए भी उसके ऊपर पर्याप्त विचार किया है। अतएव यह कहा जा सकता है कि दोनों का अन्तिम निष्कर्ष एक ही हो जाता है।[41] विष्णुधर्म सूत्र के अनुसार राज्य के सात अंग-स्वामी, अमात्य, दुर्ग, कोश, दण्ड, राष्ट्र तथा मित्र होते हैं। गौतम धर्म सूत्र के अनुसार राज्य, स्वामी, अमात्य, सुहृद (मित्र), दुर्ग, कोश, दण्ड तथा जन द्वारा निर्मित है।[42]

कौटिल्य ने राज्य के इन अंगों को स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोश, दण्ड तथा मित्र माना है। राज्य के इन अंगों को वह सप्त प्रकृतियां मानते हैं।[43] महाभारत के शान्तिपर्व में भी सप्तांग-राज्य की कल्पना की गई है। ये सात अंग आत्मा, अमात्य, कोश, दण्ड, मित्र जनपद, और पुर बताये हैं।[44] पुराणों में भी राज्य का वर्णन सप्तांग के रूप में किया गया है। मार्कण्डेय पुराण के एक प्रसंग में नगर राज्य की समता शरीर से की गई है। मत्स्यपुराण तथा अग्निपुराण में भी राज्य के सप्तांगों का वर्णन किया गया है।[45] बृहस्पति-स्मृति में राज्य को सप्त-प्रकृति युक्त माना है। इनके अनुसार भी राज्य सप्त-अवयवों द्वारा निर्मित है। शुक्रनीति में भी राज्य को सप्तांग-राज्य के नाम से सम्बोधित किया गया है। इनके नाम हैं स्वामी, अमात्य, सुहृद, कोश, राष्ट्र और बल। शुक्र ने राज्य की समता मानव शरीर के सात अंगों से की है। शुक्रनीति के एक अन्य प्रसंग में राज्य की तुलना वृक्ष से की है।[46] कामन्दकीय नीतिसार भी राज्य के सात अंगों को स्वामी, अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोश, बल और सुहृद के नाम से सम्बोधित किया है।[47]

आधुनिक विद्वानों ने भी राज्य के सप्तांगों के आधार पर ही राज्य की परिभाषा दी है। सिजविक ने लिखा है कि राज्य का तात्पर्य व्यक्तियों के एक ऐसे समूह से है, जो यदि अन्य किसी रूप में एक न हो, तो कम से कम अपनी सरकार के प्रति आस्थावान हो और उसकी आज्ञा का पालन करते हों, सरकार या शासन-तंत्र का एक प्रदेश विशेष पर अपना अधिकार हो तथा समाज में रहने वाले व्यक्तियों की संख्या अपर्याप्त न हो, यद्यपि यह सदस्य संख्या निश्चित रूप से निर्धारित नहीं की जा सकती है।[48] इस प्रकार सिजविक के अनुसार सरकार, भूखण्ड तथा जनता राज्य के तत्त्व हुए। ब्लुंशली के अनुसार राज्य के भूखण्ड, जनता, एकता और संगठन ये चार तत्त्व हैं।[49] शर्मा के अनुसार संगठन, सत्ता, भूमि या प्रदेश और जनसंख्या राज्य के आवश्यक अंग हैं, जो क्रमशः अमात्य, स्वामी, जनपद के साथ तुलनीय हैं। शेष अंग (दुर्ग, कोश और दण्ड) संगठन के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं।[50] अलतेकर के अनुसार भूप्रदेश, जनता और केन्द्रीय सरकार राज्य के आवश्यक अंग हैं। केन्द्रीय सरकार में प्रभुता और वैधानिक व्यक्तित्त्व अवश्य होना चाहिए। इन घटकों की यदि हम सप्तांगों से तुलना करें तो यह दिखाई देगा कि स्वामी और अमात्य केन्द्रीय शासन के स्थान में हैं, उनमें राज्य का प्रभुत्व केन्द्रित रहता था और वे राज्य को एक सूत्र में गूंथते थे। राष्ट्र (भूप्रदेश), दुर्ग, सेना और कोष राज्य के शासन-सामग्री थे।[51]

सप्ताङ्ग

राजा, अमात्य, कोश इन तीन अंगों का विस्तार के साथ उल्लेख अन्यान्य अध्यायों में किया गया है। शेष अंगों का उल्लेख निम्नलिखित है।

जन—राज्य के सप्तांगों में मनु ने याज्ञवल्क्य द्वारा उल्लिखित जन के स्थान पर "राष्ट्र" का उल्लेख किया है। नीतिसार में एक स्थान पर राष्ट्र के स्थान पर प्रजा का उल्लेख भी मिलता है।[52] इससे ज्ञात होता है कि राष्ट्र, जन और प्रजा शब्द पर्यायवाची थे। इन्हें राज्य के एक अंग विशेष का बोधक माना जाता था। मनु के राष्ट्र शब्द की टीका करते हुए मित्र का कथन है कि राष्ट्र में रक्षा स्थान होने चाहिए।[53] जनपद की विशेषताओं का वर्णन कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी ज्ञात होता है। उनके अनुसार जनपद की सम्पत्ति के अन्तर्गत अच्छी जलवायु, व्रज, शीघ्र-कृष्या भूमि, उद्योगी-किसान, अर्थ तथा दण्ड (प्रशासन) वहन करने में समर्थ, भक्त, शुचि एव कर्तव्यपरायण प्रजा या जन अनिवार्य थे।[54] जनपद का अर्थ है जन (कबीले) के रहने का स्थान अर्थात् राज्य के अधीनस्थ भू-भाग (Territory) जिसका बोध सम्भवत: राष्ट्र शब्द से अधिक अच्छी प्रकार होता है। जन का अर्थ जनसंख्या से है, परन्तु अर्थशास्त्र में जनपद शब्द को जिस प्रकार परिभाषित किया गया है, वह भूमि तथा जनसंख्या दोनों का ही द्योतक है।[55]

दुर्ग—दुर्ग का प्राचीन काल में रक्षात्मक दृष्टि से बड़ा महत्त्व था। भारतीय संदर्भ में दुर्ग का निर्माण एवं उसका सैनिक-उपयोग वैदिक-काल से ही ज्ञात है।[56] इसी कारण यह राज्य के सप्तांग में रखा गया है। मनु ने दुर्ग को राष्ट्र से भी अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। इसी कारण उन्होंने पुर अथवा दुर्ग को राष्ट्र के पूर्व स्थान दिया है। याज्ञवल्क्य दुर्ग के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि दुर्ग राजवंश, राज्य की प्रजा, राजकोष और मित्र की रक्षा और आश्रय के साधन थे।[57]

कामन्दक का मन्तव्य है कि दुर्गहीन राजा की स्थिति वैसी ही होती है जैसी तेज वायु के सामने बादलों की।[58] अतएव नगर, धन-सम्पत्ति तथा जीवन की सुरक्षा की दृष्टि से नगरों को पत्थर की दीवारों से घेर कर रखा जाता था।[59] अनेक दुर्गों का स्वामी (राजा) अपनी प्रजा के अतिरिक्त अपने शत्रुओं का भी आदर प्राप्त करता है।[60] मनु की सम्मति है कि दुर्ग में स्थित एक सैनिक सौ सैनिकों को पराजित कर सकता था।[61]

कौटिल्य की धारणा है कि दुर्ग में कोष और सेना सुरक्षित रहती है। दुर्ग से ही तुष्णी-युद्ध, सेना पर नियंत्रण तथा अटविक जातियों की पराजय सम्भव है। दुर्ग के अभाव में कोष शत्रु के हाथ लग जाता है। दुर्ग-युक्त राजा को विजित करना कठिन है।[62] महाभारत के अनुसार दुर्ग का सहारा लेकर सम्पन्न राजा शत्रु के समूचे देश को सन्तप्त कर सकता है। शत्रुओं से त्रस्त विराट पुत्र श्वेत ने दुर्ग में शरण ली थी।[63]

चौथी शताब्दी ई० पू० में सभी राज्यों की राजधानियों में सुरक्षात्मक किलेबन्दी की गयी थी।[64] उस समय नगरों को दीवालों से सुरक्षित रखा जाता था और दीवालों के भीतर दरवाजों और मीनारों से युक्त किलेबन्दी की जाती थी।[65] मुसल-

मान इतिहासकार भारत के दुर्गों, विशेषकर गिरिदुर्गों से, अधिक प्रभावित हुये थे। उन्होंने कालिंजर, रणथम्भौर और ग्वलियर आदि दुर्गों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।[66]

याज्ञवल्क्य दुर्गों के प्रकार के विषय में मौन हैं। इससे लगता है कि उन्होंने मनु के दुर्ग भेदों का ही समर्थन किया है। मनु के छः प्रकार के दुर्ग बताए हैं—धनुदुर्ग महीदुर्ग, जलदुर्ग, वृक्षदुर्ग, गिरिदुर्ग तथा नृदुर्ग। महाभारत,[67] मत्स्यपुराण, अग्निपुराण, विष्णुधर्मसूत्र, आदि में भी छः प्रकार के दुर्गों का वर्णन है।[68] इसके विपरीत कौटिल्य में चार प्रकार के ही दुर्गों का उल्लेख है।[69] सम्भव है कौटिल्य के समय तक चार प्रकार के ही दुर्ग बनते रहे हों। उनके बाद ही कभी अन्य दो प्रकार के दुर्गों का निर्माण आरम्भ हुआ होगा। कौटिल्य तथा मनु ने सभी दुर्गों में गिरिदुर्ग को श्रेष्ठ माना है क्योंकि उसे जीतना अत्यन्त कठिन था।[70] पर महाभारत में नृदुर्ग को श्रेष्ठ माना है। याज्ञवल्क्य इस विषय में मौन हैं। दुर्ग धन-धान्य, वाहन, बल, ब्राह्मण, फल और पुष्प, अस्त्र-शस्त्र, देवमन्दिर, अग्निशाला, जल, तथा वृक्षादि से सम्पन्न होना चाहिए।[71] महाभारत में भी इस तरह का विचार व्यक्त किया गया है।[72] नीतिवाक्यामृत में आवश्यक सामग्री से हीन दुर्ग को कारागार के समान बताया गया है।[73] इससे स्पष्ट है कि दुर्ग में आवश्यक सामग्री का सदैव रहना अत्यन्त आवश्यक था।

याज्ञवल्क्य-स्मृति में वर्णित दुर्ग के महत्त्व का स्पष्टीकरण प्राचीन एवं पूर्वमध्यकालीन साक्ष्यों से भी होता है।

दण्ड (सेना)—याज्ञवल्क्य ने सेना या दण्ड को राज्य की सप्तप्रकृतियों में स्थान दिया है। आन्तरिक विद्रोह तथा बाह्य आक्रमणों से राज्य की सुरक्षा के लिए सेना की उचित व्यवस्था आवश्यक थी। प्राचीन भारत में सेना के लिए 'बल' एवं 'दण्ड' दोनों ही शब्द प्रयुक्त होते थे। अर्थशास्त्र में सैन्यबल को दण्ड की संज्ञा दी गयी है।[74] शुक्र ने सैन्य-बल को बहुत महत्वपूर्ण माना है। उनका विचार है कि जिस राजा के पास नीति और सैन्य-बल होता है उसके पास लक्ष्मी स्वयं दौड़कर आती हैं। महाभारतकार ने दण्ड के दो स्वरूपों का उल्लेख किया है—प्रकाश तथा गुप्त सेना अथवा बल उसका प्रकाश रूप है। कामन्दक सेना और कोष दोनों को राज्य का बल मानते हैं। वास्तव में वे सेना को ही विशेष महत्व देते हैं।[75] प्राचीन भारत में सेना चार प्रकार की होती थी, इसलिए उसे चतुरंग बल कहते थे। जिनमें पदाति सेना, रथ, हाथी और घोड़े सम्मिलित थे।[76] खारवेल की चतुरंगिणी सेना में भी रथ, अश्व, हस्ति तथा पदाति सैनिक थे।[77] सेना का सर्वोच्च अधिकारी राजा स्वयं होता था और उसके नीचे सेनापति।[78]

मनु का कथन है कि हाथी, घोड़ा, रथ और पदाति दश अंके का स्वामी "पत्तिक" कहा जाता था, दश पत्तिकों का स्वामी सेनापति तथा दश सेनापतियों का स्वामी 'बलाध्यक्ष' कहा जाता था।[79] जिस व्यक्ति में सभी विशिष्ट गुण (सम्भवतः

सैन्य) विद्यमान हों उसी को प्रधान सेनापति बनाना चाहिए। योग्य सेनापति के अभाव में बड़ी से बड़ी सेना भी युद्धभूमि में चीटियों की पंक्ति के समान तितर-बितर हो जाती है।[80]

इसी कारण राजनीति के आचार्यों ने इसकी योग्यता एवं गुणों का विस्तृत वर्णन किया है।[81] बाण ने बलाधिकृत,[82] महाबलाधिकृत[83] और सर्वश्रेष्ठ सैनिक अधिकारी को महासन्धिविग्रहिक।[84] बतलाया है। महाभारत में सेनापति के अधीन सेना के विभिन्न अंगों के अधिकारी होते थे। इनको मुख्यतया बल-मुख्य कहा जाता था। उद्योगपर्व में रथ-यूथप, तथा विराटपर्व में वारण-यूथप एवम् अश्वाधिकृत का उल्लेख है।[85] गुप्तकाल में सेना के अध्यक्ष को महाबलाधिकृत तथा यादव राज्य में महाप्रचण्ड दण्डनायक कहा जाता था।[86]

सेना के अंग—याज्ञवल्क्य ने चार प्रकार की सेना का उल्लेख किया है। इसके अन्तर्गत पदाति, अश्व, गज तथा रथ आते हैं।[87] महाभारत से ज्ञात होता है कि रथ, हाथी, अश्व, पदाति के साथ ही विष्टि, नौकर, चर तथा उपदेशक भी सेना के अंग के रूप में रखे जाते थे।[88] याज्ञवल्क्य ने सेना के केवल चार अंगों का उल्लेख किया है। उन्होंने सम्भवत: केवल युद्ध में लड़ने वाली सेना के ही अंगों का उल्लेख किया है। इसमें भार-वाहक एवं अन्य सहायक अंगों का स्वतंत्र उल्लेख नहीं किया है। समुद्रतटवर्ती न होने के कारण सम्भवत: जल सेना का उल्लेख भी नहीं किया है।[89]

1. पदाति-सैनिक—चतुरंगिणी-सेना के प्रथम अंग पदाति-सैनिक थे। ये सैनिक युद्ध भूमि में पैदल ही शक्ति, गदा, तलवार और ढाल आदि से युद्ध करते थे।[90] पदाति-सेना के कवच तथा अस्त्र-शस्त्र विभिन्न प्रकार के होते थे। अस्तु जिस सेना में पदाति सैनिकों की संख्या अधिक होती है उसे दृढ़ और ठोस माना गया है।[91] कौटिल्य ने पदाति सेना के छ: भेद बताये हैं, यथा—मौल, भृत्य-श्रेणी, मित्र-अमित्र, और आटविक।[92] इसी तरह का विचार सोमेश्वर ने भी प्रतिपादित किया है। रामायण से मौल, भृत्य, मित्र और आटवी इन चार प्रकार के पदाति सैनिकों की सूचना मिलती है।[93] महाभारत में भी मौल, भृत्य, अटवी तथा श्रेणी बल का उल्लेख है। मौल तथा मित्र सैनिकों को भारत में श्रेष्ठ माना है।[94] बलभी के ध्रुवसेन प्रथम के एक दानपत्र से स्पष्ट होता है कि मौल, भृत्य, मित्र तथा श्रेणी सेनाओं द्वारा राज्य-विस्तार करना चाहिए।[95] याज्ञवल्क्य ने मित्र की प्राप्ति सुवर्ण और भूमि के लाभ से भी श्रेष्ठ माना है। सम्भवत: मित्र शब्द का प्रयोग मित्र राजा के साथ-साथ उसकी सेना के लिए भी किया गया है। श्रेणी एवं भृत्य का उल्लेख याज्ञवल्क्य ने भी किया है। भृत्यों को वेतन दिया जाता था।[96] स्पष्ट है कि मित्र, श्रेणी तथा भृत्य प्रकार के सैनिक याज्ञवल्क्य के समय की सेनाओं में भी रहे होंगे।

वंश-क्रम से आयी हुई सेना पैतृक अथवा 'मौल' कहलाती थी। धन देकर एकत्र की गयी सेना भृत्य, मित्र से एकत्र की गयी सेना मित्र, निश्चित समय पर सहायता

देने वाली सेना को श्रेणी, पर्वत एवम् आरण्य प्रदेशों में रहने वाले निषाद, भील्ल, शबर, आदि से सुसंगठित की गयी सेना को आटविक एवं शत्रु सेना से अक्रान्त होकर भागे हुए सैनिक यदि दस्यु-भाव स्वीकार कर लें तो उनके द्वारा संगठित की गयी सेना अमित्र कहलाती थी।[97] याज्ञवल्क्य-स्मृति में पदाति सेना के भेद का उल्लेख नहीं है। किन्तु अन्य साहित्यिक एवम् अभिलेखीय साक्ष्यों में इसके भेद-प्रभेद आदि का उल्लेख मिलता है।

(2) **अश्व सेना**—याज्ञवल्क्य अश्वसेना का उल्लेख करते हैं। अश्वसेना चतुरंगिणी सेना का एक महत्त्वपूर्ण अंग थी।[98] अश्व को युद्ध की शिक्षा दी जाती थी। उन पर पताका धारी सैनिक बैठते थे। सिन्ध देश के घोड़े बहुत प्रख्यात थे और युद्धक्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य करते थे।[99] अश्वारोही सैनिक बड़े चुस्त तथा फुर्तीले होते थे। अश्व सेना का सर्वश्रेष्ठ अधिकारी महाश्वपति या अश्वपति होता था।[100] सोमेश्वर के अनुसार सुशिक्षित सैन्धव, यवन तथा कम्बोज अश्वों से सम्पन्न सेना श्रेष्ठ होती।[101] बारहवीं शताब्दी में घोड़ों का अत्यधिक मान था। इसका प्रमाण गोदावर मिश्र के हरिहर चतुरंग नामक ग्रन्थ से भी मिलता है। यह ग्रन्थ बारहवीं शदी के अन्त का है।[102]

महाभारत में शल्य तथा कृष्ण का नाम महत्त्वपूर्ण अश्वारोहियों में लिया गया है। युद्ध के समय अश्वों को मदिरापान कराया जाता था, जिससे वे द्रुतगति वाले तथा उत्साही बने रहें।[103] तुरंगों से धर्मार्थ-काम की सिद्धि, पृथ्वी तथा लक्ष्मी प्राप्त होती है साथ ही यश तथा दिग्विजय की उपलब्धियां भी होती हैं।[104]

एक अन्य स्थल पर अश्व-शास्त्र के आचार्य नकुल कहते हैं कि युद्धक्षेत्र के लिए अश्व अत्यन्त आवश्यक हैं। उनके बिना सेना उसी प्रकार श्रीहीन है जैसे चन्द्र के अभाव में रात्रि और पति-रहित पतिव्रता भार्या।[105] इस प्रकार सैन्य-व्यवस्था में अश्व-सेना का स्थान महत्त्वपूर्ण रहा होगा। इन अश्वारोही सेना के इस महत्त्व के साहित्यिक उल्लेख के बावजूद ऐसा लगता है कि प्राचीन भारतीय राजा अश्वसेना को उतना महत्त्व नहीं देते थे। यही कारण है कि बाहरी आक्रामकों के घुड़सवार सैनिकों से वे समय-समय पर पराजित होते रहे।

(3) **गज सेना**—याज्ञवल्क्य ने गज सेना का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। चतुरंगिणी सेना में गज-सेना का अत्यधिक महत्त्व था। गज विषयक अनेक प्रसंग वेदों में मिलते हैं। ऋग्वेद के दसवें मण्डल में युद्ध करते हुए दो हाथियों का वर्णन है।[106] हस्ति-सेना के अधिकारी को "हस्ताध्यक्ष" कहा जाता था।[107] गज-रण में अपने पक्ष की सदैव रक्षा करते हैं और शत्रु के दल का सर्वनाश करते हैं। जिस प्रकार दुर्ग को तोड़ना एवं उस पर विजय प्राप्त करना कठिन होता है उसी प्रकार इन्हें भी शत्रु सेना शीघ्रता से विनष्ट नहीं कर पाती।[108] यह उनकी एक महत्त्वपूर्ण विशेषता थी। प्राचीन भारतीय सेना गजारोही सेना पर इसीलिए अधिक निर्भर रहती थी।

शत्रु पक्ष पर विजयश्री प्राप्त करने के लिए हस्तिसेना का महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। गजों को सेना का आभूषण माना गया है।[109] महाभारत के युद्धक्षेत्र में प्रत्येक गज पर सात सैनिक थे, उनमें से दो पुरुष अंकुश लेकर महावत का कार्य करते थे। शेष पांच सैनिकों में दो धनुर्धारी, दो असिधारी तथा एक शक्ति और त्रिशूलधारी होते थे।[110] हाथियों को युद्ध के लिए प्रशिक्षित किया जाता था। अशिक्षित हाथी को धन और प्राणों का नाश करने वाला कहा गया है।[111] इसी तरह का विचार महाभारत में भी व्यक्त है।[112] हाथियों का प्रयोग किले का फाटक तोड़ने के लिए भी किया जाता था।[113]

(4) **रथ सेना**—याज्ञवल्क्य ने रथ सेना का भी उल्लेख किया है। युद्ध में रथ का प्रयोग प्राचीन काल से ही होता आया है। अथर्ववेद में इन्द्र द्वारा केशिन् के रथ पर आक्रमण करने का उल्लेख है।[114] रामायण तथा महाभारत काल में रथों का प्रयोग अधिक मात्रा में होता था।[115] कौटिल्य ने देवरथ, पुष्परथ, सांग्रामिक, पारियाणिक, परपुराभिगामिक तथा वैमानिक आदि विभिन्न प्रकार के रथों का उल्लेख किया है। महाभारत से ज्ञात होता है कि बड़े-बड़े योद्धाओं के रथ में चार घोड़े जुतते थे।[116] पुराणों में कहीं-कहीं पांच घोड़े जोते जाने की सूचना भी मिलती है।[117] रथ-सेना के प्रधान अधिकारी को रथाधिपति कहा जाता था।[118] सम्भवत: आठवीं शताब्दी से युद्ध में रथों का प्रयोग बन्द हो गया।[119]

याज्ञवल्क्य के समय में सेना का स्वरूप अत्यन्त सुसंगठित एवं सुव्यवस्थित था। विजयश्री एवं लक्ष्मी की प्राप्ति के लिए इसी तरह की चतुरंगिणी सेना की व्यवस्था करना राजा का महत्त्वपूर्ण कर्तव्य होता था। क्योंकि इसी से राष्ट्र की आंतरिक एवं बाह्य सुरक्षा तथा साम्राज्य की सीमा का विस्तार सम्भव था।

सेना का निरीक्षण—याज्ञवल्क्य के मत में राजा को सेना का निरीक्षण प्रतिदिन करना चाहिए। सेनापतियों के साथ उसे देशकालोचित समस्याओं पर विचार-विमर्श भी करना पड़ता था। मनु के अनुसार राजा शस्त्रधारी सैनिकों, हाथी, अश्व, रथ आदि वाहनों तथा असि, तोमर, कुन्तादि अस्त्र-शस्त्रों एवं सभी प्रकार के आभूषणों का निरीक्षण करता था।[120] राज्य एवं राजा के विकास के लिए सेना का अत्यधिक महत्त्व था इसलिए केवल सेनापतियों पर ही सब कुछ न छोड़कर राजा स्वयं सेना के सभी अंगों एवं अस्त्र-शस्त्रों का प्रतिदिन निरीक्षण करता था। इस दैनिक निरीक्षण का तात्पर्य सम्भवत: यह था कि सेना सदैव युद्ध के लिए पूरी तरह तैयार एवं प्रशिक्षित रहे और उसमें किसी प्रकार की कमी न आने पाए।

युद्ध-अभियान – शुक्र के अनुसार जब दो राजाओं में शत्रु-भाव उत्पन्न हो जाता है और दोनों अपनी-अपनी विजय के लिए संघर्षशील हो जाते हैं, तो ऐसी विशेष अवस्था को युद्ध कहते हैं।[121] एस० वी० विश्वनाथ का कहना है कि ग्रीस व रोम की भांति भारत में भी युद्ध जंगलियों व शत्रुओं को नष्ट करने के लिए एक यन्त्र क

समान था। इन्द्र ने युद्ध की उत्पत्ति दस्युओं को नष्ट करने के लिए की थी तथा आत्मरक्षा के लिए कवच भी बनाया था।[122] मनु ने युद्ध अभियान का नियम इस प्रकार प्रतिपादित किया है—चतुरंगिणी सेनाओं से युक्त राजा फाल्गुन या चैत्र मास में शत्रु राजा पर चढ़ाई करें।[123] याज्ञवल्क्य का कथन है कि जब शत्रु का राज्य अन्नादि से समृद्ध हो, शत्रुपक्ष की सेना निर्बल एवं अस्त-व्यस्त हो तथा अपनी सेना के अश्व, गज, रथ आदि वाहन एवं सैनिक उत्साही तथा प्रसन्नचित्त हो तब आक्रमण करना चाहिए। जब शत्रु पक्ष के आमात्य व्यसन आदि में हों तब ग्रीष्म-ऋतु तथा अन्य समय में शत्रु राजा पर चढ़ाई करना चाहिए।[124] युद्ध के लिए सैनिक प्रयाण करने के पूर्व ज्योतिषी व राज पुरोहित द्वारा शुभ-मुहूर्त का निर्धारण किया जाता था।[125] मार्ग-प्रदर्शन के लिए योग्य गुप्तचरों का होना भी आवश्यक माना जाता था।[126]

सेना के अग्रभाग में अस्त्र-शस्त्र सज्जित पदाति सैनिक, पृष्ठ भाग में रथ, सैनिक तथा मध्य भाग में अन्तःपुर की स्त्रियां रखी जाती थीं। सेना के उत्साहवर्धन के लिए शंख, भेरी, दुंदभी आदि वाद्य बजाये जाते थे। सेना मंथर गति से विश्राम करती हुई गन्तव्य-स्थान की ओर बढ़ती थी।[127]

युद्ध का धार्मिक महत्त्व—प्राचीन भारत में युद्ध को धार्मिक-कृत्य के समान समझा जाता था। अतः युद्ध के नियमों का धर्मानुकूल होना स्वाभाविक था। याज्ञवाल्क्य ने धर्मानुकूल युद्ध के जिन विधि-विधानों का वर्णन किया है, वे नियम संग्राम के समय योद्धाओं द्वारा परिपालित होते थे। याज्ञवल्क्य का कथन है कि नपुंसक, शस्त्र-हीन, दूसरे के साथ युद्ध में संलग्न, युद्ध से निवृत्त, युद्ध देखने के उद्देश्य से आये हुए व्यक्ति तथा मैं तुम्हारा हूं ऐसा कहने वाले को नहीं मारना चाहिए। इसके अतिरिक्त सोते हुए सैनिकों को नहीं मारना चाहिए। आयुध विहीन, युद्ध न करते हुए बहुत घायल, डरे हुए, तथा युद्धभूमि से भागते हुए को भी नहीं मारना चाहिए।[128] इस तरह का विचार महाभारत[129], रामायण[130], शुक्रनीति[131] आदि ग्रन्थों में भी मिलता है।

अस्त्र-शस्त्र के प्रयोग पर भी नियन्त्रण था। साधारण अस्त्र-शस्त्र के प्रयोग से युद्ध करना न्यायोचित माना जाता था। भयानक अस्त्र-शस्त्र का प्रयोग नैतिक नियमों के विरुद्ध था। युद्धभूमि में शत्रुओं को कूट-आयुधों से मारना वर्जित था। विष में बुझे बाण तथा ऐसे बाण जिसके अग्रभाग में अग्नि प्रज्वलित का प्रयोग भी निषिद्ध था।[132]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि तद्‌युगीन युद्ध का स्वरूप सर्वथा भिन्न था। येन-केन-प्रकारेण विजय प्राप्ति का सिद्धान्त प्रचलित नहीं था। युद्ध यौद्धिक नैतिकता की सीमा में ही सामान्यतया होने का विधान था। किन्तु प्राचीन काल में इस यौद्धिक नैतिकता का पालन किस सीमा तक व्यवहारतः होता था, कहना कठिन है। सम्भवतः इसके उल्लंघन भी होते रहे होंगे, किन्तु सैद्धान्तिक स्तर पर युद्ध सही एवं

गलत के दृष्टिकोण पर आधारित था। फलतः धर्म की विजय के लक्ष्य को दृष्टि में रखकर ही यौद्धिक सिद्धान्त प्रतिपादित लगते हैं। याज्ञवल्क्य तथा मनु ने धर्म युद्ध को ही प्रधानता दी है। कौटिल्य ने भी धर्मयुद्ध का समर्थन किया है।"[133]

व्यूह—याज्ञवल्क्य ने व्यूह रचना का उल्लेख नहीं किया है किन्तु अन्य ग्रंथों में इसका उल्लेख किया गया है। युद्धभूमि में सैनिक किस क्रम से स्थापित किये जाते थे इसका भी विवरण मनुस्मृति से प्राप्त होता है। मनु की सम्मति है कि दण्डव्यूह, शकटव्यूह, वराहव्यूह, मकरव्यूह, सूचीव्यूह, गरुड़व्यूह, पद्मव्यूह आदि बनाकर युद्ध करना चाहिए।[134] औपपातिकसूत्र में चक्रव्यूह, दण्डव्यूह तथा सूचीव्यूह का वर्णन किया गया है।[135] शुक्रनीतिसार तथा वाल्मीकि रामायण[136] में भी व्यूह रचना का उल्लेख है। महाभारत में भी विभिन्न प्रकार के व्यूह तथा प्रतिव्यूह उल्लिखित हैं। सेनापति के लिए व्यूह रचना का ज्ञान अनिवार्य था।[137] भीष्म को देवता, गन्धर्व तथा मानव तीनों ही प्रकार की व्यूह रचना का ज्ञान था।[138]

याज्ञवल्क्यस्मृति मनुस्मृति पर ही आधारित है इसलिए याज्ञवल्क्य ने मनु द्वारा वर्णित व्यूह-रचना का उल्लेख पुनः न करके उनका समर्थन ही किया है।

अस्त्र-शस्त्र—याज्ञवल्क्य-स्मृति में अस्त्र-शस्त्र के विषय में कोई स्पष्ट सूचना नहीं मिलती है। मात्र इतना ही ज्ञात होता है कि युद्ध में सैनिक हथियारों का प्रयोग करते थे। मनु ने ढाल, तलवार, भाला, बर्छा आदि से सैनिकों के युद्ध करने का उल्लेख किया है।[139] धनुर्वेद में आयुधों को चार वर्गों में विभाजित किया गया है। मुक्त, आमुक्त, मुक्तामुक्त और मंत्र-मुक्त। इसमें मुक्त वर्ग के अन्तर्गत बारह प्रकार के आयुध बताये गए हैं। इनमें धनुष-बाण मुख्य हैं। आमुक्त-अस्त्र बीस प्रकार के माने गए हैं। मुक्तामुक्त आयुध के दो भेद होते हैं, सोपसंहार तथा उपसंहार। सोपसंहार अस्त्र 43 तथा उपसंहार 53 प्रकार के हैं। मंत्रमुक्त आयुध भी अन्यान्य प्रकार के थे, इनका प्रयोग मंत्र द्वारा किया जाता था।[140]

समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति से परशु, शंकु, शर, शक्ति, प्रास, असि, तोमर, भिन्दिपाल, नाराच, वैतस्तिक आदि अस्त्र-शस्त्रों की सूचना मिलती है।[141]

युद्ध की सामग्री की देख-भाल, संचय, नवीनीकरण आदि के लिए आयुधागाराध्यक्ष नियुक्त होता था।[142] आयुधाध्यक्ष उपर्युक्त युद्ध-सम्बन्धी वस्तुओं की मांग, पूर्ति, प्रयोग, क्षय-व्यय और हानि का पूरा ज्ञान रखता था।

मित्र या सुहृद

याज्ञवल्क्य ने मित्र को राष्ट्र का अंतिम अंग माना है। उन्होंने मित्र बनाने की आवश्यकता पर बहुत बल दिया है। उनके अनुसार स्वर्ण और भूमि के लाभ से मित्र की प्राप्ति उत्कृष्ट होती है। अतः अच्छे मित्र की प्राप्ति के लिए राजा को प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि मित्र-राज्य युद्ध आदि के समय ससेना शत्रु राज्य को पराजित

करने के लिए पूर्ण सहयोग देते थे। मनु ने भी इसी तरह का विचार व्यक्त किया है। किन्तु कौटिल्य का मत इसके विपरीत है। वे भूमि-लाभ को ही सर्वप्रधान बताते हैं।[143] महाभारत के अनुसार न कोई किसी का मित्र है न शत्रु, मित्र एवं शत्रु धन द्वारा प्राप्त किये जाते हैं। यही बात कामन्दक ने कही है। मनु ने धर्मज्ञ, कृतज्ञ, प्रसन्नचित्त एवं प्रीति करने वाले मित्र को उत्तम माना है। वे बुद्धिमान तथा कुलीन शत्रु को कठिन बताते हैं।[144]

इस प्रकार राजा सेना एवं भूमि पाकर उतना समृद्धशाली नहीं होता जितना कि अटल मित्र पाकर, भले ही वह कम धन वाला हो क्योंकि भविष्य में वह शक्तिशाली हो जायेगा। उपर्युक्त गुणों से सम्पन्न एक दुर्बल-मित्र भी प्रशंसनीय है। फलस्वरूप प्राचीन भारतीय विचारकों ने मित्र को राज्य का एक आवश्यक एवं महत्वपूर्ण अंग माना है।

उपर्युक्त सप्तांगों के सम्मिलित रूप से ही प्राचीन विचारक राज्य की स्थिति मानते थे, इनके द्वारा ही राज्य का स्वरूप स्पष्टतया निर्धारित होता था। इन अंगों में से किसी एक की विकृति का प्रभाव सम्पूर्ण राज्य पर पड़ता था। अतएव स्वस्थ राज्य के लिए यह आवश्यक था कि इनमें विकार न आने पावे। फलत: इस बात का प्रयास किया जाता था कि राज्य के सभी अंग एक-दूसरे के साथ सहयोग करें। अपने-अपने कार्य का भली-भांति निर्वाह करें।

सप्तांगों में परस्पर-सम्बन्ध

याज्ञवल्क्य ने इस विषय में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। मनु के सप्तांगों को अपेक्षाकृत अधिक या कम महत्व का माना है, किन्तु इनके पारस्परिक सहयोग पर ही राज्य का अस्तित्व आधारित माना है। उन्होंने राज्य के अंगों की तुलना संन्यासियों के त्रिदण्ड से की है। जिस प्रकार त्रिदण्ड तभी तक भूमि पर टिक सकता है जब तक तीनों दण्ड एक दूसरे के सहारे टिके रहते हैं, उसी भांति राज्य भी तभी तक सफलतापूर्वक अपना कार्य सम्पन्न कर सकता है जब तक उसके विभिन्न अंग पारस्परिक सहयोग प्रदान करते रहेंगे। अपने-अपने स्थान पर प्रत्येक अंग महत्वपूर्ण हैं।[145] कौटिल्य ने अपने पूर्वाचार्यों का उल्लेख करते हुए कहा है कि वे इन सभी गुणों अंगों के समान महत्व को स्वीकार न करते हुए पर की अपेक्षा पूर्व को अर्थात् मित्र की अपेक्षा सेना, सेना की अपेक्षा कोश, कोश की अपेक्षा दुर्ग, दुर्ग की अपेक्षा जनपद, जनपद की अपेक्षा अमात्य और अमात्य की अपेक्षा स्वामी को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं।[146] महाभारत में इन अंगों को अन्योन्याश्रित होने के कारण समान महत्व का माना गया है। इन सप्तांगों की तुलना तीन दण्डों से की गयी है जो एक दूसरे के सहारे खड़े रहते हैं। जिस प्रकार एक दण्ड को हटाने से उसका सन्तुलन बिगड़ जाता है, उसी प्रकार यह सातों अंग भी अन्योन्याश्रित हैं। इसी प्रकार कामन्दक भी राज्य के अंगों के पारस्परिक-सहयोग को नितान्त आवश्यक मानते हैं।[147]

शुक्र ने प्राचीन-परम्परा के अंग प्रकृति सिद्धान्त को अपनी सहज कल्पना के बल पर एक नूतन स्वरूप प्रदान किया था। उन्होंने राज्य को मानव शरीर का सहधर्मी मानकर राजा को शीर्ष, अमात्य को नेत्र, सुहृद को कान, कोश को मुख, सेना को मन तथा दुर्ग एवं राष्ट्र दोनों को हाथ एवं पैर माना था।[148] शुक्र का यह वर्गीकरण व्यावहारिक एवं प्रयोगात्मक नहीं प्रतीत होता। अलतेकर के अनुसार राज्य-शरीर और प्राकृतिक शरीर की समता पूरी-पूरी नहीं हो सकती। शरीर के विभिन्न पिण्ड और अवयव अलग से नहीं जीवित रह सकते, पर राज्य के कुछ अंग—जैसे दुर्ग और कोश अलग भी रह सकते हैं और इनकी सहायता से नये राज्य की रचना भी की जा सकती है।[149]

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि यद्यपि सभी अंगों का महत्व समान नहीं था क्योंकि जिस समय जिस अंग विशेष से कार्य सिद्धि होती थी, वह अंग उसमें विशिष्ट समझा जाता था तथापि राज्य के लिए सातों अंग की उपस्थिति आवश्यक थी। प्राचीन भारतीय राज्य के विकास एवम् उसके उत्थान में इन सभी अंगों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

राज्य का सावयवस्वरूप

आधुनिक विचार राज्य को सजीव या सावयव संस्थान मानते हैं। जैसे सभी अंगों का एक दूसरे का पूरक होना एक के अभाव में उसका अस्तित्व असम्भव होना, संख्या का विकासशील होना, एक समृद्धि या व्यसन का प्रभाव पूरी संस्था पर पड़ना।[150] प्राचीन भारतीय आचार्यों ने राज्य को सावयव माना अथवा नहीं इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। याज्ञवल्क्य इस विषय में मौन हैं। कुछ विचारकों ने राज्य को उपर्युक्त सभी विशेषताओं से युक्त मानते हुए इसके सावयव-स्वरूप को स्वीकार किया है।[151]

राज्य सावयव-रूप का सिद्धान्त भारतीय मनीषियों के मस्तिष्क की उर्वरता का परिचायक है।[152] प्राचीन भारतीय ग्रंथों (स्मृतियों के पूर्व) से भी यह स्वरूप स्पष्ट है। जायसवाल के अनुसार वैदिक राजतन्त्र में भी यह सावयव रूप विद्यमान था।[153] स्मृतियों के पूर्व भी राज्य के स्वरूप की परिकल्पना सावयववादी थी।[154] शुक्र ने राज्य की तुलना वृक्ष से की है जिसमें राजा जड़, मंत्री तना, सेनापति शाखा, सेना पत्तियां, फल प्रजा, फूल भूमि और बीज है। यह तुलना सर्वथोचित है। वस्तुत: राजा ही राज्य की जड़ है। उसी पर राज्य के समस्त क्रियाकलाप आधारित होते हैं। जिस प्रकार तने के बिना वृक्ष की स्थिति असम्भव है, उसी प्रकार अमात्य के बिना राजा की। क्योंकि मंत्रियों को राज्य-रूपी रथ का चक्र माना गया है।[155] मन्त्रियों की तने से तुलना उचित प्रतीत होती है। जैसे शाखाओं पर पत्तियां और पुष्प लगते हैं। उसी प्रकार सेना भी सेनापति के नेतृत्व में संचालित होती है। इसीलिए सेना-

पति को शाखा और सेना को फूल माना गया है। फलस्वरूप इन उदाहरणों के आधार पर प्राचीन भारत में राज्य के सावयव-स्वरूप की परिकल्पना की जा सकती है। सप्तांगों का त्रिदण्ड के समान अन्योन्याश्रित होना ही राज्य को सावयव रूप प्रदान करता है। याज्ञवल्क्य ने राज्य के तत्वों के लिए अंग अथवा प्रकृति शब्द प्रयुक्त करके ही स्पष्ट कर दिया है कि वे राज्य के सावयव सिद्धान्त में विश्वास रखते थे।[156] अंजारिया के अनुसार यह सावयव का सिद्धान्त अधूरा ही है। उनके अनुसार सावयव-सिद्धान्त की सबसे बड़ी त्रुटि नैतिक-सावयव का अभाव था। उनके अनुसार भारतीय मनीषियों ने राज्य को नैतिकता के क्षेत्र में सावयव-स्वरूप नहीं प्रदान किया था, क्योंकि उन्होंने समाज के एक भाग को स्थायी रूप से हीन पद प्रदान कर दिया था, यह अन्तर केवल जन्म के ही आधार पर था। साथ-ही-साथ व्यक्ति की स्वतन्त्रता और राज्य के अधिकारों में किसी भी प्रकार का समन्वय नहीं था।[157] अंजारिया का उपर्युक्त कथन समीचीन नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि ये सात-अंग राज्यरूपी शरीर के अंग हैं। इनकी अलग-अलग महत्ता है—इसको याज्ञवल्क्य एवं मनु दोनों ने स्वीकार किया है। अतः राज्य के सावयव होने में एक शंका का स्पष्टीकरण हो जाता है। अंजारिया की दूसरी शंका भी न्यायोचित नहीं है, क्योंकि व्यक्ति की स्वतन्त्रता का आधुनिक प्रजातान्त्रिक स्वरूप अति अर्वाचीन है।[158] प्राचीन भारत में व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता थी। राजा प्रजा के साथ पुत्रवत व्यवहार करता था।[159] व्यक्ति अपने आय का एक निश्चित भाग कर के रूप में राजा को देता था। राजा इसके बदले में उसकी पूर्ण सुरक्षा करता था। ऐसा न करने वाला राजा पाप का भागी होता था। ग्रामीक का ग्रामवासियों के बीच अच्छा सम्बन्ध था। वह ग्रामवासियों पर पूर्णतया निर्भर रहता था।[160] ग्रामवासियों के इस सम्बन्ध को देखते हुए तथा राजकीय पदाधिकारियों के विभिन्न अधिकार को देखते हुए व्यक्ति की स्वतन्त्रता व राज्य-शक्ति के बीच सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है। सभी वर्ग एक-दूसरे को हीन-दृष्टि से नहीं देखते थे। चारों वर्ण अन्योन्याश्रित थे। वर्ण-व्यवस्था का सार विभिन्न वर्णों को अपने-अपने अधिकार प्रदान करने में नहीं था वरन् उन वर्णों का अपना ज्ञान करना था—कर्तव्य-बुद्धि के जागृत रहने में ही समाज को भी सावयव रूप मिलता है। इन्हीं कारणों से उपर्युक्त तर्क अनुचित प्रतीत होते हैं।[161]

क्या प्राचीन भारतीय राज्य धर्मनिगडित था ?

अलतेकर के अनुसार धर्मनिगडित राज्य को धर्मगुरु ही राज्य का स्वामी होता है। उदाहरणस्वरूप इस्लामी इतिहास में खलीफा होते थे और आजकल भी वेटिकन राज्य में पोप है। धर्म निगडित राज्य में राजा धर्मगुरुओं का आज्ञाबद्ध नौकर होता है। राजा सम्प्रदाय का अनुचर भी हो सकता है। जैसा आठवीं और नवीं शताब्दी में यूरोप के ईसाई राजा हुआ करते थे। इस काल में पोप और विशप, धर्म के विरुद्ध आचरण करने पर राजा को दण्ड तक देने का दावा करते थे।[162]

प्राचीन भारत में ब्राह्मण पुरोहितों के सहयोग और परामर्श के बिना राजा का अभ्युदय नहीं हो सकता था । याज्ञवल्क्य ने राजा के परामर्श एवं सहयोग के लिए दण्ड और नीति में कुशल ब्राह्मण को पुरोहित बनाने का उल्लेख किया है । गौतम धर्मसूत्र का मन्तव्य है कि राजा का शासन ब्रह्मण वर्ग तक नहीं चल सकता । ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार यदि राजा योग्य ब्राह्मण, पुरोहित की सहायता नहीं लेता तो देवता उसके हवन, पूजा आदि को नहीं ग्रहण करेंगे । राज्याभिषेक के अवसर पर राजा तीन बार ब्राह्मण को नमस्कार करता था और उसका वशवर्ती होना स्वीकार करता था । जब तक वह ऐसा करता था, तब तक ही उसकी समृति होती थी ।[163] ऋग्वेद का कथन है कि जो राजा अपने पुरोहितों का यथोचित आदर एवं सम्मान करता था वह अपने शत्रुओं पर विजय तथा प्रजा की राजनिष्ठा प्राप्त करता था ।[164]

उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण काल के अन्त तक ब्राह्मण पुरोहित राजा पर और उसके द्वारा राज्य पर अपना प्रभाव जमाने का प्रयास करते रहे । इसमें सन्देह नहीं कि बहुत से राजा इसके विरोधी रहे होंगे । ब्राह्मणों को गायें छीनने वाले राजा के लिए जो भयानक शाप उच्चारित किये गए हैं उनके लक्ष्य सम्भवतः ऐसे ही राजा रहे होंगे, जो धर्मगुरुओं के राज्य पर अधिकार जमाने का विरोध कर रहे थे ।[165]

अलतेकर का कथन है कि ब्राह्मणकृत साहित्य में यही दिखाने का प्रयास किया गया है कि राजा और राजतन्त्र ब्राह्मण और धर्मतन्त्र के ही वश में चलते थे । पुरोहित अपने अनुष्ठानों द्वारा राजा और राज्य का इष्ट या अनिष्ट कर सकता था। राज्य का लक्ष्य धर्म की रक्षा करना था । वह जो कानून व्यवहार में लाता था वे ईश्वर कृत या ईश्वर प्रेरित माने जाते थे । ब्राह्मण और पुरोहित अपने को सरकार से श्रेष्ठ समझते थे और वे कर-दान और शारीरिक दण्ड से बरी होने का दावा भी करते थे । प्रजा के धार्मिक क्षेत्र में नियन्त्रण और मार्गदर्शन करना सरकार का कर्तव्य समझा जाने लगा । मौर्यकाल में धर्म महामात्य व विनय स्थिति-स्थापक ऐसे अधिकारी शासन व्यवस्था में चुने जाने लगे ।[166]

उपर्युक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतीय राजतन्त्र कुछ हद तक धर्म-निगडित था । ब्राह्मण-ग्रन्थों में कुछ ऐसे स्थल भी हैं जो उपर्युक्त कथन के बिलकुल विरोधी सिद्ध होते हैं । तैत्तरीय-ब्राह्मण से सूचना मिलती है कि राजा जो चाहता था ब्राह्मण को वही करना पड़ता था । ऐतरेय ब्राह्मण में यह उल्लेख मिलता है कि राजा जब चाहे ब्राह्मण को निकाल सकता था ।[167] बृहदारण्यक-उपनिषद् से ज्ञात होता है कि समाज में सबसे श्रेष्ठ पद क्षत्रिय यानी राजा का था ।[168]

वैदिक-काल में पुरोहित का महत्त्व कम हो गया; समाज से वह समादृत था किन्तु राजा उसके हाथ की कठपुतली नहीं था । इस प्रकार हिन्दू राजतन्त्र ईस्वी सन् के आरम्भ तक धर्मतन्त्र के प्रभाव से करीब-करीब मुक्त हो गया । राजा धर्म का प्रतिपालक और संरक्षक अवश्य था पर इससे राज्य धर्म निगडित नहीं बन गया। उसका काम सब मतों को बराबर समझना और सच्ची धार्मिक-प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देना था । वह किसी विशिष्ट मत का प्रचारक नहीं था न धर्मगुरुओं की कठपुतली था ।

संदर्भ एवं टिप्पणियां

1. मनु०, 7/3।
2. वही, 7/4-7; मत्स्यपुराण, 225/1; बृहस्पति० स्मृ०, 6/7/1।
3. ऋग्वेद, 10/121, 1/32, 15, 1/51, 15, 1/174, 10 आदि।
4. कौटिल्य, 1/9; महा०, शान्ति, 67/41; देखिए, नारद, प्रकीर्णतक, 26।
5. वा० रामायण, कि० श्लोक 24, सर्ग-18।
6. जॉली, अनुवाद, पृ० 113, 114, 115; शुक्र०, 1/71।
7. विष्णु० पु०, 13/21-22; वायुपुराण, 57/72; भागवतपुराण, 4/14/26, 27; विष्णुधर्मोत्तर पुराण, 112/9; विष्णुपुराण, 22/13/1।
8. डी०सी० सरकार, सेलेक्ट इन्सक्रिप्सन्स, पृ० 135, 140, 141; वही, पृ० 1-10, 12, 15, प्लेट 19, 21 (मुद्रा संख्या 23-26।
9. अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति (इलाहाबाद, 1959), पृ० 11-13।
10. मनु०, 7/5; महा०, शान्ति०, 67/40; मनु० 7/14।
11. यू०एन० घोषाल, हिन्दू पोलिटिकल थ्योरीज, (कलकत्ता, 1923), पृ० 67।
12. महा०, शान्ति०, 67/18-28।
13. कौटिल्य, 1/9।
14. दीघनिकाय, भाग-3, पृ० 84-86।
15. अ०स० अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० 23।
16. लीकाक. एलिमेंट्स ऑफ पोलिटिकल साइन्स (लन्दन, 1924), पृ० 28-29।
17. महा०, शान्ति०, 1/11, 92/11 283/18-19।
18. के० पी० जायसवाल, हिन्दू पॉलिटी, (बंगलौर, 1955), पृ० 190-191।
19. भारती, बुलेटिन ऑफ दि कालेज ऑफ इन्डोलाजी (1961-62), पृ० 56-58।
20. लीकाक, एलिमेन्ट्स ऑफ पोलिटिकल साइन्स, (लन्दन, 1924), पृ० 33।

21. अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० 25।
22. ऋग्वेद, 7/116/17। अलतेकर, पूर्वलिखित कृति, पृ० 26।
23. ऋग्वेद, 8/26/3; मैकक्रिडिल, ऐंसियन्ट इण्डिया, पृ० 38।
24. अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० 267।
25. जी०सी० मेंडिस, दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ. सीलोन, कलकत्ता, 1954); पृ० 26।
26. सत्यकेतु विद्यालंकार, प्राचीन भारतीय शासन-व्यवस्था और राजशास्त्र, (दिल्ली, 1975), पृ० 298।
27. याज्ञ०, 1/354, मनु०, 7/20, 17।
28. याज्ञ०, 1/336, 361; अर्थशास्त्र, 1/13/5, 8।
29. रामायण, अयो०, 67/8, 29, 67/12, 15।
30. महा०, शान्ति०, 68/8, 10-13, 37।
31. बृहस्पति-स्मृति, 1/890 1/89, शुक्र नीतिसार, 1/65-66; पृ० 61।
32. कामंदकीय नीतिसार, 17/38।
33. अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० 42, 43।
34. शतपथ ब्राह्मण, 5/3/3/6 और 9।
35. अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० 33-44।
36. डी० सी० सरकार, सलेक्ट इन्सक्रिप्सन्स, पृ० 17-177।
37. डी० सी० सरकार, सलेक्ट इन्सक्रिप्सन्स. पृ० 180, 214।
38. याज्ञ०, 1/315. 361; 2/192, 201-202।
39. अलतेकर, पूर्वलिखित कृति, पृ० 44-45।
40. याज्ञ०, 1/353, मनु०, 9/294, नारद, अ० 17 (18), श्लोक 2 जॉली द्वारा अनूदित।
41. लक्ष्मीदत्त ठाकुर, प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन, पृ० 188-189।
42. विष्णु धर्मसूत्र, 3/33, गौतम धर्मसूत्र, देखिये सरस्वती विलास, पृ० 45।
43. अर्थशास्त्र, 6/1/1, 7/1/66।
44. महा०, शान्ति०, 68/65।
45. मार्कण्डेय पु०, 3/59, 60/61/62/63, मत्स्य पु०, 225/11; अग्नि-पुराण, 233/12।
46. बृहस्पति-स्मृति, 1/23; शुक्रनीतिसार, 1/61-627/125 7-58

47. कामन्दकीय नीतिसार, 1/16।
48. सिजविक, दी डेवलपमेन्ट ऑफ यूरोपीयन पॉलिटी, पृ० 25-27।
49. ब्लुंशली, कोटेड बाइ लीकाक इन हिज एलिमेन्ट्स ऑफ पोलिटिकल साइंस, पृ० 12-13।
50. आर०एस० शर्मा, आस्पेक्ट्स ऑफ पोलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन ऐन्सियन्ट इण्डिया, (बनारस, 1959), पृ० 38-39।
51. अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० 32।
52. कामन्दक नीतिसार, 15/3।
53. राजनीतिप्रकाश, पृ० 248।
54. अर्थ०, 6/1, पृ० 258; कामन्दकीय०, 4/54-55।
55. परमात्मा शरण, प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं समस्याएं, (मेरठ, 1967), पृ० 317।
56. ऋग्वेद, 1/130/7, 2/19/6, 2/4/6।
57. मनु०, 9/294; याज्ञ०, 1/321।
58. काम०, नीतिसार, 4/56।
59. चक्रवर्ती, आर्ट ऑफ वार इन ऐसियन्ट इण्डिया, (ढाका, 1941), पृ० 127।
60. काम०, नीतिसार, 14/30।
61. मनु०, 7/74; शुक्रनीति, 4/859; पंचतंत्र, 1/229 एवं 2/4।
62. अर्थशास्त्र, 8/1।
63. महा० शान्ति०, 58/18, भीष्म०, (गीता), 49/5।
64. चक्रवर्ती, आर्ट ऑफ वार इन ऐन्सियन्ट इण्डिया, (ढाका, 1941), पृ० 131।
65. मैक्क्रिण्डिल, इण्डिया एण्ड इट्स उनवेजन वाई अलेक्जेण्डर, पृ० 145-46, 288।
66. इलियट और डाउसन, हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, 11, पृ० 231, 227, 324-25, 28-29।
67. मनु०, 7/70; महा०, शान्ति, 56/35 तथा 86/4-5।
68. मत्स्यपु०, 217/6-7, अग्निपु०, 222/4-5; बृ०स्मृ०व्य०का०, 1/45 विष्णुधर्मसूत्र, 3/6।
69. अर्थशास्त्र, 2/3/2; वायुपुराण, 8/108 में भी चार प्रकार के ही दुर्ग उल्लिखित है।

70. कौटिल्य, 7/10, 12/13; मनु०, 7/71; शुक्रनीति, 4/854-55।
71. महा०, शान्ति०, 56/35। मनु०, 7/75-76।
72. महा० शान्ति०, 87/4-17; 69/42-56; सभा०; 5/25 याज्ञ०, 2/185।
73. नीतिवाक्यामृत, 20/3।
74. याज्ञ०, 1/353; ऋग्वेद, 10/84; अर्थशास्त्र, 6/1/1।
75. शुक्रनीति, 1/17; महा०, शान्ति, 59/40; नीतिसार, 16/13; 14/35-37।
76. दीक्षितार, हिन्दू एडमिनिस्ट्रेटिभ इन्स्टींट्यूसन्स, पृ० 293
77. दुतिये च वसे अचितयिता सातकर्नि पछिम-दिस हय-गज-नर-रथ-बहुवलं दण्डं पठापयति। डी०सी० सरकार, सेलेक्ट इन्सक्रिप्सन्स, पृ० 207; पतंजलि महाभाष्य, 1/172, पृ० 447; मनु०, 7/102।
78. बलानां दर्शनं कृत्वा सेनान्या सह चिन्तयेत्। याज्ञ०, 1/329।
79. सेनापतिबलाध्यक्षौ सर्वदिक्षु निवेशयेत्। यतश्चभयामाशङ्केत्प्राची तां कल्पयेद्दिशम् 11 मनु०, 7/189।
80. महा०, द्रोण०, 5/14-15, उद्योगपर्व, 153/2।
81. कौटिल्य, 2/33; नीतिसार, 19/27-44।
82. वासुदेवशरण अग्रवाल, हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन (पटना, 1953), पृ० 143।
83. अग्रवाल, कादम्बरी एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० 214, 220।
84. अग्रवाल, हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० 128, 209।
85. महा०, शान्ति०, 100/32; सभा०, 5/48, उद्योग०, 166/20; विराट, 5/48।
86. इपि० इण्डि०, 10, पृ० 71; इण्डि० ऐंटी०, 12, पृ० 120।
87. याज्ञ०, 1/325; मानसोल्लास, 2/6/684; ईदृग्चतुर्बलं विद्वान् युद्धाय विजितश्रम:। धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-2, हिन्दी, अनुवाद, पृ० 679।
88. महा०, शान्ति०, 59/41; षडविधं बलमादाय प्रतस्थे दिग्जिगीषया। रघुवंश०, 4/26।
89. मौर्यकाल में जल सेना की व्यवस्था थी। मेगस्थनीज, फ्रैगमेण्ट 34, पृ० 88।
90. औपपातिक सूत्र, 31, पृ० 132; विपाक सूत्र, 2, पृ० 13।
91. महा०, उद्योग०, 152/18; शांति०, 101/21।

92. अर्थशास्त्र, 2/1, 'मौलमृतक श्रेणीमित्रमित्राटवीबला नांसमुद्दानकाला:'।
93. मानसोल्लास, 2/6/556; रामायण, युद्धकाण्ड, 17/22।
94. महा०. आश्रमवासिक०, 7/7, 7/8।
95. एपि० इण्डिका०, भाग-11, पृ० 107।
96. याज्ञ०, 1/352; 2/192, 194-198।
97. नेमिचन्द्र शास्त्री, आदिपुराण में प्रतिपादित भारत (वाराणसी, 1968), पृ० 368।
98. वासुदेवशरण अग्रवाल, हर्षचरित एक सांस्कृतिक, अध्ययन, पृ० 39-40 41-42; हैंडीकी—यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर, पृ० 93।
99. महा०, उद्योग० 142/16-17, द्रोण०, 140/21-22।
100. अर्थशास्त्र, 10/4; समराइच्चकहा, 9/973; आर्कियालौजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, एनुअल रिपोर्ट, 1903-04, पृ० 107।
101. मानसोल्लास, 2/6/573।
102. दीक्षितार, वार इन ऐंसियन्ट इण्डिया, पृ० 175।
103. महा०, द्रोण०, 31/59-60; द्रोण०, 112/56।
104. अश्वैर्हस्तगता पृथ्वी श्रीरश्वै: विपुलं यश:।
विजयश्च भवेदश्वैरश्वोहि···भूषणम्। नकुल अश्वशास्त्र, 1/10।
105. चन्द्रहीना यथा रात्रि: पतिहीना पतिव्रता।
हयहीना तथा सेना विस्तीर्णापि न शोभते॥ नकुल अश्वशास्त्र 1/11।
106, मनु०, 7/172; देखिए, के०के० हैन्डीकी, यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर, (सोलापुर, 1968), पृ० 93; ऋग्वेद, 10/106/6।
107. आर्कियालोजीकल सर्वे ऑफ इण्डिया एनुअल रिपोर्ट, 1903-04, पृ० 107।
108. हस्त्यायुर्वेद, 5/11।
109. अर्थशास्त्र, 2/2; हस्त्यायुर्वेद, 5/23।
110. महा०, उद्योग०, 152/13-14।
111. नीतिवाक्यामृत, बलसमुद्देश्य, पृ० 208; मानसोल्लास, 2/3, 296।
112. महा०, भीष्म०, 102/38; अर्थशास्त्र, 2/31/1।
113. दशरथ शर्मा, अर्ली चौहान डायनेस्टीज, पृ० 214।
114. याज्ञ०, 1/325; अथर्ववेद, 75/1/7।

115. रामायण युद्धकाण्ड, 106/16, 20; महा०, शान्ति०, 59/41, 42 ।
116. अर्थशास्त्र, 2/35; महा०, आ०, 198/15; उद्योग०, 48/5; द्रोण०, 145/81 ।
117. स एकदा महेष्वासो रथ पंचाश्वमाशुगम् । श्रीमद्भागवत पुराण, 4/26/1 ।
118. आर्कियालोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया ऐनुअल रिपोर्ट, 1903-04, पृ० 107 ।
119. दीक्षितार, वार इन ऐसियन्ट इंडिया, पृ० 166; अलतेकर, राष्ट्र-कूटाज एण्ड दियर टाइम्स, पृ० 248; चक्रवर्ती, दी आर्ट ऑफ वार इन ऐसियन्ट इंडिया, पृ० 26 ।
120. याज्ञ०, 1/329; मनु०, 7/222 ।
121. शुक्रनीति, 4/1052-53 ।
122. एस०वी० विश्वनाथ, इन्टरनेशनल लॉ इन ऐसियन्ट इण्डिया, (1925) पृ० 108-9 ।
123. मनु०, 7/181-185; पंचतन्त्र, 336; अर्थ० वार्ता- 35, अधि० 9, अ० 1 ।
124. याज्ञ०, 1/348; मनु०, 7/183 ।
225. नेमिचन्द्र शास्त्री, आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० 378 ।
126. याज्ञ०, 1/332; द्रष्टव्य; अग्निपुराण, पृ० 263-267 तक, श्लोक 1 से 23 तक ।
127. महा०, शान्ति०, 100/10-15 ।
128. याज्ञ०, 1/326; मनु०, 7/91-93 ।
129. महा०, उद्योग०, 15 ।
130. अयुध्यमनस्त्रं प्रच्छन्नं प्रांजलिं शरणागतम् ।
पलायमानमनस्त्रं वा न हन्तुं त्वमिहार्हसि ॥ रामा०, युद्धकांड, 80/39 ।
131. न च हन्यात्स्थलारूढं न क्लीबं न कृतांजलिम् ।
न मुक्तकेशमासीनं न तवास्मीति-वादिनम् ॥ शुक्रनीति, 4/110 ।
132. मनु०, 7/90 ।
133. अर्थशास्त्र, वा०, 68, अ० 4-16 ।
134. मनु० 7/187-188 ।

135. औपपतिकसूत्र, 40, पृ० 186; द्रष्टव्य, प्रश्नव्याकरण, 3, पृ० 44।
136. शुक्रनीतिसार, 4/11, 13, 1116; रामायण, युद्धकाण्ड, 24/9, 30/12, 37-24; ऋग्वेद, 10/103-08।
137. महाभारत, द्रोण०, 87/22-25; शान्ति०, 99/9-10:
138. कामन्दक नीतिसार, 20/41-45; देखिए, महा०, उद्योग०, 65/10।
139. याज्ञ०, 1/324; 3/248; मनु०, 7/192।
140. दीक्षितार, वार इन ऐन्सियन्ट इंडिया, द्रष्टव्य।
141. डी० सी० सरकार, सैलेक्ट इन्सक्रिप्सन्स, पृ० 264।
142. अर्थशास्त्र, दूसरा अधिकरण, प्रकरण 34, अध्याय 18/1।
143. याज्ञ०, 1/352,-353; मनु० 7/206, 7/208; मानसोल्लास, 2/7/686, अर्थशास्त्र, 7/9।
144. महा०, शान्ति०, 138/110. कामन्दक०, 8/52; मनु०, 7/209-10; कामन्दक०, 4/75, 4/72; मानसोल्लास, 2/7/685-86; देखिए, पी० वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-2, हिन्दी अनुवाद, पृ० 689-691।
145. मनु०, 9/295-297।
146. कौटिल्य, 8/1।
147. महा०, शान्ति०, 320/156-58; कामन्दक नीतिसार, 4/1-2।
148. जे० जे० अन्जारिया, दी नेचर एंड ग्राउण्ड ऑफ पौलिटिकल औबिलगेसन इन दी हिन्दू स्टेट्स (लांगमैन्स ग्रीन एण्ड, 1935), पृ० 40।
149. ए० एस० अलतेकर, पूर्वलिखित कृति, पृ० 33-34।
150. मनोरमा जौहरी, पालिटिक्स एण्ड एथिक्स इन ऐन्सियन्ट इण्डिया, (वाराणसी, 1968), पृ० 105-106।
151. शर्मा, पूर्वलिखित कृति, पृ० 47-49।
152. के०वी०आर० आयंगर, एक्सपेक्ट्स ऑफ दी सोशल एंड पोलिटिकल सिस्टम ऑफ मनुस्मृति, पृ० 174।
153. के०पी० जायसवाल, हिन्दू पॉलिटी, भाग-2, पृ० 9।
154. भण्डारकर, एम एक्सपेक्ट्स ऑफ एसियन्ट इण्डियन पालिटी, पृ० 66-68; वी०के० सरकार, पोजिटिव बैकग्राउण्ड्स ऑफ हिन्दू सोशियालाजी, भाग-2, पृ० 34-39।

155. शुक्र०. 7/1257-58; अर्थशास्त्र, 1/7 ।
156. द्रष्टव्य, याज्ञवल्क्य०, 1/353, पर अपरार्क का भाष्य ।
157. जे०जे० अंजारिया, पूर्वलिखित कृति, पृ० 131-212 ।
158, पी०वी० काणे, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, भाग-3, पृ० 20 ।
159. स्याद्राजा भृत्यवर्गेषु प्रजासु च यथा पिता ।। याज्ञ०. 1/334 ।
160. याज्ञ०, 1/337; मनु०, 8/116-120 ।
161. पी०वी० काणे, हिस्ट्री ऑफ अर्थशास्त्र, भाग-3, पृ० 20 ।
162. अ०स० अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० 37-38 ।
163. याज्ञ०, 1/312-314; गौतम धर्मसूत्र, 1/11; ऐतरेय ब्राह्मण, 75/24, 8/1 ।
164. स इन्द्रजा प्रतिजन्मनि वग्र विश्वा शुष्मेण तस्थौ अभिवीर्येण ।
तस्मिन्विश: स्वयमेवानमन्त यस्मिनब्रह्मा राजनि पूर्वमेति ।। ऋग्वेद, 4/50/7/9 ।
165. अ०स० अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० 38-39 ।
166. अ०स० अलतेकर, प्राशीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० 38 ।
167. तैत्तिरीय ब्राह्मण, 3/9/14; ऐतरेय ब्राह्मग, 7/29 ।
168. बृहदारण्यक उपनिषद्, 1/4/10 ।

+●——●+

अष्टम् अध्याय

राजा के गुण एवं कार्य

राजा

राजतंत्र का अस्तित्व वैदिक साहित्य से ज्ञात होता है। वैदिक-काल में बहुत से कुल-समूहों का एक 'विस' होता था। इसी प्रकार बहुत से 'विस' मिलकर एक 'जन' का निर्माण करते थे। कुल का प्रमुख 'कुलपति' होता था। इस प्रकार एक कुलपति अपने गुण, शौर्य, नेतृत्व और क्षमता के द्वारा विसपति[1] और विसपति से 'जनपति' भी बन सकता था।[2] इसी से क्रमशः राजा का विकास हुआ और राजा के अधीनस्थ क्षेत्र राज्य कहे गये। राजा राज्य का अधिपति कहा जाने लगा।

प्राचीन काल के राज्य मुख्यतः दो प्रकार के थे—राजतंत्र और गणतंत्र। किन्तु इसके अतिरिक्त राज्य के कई अन्य प्रकार भी थे।[3] इनमें से राजतंत्र एवं गणराज्य अपेक्षाकृत अधिक स्थायी सिद्ध हुए। इनमें भी गणराज्य गुप्तकाल तक पूर्णतया समाप्त हो गये और केवल राजतंत्रात्मक-व्यवस्था ही प्रचलित रह गई।[4] राजतंत्रात्मक शासन-पद्धति में राजा ही सर्वेसर्वा होता था। वही राजतंत्र सेना, प्रशासन और न्याय-पालिका का प्रधान होता था।[5]

याज्ञवल्क्य-स्मृति से सूचना मिलती है कि उस समय राजतंत्रात्मक शासन-व्यवस्था अधिक प्रचलित थी। प्रायः राजा स्वेच्छाचारी होते थे। उनका पद भी वंश-परम्परानुगत होता था फिर भी वे प्रजा के साथ पुत्रवत व्यवहार करते थे।[6]

राजा के गुण

राज्य की सात प्रकृतियों में राजा को मूर्धन्य स्थान प्राप्त है, यह राज्य के अंगों की चर्चा से ही स्पष्ट है। राजा को ही काल का कारण माना गया है। यदि राजा सम्पन्न हो तो, उसकी प्रजा भी सम्पन्न एवं सुखी होती है। राजा का शील ही प्रजा का भी शील होता है।[7]

राजा के महत्त्व के कारण ही प्राचीन भारतीय विचारकों ने राजा की योग्यता और गुणों पर विशेष बल दिया है। याज्ञवल्क्य स्मृति के राजधर्म प्रकरण का शुभारम्भ ही राजा के गुणों से किया गया है। राजा को उत्साही, महान लक्ष्य वाला, दूसरों के उपकार को न भूलने वाला, वृद्धों की सेवा करने वाला, विजययुक्त, शक्तिशाली, कुलीन, सत्यभाषी, पवित्र, आरम्भ किये कार्य को पूरा करने में विलम्ब न करने वाला, जाने हुए कार्यों को स्मरण करने वाला, सद्गुणी, दूसरे के दोष को न

कहने वाला, धार्मिक, मृगयादि व्यसन न करने वाला, बुद्धिमान, वीर एवं रहस्य छिपाने में दक्ष होना चाहिए।[8] अर्थशास्त्र में भी राजा के गुणों का वर्णन करते हुए बताया गया है कि उसे अभिगामिक गुण (अक्षुद्र-परिवारत्व, वश्य-सामन्तता, शुचित्व, प्रियवादिता, धार्मिकता तथा दूरदर्शिता आदि) प्रज्ञा-गुण, उत्साह-गुण तथा आत्मसंयत गुण (वाक्-चातुर्य, स्मरणशक्ति वाला, धीर, वीर, दूरदर्शी, कोष सम्वर्धन की क्षमता वाला गम्भीर तथा उदार) आदि से युक्त होना चाहिए। मनु ने भी ऐसा ही विचार व्यक्त किया है।[9] नारद ने प्रसंगतः एक स्थल पर कहा है कि राजा अपने विनय तथा सदाचार से ही प्रजा पर अपना प्रभुत्व स्थापित करता है। महाभारत के अनुसार राजा को धीर, क्षमाशील, पुरुषार्थी एवम् उहापोह-विशारद होना चाहिए। उसे मेधावी, वेदज्ञ, प्रियभाषी, संयमी एवं न्यायोचित कार्य करने वाला भी होना चाहिए।[10]

पी० वी० काणे ने राजा के गुणों की संख्या दी है। ये गुण महाभारत में 36, कामन्दकीय नीतिसार में 19 तथा अग्निपुराण में 21 बताये गये हैं।[11] सैद्धान्तिक दृष्टि से इन गुणों का राजा में होना आवश्यक था और इन प्राचीन विचारकों के उल्लेख के आधार पर हम कह सकते हैं कि जिस व्यक्ति में ये सब या इनमें से अधिकांश गुण विद्यमान होंगे वह सम्भवतः आदर्श राजा के अनुरूप आ सकता होगा।

खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख में भी राजा के गुणों की सूचना इस प्रकार मिलती है, गुणविशेष—निपुण, कुशल, सब धर्मों का पूजक, समस्तदेव प्रतिमाओं का संस्मरण करने वाला, अप्रतिहत-चक्र एवं सैन्य बल वाला, राजचक्र धारण करने वाला, सुरक्षित राजचक्र वाला, प्रवृत्तराज-चक्रवाला एवं राजर्षि वसुकुलोत्पन्न था। समुद्रगुप्त के प्रयाग-प्रशस्ति में भी उसके गुणों का वर्णन इसी तरह किया है।[12]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि राजा में सैनिक एवं प्रशासनिक गुणों के अलावा नैतिक-गुणों की अपेक्षा भी की जाती थी। इससे यह भी लगता है कि सैद्धान्तिक-स्तर पर विचारक नैतिक-गुणों की अधिक अपेक्षा करते थे। वे सम्भवतः यह मानते होंगे कि जिस व्यक्ति में इतने सारे गुण होंगे वह सम्भवतः उनका उपयोग राज्य के कल्याण के लिए करेगा और निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी नहीं होगा। इस प्रकार राजा की भारतीय मान्यता राजा को लगभग उस कोटि में ला देती है जिसके अनुसार प्लेटो ने दार्शनिक राजा की कल्पना की थी।[13]

राजा प्रजा के लिए आदर्श स्वरूप होता है। प्रजा राजा के आचरण का ही अनुसरण करती है। अतएव उसके लिए निम्नांकित नैतिक-गुणों को भी प्रशंसनीय माना गया है—

सत्य—याज्ञवल्क्य के अनुसार राजा को सत्यभाषी होना चाहिए। सत्यवादी राजा ही इहलोक में सिद्ध तथा परलोक में सुख प्राप्त करता है। सत्यवादिता से ही

प्रजा में उसके प्रति विश्वास उत्पन्न होता है। मिथ्यावादी शासक नष्ट हो जाता था।[14] इस प्रकार सत्य एक नैतिक गुण था, किन्तु उसका पालन परिस्थिति पर ही निर्भर करता था। कोई भी राजा सत्यवादिता का सदैव पालन नहीं कर सकता।

इन्द्रियसंयम—संयम भी राजा का आवश्यक गुण माना गया है। इस गुण का उल्लेख याज्ञवल्क्य-स्मृति में नहीं आया है। महाभारत के अनुसार राजा को पहले अपने पर विजय प्राप्त करनी चाहिए और उसके बाद शत्रुओं पर। अजितेन्यिद्र राजा राज्य का निर्वाह नहीं कर सकता। कौटिल्य[15] तथा मनु ने भी इन्द्रियजय का महत्त्व प्रतिपादित किया है। शुक्र का कथन है कि जो एक मन को नियंत्रित करने में असमर्थ होगा वह समुद्रपर्यन्त धरा को कैसे जीतेगा? इसलिए राजा को जितेन्द्रिय होने का प्रयत्न करना चाहिए।[16] अतः स्पष्ट है कि विषयों में आसक्त राजा लोकप्रिय नहीं हो सकता और प्रजा उसका विरोध भी कर सकती है। राजा अपने महत्त्वपूर्ण उत्तर-दायित्व का निर्वाह तभी कर सकता है जबकि संयमित जीवनयापन करे।

विनय—इस गुण का उल्लेख याज्ञवल्क्य-स्मृति में आया है। चिरकाल तक राज्य का उपभोग करने के इच्छुक राजा के लिए विनय आवश्यक गुण माना गया है। मनु का मन्तव्य है कि विनययुक्त राजा कभी नष्ट नहीं होता।[17] अविनय के कारण बहुत से राजा सभी साधनों सहित विनष्ट हो गये किन्तु विनय से वन में रहने पर भी अनेक राज्य प्राप्त करने में समर्थ हुए। विनय से समृद्धि भी प्राप्त होती है। कौटिल्य और शुक्र की भी लगभग यही सम्मति है। अविनयी राजा के लिए प्रजा का परिपालन सम्भव न था। मनु ने अपने मानव धर्मशास्त्र में उन राजाओं के नाम लिखे हैं, जो अविनय-शील होने के कारण राजपद से च्युत कर दिये गये।[18] अतः राजा के लिए विनयशील होना अति आवश्यक माना जाता था।

शील—राजा के इस गुण का उल्लेख याज्ञवल्क्य-स्मृति में नहीं है। महाभारत के शान्तिपर्व में शील की परिभाषा दी गई है। इससे स्पष्ट है कि प्राणियों का मनसा, वाचा, कर्मणा, द्रोह न करना वरन् अनुग्रह करना एवं दान देना ही शील है। शीलवान राजा तीनों लोकों को जीतने में सफल होता है। शील पर ही सत्य, धर्म, सदाचार एवं बल आश्रित हैं। प्रहलाद ने शील का आश्रय लेकर ही तीनों लोकों को वश में किया था। शील सम्पन्न राजा पर लक्ष्मी कृपा करती है। वह इस लोक में सत्कार तथा परलोक में मोक्ष प्राप्त करता है। विष्णुपुराण से भी ज्ञात होता है कि राजा को शीलवान होना चाहिए।[19]

शरणागत की रक्षा—याज्ञवल्क्य-स्मृति से राजा के इस गुण की सूचना नहीं मिलती है। मनु शरणागत व्यक्ति के परित्याग को महान पाप मानते हैं और उसके प्रायश्चित्त का विधान बताते हैं।[20] महाभारत के अनुसार काटने के उद्देश्य से आये हुए व्यक्ति को वृक्ष छाया ही देता है। उसी प्रकार शरण में आये हुए शत्रु की रक्षा एवम् आतिथ्य-सत्कार करना चाहिए। शरणागत की रक्षा से गोहत्या जैसे पाप का

भी प्रायश्चित्त हो जाता है। शरणागत को जो शत्रु के हाथ सौंप देता है उसका बोया बीज समय पर अंकुरित नहीं होता, वर्षा समय पर नहीं होती, समय पर उसे कोई रक्षक नहीं मिलता, उसके सभी प्रयत्न निष्फल हो जाते हैं और उसे अधोगति प्राप्त होती है।[21] अभयदान, भूमिदान, सुवर्णदान, अन्नदान, गोदान से अधिक महत्त्वपूर्ण है। यही नहीं अश्वमेध यज्ञ से प्राप्त फल के बराबर फल शरणागत की रक्षा से मिलने की बात भी मिलती है।[22]

क्षमा—याज्ञवल्क्य के अनुसार राजा को ब्राह्मणों के प्रति क्षमाशील होना चाहिए।[23] राजा का यह गुण केवल ब्राह्मणों के हितार्थ न होकर प्रजा के अन्य वर्गों के लाभार्थ अनुमोदित था। मनु का कथन है कि बालक, वृद्ध तथा रोगी को क्षमा करने और उनके आक्षेपों को सहन करने से राजा को स्वर्ग एवं विपरीत आचरण से उसे नरक मिलता है। गुणवानों का बल क्षमा है। कल्याण प्राप्ति का कोई साधन इससे श्रेष्ठ नहीं है। शुक्र का मन्तव्य है कि जो राजा अपराधों को क्षमा करता है, वह प्रजा के दमन में कुशल होता है। सर्वगुण सम्पन्न राजा भी क्षमा के बिना सुशोभित नहीं होता।[24] राजकीय क्षमा की अति का विरोध महाभारत में मिलता है। शान्तिपर्व में कहा गया है कि क्षमाशील राजा के सिर पर नीच एवं दुष्ट उसी प्रकार चढ़ते हैं जैसे हाथी का महावत सदैव उसके सिर पर चढ़ा रहता है। अत्यन्त मृदु राजा का सर्वदा उल्लंघन होता है। अत्यधिक तीक्ष्ण राजा से प्रजा उद्विग्न होती है। अतः राजा को बसन्तकालीन सूर्य के समान न तो अधिक शीत (कोमलता) और न ही अधिक उष्ण होना चाहिए।[25] इससे स्पष्ट है कि क्षमाशीलता का उपयोग राजा के अपने विवेक पर ही आधारित रहा होगा। महाभारत का प्रमाण यही ध्वनित करता है।

सम्मानार्ह की सेवा—इसका तात्पर्य सम्मान योग्य की सेवा है। इस श्रेणी में वेदज्ञ, वृद्ध, ऋषि एवं संन्यस्त व्यक्ति आते होंगे। वृद्ध की सेवा को राजा के गुण के रूप में याज्ञवल्क्य ने भी उल्लिखित किया है।[26] यज्ञानुष्ठान के समय पर आये हुए ऋत्विजों को राजा प्रचुर दक्षिणा आदि से सम्मान एवं सेवा करता था। राजा ब्राह्मणों को भी यथासमय भोग अर्थात् सुख एवम् अनेक प्रकार (सोना, चाँदी आदि) का धन देकर उनकी सेवा करता था। इसी तरह श्रोत्रिय (वेदज्ञ) ब्राह्मणों को दुधारू गाय, सोना, भूमि, विवाह योग्य अलंकार आदि से उनकी सेवा राजा करता था।[27] मनु के अनुसार वृद्ध, वेदज्ञ एवं शुद्ध-हृदय से ब्राह्मण की सेवा करने वाले राक्षस भी पूजित बताए गए हैं। इनकी सेवा से आयु, विद्या, यश एवं बलवृद्धि की बात भी कही गई है।[28] इस गुण से यह नहीं समझना चाहिए कि राजा को स्वयं इनकी सेवा का निर्देश था। वस्तुतः इसका तात्पर्य यह है कि राजा का शासन ऐसा हो जिसमें इन व्यक्तियों को उचित सम्मान एवम् आवश्यक सुविधा मिलती रहे। शासकीय स्तर पर समाज में ऐसी स्थिति तभी सम्भव थी जबकि राजा समय आने पर इस गुण का उपयोग करते हुए प्रजा के सम्मुख उदाहरण प्रस्तुत करे।

प्रिय भाषण—कई ग्रन्थ प्रियभाषी होना राजा का गुण बताते हैं। याज्ञवल्क्य-स्मृति में राजा में वाक्शुचिता की अपेक्षा दिखाई गई है।[29] इस प्रकार याज्ञवल्क्य-स्मृति की वाक्शुचिता को प्रिय भाषा के अर्थ में लिया जा सकता है। राजा को मधुर भाषी होना चाहिए। उसे सदैव प्रिय बोलना चाहिए। प्रिय भाषण कल्याण प्राप्ति का साधन है। कटुवाणी बोलने वाले राजा का अनर्थ होता है। कटुवचन बाण से भी भयंकर माना गया है। बाण शरीर से निकाला जा सकता है परन्तु कटुवचन नहीं निकाले जा सकते। मुख से निकले बाण (वचन) मर्म-स्थल पर प्रहार करते हैं और उनसे आहत व्यक्ति सदैव संतप्त रहता है।[30] शुक्र के अनुसार कटु भाषी राजा यदि कुबेर के समान दाता हो तो भी लोगों को सन्ताप देता है।[31] अतः मधुर भाषी होना राजा के लिए आवश्यक था।

उद्योग शील—प्राचीन भारतीय विचारकों ने यह स्वीकार किया है कि फल की प्राप्ति दैव और पुरुषार्थ से होती है। इसमें दैव शरीर द्वारा किया गया कर्म ही होता है। जिस प्रकार से एक पहिये से रथ नहीं चल सकता, उसी प्रकार पुरुषार्थ या कर्म के बिना भाग्य की भी सिद्धि नहीं हो सकती।[32] इस प्रकार दैव समय एवं कर्म के योग से फल की प्राप्ति होती है। अतः राजा को भाग्य पर विश्वास कर निष्क्रिय होकर नहीं बैठना चाहिए बल्कि उसके लिए उद्योगशील और कार्यशील होना आवश्यक है।

कौटिल्य के अनुसार राजा को उद्योगी होना चाहिए। उद्योग अर्थ का मूल है। उद्योगहीनता से अनर्थ होता है। उद्योगहीन राजा का अर्थ नष्ट हो जाता है। उद्योगी राजा मनोवांछित प्राप्त करता है।[33] मनु का विचार है कि राजा कार्य में विघ्न पड़ते रहने पर भी राज्य को समुन्नत करने वाले कार्य में लगा रहे। बार-बार कार्य को आरम्भ करने वाले पर लक्ष्मी कृपा करती रहती हैं। महाभारत के अनुसार आपत्ति के भय से कार्य को आरम्भ न करने वाला राजा वाल्मीक के समान नष्ट हो जाता है।[34] राज्य की प्रगति के लिए राजा को सर्वदा यत्नशील रहना चाहिए। उद्योगपर्व में उद्योग को लक्ष्मी लाभ और शुभ का मूल कहा गया है।[35] उद्योग से ही इन्द्र ने अमृत प्राप्त किया, असुर संहार में समर्थ हुए और देवलोक तथा इस लोक में श्रेष्ठता प्राप्त की। फलतः राजा को उद्योगशील होने की सलाह दी गई है। उद्योगहीन राजा विषहीन सर्प के समान शत्रुओं से पराजित होता है।[36]

सत्संगति— सत्संगति से मनुष्य का आचरण प्रभावित होता है। राजा इसका अपवाद नहीं है। प्राचीन विचारकों ने इसीलिए राजा को भी सुझाव दिया है कि उसे सत्संगति में रहना चाहिए। याज्ञवल्क्य ने राजा के इस गुण का उल्लेख नहीं किया है। पर उन्होंने राजा के सद्गुण सम्पन्न होने पर बल दिया है। सद्गुण होंगे तो राजा स्वयंमेव सत्संगति चाहेगा। फलतः इनमें कुछ समानता देख सकते हैं। महाभारत के अनुसार राजा चाहे वन की शरण लेकर मृगों के साथ ही विचरण करें परन्तु मर्यादा

को भंग करने वाले डाकुओं का साथ न करें।[37] शुक्र ने भी सज्जनों की करने संगति और दुर्जनों की संगति का परित्याग करने का निर्देश दिया है। शुक्र श्वास की विषाग्नि के धूम से धूमिल मुख वाले सर्पों के साहचर्य को दुर्जन के साथ की अपेक्षा श्रेयस्कर समझते हैं।[38]

संतुलित व्यवहार—याज्ञवल्क्य के अनुसार राजा में गाम्भीर्य होना चाहिए। उदाहरणार्थ विजय प्राप्ति के बाद हर्षातिरेक के कारण भोग-विलास में ही लीन नहीं होना चाहिए, अपितु विजय को स्थाई बनाने का प्रयत्न करना चाहिए; क्योंकि अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति तथा प्राप्त वस्तु की रक्षा ही राजा का धर्म है। विपत्ति में राजा को शोकातुर होकर बैठना नहीं चाहिए, बल्कि धैर्य के साथ उसका सामना करना चाहिए। राजा के इस गुण को महाभारत में और अधिक स्पष्ट किया गया है। शान्तिपर्व में कहा गया है कि राजा को प्रिय होने पर अत्यन्त प्रसन्न एवम् अप्रिय होने पर अत्यधिक चिन्तत नहीं होना चाहिए।[39] दोनों ही परिस्थितियों में उसे अपने व्यवहार को संतुलित रखने की सलाह दी है। अन्यत्र यह कहा है कि गंगा की गहराई के समान क्षोभरहित ही पण्डित कहा जाता है।[40]

उपर्युक्त गुण, जिनकी अपेक्षा राजा में की गई है उनके साथ ही उसे दुर्गुणों से बचने की सलाह भी है। इनके संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित हैं।

दुर्गुणों का परित्याग—महाभारत के अनुसार राजा को काम, क्रोध, मोह, लोभ, प्रमाद, व्यसन आदि से दूर रहना चाहिए क्योंकि व्यसनों में आसक्त राजा पराभूत होता है।[41] व्यसन मृत्यु से भी अधिक कष्टदाई बताए गए हैं। याज्ञवल्क्य ने राजा के गुणों का उल्लेख करते हुए उसे मृगया आदि व्यसन से दूर रहने की सलाह दी है।[42] उन्होंने इनका स्पष्टीकरण नहीं किया है। किन्तु मनु ने व्यसनों को दो वर्गों में बांटा है—कामजन्य और क्रोधजन्य।[43] कामजन्य व्यसनों में आसक्त राजा अर्थ तथा धर्म से भ्रष्ट हो जाता है तथा क्रोधजन्य व्यसनों में आसक्त राजा नष्ट हो जाता है।

उपरोक्त दोनों प्रकार के व्यसन लोभ से उत्पन्न होते हैं इसलिए लोभ को यत्नपूर्वक त्याग देना चाहिए।[44] याज्ञवल्क्य एवं मनु आदि ने मृगया को व्यसन के अन्तर्गत रखा है। पर अन्य ग्रन्थों में मृगया से लाभ बताये गये हैं।[45] इस प्रकार यह सम्भव है कि मृगया में अत्यधिक रुचि को ये विचारक व्यसन मानते हों।

काम-क्रोध—महाभारत में काम और क्रोध राजा के दो शत्रु के रूप में कल्पित हैं। इन्हें जीतने के बाद ही राजा वस्तुतः जयी हो सकता है। इनको नरक का द्वार तथा आत्मा का नाशक कहा गया है इसलिए राजा को काम और क्रोध का परित्याग करना चाहिए। जो राजा इनकी अवहेलना करके शास्त्रानुमोदित आचरण करता है वह प्रशंस्य होता है। अक्रोधी राजा सम्पूर्ण प्रजा का विश्वास पात्र बन जाता है।

इसलिए उसे काम व क्रोध का परित्याग कर धर्मानुसार आचरण करना चाहिए। प्रजा ऐसे राजा का अनुसरण करती है।[46]

याज्ञवल्क्य ने राजा को शत्रु पर क्रोध करने की सलाह दी है तथा प्रजा एवं सेवकों के प्रति पिता के समान हितकारी होने की अनुमति दी है। याज्ञवल्क्य भी इस प्रकार प्रजा पर क्रोध न करने के हिमायती सिद्ध होते हैं। प्रजा परिपालन में काम तथा शत्रु संहार में क्रोध का उचित प्रयोग राजा को विजय प्रदान करता है। इसके विपरीत प्रजा को दण्डित करने में क्रोध का निषेध किया गया है।[47] सम्भवतः इसका यह औचित्य है कि यदि राजा बात-बात पर क्रोध करेगा तो प्रजा भय से अपनी कठिनाइयां उसके सम्मुख नहीं रख सकेगी।

द्यूत-क्रीड़ा—यज्ञावल्क्य-स्मृति से सूचना मिलती है कि राजा द्वारा नियुक्त अधिकारी के संरक्षण में द्यूत-क्रीड़ा लोग खेलते थे। अतः राजा द्यूत-क्रीड़ा के समर्थक थे। परन्तु स्मृतिकार मनु ने द्यूत को व्यसन मानकर राजा के लिए हानिकारक माना है। महाभारत से सूचना मिलती है कि पाण्डव तथा कौरव में द्यूत-क्रीड़ा हुई थी। जिसमें पाण्डव राजा युधिष्ठिर अपने भाइयों सहित द्रौपदी को भी हार गए थे।[48] प्राचीन विचारक इस दुःखद परिणाम से परिचित थे इसलिए राजा को ऐसी स्थिति से बचने के लिए ही उन्होंने द्यूत-क्रीड़ा को परित्याज्य बताया है।

राजा के उपर्युक्त गुणों के विवेचन से स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारतीय विचारक की कल्पना राजा को सर्वगुण सम्पन्न व्यक्ति के रूप में देखती थी। उनकी कल्पना के अनुसार ऐसा सर्वगुण सम्पन्न राजा ही प्रजा एवं राज्य हित करने में सक्षम था किन्तु व्यवहार रूप में प्राचीन विचारकों की यह कल्पना किस हद तक मान्य थी कहना कठिन है। आनुवंशिकता राजत्व निर्धारित करने में बड़ा महत्त्व रखती थी। फलतः राजा की सर्वगुण सम्पन्नता को व्यावहारिक दृष्टि से स्वीकार करना कठिन लगता है। ऐसा इसलिए भी आवश्यक नहीं कि किसी एक वंश के एकाधिक राजा सर्वगुण सम्पन्न रहे हों। फलतः यह कह सकते हैं कि विचारकों ने ये गुण आदर्श राजा के बताए हैं। राजाओं से वे सम्भवतः व्यवहार में इनमें से अधिकांश गुणों के पालन की अपेक्षा रखते रहे होंगे।

राजा के कार्य

राजनीतिक कार्य

प्रजा रक्षण—प्रजा रक्षण राजा का प्रमुख कार्य था। यह रक्षा उसे बाह्य आक्रमणों एवं आन्तरिक विपत्तियों से करनी पड़ती थी। कम से कम राजा की उत्पत्ति के एक सिद्धान्त से स्पष्ट है कि मात्स्यन्याय से प्रजा की रक्षा के निमित्त ही राजा की स्थिति हुई। अतएव आन्तरिक शान्ति-व्यवस्था-स्थापन एवं अशान्ति जन्य स्थिति से प्रजा का त्राण राजा का प्रमुख कर्तव्य हुआ। इसके साथ ही बाह्य आक्रमण भी इसी

श्रेणी में उसके कार्य के रूप में आते हैं। प्रजा के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक वातावरण की स्थापना आदि राजा के आवश्यक कर्तव्य थे। प्रजा की रक्षा न करने वाले राजा प्रजा के पाप के आधे भाग के अधिकारी बताए गए हैं, क्योंकि वह रक्षा करने के लिए ही प्रजा से कर लेता था। राजा लुटेरों, चोरों ऐन्द्रजालिकों, धूर्तों, डाकुओं और विशेषतया कायस्थों (लेखकों एवं गणकों) से पीड़ित व्यक्तियों की रक्षा करता था। याज्ञवल्क्य ने प्रजा की कायस्थों से रक्षा करने का विशेष उल्लेख किया है। याज्ञवल्क्य ने कायस्थ का प्रयोग कर्मसूचक अर्थ में किया है। कायस्थों से याज्ञवल्क्य का तात्पर्य विभिन्न प्रकार के राजकीय विवरणों को लिखने का कार्य करने वाले अधिकारियों या कर्मचारियों से है। मिताक्षरा से भी इस मत का समर्थन होता है। इन कर्मचारियों से प्रजा की विशेष रक्षा का आशय यह है कि ये शब्दावली को परिवर्तित करके प्रजा को हानि पहुंचा सकते थे। उदाहरण के तौर पर एक स्थान पर किसी व्यक्ति ने कुछ सम्पत्ति बेची। इसके विक्रय लेख में "कूपरहित" अर्थात् कूप-रहित लिखना था। क्रयकर्ता लेखक को उत्कोच देकर इसके स्थान पर कूपसहित करवा लिए और वह इस तरह से कुएं का भी स्वामी बन गया। यह मामला राजा के न्यायालय में लाया गया। राजा ने विभिन्न उपायों से लेखपाल के उक्त कार्य का पता लगाकर उचित न्याय किया।[48] अग्निपुराण में भी कायस्थों से प्रजा की सुरक्षा की बात कही गई है।[49] याज्ञवाल्क्य में कायस्थों से विशेषतः रक्षा के प्रावधान से यह लगता है कि उनके समय तक कायस्थों की दुष्टता सम्बन्धी कार्यवाही समाज के प्रत्येक स्तर में प्रसिद्ध हो चुकी थी। इसी के चलते उन्होंने राजा को निर्देश दिया है। इस तरह की सूचना ऋग्वेद से भी मिलती है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार राजा प्रजा का त्राण करता था।[50] राजा के लिए प्रजा रक्षण से बढ़कर कोई धर्म नहीं है।[51]

यह केवल सिद्धान्त मात्र न था वरन् कार्यरूप में भी परिपालित होता था। भीष्म, कार्तवीय अर्जुन, पृथु, नहुष, युधिष्ठिर आदि पौराणिक राजा प्रजा के रक्षण के लिए प्रसिद्ध थे।[52] इन पौराणिक राजाओं के कार्य में यदि अविश्वास भी किया जाय तो कहा जा सकता है राजा के इस कार्य का पालन अधिकांश ऐतिहासिक राजा अपनी सामर्थ्य के अनुसार करते रहे होंगे। रुद्रदामन के जूनागढ़ लेख से विदित होता है कि सभी वर्णों के लोगों ने अपनी रक्षा के लिए उसे चुना था।[53] इसी प्रकार पाल ऐतिहासिक-परम्परा बंगाल में इस वंश के संस्थापक गोपाल को मात्स्यन्याय की समाप्ति के लिए उसके चुनाव का उल्लेख करती है।[54]

रक्षा न करने वाला राजा यदि कर ग्रहण करता है तो वह नरक जाता है। जिस राजा की प्रजा सुरक्षित है, उसके लिए गृह स्वर्ग के समान है, किन्तु जिसकी प्रजा असुरक्षित एवं दुखी है, उसका मन्दिर भी नरक-तुल्य है।[55] इन विवरणों से स्पष्ट है कि प्रजा का परिपालन एवं रक्षण राजा के मुख्य कर्तव्य थे। वस्तुत: प्रजारक्षण एवं अराजकता की समाप्ति के लिए ही राजा की सृष्टि हुई थी।

योग्य पदाधिकारियों की नियुक्ति करना—प्रशासनिक-व्यवस्था को अच्छे ढंग से चलाने के उद्देश्य से राजा योग्य एवं कर्तव्यनिष्ठ व्यक्तियों की नियुक्ति करता था। मन्त्री राजा को शासन संचालन हेतु उचित परामर्श देते थे, इसलि राजा का कर्तव्य माना जाता था कि वह योग्य मन्त्रियों की नियुक्ति करे। सभी शास्त्रों में ज्ञान एवं अनुष्ठान से समृद्ध, दण्ड और नीति में कुशल व्यक्ति को पुरोहित बनाना राजा का कर्तव्य माना जाता था। धर्म, अर्थ, काम आदि कर्मों में, आय-कर्म और व्यय-कर्म में योग्य, कार्यकुशल, कर्तव्यनिष्ठ अध्यक्षों को राजा नियुक्त करता था। न्याय-कार्य में सहयोग देने के लिए योग्य पुरुषों को राजा सभासद् नियुक्त करता था।[56] इस प्रकार राज्य का सर्वोच्च व्यक्ति होने के नाते राजा बड़े-बड़े अधिकारियों की नियुक्ति करता था। सम्भवतः अन्य बड़े अधिकारी भी उसके द्वारा नियुक्त किये जाते रहे होंगे। यद्यपि इसका कोई उल्लेख नहीं है।

सेना-सम्बन्धी कार्य—आन्तरिक एवं वाह्य आक्रमणों से देश की सुरक्षा के लिए राजा का कर्तव्य होता था कि वह योग्य सेनापति तथा सेना की उचित व्यवस्था करे। सेना की देखभाल करना तथा सेनापतियों से देशकालोचित विचार-विमर्श करना राजा का कर्तव्य माना जाता था। पर राष्ट्र को वश में करना भी राजा का परम आव-श्यक कार्य था। परराष्ट्र को वश न करने के लिए राजा साम, दाम, भेद आदि उपायों से असफल हो जाने पर दण्ड उपाय अर्थात् सेना द्वारा आक्रमण करके अपने वश में करता था। यदि युद्धभूमि में सभी सेना नष्ट हो जाती थी तो राजा स्वयं शत्रु सेना से लड़ता था। शत्रु पक्ष पर आक्रमण राजा उस समय करता था, जब शत्रु की सेना निर्बल तथा अपनी सेना सबल एवं प्रसन्न हो।[57] इस प्रकार सैन्यवस्था की देखभाल एवं युद्धादि में लड़ने का कार्य राजा करता था।

सामाजिक कार्य

वर्णाश्रम धर्म की रक्षा—वर्णाश्रम धर्म का तात्पर्य वर्ण एवं आश्रम धर्मों से है। सामाजिक मर्यादा को व्यवस्थित रखना राजा का कर्तव्य था। भारतीय समाज वर्णाश्रम धर्म पर आधारित रहा है।[58] इसलिए वर्णाश्रम-धर्म का पालन तथा प्रजा द्वारा उसका पालन कराना राजा का एक प्रमुख कर्तव्य माना गया है। चारों वर्णों से स्वधर्म का पालन कराने वाला नृप मोक्ष प्राप्त करता है।[56] नारद का भी ऐसा ही विचार है। प्रथम राजा मनु ने प्रजा को वर्णाश्रम धर्म के परिपालन में लगाया था।[60] मनु के अनुसार स्वधर्म संलग्न वर्णाश्रम की रक्षा करने वाले राजा को ब्रह्मा ने बनाया है। वर्णाश्रम धर्म की स्थापना के लिए राजा का निर्माण किया गया था। उसी के भय से कोई अपने मार्ग से विचलित नहीं होता था।[61] शंख लिखित स्मृति में राज्य के कल्याणकारी स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि यदि क्षत्रिय एवं वैश्य भी अपने विहित धर्म के अनुसार जीविकोपार्जन में असमर्थ हो तो उन्हें राजा के पास जाना चाहिए। राजा उनकी जीविका प्राप्ति के लिए सहायता करेगा। ऐसे समय में उन्हें

राजा के लिए कार्य करना होगा। इसी प्रकार शूद्र भी राज्याश्रित होने पर अपने कला-कौशल का प्रयोग राजा के लिए करेगा।[62] निःसन्देह ऐसे कार्य समाज के वर्तमान कल्याणकारी कार्यों से तुलनीय हैं।

भारतीय समाज वर्णाश्रम-व्यवस्था पर आधारित था। समय-समय पर नये धार्मिक सम्प्रदायों के अभ्युदय, विदेशीय आक्रमणों की सफलता एवं अन्य कारणों के फलस्वरूप भारतीय समाज की इस व्यवस्था को खतरा उत्पन्न होता था, फलतः इस संकट से समाज को बचाने की दृष्टि से प्राचीन भारतीय राजनीतिक दार्शनिकों ने वर्णाश्रम-व्यवस्था का शास्त्रानुमोदित व्यवस्थापन राजा का प्रमुख कर्तव्य माना है। अभिलेखों से स्पष्ट है कि कम से कम कुछ ऐतिहासिक राजा अपने इस कर्तव्य के प्रति भी सचेष्ट थे।

स्वधर्म की स्थापना—याज्ञवल्क्य के मत में कुल, जाति, श्रेणी, गण और जनपद जो भी स्वधर्म से विचलित होते थे, उसे राजा दण्ड का भय दिखाकर स्वधर्म परिपालन के लिए बाध्य करता था। कौटिल्य की सम्मति है कि अपने धर्म का पालन करने से स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसका पालन न करने से वर्ण एवं कर्म में संकरता आती है। इनसे लोक का विनाश होता है इसलिए राजा का कर्तव्य है कि वह प्रजा से स्वधर्म का पालन कराए। ऐसा राजा लोक तथा परलोक दोनों में सुखी रहता है।[63] युधिष्ठिर ने राज्य प्राप्त करते ही चारों वर्णों को स्वधर्म पालन में प्रवृत्त किया। केकय-राज तो बड़े गर्व के साथ कहते हैं कि उनके राज्य में कोई भी व्यक्ति ऐसा न था जो स्वधर्मरत न हो। स्वकर्म-निरत प्रजा का पालन और स्वकर्म परित्याग करने वाले का पुनः स्थापन राजा का कर्तव्य माना गया है। शुक्र तो राजा को तीक्ष्ण दण्ड से प्रजा को स्वधर्म में निपुण करने की सलाह देते हैं।[64] इस प्रकार सभी वर्णों एवं जातियों को स्वधर्म पालन करवाना राजा का महत्त्वपूर्ण कर्तव्य माना जाता था।

आर्थिक कार्य

राजनीतिक एवं सामाजिक-व्यवस्था के साथ-साथ प्रजा की आर्थिक और भौतिक-उन्नति भी राजा के कर्तव्यों में सम्मिलित थी। भारतवर्ष सदैव से ही कृषि-प्रधान देश रहा है। अतः कृषि की उन्नति और कृषकों को आवश्यक सहायता देना राजा के कर्तव्य माने गए हैं। कृषि की सुविधा के लिए राजा सेतु जलप्रवाहबन्ध का निर्माण करवाता था। वापी और कुएं भी सम्भवतः बनवाये जाते थे।[65] कृषकों को राज्य की ओर से निर्धारित ब्याज पर रुपया भी दिया जाता था। कौटिल्य ने भी राजा द्वारा जलाशयों के निर्माण का उल्लेख किया है।[66] कृषि की उन्नति के लिए प्राचीन भारतीय राजाओं ने 'सुदर्शन-तड़ाग-सेतु' का निर्माण करवाया था। इस तड़ाग के निर्माण कर्ताओं में चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, रुद्रदामन तथा स्कन्दगुप्त के नाम अमर प्रतिष्ठा पा चुके हैं। कलिंग नरेश खारवेल ने सिंचाई के लिए नहरों का निर्माण और पुरानी नहरों का नवीनीकरण करवाया था।[67]

कृषि की उन्नति के लिए पशुपालन भी आवश्यक था। राजा की आज्ञा से गौओं के चरागाह के लिए व्यवस्था की जाती थी। पशुओं के लिए जलाशय का निर्माण करवाना राजा का कर्तव्य माना गया है। चरवाहे के दोष से पशुओं का नाश होने पर राजा चरवाहे से $13\frac{1}{2}$ पण दण्ड स्वामी को दिलवाता था।[68]

व्यापार और शिल्प की उन्नति कराना भी राजा का धर्म माना गया है। याज्ञवल्क्य के अनुसार श्रेणी और गुणों की सब तरह से राजा सुरक्षा करता था। क्रय और विक्रय की सभी वस्तुओं का मूल्य-निर्धारण राजा करता था। दूसरे देश से लायी गयी वस्तुओं को अधिक मूल्य पर बेचने की सूचना पाने पर राजा व्यापारियों को दण्डित करता था। राजा द्वारा निर्धारित मूल्य की वृद्धि एवं ह्रास को जानते हुए भी व्यापारी लोग शिल्पियों को पीड़ित करते थे तो राजा उन्हें उत्तम साहस का दण्ड देता था। घटिया वस्तुओं को अच्छा कहकर बेचने वाले तथा नकली वस्तुओं को असली वस्तु कहकर बेचने वाले व्यापारियों को राजा दण्डित करता था। बटखरों व सिक्कों पर राजा की कड़ी निगरानी रहती थी। माप-तौल तथा वस्तुओं में मिलावट करने पर दण्ड दिया जाता था।[69] इस प्रकार राजा का यह कर्तव्य होता था कि वह व्यापारियों की रक्षा पुत्र की तरह करे। अर्थव्यवस्था पर समुचित ध्यान देना राजा का कर्तव्य था। कृषि, पशुपालन और वाणिज्य लोक-जीवन के आधार थे।[70]

कौटिल्य के अनुसार राजा वणिक को सर्वदा सुरक्षित रखता था। पशुओं के रोगों का रोकथाम करवाता था। निर्जन अकृष्य-भूमि को विकसित करने के लिए राजा उसे गोचर, तपोवन आदि बना देता था और वन की वस्तुओं को उपयोग में लेने की योजनाएं कार्यान्वित करता था। वह व्यापार के लिए बहुविध सुविधाएं प्रस्तुत करता था।[71] मनु के अनुसार राजा राज्य के आर्थिक-विकास का आयोजन करता था। वह व्यापारियों के द्वारा ठगे जाने से प्रजा को बचाता था। सभी वस्तुओं के मूल्य राजा की ओर से निश्चित कर दिए जाते थे और माप-तोल को शुद्ध बनाने के लिए उनका परीक्षण होता था। प्रति छः मास पर माप-तोल का परिशोधन कराया जाता था। राज्य की ओर से व्यवसायियों और श्रमिकों की देखभाल की जाती थी -[72]

धार्मिक कार्य

संसार धर्म पर आधारित है और धर्म राजा पर। इसलिए याज्ञवल्क्य श्रौत और स्मार्त-क्रियाओं के अनुष्ठान हेतु ऋत्विजों का वरण और यज्ञों का अनुष्ठान राजा का आवश्यक कर्तव्य मानते हैं। मनु के अनुसार राजा को अश्वमेध विश्वजीत आदि बहुत दक्षिणा वाले यज्ञों को सम्पादित करना चाहिए। धर्म के लिए ब्राह्मणों को न ध आदि का दान देना चाहिए। नारद के अनुसार जो राजा राजसूय यज्ञ करते हैं, वे इन्द्रलोक जाते हैं।[73] युधिष्ठिर को शान्तिपर्व में राजसूय, अश्वमेध, सर्वमेध आदि यज्ञ

करने का निर्देश मिलता है।[74] यज्ञ न करने वाले राजा को पाप का भागी बताया गया है।[75]

बहुत से ऐतिहासिक राजाओं ने विभिन्न प्रकार के यज्ञ किये थे। इनमें पुष्यमित्र, शुंग, सातकर्णि,[76] समुद्रगुप्त, कुमारगुप्त[77] आदि के उदाहरण सर्वविदित हैं। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय राजा यथासम्भव यज्ञादिक अनुष्ठान करते रहते थे।

याज्ञवल्क्य ने यज्ञ के महत्त्व का प्रतिपादन किया है और कहा है कि इससे देवता प्रसन्न होते हैं। फलत: राजा पर देव-कृपा बनी रहती है। यज्ञानुष्ठान रस से देवता तृप्त होते हैं। इससे प्रसन्न होकर सूर्य वृष्टि करता है और फिर यज्ञ होता है। इस प्रकार यह चक्र चलता रहता है।[78] चूँकि अधिकांश प्राचीन भारतीय राजनीतिक दार्शनिक धार्मिक दृष्टिकोण से ही राज्य एवं राज्यीय समस्याओं को देखते थे। इसलिए उन्होंने राजा को धर्म-कार्य करते रहने का निर्देश किया है और इससे होने वाले लाभ और हानि का भी उल्लेख किया है।

दान देना

हिन्दू धर्म में दान का बहुत महत्त्व रहा है। याज्ञवल्क्य ने भी इसका महत्त्व व्यक्त किया है। योग्य व्यक्तियों को उचित समय पर विधिपूर्वक जो भी द्रव्य (स्वर्णादि) दिया जाता है, वह धर्म का लक्षण है। राजा को ब्राह्मणों को यथोचित सुख एवं धन दान करना चाहिए। अग्नि में हवन की अपेक्षा ब्राह्मरूपी अग्नि में हवन करना अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वह पवित्र है। युद्ध में अपहृत धन का ब्राह्मणों को दान और प्रजा को अभय प्रदान करना राजा का सर्वश्रेष्ठ धर्म है।[79] भीष्म के अनुसार वीरों में दान वीर ही सर्वश्रेष्ठ हैं। अरण्यपर्व में कहा गया है कि त्रिलोक में दान से बढ़कर कोई पुण्य कर्म नहीं है इसलिए विद्वान् दान को ही सर्वोच्च कर्म बताते हैं।[80]

देवताओं का प्रिय राजा प्रियदर्शी इस प्रकार कहता है कि धर्म महामात्र तथा अन्य मुख्य कर्मचारी मेरे तथा रानियों के द्वारा दिये गए दान का ठीक-ठीक प्रबन्ध करते हैं। मैंने यह प्रबन्ध किया है कि मेरे पुत्रों और अन्य देव-कुमारों द्वारा दिये हुए दान का ऐसे ढंग से वितरण करें कि धर्म की उन्नति हो और लोग धर्म का पालन करें।[81] शिलालेखों से यह सूचना मिलती है कि राजाओं ने ब्राह्मणों, विद्वानों, विद्यार्थियों और धार्मिक-संस्थाओं को भूमि दान दिये थे। सत्रह और दानशालाओं को चलाने के लिए राजा धन देता था।[82] इस प्रकार धार्मिक-कार्यों का सम्पादन करना तथा दान लेने योग्य व्यक्तियों को दान देना राजा का आवश्यक कर्तव्य था। इससे धर्म की उन्नति होती थी।

न्याय सम्बन्धी कार्य

न्याय पर ही समाज की व्यवस्था निर्भर है। याज्ञवल्क्य का मन्तव्य है कि जो

राजा अपराधियों को शास्त्रानुसार दण्डित करता है तथा वध योग्य मनुष्य को मारता है, उसे अधिक दक्षिणा वाले यज्ञों का फल प्राप्त होता है। याज्ञवल्क्य विद्वान, सभ्य के साथ राजा को स्वयं न्याय का निर्देश देते हैं। दण्ड को न्यायपूर्वक नीतिशास्त्र का ज्ञाता ही चला सकता है। शास्त्र विपरीत दण्ड देने से राजा स्वयं नष्ट हो जाता है। इसके विपरीतशास्त्रानुसार दण्ड देने वाला राजा विजय, यश और स्वर्ग प्राप्त करता है।[83] न्याय पथ से विचलित रक्त सम्बन्धियों को भी राजा को दण्ड अवश्य देना चाहिए।[84] न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करने पर राजा प्रजाओं के पुण्य का 1/6 भाग प्राप्त करता था। अपराधियों को दण्ड देना राजा का कर्तव्य होता था। मनु ने न्यायी राजा की प्रशंसा तथा अन्यायी राजा की निन्दा की है।[85] महाभारत में भी न्याय राजा का आवश्यक कर्तव्य माना गया है।[86] राजा ही सर्वोच्च न्यायाधिकारी था। वह अपने सामने उपस्थित किये गए अधीनस्थ न्यायालयों के निर्णय के विरुद्ध अपील सुनता था और फैसला करता था।[87] अत: स्पष्ट है कि न्याय करना राजा का महत्त्वपूर्ण कर्तव्य था। इसीलिए उसकी उत्पत्ति हुई थी।

आनुवंशिक-नृप-तंत्र

प्राचीन काल में नृप-तंत्र सामान्यतया आनुवंशिक था। अर्थात् पिता के बाद पुत्र उत्तराधिकारी होता था। रामायण से ज्ञात होता है कि महाराज दशरथ के बाद सिंहासन उनके जेष्ठ-पुत्र राम को मिला था। इस सिद्धान्त का समर्थन महाभारत से होता है।[88] मनु के अनुसार पराजित राजा के वंश में उत्पन्न हुए व्यक्ति को उस पद पर स्थापित करना चाहिए और तत्पश्चात् उसे शासन सम्बन्धी आदेश देना चाहिए। कौटिल्य राजा की मृत्यु के उपरान्त उसके उत्तम गुणों से युक्त राजकुमार को ही राजपद पर स्थापित करने के पक्ष में थे। राजकुमार के न होने की स्थिति में समान जाति के पुरुष से राज्य-कन्या के विवाह द्वारा उत्पन्न पुत्र को राजा बनाना चाहिए।[89]

वैदिक-काल में राजपद पर नियुक्त आनुवंशिक आधार पर होती थी। शिलालेख, ताम्रपट्ट और साहित्यक-ग्रन्थों से भी यही ज्ञात होता है कि 600 ई० पू० से जिन राज्यों का पता चलता है वे सब पैतृक-परम्परा से ही चलते थे।...आनुवंशिक राज्य-पद्धति से सम्बद्ध कुछ वैधानिक बातें भी उल्लेखनीय हैं।[90] साधारणत: हिन्दू परिवार की सम्पत्ति भाइयों में विभाजित होती है। परन्तु राज्य अविभाज्य होता था। यदि जेष्ठ-पुत्र अन्धा, गूंगा या मूर्ख न हो तो वही राजा का उत्तराधिकारी होता था। छोटे भाइयों को प्रादेशिक-शासन या उच्च पद दिये जाते थे। जातक कथाओं और इतिहास से ऐसे अनेक उदाहरण ज्ञात हैं।[91] लॉ के अनुसार यदि राजा के दो या अधिक योग्य पुत्र होते थे तो राजा को श्रेष्ठ पुत्र को छोड़कर अन्य पुत्र को छांटने का अधिकार प्राप्त न था। यदि वह ऐसा करता था तो जनता खुले रूप में उससे जवाब मांग सकती थी।[92] प्रयाग-प्रशस्ति से सूचना मिलती है कि वात्सल्य विकल-

अश्रुपूरित, तत्त्व को परखने वाले नेत्रों से देखकर चन्द्रगुप्त ने स्नेहालिंगन करते हुए समुद्रगुप्त को तुम इस सम्पूर्ण पृथ्वी का परिपालन करो, इस प्रकार कहा तो सभासदों ने राहत की सांस ली और अन्य तुल्य कुलजों के मुख मलिन हो गये।[93] इससे लगता है कि कभी राजा अपने जीवन-काल में ही अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर देते थे।

साधारणतया योयग्ता का सिद्धान्त व्यवहार में लागू था। मुकर्जी ने लिखा है कि साधारण नियम यही था कि जेष्ठ-पुत्र को राजपद दिया जाता था, परन्तु कौटिल्य ने इस बात पर बल दिया है कि राजा के एकमात्र पुत्र को भी सिंहासन पर नहीं बैठाना चाहिए, यदि उसमें शिक्षा, विनय और चरित्र की कमी हो। यह भी वर्णित है कि राजा अपने पुत्रों में से शैतान-पुत्र को राज्य से निकाल सकता है और उसके कार्य को न्यायोचित भी मानना चाहिए। यह भी उल्लेखनीय है कि कौटिल्य का विश्वास राजपद के लिए आनुवंशिक अधिकार की अपेक्षा योग्यता में अधिक था।[94]

इससे स्पष्ट है कि वस्तुत: राजा आनुवंशिक होते थे, किन्तु शारीरिक एवं चारित्रिक अयोग्यता होने पर राजा बड़े पुत्र को छोड़कर अन्य योग्य पुत्र को उत्तराधिकारी बनाता रहा होगा।

राजा का निर्वाचन

राजा के निर्वाचन के विषय में याज्ञवल्क्य मौन हैं। आरम्भिक भारतीय साहित्य राजा के निर्वाचन की सूचना देता है।[95] कुछ आधुनिक विद्वान इससे सहमति रखते हैं।[96] परवर्ती साहित्य से भी राजा के निर्वाचन का अनुमान किया जाता है। रामायण में बताया गया है कि राजा सगर की मृत्यु के बाद उसका पौत्र अंशुमान राजा हुआ। अंशुमान की नियुक्ति प्रजा द्वारा हुई थी। किन्तु अंशुमान की प्रजा द्वारा यह नियुक्त वस्तुत: उसके राजत्व के अनुमोदन की परिचायिका है। उसे राजा सगर के पौत्र होने के नाते मिला न कि निर्वाचन या चुनाव के फलस्वरूप। राम को युवराज पद देने के प्रस्ताव पर भी प्रजा की अनुमति ली गई थी।[97] किन्तु इस अनुमति या सहमति को भी निर्वाचित राजतंत्र का सूचक नहीं मान सकते। कारण राम जेष्ठत्व के कारण ही इस पद पर नियुक्त हो रहे थे। कौटिल्य के अनुसार मत्स्यन्याय से अभिभूत प्रजा ने मनु को राजा बनाया।[98] ये प्रमाण प्रथम राजा के निर्वाचन के विषय में सही हो सकते हैं। पर केवल इसी आधार पर राजतंत्र को निर्वाचित राजतंत्र की संज्ञा देना त्रुटिपूर्ण है।

रुद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख से सूचना मिलती है कि सभी जातियों के लोगों ने उसे अपना रक्षक चुना था,[99] पर यह उल्लेख भ्रान्तिदायक है। रुद्रदामन को अपने पितामह से उत्तराधिकार में राज्य प्राप्त हुआ था। यह उल्लेख इस प्रकार उसके चुने जाने का संकेत तक नहीं माना जा सकता। इस प्रकार यह कह सकते हैं

कि ऐतिहासिक युग में सामान्यतया राजा के चुनाव के बहुत पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं।

राजा नियंत्रित थे या निरंकुश

प्राचीन काल में राजा राज्य का सर्वोच्च अधिकारी होता था। वह न्याय-पालिका एवम् उच्च अधिकारियों की नियुक्ति करता था और उन पर नियंत्रण रखता था किन्तु स्वयं राजा पर कोई नियंत्रण था या नहीं यह वर्तमान स्थिति में निश्चित रूप से कह सकना कठिन है। राजनीतिक दार्शनिक राजा को धर्म के अधीन मानते थे। प्रजा परिपालन एवं प्रजारक्षण राजा के प्रधान धर्म थे। यदि राजा इनकी अव-हेलना करने का प्रयत्न करता तो उसे प्रजा के पाप का भागी और सभी बान्धवों सहित नष्ट होने का भय दिया जाता था।[100]

राजा को दण्ड के अधीन भी कहा गया है। राजा की निरंकुशता को दूर करने के लिए धर्म तथा दण्ड ऐसे अंकुश थे जिनके कारण राजा का निरंकुश होना सम्भव नहीं था, और यदि वह (राजा) निरंकुश होने का प्रयत्न करता तो उसकी गति वेण आदि के समान ही हो सकती थी।[101]

राजा विधि से भी ऊपर था। ह्वेनसांग ने बिम्बसार के बारे में एक कथा सुनी थी। राजधानी में अग्निकाण्ड बहुत होते थे। उन्हें रोकने के लिए बिम्बसार ने यह आज्ञा दी कि जिसके घर में आग लगेगी उसे जंगल में निर्वासित कर दिया जायेगा। संयोगवश एक दिन राजमहल में ही आग लग गयी। इस पर राजा ने अपने जेष्ठ पुत्र को राज्य देकर निर्वासन ग्रहण करते हुए कहा कि मैं राज्य में नियमों को मान्यता देना चाहता हूं इसलिए मैं स्वयं ही निर्वासित हो रहा हूं।[102]

वैदिक-काल से ही समिति द्वारा राजा की शक्ति पर नियंत्रण लगाया गया था। कुछ वैदिक-उद्धरणों से पता चलता है कि समिति के प्रतिकूल होने पर राजा का अपने पद पर कायम रहना कठिन हो जाता था। पर क्रमशः समिति की शक्ति कम होती गयी तथा 500 ई० पू० तक लुप्त प्राय हो गयी और उसके स्थान पर दूसरी किसी लोकप्रिय संस्था की स्थापना नहीं हो सकी।[103] जायसवाल महोदय का मत है कि राजकीय संगठन की दृष्टि से समिति वैदिक-काल की सर्वप्रधान संस्था थी।[104] पर परवर्ती युगों में ऐसी किसी संस्था की स्थिति अज्ञात है।

अभिषेक समारोह में राजा यह प्रतिज्ञा करता था कि यदि मैं तुम्हें पीड़ित करता हूँ तो उत्पन्न होने और मरने के बीच की अवधि में किये गये समस्त पुण्य, स्वर्ग, जीवन और वंश नष्ट हो जायें।[105] इससे ज्ञात होता है कि राजा को सिंहास-नारूढ़ होने के पूर्व निरंकुश न होने की शपथ लेनी पड़ती थी।

प्राचीन भारत में धार्मिक और पारलौकिक दण्ड का बड़ा डर था और हमारे विधानशास्त्रियों ने राजा की शक्ति पर अंकुश लगाने के लिए इस जनभावना का पूरा

उपयोग किया। सभी शास्त्रकारों ने एकमत होकर कहा है कि प्रजा का पीड़न और सार्वजनिक धन का अपव्यय करने वाला राजा घोर पाप करता है और निश्चय ही नरक का भागी होता है। नरक का भय कितना भयानक था इसकी कल्पना आधुनिक काल में करना कठिन है।[106] कर वसूल करने में भी राजा स्वेच्छाचारी नहीं हो सकते थे, क्योंकि उन्हें राष्ट्र के शोषण से राजलक्ष्मी से विहीन होने के अतिरिक्त प्राण नष्ट होने की भी शंका बनी रहती थी।[107]

प्राचीन भारत में राजा की शक्ति पर सबसे बड़ी रोक विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति ही थी।[108] डॉ० बेनी प्रसाद का कथन है कि हिन्दू राज्य के आदर्श अत्यन्त उच्च थे। उसकी निर्बलता वंशानुगत राजतंत्र का स्वेच्छाचारी स्वभाव था। राजदण्ड का अयोग्य, दुष्ट तथा निर्दय हाथों में पड़ना अवश्यम्भावी होता था।[109]

वैदिक युगीन राजकीय-संस्थाओं का लोप सम्भवतः विस्तृत राज्यों की स्थापना एवं ऐसे राजाओं के इस विस्तार के फलस्वरूप बढ़े प्रभाव के कारण हुआ। उनके इस प्रभाव विस्तार के फलस्वरूप राजाओं की निरंकुशता में भी वृद्धि हुई। मंत्रिपरिषदें राजा द्वारा ही नियुक्त होने के कारण उस पर नियंत्रण रखने में बहुत सक्षम न रही होंगी। राजाओं को स्वेच्छाचारिता एवं निरंकुशता को रोकने के लिए जो धर्म एवं नैतिक सिद्धान्त मिलते हैं वे व्यवहारतः किस सीमा तक तत्कालीन राजाओं पर असर डालते थे यह कहना कठिन है। राजाओं पर नियंत्रण रखने के किसी सशक्त माध्यम के अभाव में ही राजनीतिक दार्शनिकों ने उसे धार्मिक एवं नैतिक भय दिखाए हैं।

जायसवाल ने लिखा है कि राजत्व के विषय में हिन्दू सिद्धान्त यह है कि अति प्राचीन काल से राजा को जनता का सेवक समझा गया है। मेधातिथि ने मानव-धर्मशास्त्र के श्लोकों का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि राजा के देवत्व सम्बन्धी श्लोक केवल शब्द ही हैं, उनमें कानूनी शक्ति नहीं है। मनु के श्लोकों में उल्लिखित राजा के आदेश और कानून महत्त्वहीन मामलों से सम्बन्ध रखते हैं। अन्य हिन्दू विचारक भी नहीं मानते कि हिन्दू राजा अनुत्तरदायी होते थे। याज्ञवल्क्य ने इस सिद्धान्त को तो माना ही नहीं है, वह तो राजा से कहता है कि उसके द्वारा किये गये अवैध कार्यों का परिणाम उसका सिंहासन से हटाया जाना और राजा का सपरिवार राज्य से निष्कासन होगा, इतना ही नहीं राजा को अधिकतम दण्ड भी दिया जा सकता है। उसी लेखक ने पुस्तक की भूमिका में दोनों की तुलना करते हुए भी कहा है कि याज्ञवल्क्य ने राजनीतिक आदर्शों के बारे में मनु से ऊंचा स्तर अपनाया है। उदाहरण स्वरूप जब कि मानव धर्मशास्त्र में राजा के निरंकुता का समर्थन किया गया है, किन्तु याज्ञवल्क्य ने मनु की स्थिति को त्याग दिया है। मानव धर्मशास्त्र तो मौर्यकालीन राजाओं की भांति राजा को विधि-निर्माण की आज्ञा नहीं देता। याज्ञवल्क्य राजा को कानूनों के स्रोतों में भी नहीं गिनता, यद्यपि उसने राजा द्वारा निर्मित कानूनों को माना है।[110]

संदर्भ एवं टिप्पणियां

1. मैकक्रिंडिल, ऐसियन्ट इण्डिया, पृ० 38 ।
2. अलतेकर, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन ऐसियन्ट इण्डिया, पृ० 76 ।
3. अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० 27-30 ।
4. वासुदेव उपाध्याय, प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, द्वितीय-खण्ड मूल लेख, पृ० 37-38 ।
5. जी०सी० चौधरी, पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव नार्दन इण्डिया फ्राम जैन सोर्सेज, पृ० 333 ।
6. याज्ञ०, 1/334 ।
7. अर्थशास्त्र, 8/1 ।
8. याज्ञ०, 1/309-311 ।
9. अर्थशास्त्र, 6/1; मनु०, 7/37-44; विष्णुपुराण, 13/52-57 ।
10. नारदस्मृति, 10 (18), 25; महाभारत, शान्ति०, 118/17-28, 57/14; वा० रामायण, 19/17 ।
11. पी०वी० काणे, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, भाग-3, पृ० 45 ।
12. सरकार, सेलेक्ट इन्सक्रिप्सन्स, पृ० 221 40-48; कामन्दक नीतिसार, 4/6-23 ।
13. जी० एच० सबाइन, हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल थ्योरीज, (न्यूयार्क, 1937), पृ० 50,52 ।
14. याज्ञवल्क्य०, 1/309; महा०, शान्ति०, 56/17-18 आदि०, 82/18 ।
15. महा०, शान्ति०, 69/4-5; 58/21; बुद्धचरित, 2/1; 59/21; अर्थशास्त्र, 1/3 ।
16. मनु०, 7/44, अग्निपुराण, राजधर्म, श्लोक 22; शुक्र०, 1/89-100 ।
17. याज्ञ०, 1/309; मनु०, 7/39 ।
18. मनु०, 7/40-42; सौजातजातक, 1/27; अर्थशास्त्र, 1/5; शुक्र 1/97, 148 ।
19. महा०, शान्ति०, 56/19, 124/15, 20, 62, 66, 160/23; दिव्यावदान 329/12-13; विष्णु पु०, 57/13 ।
20. मनु०, 11/198, 190 ।
21. महा०, शान्ति०, 146/5; 149/18; उद्योग०, 12/19-21 ।
22. हितोपदेश संधि, प्र० श्लोक 50/56; मानसोल्लास, 1/20/306 ।

23. ब्राह्मणेषु क्षमी···क्रोधनोऽरिषु; याज्ञ०, 1/334।
24. मनु०, 8/312-313; महा०, शान्ति०, 157/13; उद्योग०, 39/58-69; शुक्र०, 1/83।
25. महा०, शान्ति०, 56/39; 55/21/40।
26. याज्ञ०, 1/309···,वृद्धसेवकः।
27. याज्ञ०, 1/314-315, 333।
28. मनु०, 7/38, 37; 2/121; महा०, उद्योग०, 39/74।
29. याज्ञ०, 1/309।
30. अग्नि पु०, राजधर्म, श्लोक 29; महा०, शान्ति०, 70/40। उद्योग०, 34/77-80।
31. नित्यमनोपहारिण्या वाचा प्रह्लादयेज्जगत्।
उद्वेजयति भूतानि क्रूरवाग्धनदोऽपि सन्॥ शुक्र०, 1/166-167।
32. याज्ञ०, 1/339-351।
33. गैरोला, अर्थशास्त्र, 1 अधिकरण 14, अध्याय 18, पृ० 78।
34. मनु०, 9/300; महा०, शान्ति०, 27/33।
35. कलिः प्रसुप्तो भवति स जाग्रद्द्वापरंयुगम्।
कर्मस्वभ्युद्यातस्त्रेता विचरंस्तु कृतं युगम्॥ मनु०, 9/302।
36. महा०,उद्योग०, 39/57;शान्ति०, 58/15-16, 27/33, 56/15-16 भीष्म०, 26/47; शुक्र०, 1/48।
37. याज्ञ०, 1/310; महा०, शान्ति; 133/10-11।
38. शुक्र०, 1/161-164।
39. याज्ञ०. 1/317; महा०, शान्ति०, 63/11।
40. महा०, उद्योग०, 33/26।
41. वही, शान्ति०, 56/42-43।
42. मनु०, 7/53; याज्ञ०, 1/310।
43. मनु०, 7/47।
44. मनु०, 7/46 7/49; महा०, शान्ति०, 158/2-11; 159/12-14।
45. श्रीमद्भागवत पु०, 4/26/4, 3/26/10; 4/26/6; अभि० शाकुन्तल, 2/5; कामसूत्र, 2; रघुवंश, 9/49।
46. महा०, उद्योग०, 109/24; 33/66; 34/66, 33, 104; शान्ति०, 21/14; 57/29, 90/21 मनु०; 8/175।
47. याज्ञ०, 1/334; शुक्र०, 1/119; बा० रामायण, बालकाण्ड, 38/-20।

48. याज्ञ०, 2/200-201; मनु०, 9/221-222, 227; महा० सभा०, अध्याय 52-58।
49. याज्ञ०, 1/336-337; लक्ष्मीदत्त ठाकुर, प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन, पृ० 215-16।
50. अग्निपुराण, राजधर्म, 122 श्लोक।
51. ऋग्वेद, 2/28/7; 2/28/10; ऐतरेय ब्राह्मण, 8/9, 11।
52. महा०, शान्ति०, 57/42; मनु०, 7/2।
53. मह०, आरण्य०, 3/11-12; महावस्तु०, जि०, 2/461/6।
54. डी०सी० सरकार, सेलेक्ट इन्सक्रिप्सन्स, पृ० 177।
55. मात्स्यन्यायमपोहितुं प्रकृतिभिर्लक्ष्म्या: करं ग्राहित:।
श्रीगोपालइति क्षितीशशिरसां चूड़ामणिस्तत्सुत:॥
एo इंo, 4, श्लोक 2।
56. मनु०, 8/307-308; अग्निपुराण, राजधर्म, 9/10/11।
56. याज्ञ०, 1/312-13, 322; 2/2।
57. याज्ञ०, 1/329, 342, 346, 325, 341।
58. याज्ञ०, 1/10-128, 3/45-218; मनु०, 188-119, देखिए अध्याय 2 और 4।
59. महा०, शान्ति०, 25/31।
60. महा०, सभा०, 5/116; महा०, शान्ति०, 67/31।
61. मनु०, 7/35; अर्थशास्त्र, 1/3; बृ०स्मृ० व्या०का० 1/1-18।
62. पी०वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-3, पृ० 51।
63. याज्ञ०, 1/361; महा० उद्योग०, 29/27; अर्थशास्त्र, 1/2/3।
64. महा० शान्ति०, 45/4, 789-10; आरण्य०, 207/26, शुक्र०, 1/24,26, 60।
65. याज्ञ०, 2/157, 2/154।
66. महा० सभा०, 5/60-69, अर्थशास्त्र, 2/1।
67. उपाध्याय, प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका, पृ० 319।
68. याज्ञ०, 2/166, आश्रमवासिक (गीता , 13/13, याज्ञ०, 2/165।
69. याज्ञ०, 2/192, 240-241, 244-46, 249,253।
70. महा० शान्ति०, 52/32, सभा०, 5/103-105; आरण्य, 207/24।
71. अर्थशास्त्र, 2/1-2, 16।
72. मनु०, 7/14-21, 22-24, 80, 82-88, 144/3/134-136, 143, 9/309-386, 401-403, 92 से 6-260, 304, 309, 11, 18/22, 23।

73. याज्ञ०, 1/314, मनु०, 7/79; महा०, सभा०, 11/43-66 ।
74. वही, अश्वमेधिक (गीता), 3/8-10, महाभारत, 3/64 ।
75. शाश्वतोऽयं भूतिपथो नास्यान्तमनुशुश्रुय । महा०, शान्ति०, 837 ।
76. द्विरश्वमेध-याजिनः सेनापतेः पुष्यमित्रस्य···।
उपाध्याय, प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, द्वितीय-भाग, पृ० 25, 30 ।
77. अलतेकर, गुप्तकालीन मुद्राएं (पटना, 1972), पृ० 43-46, 140-142 ।
78. याज्ञ०, 3/121-124 ।
79. याज्ञ०, 1/6, 315-316, 323 ।
80. महा०, अनुशासन०, 8/9-10, महा०, अरण्य (गीता), 200/127-129 ।
81. अशोक, हिन्दी अनुवाद, (नई दिल्ली, 1974), पृ० 282-283 ।
82 फलीट का शिलालेख संग्रह, 5/6/7 ।
83. याज्ञ०, 1/359-60, 355, 358, 2/1 ।
84. सुप्रणीतेन दण्डेन प्रियाप्रियसमात्मना ।
प्रजा रक्षिति यः सम्यगधर्म एव स केवल ।। महा०, शान्ति०, 101/11 ।
85. याज्ञ०, 1/335, 354; मनु०, 7/33-34 ।
86. धर्मेण व्यवहारेण प्रजा पालय पाण्डव । महा०, शान्ति०, 71/25, मनु०, 7/16 ।
87. अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० 150 ।
88. रामायण, अयो०, श्लोक 16, सर्ग 8; महा०, उपर्व, 149/30-31 ।
89. मनु०, 7/202; अर्थशास्त्र वार्ता, 38, अधि० 5, अ० 6; 53, अधि० 5, अ० 6 ।
90. एच०सी० रायचौधरी, पोलिटिक हिस्ट्री ऑफ ऐसिएन्ट इण्डिया, पृ० 160 ।
91. अलतेकर, पूर्वलिखित कृति, पृ० 66-69 ।
92. एन०एन० लॉ, एस्पेक्टस ऑफ इण्डियन पोलिटी, पृ० 53-60 ।
93. डी०सी० सरकार, सेलेक्ट इन्सक्रिप्सन्स, पृ० 263 ।
94. आर० के० मुकर्जी, चन्द्रगुप्त मौर्य एण्ड हिज् टाइम्स, पृ० 66 ।
95. ऋग्वेद, 11/124/8; अथर्व०, 3/4/2 ।
96. के० पी० जायसवाल, हिन्दू पॉलिटी, पृ० 186 ।

97. रामायण, बा०, श्लोक 1 सर्ग 42; अ०, श्लोक 46, सर्ग 1, पी०सी० धर्मा, रामायण पालिटी, पृ० 14।
98. अर्थशास्त्र, वार्ता, 6-7, अ० 13; शुक्र०, 2/264-66; पंचतंत्र, 3/112।
99. डी०सी० सरकार, सेलेक्ट इन्स्क्रिप्सन्स, पृ० 177।
100. याज्ञ०, 13/37, 40।
101. लक्ष्मीदत्त ठाकुर, प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन, पृ० 228।
102. पी० एन० बनर्जी, पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन ऐन्सियन्ट इण्डिया, पृ० 47 की पादटिप्पणी।
103. अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० 63।
104. जासवाल, काशी प्रसाद, हिन्दू राजतंत्र, पृ० 12-13।
105. वही, दूसरा-खण्ड, पृ० 46-47।
106. अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० 72।
107. याज्ञ०, 1/340; मनु, 7/111-112।
108. अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० 75।
109. बेनी प्रसाद, दि स्टेट इन ऐन्सियन्ट इण्डिया, पृ० 506-507।
110. के० पी० जायसवाल, मनु एण्ड याज्ञवल्क्य, पृ० 97-98, 10-13।

+●——●+

नवम् अध्याय

राज्य की आय के स्रोत

कोष का महत्त्व

कोष उस संचित धन को कहते हैं जो करों आदि के माध्यम से संचित किया जाता है और जिसका व्यय राज्यसंचालन के लिए किया जाता है। कोष को सप्तांग में रखकर इसके महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। याज्ञवल्क्य ने राजा को आय-व्यय का हिसाब स्वयं देखने की सलाह दी है। सम्भवत: कोष के महत्त्व के कारण ही राजा को ऐसा आदेश दिया गया है। कोष के दुरुपयोग पर नियंत्रण के लिए भी यह सुझाव सम्भव है। राजत्व कोष पर आश्रित है। कोष तथा सेना एक दूसरे पर आधारित माने गए हैं। कोष, बल तथा अर्थ ही ऐसे तीन मूल तत्त्व हैं जो राष्ट्र की वृद्धि के लिए आवश्यक हैं।[1] गौतम ने भी कोष के महत्त्व को स्वीकारा है।[2]

कौटिल्य ने राज्य के समस्त कार्यों का आधार कोष को ही माना है, इसी कारण उन्होंने राजा का सर्वप्रथम उद्देश्य कोष की वृद्धि करना बतलाया है। यही कारण है कि कौटिल्य ने राज्य का आधार कोष को ही माना है। इसी के द्वारा सेना की प्राप्ति होती है तथा कोष की वृद्धि करने वाली भूमि की प्राप्ति, कोष और सेना से होती है।[3]

राजतरंगिणी से हमें इस बात की सूचना मिलती है कि काश्मीर नरेश कलश-व्यापारी की भांति हिसाब रखता था और राज्य के आय-व्यय का स्वयं निरीक्षण करता था। इसके लिए उसने एक कणिक की नियुक्ति की थी जो सदैव उसके साथ रहता और राज्य के हिसाब का उल्लेख किया करता था।[4]

कोष संरक्षण राजा का महत्वपूर्ण कर्तव्य है मनु ने राजा के दैनिक कार्यक्रम में इसकी देखरेख का समय भी निर्धारित किया है। कुल्लूक ने इसकी व्याख्या करते हुए बताया है कि कोष को अन्य व्यक्ति के अधिकार में नहीं रखना चाहिए वरन् राजा को इसे स्वयं देखना चाहिए।[5] अत्रिसंहिता में भी कोष-वृद्धि को राजा के पांच गुणों में माना गया है।[6]

महाभारत में कोष को राजा का मूल बताया गया है तथा निरंतर इसकी रक्षा का निर्देश भी दिया गया है। एक अन्य स्थल पर कोष और सेना को राजा का मूल कहा है। इसमें कोष को सेना का मूल बताया है। विष्णु धर्मोत्तरपुराण में भी ऐसा उल्लेख उपलब्ध है।[7] कोष क्षय सेना के क्षय का कारण होता है।[8] उसके इस महत्त्व के कारण ही महाभारत में कोष की प्रशंसा की गयी है। कोषहीनता राजा को निर्बल

करती है। इसलिए भीष्म राजा को अपने तथा शत्रु से धन लेकर कोष-संग्रह का आदेश देते हैं।[9] कामन्दक का विचार है कि जिस प्रकार दुग्धहीन गाय को बछड़ा त्याग देता है, उसी प्रकार कोषहीन राजा को प्रजा त्याग देती है।[10]

इस प्रकार कोष राज्य का महत्त्वपूर्ण अंग है। राज्य की आय का मुख्य स्रोत 'कर' माना गया और व्यवस्था निर्धारित हुई। राजा का यह प्रमुख कर्तव्य माना गया कि वह नियमित रूप से प्रजा पर कर लगाए। इस प्रकार कर से कोष की वृद्धि होती है और कोष की वृद्धि से राज्य की वृद्धि होती है। वस्तुत: कोष बिना राजा न तो प्रसन्न ही रह सकता है और न ही उसका अस्तित्व ही रह जाता है। धनाभाव के कारण राजा प्रजा को कष्ट देने लगता है और पीड़ित प्रजा राजा के मूलोच्छेद में लग जाती है।[11]

कोष की रक्षा

कोष-संग्रह के साथ ही उसकी रक्षा और रक्षित कोष की वृद्धि भी राजा के आवश्यक कार्य हैं। याज्ञवल्क्य ने कहा है कि राजा को अपनी तथा कोष की सुरक्षा के लिए दुर्ग का निर्माण करना चाहिए।[12] अर्जित धन की रक्षा न करने वाले राजा की निन्दा की गई है।[13] फलत: संग्रहीत धन की यत्नपूर्वक रक्षा का निर्देश दिया गया है। आदर्श कोष वह है जिसमें आवश्यकता की सम्पूर्ण सामग्री पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो और वह आपत्ति में भी रिक्त न हो।[14]

कर के सिद्धान्त

राज्य की उन्नति राजा और प्रजा के सहयोग पर ही निर्भर करती है इसलिए राजा को प्रलोभन वश अपनी तथा दूसरों की जड़ कमजोर न करने की सलाह दी गयी है।[15] जिस कार्य से राजा और प्रजा दोनों का लाभ हो उस पर विचार करते हुए ये कर लेना चाहिए।

प्रजा-परिपुष्टि का सिद्धान्त—राजा-प्रजा रक्षण के अपने कार्य के बदले कर लेता है किन्तु यदि राजा रक्षा प्रदान नहीं करता तो वह प्रजा द्वारा किए गये पाप के आधे का भागी होता है। मनु उचित परिपालन एवं रक्षण करने पर ही राजा को प्रजा द्वारा दिये गये करों का अधिकारी मानते हैं। कर ग्रहण करके भी प्रजा का परिपालन न करने वाले राजा को वे नरक का भागी बतलाते हैं।[16] कर द्वारा प्राप्त धन राजा के वेतन के रूप में उसे मिलता था। उसका व्यय उसे प्रजा के योग-क्षेम सम्बन्धी कार्यों में करने की व्यवस्था थी। उपज का छठा भाग राजा को कर के रूप में मिलता रहा है। परन्तु इस समस्त धन को ग्रहण करने का अधिकारी वही राजा है जो प्रजा के योग-क्षेम में सदैव तत्पर रहता है।[17] प्रजा की रक्षा करने के कारण ही राजा को उससे प्राप्त कर का भोक्ता माना है। गाय का उचित ढंग से परिपालन करने पर ही उससे इच्छानुसार दूध प्राप्त किया जा सकता है। ऐसी गाय दूध देने के लिए परेशान रहती हैं। इसी प्रकार राजा द्वारा पालित एवं रक्षित प्रजा राजा को

स्वयं ही कर देने के लिए उद्यत रहती है। जिससे राजकोष की अभिवृद्धि होती है।[18] कर से आय और भूमि की उपज के छठें भाग से ही राजस्व का निर्माण होता है, जो प्रजा की रक्षा करने का पुरस्कार है। जिस प्रकार फूल-फल तथा वृक्षों की रक्षा करने पर वह समय से फल-फूल देते हैं उसी प्रकार प्रजा की रक्षा करते हुए उससे कर लेना चाहिए।[19] रक्षा के परिणामस्वरूप ही राजा वेतन प्राप्त करता है।[20]

राजा द्वारा प्रजा के सम्यक् परिपालन एवम् उत्थान से कोष की वृद्धि होती है।[21] अशोक मनुष्य मात्र को अपनी प्रजा (पुत्र वत्) मानता था और जिस प्रकार वह अपने पुत्रों के कल्याण का ध्यान रखता था उसी प्रकार प्रजा का भी।[22] प्रजा द्वारा प्राप्त समस्त धन का प्रयोग अशोक ने लोकहितकारी कार्यों के सम्पादन में किया।[23]

इस प्रकार उपर्युक्त मन्तव्यों से ज्ञात होता है कि याज्ञवल्क्य के समय में प्रजा-पालन अथवा 'प्रजा-परिपुष्टि-कर-सिद्धान्त' प्रचलित था। याज्ञवल्क्य ने इसका संक्षिप्त उल्लेख ही किया है पर उनसे पूर्ववर्ती और परवर्ती ग्रन्थों में भी इसके उल्लेख से यह स्पष्ट होता है कि कम से कम सैद्धान्तिक स्तर पर इस सिद्धान्त का अनुसरण प्राय: सम्पूर्ण प्राचीन भारत में होता रहा।

कर-मुक्ति—याज्ञवल्क्य के समय में ब्राह्मणों को स्नेह एवं श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता था। याज्ञवल्क्य के अनुसार राजा को ब्राह्मणों के प्रति क्षमाशील होना चाहिए। सम्भवत: याज्ञवल्क्य के समय ब्राह्मण कर मुक्त रहे होंगे। मनु ने श्रोत्रिय से कर लेने का निषेध किया है।[24] मरते हुए राजा को भी श्रोत्रिय से कर न ग्रहण करने का निर्देश मिलता है।[25] नारद स्मृति श्रोत्रिय से गृह सम्बन्धी कर लेने का निषेध किया है पर व्यापारी ब्राह्मणों से कर लेने का उन्होंने उल्लेख किया है।[26] कौटिल्य ने कुछ कर श्रोतिय के लिए निषिद्ध बताएं हैं। इस निषेध के लिए उन्होंने परिहार शब्द का प्रयोग किया है।[27] खारवेल के हाथी गुम्फा अभिलेख में भी परिहार का उल्लेख मिलता है।[28]

गौतमधर्म सूत्र तथा विष्णु धर्मसूत्र एवं मानसोल्लास आदि[29] में भी ब्राह्मणों से कर लेना वर्जित था। परमार वंश के राजा सोमसिंह देव और विजय नगर के राजा अच्युत राय के अभिलेखों में सब ब्राह्मणों को कर-मुक्त किये जाने का वर्णन मिलता है।[30]

याज्ञवल्क्य इस सन्दर्भ में कोई निश्चित सूचना नहीं देते हैं, किन्तु वे ब्राह्मणों को विशेषाधिकारों से युक्त मानते हैं। विशेषकर विद्वान् ब्राह्मणों को ही कर से मुक्त रखा गया था। इस प्रकार अनुमानत: यह कह सकते हैं धर्मशास्त्रीय विधान के अनुरूप ब्राह्मणों के एक वर्ग को कर मुक्त रखने का समर्थन याज्ञवल्क्य से भी होता है। उसके विपरीत व्यापार आदि कर्म में संलग्न ब्राह्मणों को कर देना पड़ता था।[31]

खनिरक्षण का सिद्धान्त—सिद्धान्तत: पृथ्वी में गड़े धन के आधे भाग पर राजा

का अधिकार होता था । याज्ञवल्क्य का विचार है कि ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य लोगों द्वारा प्राप्त निधियों का 1/6 भाग लाने वाले को तथा शेष भाग राजा का होता था । इसे लेकर राजकोष में जमा कर दिया जाता था । गौतम ने भी ऐसे धन को राजधन कहा है ।[32] सैद्धान्तिक-स्तर पर चूँकि भूमि पर राजा का अधिकार होता था सम्भवत: इसीलिए उसके अन्दर छिपे धन पर भी उसी का अधिकार मान्य था । केवल ब्राह्मणों की भूमि से प्राप्त निधि पर ही राजा का अधिकार नहीं था । शेष प्राप्त-कर्ताओं को केवल पुरस्कार देने की व्यवस्था थी ।

आपत्ति-काल में कर के सिद्धान्त

भारतीय आचार्यों ने केवल कर की दर निश्चित नहीं की थी, अपितु युद्ध एवं दुर्भिक्ष आदि के फलस्वरूप उत्पन्न विशिष्ट स्थितियों के लिए भी उन्होंने नियम बनाए थे । मनु विषम परिस्थितियों में राजा को 1/6 के स्थान पर 1/4 भाग कर के रूप में लेने का आदेश देते हैं ।[33]

महाभारत आपत्ति-काल में निर्धन-प्रजा से भी यथा-साध्य कर लेकर कोष-वृद्धि का समर्थन करता है । इससे राजा दोष का भागी नहीं होता । शुक्र साधारण स्थिति में कर वृद्धि के विरोधी हैं, किन्तु युद्धादि के अवसर पर वह राजा को कर सम्बन्धी विशेष अधिकार प्रदान किये हैं । कौटिल्य भी ऐसे अवसर पर राजा को चतुर्थांश या तृतीयांश कर लेने की अनुमति देते हैं । पराशर, बृहस्पति आदि ने भी इसी तरह का विचार व्यक्त किया है ।[34]

महाभारत में एक स्थल पर कहा गया है कि यदि प्रजा रक्षण में राजा अन्याय भी करता है तो इससे वह दोषी नहीं होता । अन्यत्र यह कहा गया है जिस प्रकार राजा अपनी सम्पत्ति प्रजाहित के निमित्त व्यय करता है वैसे ही प्रजा को भी राजा की रक्षा के लिए तत्पर रहना चाहिए । अनुमानत: ये वक्तव्य आपत्तिकाल में उपस्थित स्थिति-विशेष से निपटने के लिए सम्भवत: धन-संग्रह की ओर इंगित करते हैं ।[35] जायसवाल ने इनमें एक ओर कर द्वारा धन-संग्रह का राजा का व्यापक अधिकार एवं दूसरी ओर शास्त्रीय कर प्रणाली की त्रुटि देखने का प्रयास किया है,[36] किन्तु यह अनुमान कहां तक सही है कहना कठिन है ।

याज्ञवल्क्य ने यद्यपि कर की नीति के विषय में कोई प्रत्यक्ष सूचना नहीं दी है, तथापि वह अनुचित उपायों से कर वसूली का निषेध करते हैं ।[37] अत: इस विषय में वह पूर्ववर्ती विचारकों का समर्थन करते प्रतीत होते हैं ।

शोषण के दुष्परिणाम

याज्ञवल्क्य के अनुसार न्यायपूर्वक प्रजा का परिपालन करने पर राजा प्रजा के पुण्य का 1/6 भाग प्राप्त करता है । भूमि आदि दानों से प्राप्त पुण्यफल से प्रजा परिपालन का फल कहीं अधिक होता है । स्पष्टत: याज्ञवल्क्य विधि-विहित शासन एवं

कर-व्यवस्था के पक्षधर हैं। यह उनके इस उल्लेख से भी स्पष्ट होता है कि जो राजा अन्यायपूर्वक प्रजा से कर ग्रहण कर कोष वृद्धि करता है वह शीघ्र ही विनष्ट हो जाता है। प्रजा-पीड़न से प्रज्वलित अग्नि राजा के कुल, श्री, एवं प्राण को भी नष्ट कर देती है।[38] इस प्रकार स्पष्ट है कि याज्ञवल्क्य ने धर्म-विरुद्ध कर वसूलने की निन्दा की है।

जो राजा प्रजा की रक्षा नहीं करता, अपितु उससे कर वसूल करता है वह अधोगति को प्राप्त होता है।[39] ऐसे राजा को तस्कर कहा गया है। बछड़े का उदाहरण देते हुए राष्ट्र को अत्यधिक कर-भार से त्रस्त करने का निषेध किया गया है क्योंकि इससे राष्ट्र दरिद्र हो जाता है और कोई महान् कार्य करने में सक्षम नहीं रह जाता।[40]

इस प्रकार अत्यधिक शोषण से भविष्य में प्रजा से कर की आशा नहीं की जा सकती। सम्भवतः शोषण का निषेध दो कारणों से किया गया है। यह इसलिए कि कर-भार से त्रस्त प्रजा क्षुब्ध होकर स्वयं विद्रोह कर सकती है अथवा किसी विद्रोही या आक्रामक का साथ दे सकती है। आपत्तिकाल ही इस दृष्टि से एक अपवाद था। वह भी इसलिए कि आपात् कालीन कर प्रजा हित के लिए वसूल किए जाते थे। ऐसे कर लगाने से पहले प्रजा के सामने धन-संग्रह की आवश्यकता के कारण प्रस्तुत करने की व्यवस्था भी थी जिससे प्रजा यह न समझे कि राजा अपने स्वार्थ के लिए कर ले रहा है वह कर-वृद्धि का विरोध न करे।

कोष संग्रह के साधन

प्राचीन काल में कोष-संग्रह मुख्यतः प्रजा से लिए गये कर द्वारा होता था। याज्ञवल्क्य के समय में कोष-संग्रह के अनेक साधन थे।

भूमिकर—प्राचीन काल के भूमि-कर पर विद्वानों में मतैक्य नहीं है। वैदिक-युग में यही राज भाग "बलि" कहा जाता था।[41] गौतम ने उत्पादन का 1/10, 1/8 या 1/6 हिस्सा राज भाग माना है।[42] अशोक के लेखों में "भाग" और "बलि" दोनों का उल्लेख है।[43] फलस्वरूप भाग और बलि सम्भवतः दो भिन्न कर थे। वैदिक एवं परवर्ती साहित्य में राजा के बलि प्राप्त करने का उल्लेख मिलता है।[44] बलि सम्भवतः सर्वसाधारण से ली जाती थी और लोग इसे स्वेच्छा से राजा के सम्मानार्थ देते थे। सम्भवतः समृद्ध लोगों से राजा को विशेष धन मिलता था। इसी को दृष्टि में रखते हुए कहा गया है कि धनी लोगों को राजा वैसे ही खाता है जैसे अग्नि कानन को।[45] बौधायन और वशिष्ठ के अनुसार राजा उपज का 1/6 भाग प्राप्त करता था। नारद एवं विष्णु के भी मत ऐसे ही हैं।[46]

राजा उपज का 1/6, 1/8 या 1/12 भाग प्राप्त कर सकता था।[47] आवश्यकता पड़ने पर वह उपज का 1/4 भाग भी कर के रूप में ले सकता था। याज्ञवल्क्य ने भी कृषि की उपज का छठा भाग लेने का विधान किया है।[48] महाभारत में

धान्य का दसवां भाग और अर्थशास्त्र में धान्य का षष्ठ भाग लेने का निर्देश है।[49] मौर्यकाल में कृषि की आय का 25 प्रतिशत कर लिया जाती था।[50] अशोक ने लुम्बिनी ग्राम में रियायत-स्वरूप यह दर घटा (आठवां भाग) दी थी।[51]

मेगस्थनीज ने उपज का 1/4 भाग राजकर बताया है।[52] डायोडोरस और स्ट्रैबो ने भी उपज के 1/4 भाग का उल्लेख कर-स्वरूप किया है।[53] राज्य धन-जन की रक्षा करने के फलस्वरूप प्रजा से भूमि की उपज का 1/6 भाग कर के रूप में लेता था।[54] इस दर का प्रचलन काफी बाद तक रहा प्रतीत होता है।[55]

भूमि कर की दर में यह वैभिन्य सम्भवतः राज्य की स्थिति के फलस्वरूप हुआ होगा। प्राचीन भारत में छोटे और बड़े सभी प्रकार के राज्य थे। छोटे राज्यों के साधन सीमित थे इसलिए उन्हें सम्भवतः बड़ी मात्रा में कम लोगों से कर लेना पड़ता था। बड़े राज्यों की स्थिति विपरीत होने के कारण उनमें कर-भार कम होने की अधिक सम्भावना लगती है। प्राचीन लेखकों ने सम्भवतः इस स्थिति को ध्यान में रखते हुए ही भूमि कर की विभिन्न दरों का समय-समय पर उल्लेख किया है। भूमि की उत्पादन क्षमता के आधार पर भी कर की दर कम या अधिक हो सकती।[56]

भूमिकर सम्भवतः अनाज के रूप में ही लिया जाता था। इसके "भाग" नाम से यही ध्वनित होता है कि फसल के कटते ही लिया जाने वाला राज्य का भाग था। कर एकत्र करने वाले 'द्रोण-मापक' कहे जाते थे और द्रोण से अनाज नाप लेते थे। जातकों में ऐसी कथाएं हैं जो लोग खेत से एक मुट्ठी धान की बाल तोड़ लेने पर भी इसलिए पश्चाताप करते हैं कि इससे राजा अपने भाग से वंचित होता है। ऐसे काम के लिए दण्ड का विधान भी मिलता है।[57]

वाणिज्य एवं व्यापार पर कर—राज्य की आय का दूसरा मुख्य साधन शुल्क था। याज्ञवल्क्य के अनुसार बिक्री की वस्तु का मूल्य निर्धारित करके मूल्य का बीसवां भाग राजा शुल्क के रूप में लेता था। इसके अतिरिक्त शुल्क से बचने के लिए वस्तु की तौल कम बताने वाले, शुल्क-स्थान से पलायित होने वाले एवं विवादास्पद पण्य को क्रय करने वाले व्यक्तियों से पण्य का आठ गुना दण्ड-स्वरूप ग्रहण किया जाता था।[58] महाभारत तथा मनु ने खरीद, बिक्री और मार्ग का सम्यक् विचार कर व्यापारी से कर लेने का आदेश दिया है। नारद के अनुसार व्यापारियों को कर दिये बिना नहीं जाना चाहिए। शुक्र इनके लाभांश का 32वां भाग राजा के लिए निश्चित करते हैं।[59] गौतम एवं कौटिल्य आदि से इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।[60] राज्य के बड़े बाजारों से विक्रय-शुल्क पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होता था।[61]

गुप्त-काल में व्यापारियों तथा शिल्पियों पर लगाये कर को शुल्क कहते थे।[62] क्षीण धन वाला राजा भी इस प्रकार कर निर्धारण करे कि व्यापार से जीविका करने वालों को किसी प्रकार का विघ्न न हो।[63] इस उल्लेख से इस कर को निर्धारित करने की नीति का अनुमान होता है।

व्यापारियों को ग्राम या नगर में आने वाली वस्तुओं पर चुंगी देनी पड़ती थी। राज्य की सड़कों की मरम्मत और सुरक्षा पर बहुत खर्च करना पड़ता था। फलस्वरूप वह अपने इन कार्य के बदले व्यापारियों से यह कर लेता था। यह कर या चुंगी नगर या ग्राम के प्रवेश-द्वार पर "शौल्किक" नामक कर्मचारियों द्वारा वसूल की जाती थी। यह शुल्क पैसे या पदार्थों के रूप में वसूल किया जाता था।[64] "शौल्किक" नामक पदाधिकारी शुल्क का अध्यक्ष होता था।[65] ग्रीक लेखकों के अनुसार वस्तुओं के विक्रय-मूल्य का दशमांश राजा को शुल्क रूप में देना पड़ता था, जो विक्रेता इस कर से बचने की चेष्टा करते थे, उन्हें मृत्यु-दण्ड दिया जाता था। विक्रेताओं को राज्य की ओर से लाइसेन्स लेना पड़ता था। भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तु बेचने के लिए अलग-अलग शुल्क देने पड़ते थे। राजा के केश-स्नान के दिन लोग सर्वोत्तम वस्तुएं उपहार रूप में भेंट करते थे। राजा को प्रदर्शनी के लिए हंस, बत्तख, मुर्गी, कबूतर, चीता, दुतेंआ, वानर आदि प्रजा से उपहार रूप में प्राप्त होते थे।[66]

शिल्पियों पर कर— शिल्पियों से कर लेने के विषय में मनु का मत बहुत महत्त्वपूर्ण है। शिल्पियों से कर के रूप में एक बेगार लिया जाता था। मनु के अनुसार राजा को लोहार, बढ़ई तथा शूद्रादि से प्रत्येक महीने में कर के स्थान पर एक दिन काम करा लेना चाहिए। याज्ञवल्क्य इस विषय में मौन हैं। लगता है कि उन्होंने इस विषय में मनु का ही समर्थन किया है। शुक्र ने प्रत्येक पक्ष में एक बार अथवा एक मास में दो बार बेगार लेने का निर्देश दिया है।[67] कर के रूप में बेगार लेने के पीछे सम्भवत: यही कारण हो सकता है कि राज्य अपनी समस्त प्रजा को सुरक्षा एवं जीवनयापन का मौका प्रदान करता था। फलत: उसे भी उनसे कर प्राप्त करने का अधिकार था। जो लोग राज्य को वह कर किसी अन्य माध्यम से नहीं दे सकते थे उन्हें ही सम्भवत: बेगार के रूप में राज्य के लिए कार्य करना पड़ता था।

महाभारत में माल की तैयारी, उसकी खपत और शिल्प की उत्तम, मध्यम आदि श्रेणियों का निरीक्षण कर शिल्प और शिल्पकारों से कर लेने पर बल दिया है।[68] विजयनगर-साम्राज्य में बुनकरों के प्रति करघा 12 पणम् कर देना पड़ता था। सम्भव है कि पहले भी यही परिपाटी रही हो।[69]

पशु कर

प्राचीन काल में पशु को सम्पत्ति के रूप में स्वीकार किया जाता था। अनेक पशुपालक धनवान भी रहे होंगे। पशुपालन चूंकि एक लाभप्रद पेशा था और इसमें व्यस्त लोग भी राजकीय सुरक्षा का लाभ उसी प्रकार उठाते थे जिस प्रकार समाज के अन्य लोग, फलस्वरूप इन्हें भी कर देना पड़ता था। प्राचीन काल में पशुओं पर भी कर लिया जाता था। अथर्ववेद से इस बात की सूचना मिलती है।[70] याज्ञवल्क्य ने पशु कर के विषय में उल्लेख नहीं किया है। मनु इसकी दर 50वां भाग और शुक्र आठवां भाग स्वीकार करते हैं।[71] वाकाटक के लेखों में बैल और भैंस आदि पर लगाये

गए करों का उल्लेख मिलता है।[72] सोमेश्वर के समय में पशुओं के व्यापारियों से लाभ का पचासवां भाग कर के रूप में लिया जाता था।[73] भीष्म के अनुसार मनु की प्रजा ने अपने पशुओं की वृद्धि का पचासवां भाग राजा को कर स्वरूप देने की प्रतिज्ञा की थी।[74] पशुकर सम्भवतः पशुओं के रूप में ही वसूला जाता था।

आकर कर—स्वर्ण आदि धातुओं पर भी उनके मूल्य के अनुपात से कर लिया जाता था। किन्तु याज्ञवल्क्य इस विषय में मौन हैं। मनु केवल सोने पर ही कर का निर्देश देते हैं, किन्तु शुक्र ने इसके अतिरिक्त चांदी, ताम्र, लोहा और सीसा आदि धातुओं पर भी कर लेने का सुझाव दिया है। सुवर्ण का दसवां भाग कर के रूप में निर्धारित मिलता है।[75] भीष्म ने आकर के निरीक्षण के लिए राजा को विश्वस्त आमात्यों की नियुक्ति करने का निर्देश दिया है।[76]

द्यूत कर—द्यूत से भी राजकोष की ,वृद्धि होती थी। याज्ञवल्क्य के अनुसार राजा द्वारा संरक्षित होता था। वह उसे यथोचित अंश प्रदान करता है।[77] अर्थशास्त्र में भी ऐसे विचार व्यक्त हैं। इसके अनुसार द्यूताध्यक्ष जीतने वाले जुआरी से पांच प्रतिशत कर लेता था। इसके अतिरिक्त वह पासे, अरल, शलाका, जल तथा भूमि का कर भी वसूल करता था।[78]

संतरण-कर—प्राचीन काल में नदी को पार करने के लिए भी कर देना पड़ता था। याज्ञवल्क्य ने इसका उल्लेख किया है। उनके अनुसार 'संतरण-कर' लेने वाला अधिकारी यदि स्थल का शुल्क ग्रहण करता है तो उस पर दस पण दण्ड लगाना चाहिए।[79] इससे स्पष्ट होता है कि संतरण कर उनके समय में वसूला जाता था और यह स्थल-शुल्क से भिन्न था।

कौटिल्य ने इसके लिए 'तर' नाम दिया है। यह राजकीय अधिकारी नवाध्यक्ष के अधिकार-क्षेत्र में आता था। बोझ के आधार पर कर की दर का निर्धारण कौटिल्य मानते हैं। ऐसा प्रतिपादन मनु ने भी किया है। भीष्म ने भी राजा को 'तर-कर' ग्रहण करने का निर्देश दिया है।[80] मेगस्थनीज ने स्ट्रैबो के वर्णन के आधार पर नदियों के अध्यक्ष का वर्णन किया है।[81] पतंजलि ने नदी शुल्क के लिए 'तर्पण' नाम दिया है।[82] संतरण-कर संभवतः उन व्यापारियों से मुख्यतया लिया जाता था जो जलमार्ग से व्यापार करते थे। इसके अतिरिक्त सम्भवतः यह सामान्य व्यक्तियों से भी लिया जाता था। यह संतरण कर के नीचे दिए अपवाद से सिद्ध हैं।

संतरण-कर से छूट भी दी जाती थी। दो मास इससे अधिक समय से गर्भियो-स्त्री, संन्यासी, ब्राह्मण, ब्रह्मचारी, बालक, रोगी, वृद्ध और दूत आदि इससे मुक्त थे। यह नियम समुद्र के विषय में सम्भवतः लागू नहीं होता था।[83] इसका अभिप्राय यह है कि समुद्र के द्वारा होने वाले विदेशी व्यापार से बन्धित कर की दर सम्भवतः भिन्न थी।

मानसोल्लास में राजा को बन्दरगाहों की सुरक्षा करने और दूर देश से सामान लेकर बन्दरगाहों पर आए व्यापारियों से शुल्क लेने की व्यवस्था दी गई है। पर यदि विदेशी नौकाएं प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण अपने बन्दरगाहों पर आयें तो थोड़ा बहुत छोड़कर उनका सारा सामान जब्त कर लेना चाहिए।[84] इसकी पुष्टि काकतीय राजा गणपतिदेव के मोटुपल्लि स्तम्भ-लेख से भी होती है।[85]

अर्थ दण्ड—दण्ड के रूप में प्राप्त धन भी कोष वृद्धि का साधन था। अपराधियों के अपराध के अनुरूप अर्थदण्ड लगता था। याज्ञवल्क्य ने निन्दापरक बचनों का प्रयोग करने वाले अपराधी के लिए साढ़े तेरह पण दण्ड का विधान किया है। मां एवं बहन को अपशब्द कहने वाले अपराधी से पच्चीस पण दण्ड के रूप से वसूल किया जाता था। मनु तथा कौटिल्य ने भी अर्थदण्ड का उल्लेख किया है।[86] बृहस्पति के अनुसार, अर्थदण्ड के रूप में न्यायालयों से धन मिलता था।[87]

पृथ्वी में गड़ी निधि

जमीन में गड़ी निधि भी राजकीय आय का एक स्रोत थी। याज्ञवल्क्य पृथ्वी में गड़े (लावारिस) धन के आधे भाग पर राजा का अधिकार मानते हैं। गौतम ने भी ऐसे धन को राजधन कहा है।[88] जमीन में गड़े खजाने भी इसी श्रेणी में आते थे और उन पर भी राज्य का अधिकार माना जाता था। कारण लावारिस माल का स्वामी राज्य ही होता था। दूसरा कारण था भूगर्भ से निकलने के कारण वे भी खनिज सम्पत्ति के ही वर्ग में आते थे। पर यदि खजाना किसी ब्राह्मण को प्राप्त होता था तो उसे सरकार नहीं लेती थी। अन्य जाति के लोगों को मिलने पर उनका आधा सरकार ले लेती थी और आधा पाने वाले को मिलता था।[89]

खान—खानों से प्राप्त वस्तुओं पर राज्य का अधिकार था। याज्ञवल्क्य इस विषय में मौन हैं। कौटिल्य ने खानों के अध्यक्ष का उल्लेख करते हुए इससे प्राप्त धातुओं के 1/2 भाग तथा सम्पूर्ण रत्नों पर राजा का अधिकार माना है। मनु ने भी इसी तरह का विचार व्यक्त किया है।[90] खानें राजकीय संपत्ति थीं। कुछ को सरकार स्वयं खुदवाती थी और कुछ ठेके पर दी जाती थीं। ठेकेदार को खान से निकालने वाली वस्तु पर भारी कर देना पड़ता था। शुक्र ने सोने और हीरे पर 50 प्रतिशत, चांदी और तांबे पर 33 प्रतिशत और अन्य धातुओं पर 16 से 25 प्रतिशत कर लेने की व्यवस्था दी है।[91]

राजकीय कृषि-भूमि—प्राचीन भारतीय राज्य सम्भवतः कृषि भी कराते थे। राजकीय कृषि क्षेत्रों से सीताध्यक्ष नामक पदाधिकारी के नियंत्रण में जो उपज होती थी, वह सम्भवतः राजकोष में संचित की जाती थी[92] याज्ञवल्क्य ने इस विषय का उल्लेख नहीं किया है।

व्यवसायों पर राज्य का नियंत्रण

व्यवसायों पर राज्य का नियंत्रण था। इसके अतिरिक्त नमक बनाने का

अधिकार केवल राज्य को था। अन्य व्यक्ति यदि यह व्यवसाय करते तो राजा उनसे एक निश्चित अंश लेता था। राज्य के बाहर से आये हुये नमक का 1/8 हिस्सा राज्य कर के रूप में लेता था।[93] नमक पर आबकारी-कर भी लिया जाता था। याज्ञवल्क्य इस विषय में मौन हैं। नमक की खानें या तो सरकार स्वयं खुदवाती थी या उसकी अनुमति से कोई यह कार्य करता था। ग्राम का दान पाने वाले व्यक्तियों को बिना कोई शुल्क दिये धातु या नमक के लिए अपने क्षेत्र में खुदवायी करने का अधिकार भी दिया जाता था।[94] पर ऐसे दान सामान्यतया ब्राह्मणों को ही दिए जाते थे। इसके अतिरिक्त कौटिल्य ने राजकोष की वृद्धि के लिए कतिपय अन्य साधनों का भी उल्लेख किया है। जिसे वह आयमुख के नाम से सम्बोधित करते हैं।[95]

जंगल पर भी राज्य का ही अधिकार था। जंगल की सारी सम्पत्ति और उससे होने वाली आय राज्य की आय के स्रोत के रूप में मान्य हैं। नागवन भी राज्य की सम्पत्ति थे। नागवन का तात्पर्य सम्भवत: ऐसे जंगलों से था जिनमें हाथी रहते थे। इन नागवनों से जो नाग प्राप्त होते थे वे सेना के काम आते थे। इस प्रकार वे राजा की शक्ति-वृद्धि के साधन थे। नागवनों में विश्वास-पात्र पुरुषों की नियुक्ति के निर्देश मिलते हैं।[96]

व्यय की मदें

राजकीय व्यय सदा ही प्रधान रूप से राज्य की प्रतिष्ठा के लिए होता रहा है। सम्भव है कि वर्तमान समय की भांति ही राजकीय आय का अधिकांश सेना और युद्ध सम्बन्धी व्यवस्था पर व्यय होता था। इसके अतिरिक्त व्यय का अन्य शाश्वत माध्यम पदाधिकारियों के वेतन तथा लोक हितकारी कार्यों में होता था।

याज्ञवल्क्य धर्म, अर्थ और काम सम्बन्धी कार्यों पर व्यय के लिए योग्य, कार्यकुशल, पवित्र एवं कर्तव्यनिष्ठ अध्यक्षों की नियुक्ति का निर्देश देते हैं। युद्ध में विजय के फलस्वरूप लूट में प्राप्त धन को ब्राह्मण एवं प्रजा को दान करने का निर्देश भी याज्ञवल्क्य ने किया है। राजकीय व्यय के विषय में भी कुछ सिद्धान्त प्रतिपादित हैं। इनके अनुसार राजकीय आप का नित्य परिगणन होता था। नियम था कि राजकीय व्यय आय की चौथाई, तिहाई या आधे से अधिक न हो। राजा की ओर से किसानों को ऋण भी दिया जाता था। सेना को अग्रत: वेतन देना सर्वोत्तम विधान माना जाता था।[97]

कौटिल्य ने देवपूजा, पितृपूजा, दान, स्वस्तिवचन, अन्त: पुर, राजकीय-रसोई, दूत, कोष्ठागार, शस्त्रागार, कूप्यगृह, उद्योगों में काम करने वाले बेगार, पैदल अश्वारोही, हस्त्यारोही और, रथारोही गोमण्डल, पशु, मृग, पक्षी तथा सर्प आदि जन्तुओं का संग्रह, काष्ठ, तृण, बगीचों आदि की रक्षा को 'व्यय-शरीर' नाम दिया है। परन्तु उन्होंने व्यय के निश्चित प्रतिशत का उल्लेख नहीं किया है।[98]

अशोक के अभिलेखों के आधार पर राजकीय व्यय के कुछ भाग का अनुमान कर सकते हैं। इससे ब्राह्मण, ऋषिमुनियों का पालन-पोषण, सिंचाई, सड़क, रक्षा तथा औषधालयों की व्यवस्था का अनुमान होता है। प्रजा को धर्म-पथ पर अग्रसर करने में भी बहुत धन व्यय हुआ था। इस उद्देश्य से धर्म महामात्र एवम् अन्य अधिकारी नियुक्त किए गए थे। इसके अतिरिक्त धर्म-स्तम्भों का निर्माण सड़कों पर छायादार पेड़ लगवाना, उद्यानों को व्यवस्थित करना, सराय बनवाना, कुएँ खुदवाना, पौसरे बैठाना और दान देना इत्यादि अशोक के राजकीय व्यय के प्रमुख मद थे।[99] अर्थशास्त्र में व्यय की कुछ मदों का विवरण है। पर ये अधिकतर राजमहल के खर्च से सम्बन्धित हैं। शासन के विभिन्न विभागों पर होने वाले खर्च का अनुमान इससे नहीं होता। इससे यह भी पता नहीं चलता कि राजमहल पर होने वाला खर्च राज्य की आय का कितना प्रतिशत था।[100]

राज्य द्वारा राजमार्ग, पण एवं विपण आदि का निर्माण होता था। राज्य प्रजा के लिए औषधियों का संग्रह करवाता था और वैद्यों को नियुक्त करता था। प्रजा के मनोरंजन के लिए नट, नर्तक, मल्ल तथा मायावी लोग भी नियुक्त होते थे। व्यापार संवर्धन सम्बन्धी योजनाओं को कार्यान्वित करने में भी राजकोष से पर्याप्त धन व्यय होता था।[101]

खारबेल के हाथी-गुम्फा लेख से प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व के राजकीय व्यय का कुछ अनुमान होता है। इसके अनुसार राजधानी का नवीनीकरण कराने, युद्ध, नहर-निर्माण, प्रजा के मनोरंजन के लिए समाज, नृत्य, संगीत आदि का आयोजन तथा साधु-सन्तों के लिए गुफाओं का निर्माण, दान तथा मंदिरों का निर्माण करने में खारवेल के राजकोष का व्यय होता था।[102]

याज्ञवल्क्य के समय में सम्भवतः सेतु (जल प्रवाह बन्ध) निर्माण, गोचर भूमि तथा राज्य में विभिन्न पदों पर नियुक्त अधिकारियों, युद्धों एवं सेनाओं पर अधिक धन व्यय होता रहा होगा।[103]

परवर्ती मुसलमान लेखकों ने इस बात का उल्लेख किया है कि हिन्दू राजा अपने पूर्वजों से भरा-पुरा कोष पाते थे और अत्यन्त संकट पड़ने पर ही इसका उपयोग करते थे। सार्वजनिक या सरकारी ऋण की कल्पना प्राचीन काल में अज्ञात थी और वही राज्य संकट से अपनी रक्षा कर पाते थे जिनका कोष और भण्डार भरा-पूरा रहता था। दक्षिण के राजाओं से अलाउद्दीन और मलिक काफूर ने जो अपार धनराशि लूटी थी उससे भी यही प्रमाणित होता है कि हिन्दू राजा अपनी आय का बहुत बड़ा भाग संकट के समय के लिए अपने स्थायी कोष में संचित और सुरक्षित रखते थे।

संदर्भ एवं टिप्पणियां

1. याज्ञ०, 1/327-28, 353; काम० नीतिसार 14/33; शुक्र 4/2/14-15, 4/131।
2. सरस्वतीविलास, पृ० 46 में उद्धृत; यू० एन० घोषाल, कान्ट्रीब्यूशंस टू द हिस्ट्री ऑफ द हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम, (कलकत्ता,1929), पृ० 15।
3. कोषपूर्वा: समारम्भा । तस्मात्पूर्वकोषमेवक्षेत । अर्थ०, 2/8/1-2; 8/1/52, 2/12/37।
4. कल्हण, राजतरंगिणी, 7/507-8।
5. मनु०, 8/419; 7/65 तथा उस पर कुल्लूक की टीका।
6. अत्रिसंहिता, श्लोक 28।
7. महा०, शान्ति०, 119/16; 130, 135; विष्णुधर्म०, 2/61, 17।
8. महा०, शान्ति०, 130/12, देखिये वही, 36/7 और 49-50।
9. महा०, शां० (गीता), 133; 128/11; 132/1।
10. अथार्थी जीवलोकोऽयं ज्वलन्तमुपसर्पति ।
क्षीण क्षीरा निराजीव्या वत्सस्त्यजति मातरम् ।। कामन्दक०, 5/62।
11. अर्थ०, 2/1/18।
12. तत्र दुर्गाणि कुर्वीत जनकोशात्मगुप्तये ।। याज्ञ०. 1/321।
13. तस्मात् संजयेत् कोशं सत्कृत्य परिपालयेथ् ।
परिपाल्यानुतनुयादेष धर्म: सनातन: ।। महा०, शान्ति०, 133/2; देखिये, शुक्र०, 4/2/36।
14. संरक्षयेत् प्रयत्नेन संगृहीतं धनाधिकम् ।। शुक्र०, 4/2/32. कौटिल्य, 6/1।
15. नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषां चापि तृष्णया ।। महा०, शान्ति० 87/18, मनु०, 7/138।
16. याज्ञ०, 1/335-337, मनु०, 9/253-254.
17. तेन भृता राजान: प्रजानां योगक्षेमावहा: । तेषाकिल्विषमदण्डकरा । हरन्त्ययोगक्षेमावहाश्च प्रजानाम् । तस्यादुच्छषड्भागमारण्डयका । अपि निर्वपन्ति—"तस्यैतद्भागधेयं यो स्माग्गोपायति ।" इति ।
अर्थशास्त्र, 1/13/7-8-9 देखिए, वही, 1/19/34.
18. राजारक्षार्थं सर्वभागभुक, । शुक, 1/74 महा०, शान्ति०, 71/17, 19, 20।
19. नारद (जॉली), 18/40; दिव्यावदान; यू० एन० घोषाल, पृ० 22।

20. दिदेश वेतनं तस्ये रक्षासदृशयेवभः ।। रघुवंश० 17/66 ।
21. पालनाद् वर्धयेद राजा स्वकोशस्याभिवृद्धये । मानसो०, 2/3/154.
22. डी० आर० भण्डारकर, अशोक, (हिन्दी अनुवाद), (नई दिल्ली, 1974), पृ० 285 ।
23. वासुदेव उपाध्याय, प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, द्वितीय-खण्ड, मूल-लेख, पृ० 18-19 ।
24. याज्ञ०, 1/334/315; मनु०, 8/394; बसिष्ठ०, 10/42/6 ।
25. म्रियमाणोऽप्याददीत न राजा श्रोत्रियात्करम् ।
न च क्षुधाऽस्य संसीदेच्छोत्रियो विषये वसन् ।। मनु०, 7/133 ।
26. सदा श्रोत्रियवर्ज्यानि शुल्कान्याहु : प्रजानता ।
गृहोपभोगि यच्चैषां नतु वाणिज्य कर्मणि ।। नारदस्मृति, 6/14 ।
27. कौटिल्य, 2/12/45 ।
28. ब्राह्मणानाम् जाति परिहारं ददाति । इपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड 20, पृ० 9 ।
29. गौतमधर्मसूत्र, 10/9/12; विष्णु०, 3/26; मानसो, 2/3/166 ।
30. ऐपिग्राफिया इण्डिका, 8, पृ० 208 डिस्क्रिप्शन्स फ्राम मद्रास प्रेसिडेंसी, भाग-1, पृ० 22; अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० 236-237 ।
31. याज्ञ०, 2/1 ।
32. याज्ञ०, 2/34-35, निध्याधिगमो राज धनं भवति । गौतम० 10/33/5
33. चतुर्थमाददानोऽपि क्षत्रियो भागमापदि ।
प्रजारक्षन्परं शक्त्या किल्बिषात्प्रतिमुच्यते ।। मनु०, 10/118-20
34. महा०, शान्ति०, 130/13, 130/36-8. शुक्र०; 4/124-26; अर्थशास्त्र, 5/2; बृहत्पराशर स्मृति, अध्याय 10 ।
35. महा०, शान्ति०, 128/31, 37-38 ।
36. के० पी० जायसवाल, हिन्दू पालिटी, (कलकत्ता, 1934), पृ० 327 ।
37. याज्ञ० 1/340-341 ।
38. याज्ञ०, 1/335, 340-41 ।
39. मनु०, 8/307-09 ।
40. महा०, शान्ति०, 139/1000 87/19-22, 71/16-17; शुक्र०, 4/2,8 ।
41. ऋग्वेद, 1/70/9; 5/1/10 ।

42. गौतम ध० सू०, 24/35 ।

43. राजबली पाण्डेय, अशोक के अभिलेख, (ज्ञानमण्डल, संवत् 2022। पृ० 189 ।

44. तै० ब्रा०, 2/7/18/3; ऐतरेय ब्राह्मण, 35/3; मनु० 7/80; रामायण, अरण्यकाण्ड, 6/11; वि० ध० सू०, 3/22; मत्स्य पुराण, 215/57 ।

45. ऋ०, 5/1/10 : 10/173/6, 1/65/4 ।

46. बौ० ध० सू०, 1/10/18/1; व० ध० सू०, 1/42; नारद०, 18/48 विष्णु०, 3/22 ।

47. धान्यानामष्टकोभागः षष्ठो द्वादश एव वा ॥ मनु०, 7/130 ।

48. मनु०, 10/118; याज्ञ०, 1/335 ।

49. महा०, शान्ति०, 24; धान्यषड्भागं, अर्थशास्त्र, 13/7 ।

50. ऐंसियन्ट इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड बाय मेगस्थनीज; अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० 238 ।

51. हिद भगवं जोत ति लुमिनि-गामे उबलिके कटे अठभगिये च। राजबली पाण्डेय, अशोक के अभिलेख, पृ० 189 ।

52. जनरल ऑफ दि अमेरिकन ओरियंटल सोसाइटी 13, पृ० 88 ।

53. यू० एन० घोषाल, कान्ट्रीव्यूशन्स टू द हिस्ट्री ऑफ द हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम पृ० 166 ।

54. षष्ठांशभुर्व्या इव रक्षिताया—रघुवंश०, 2/66; 2/8; 17/65; शकुन्तला, पृ० 76, 2/13/5/4; कालिदास का भारत, भगवतशरण उपाध्याय, पृ० 235 ।

55. ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ० 94 ।

56. इन्सक्रिप्सन्स फ्राम मद्रास प्रेसिडेन्सी, भाग-1, पृ० 129-130 ।

57. अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० 206 ।

58. याज्ञ०, 2/261-62 ।

59. महा०, शान्ति०, 87/13-4; मनु०, 7/127; नारद, 3-12; शुक्र०, 4, 2, 126 ।

60. गौतम०, 10/26; अर्थशास्त्र, 2/22 ।

61. राय चौधरी, पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐंसियण्ट इण्डिया, (कलकत्ता, 1950), पृ० 294 ।

62. गुप्तलेख नं०, 27 फलीट—गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग-2, वासुदेव उपाध्याय, पृ० 19 ।

63. कामन्दक०, 5/69।
64. अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० 211।
65 बेनी प्रसाद, स्टेट इन ऐंमियन्ट इण्डिया, पृ० 299-303।
66. स्ट्रैबो, मैक्रिण्डल, इण्डिया ऐज डिसक्राइब्ड इन क्लासिकल लिटरेचर, पृ० 75, 143, 145।
67. कारुकाञ्छिल्पिनश्चैव शूद्रांश्चात्मोपजीविन:।
एकैकं कारयेत्कर्म मासिमासि महीपति:॥ मनु०, 7/138, शुक्र०, 4, 2, 119।
68. उत्पत्तिं दानवृत्तिं च शिल्पं सम्प्रेक्ष्यचासकृत्।
शिल्पं प्रतिकरानेवं शिल्पिन: प्रति कारयेत्॥ महा०, शान्ति०, 87/14-5।
69. अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० 212।
70. अथर्ववेद, 4/22/2,।
71. मनु०, 7/130; शुक्र०, 4/2/118।
72. वासुदेव उपाध्याय, गुप्त साम्राज्य का इतिहास, खण्ड-2, पृ० 20।
73. मानसो०, 2/3/163।
74. महा०, शान्ति०, 67/23।
75. मनु०, 7/130; शुक्र०, 4/2/115-6; अर्थशास्त्र, 1/13/7।
76. महा०,शान्ति०, 69/28।
77. याज्ञ०, 2/199, 200; नारद०, 16/2।
78. जितद्रव्यादध्यक्ष: पंचकं शतमाददीत, काकाण्यक्षारलाशत कावक्रयमुदकभूमि कर्म क्रयं च। अर्थशास्त्र, 20/2, वाचस्पति गैरोला, (वाराणसी, 1962), पृ० 414।
79. तरिक: स्फलजं शुल्कं गृह्णन्दाप्य: पणान्दश:। याज्ञ०, 2/263।
80. कौटिल्य०, 2/28; मनु०, 8/399-405; महा०, शान्ति०, 69/28।
81. मोनाहन, अर्ली हिस्ट्री, पृ० 157; यू०एन० घोषाल, पूर्वलिखित कृति, पृ०, 171।
82. काशिका वृत्ति, 1/1/22, पृ० 205।
83. कौटिल्य, 2/28; मनु०, 8/406-407।
84. देखिए, पी०वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, द्वितीय-भाग, पृ० 673।
85. एपिग्राफिका इण्डिका, जिल्द 12, पृ० 195।
86. याज्ञवल्क्य०, 2/18/204-205, 208, 225, 238; मनु० 8/120-121, 220, 223-225, 238; अर्थ०, 4/1।

87. वृ०स्मृ,० व्य०का०, 29/3 ।
88. याज्ञ०, 2/2/34; मनु०, 8/38, गौतम०, 10/33/5 ।
89. अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० 217 ।
90. कौटिल्य, 4/1 मनु०, 8/39 ।
91. अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० 213 ।
92. सीताध्यक्षेपनीत: सस्यवर्णक: सीता । कौटिल्य, 2/15;
93. पी०वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, द्वितीय भाग, (हिन्दी अनुवाद); पृ० 674-75 ।
94. इण्डियन ऐन्टीक्वेरी, 18, पृ० 24-25 ।
95. कौटिल्य, 2/6, विस्तृत विवरण के लिए देखिए, पाण्डेय, कौटिल्य की राज्य व्यवस्था, पृ० 167 ।
96. अर्थ०, अध्याय 1/2 ।
97. याज्ञ०, 1/322-23,315-16; महा०, सभा०, अध्याय 60, 5/68, 5/48 ।
98. देवपितृपूजादानार्थं स्वस्तिवाचनमनत: पुरमहानसं दूतप्रवितिमं कोष्ठागार मायुधागारमं पण्यगृहं कूप्यगृहं कर्मान्तो विष्टि: पत्त्यश्वरथद्विपरिग्रहो गोमण्डलं पशुमृगपक्षिव्यालवाटा: काष्ठतृणवाटश्चेतिव्ययशरीरम् । अर्थशास्त्र, 2/6 ।
99. वासुदेव उपाध्याय, प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, खण्ड-2, मूललेख, पृ 18-19 ।
100. अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० 219; शुक्र०, 1/314-16 ।
101. महा०, शान्तिपर्व, 69,51, 57-58 । 88, 35-38 ।
102. रामजी उपाध्याय, प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका, पृ० 576 ।
103. याज्ञ०, 2/157, 166, 1/312-314,322; 2/3-3; 2/150, 266, 271; 1/347-348 ।

+●——●+
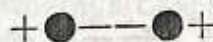
दशम् अध्याय

मंत्रिपरिषद्

प्राचीन भारतीय राजनीतिक-विचारकों ने मंत्रिपषिद् को राज्य के सप्तांग का महत्त्वपूर्ण अंग बताया है। राज्य की स्थिरता एवम् उसके विधिवत् संचालन के लिए उन्होंने राजा को मंत्रिपरिषद् की सलाह से शासन करने का निर्देश दिया है। इसी विचारधारा के क्रम में उन्होंने मंत्रिपरिषद् की उपयोगिता एवं महत्त्व का सविस्तार वर्णन किया है। याज्ञवल्क्य-स्मृति इस दृष्टि से अपवाद नहीं है। इसमें भी मंत्रिपरिषद् के विभिन्न पहलुओं पर विचार व्यक्त किया गया है।

मंत्रिपरिषद् का महत्त्व राज्य की स्थिरता एवं उन्नति के लिए आवश्यक है ताकि उसका शासन ज्ञानीजन के परामर्श से किया जाय। याज्ञवल्क्य ने मंत्रियों की मंत्रणा को ही राज्य का मूल माना है। मनु का मन्तव्य है कि साधारण से साधारण कार्य भी अकेले नहीं किया जा सकता फिर गुरुतर राज्य कार्य बिना दूसरों की सहायता के कैसे सम्पन्न किया जा सकता है। कौटिल्य भी राजा और मन्त्री को रथ के चक्र के समान मानते हैं और केवल एक चक्र से रथ नहीं चल सकता।[1] इस प्रकार राजत्व सहायकों की सहायता से ही सम्भव है।

महाभारत के अनुसार मंत्रियों के बिना राजा तीन दिन भी राज्य करने में असमर्थ है।[2] महाभारत में ही अन्यत्र कहा गया है कि राजा मंत्रियों पर उसी प्रकार निर्भर रहता है जिस प्रकार जीव-जन्तु बादलों पर, ब्राह्मण वेदों पर और स्त्रियां पति पर।[3] इसके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों से भी मंत्री की आवश्यकता एवं महत्त्व की सूचना मिलती है।[4]

मनु के समान ही शुक्र की भी धारणा है कि कार्य कितना ही छोटा क्यों न हो, अकेले उसका सम्पादन सम्भव नहीं, फिर किसी की सहायता के बिना राज्य का संचालन किस प्रकार सफलतापूर्वक हो सकता है। शुक्र के मत में समस्त विद्याओं का ज्ञाता होने पर भी राजा को कुशल-मंत्रियों की सहायता लेनी चाहिए।[5]

उपर्युक्त उल्लेख राज्य-संचालन में मंत्रिपरिषद् को अत्यन्त आवश्यक मानते हैं। प्राचीन भारतीय राजनीति की दार्शनिक परम्परा के इन उल्लेखों के आधार पर कतिपय आधुनिक विद्वानों ने भी इस विषय पर अपनी सम्मति व्यक्त की है।

जायसवाल के मत में प्राचीन हिन्दू संविधान का यह कानून और सिद्धान्त है कि राजा मंत्रिपरिषद् की स्वीकृति व सहयोग के बिना कार्य नहीं कर सकता।[6] किन्तु इसे स्वीकार करना बहुत कठिन है। यह सही है कि इस प्राचीन भारतीय-परम्परा का

अनुसरण प्रायः शासक करते थे ।; वे परिषद् की स्वीकृति अपने किसी भी निर्णय पर लेने के लिए बाध्य थे, कहना कठिन है । अलतेकर के मतानुसार सुशासन के लिए मंत्रियों का होना इतना आवश्यक समझा जाता था कि युवराज एवं प्रान्तीय-शासक भी अपनी मंत्रिपरिषद् नियुक्त करते थे । मौर्य-साम्राज्य के तक्षशिला में एक प्रान्ताधिकारी की मंत्रिपरिषद् थी, पुष्यमित्र के युवराज (150 ई०पू०) और मालवा के प्रान्ताधिकारी की भी मंत्रिपरिषद् थी । गुप्तकाल में युवराज के मन्त्रियों को युवराजपदीय कुमारामात्य कहते थे ।[7] इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत में राजकीय-प्रशासन के केन्द्रीय एवं प्रान्तीय दोनों ही क्षेत्र में मंत्रिपरिषद् हुआ करती थी और प्रशासन के विभिन्न पहलुओं पर सम्बद्ध अधिकारी को मंत्रणा देती थी ।

संख्या

मंत्रिपरिषद् की सदस्य संख्या के प्रश्न पर प्राचीन ग्रन्थों में मत वैभिन्य दिखाई देता है । याज्ञवल्क्य ने परिषद् के सदस्यों की संख्या का उल्लेख नहीं किया है । किन्तु अन्य अनेक ग्रन्थों में इस विषय पर पर्याप्त चर्चा मिलती है । कौटिल्य ने इस विषय में अपने पूर्वाचार्यों के मतों का उल्लेख किया है । मनु मंत्रियों की संख्या 12, बार्हस्पत्य 16 और औशनस 20 स्वीकारते हैं । किन्तु कौटिल्य पूर्वाचार्यों के मतों के विरुद्ध मत देते हैं । उनके अनुसार मंत्रिपरिषद् की सदस्य-संख्या सामर्थ्य के अनुरूप होनी चाहिए । तात्पर्य सम्भवतः यह है कि राजा आवश्यकता के अनुरूप ही अपनी मंत्रिपरिषद् का गठन करे । इसके विपरीत मंत्रणा को गुप्त रखने के उद्देश्य से केवल तीन या चार मंत्रियों के साथ ही मंत्रणा करने की सलाह दी है ।[8]

मनु सात अथवा आठ मंत्रियों वाले मंत्रिमण्डल के पक्षधर हैं ।[9] रामायण तथा महाभारत में मंत्रियों की संख्या आठ बताई गई है ।[10] प्रबोध चन्द्रोदय नाटक में राजा मोह के अष्टामात्यों का उल्लेख है । शुक्रनीति 10 मंत्रियों की राय देती है । मानसोल्लास में भी सात या आठ सचिवों को नियुक्त करने का विधान दिया है ।[11] नीतिवाक्यमृत के अनुसार मंत्रियों की संख्या 3, 5 या 7 से अधिक न होनी चाहिए ।[12] यशस्तिलक में राजा को एक ही मंत्री पर पूर्णतया निर्भर न होने की सलाह दी गई है । इससे स्पष्ट होता है कि मंत्रियों की संख्या अवश्य ही अधिक होती रही होगी ।[13] किन्तु इस मत के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि यह उल्लेख ऐसे राजाओं को सावधान करने के लिए भी हो सकता है जो अन्य मंत्री के होते हुए भी केवल एक ही मंत्री की मंत्रणा पर अधिक निर्भर रहते रहे हों । फलतः इससे मंत्रिपरिषद् की संख्या-सम्बन्धी निष्कर्ष निकालना समीचीन नहीं प्रतीत होता ।

भरत को उपदेश करते समय राम ने उन्हें 3-4 मंत्रियों के साथ मंत्रणा करने के लिए कहा है । इसका समर्थन कौटिल्य ने भी किया है ।[14] अलतेकर के अनुसार सम्भव है कि ये तीन या चार मंत्रिमण्डल के वयोवृद्ध, विशेषानुभवी, वरिष्ठ सभासद हों, जो अन्तस्थ मन्त्रिमण्डल के सभासद हों और जिनके मंत्रणा पर राजा विशेष विचार करता हो । ऐसा ज्ञात होता है कि सात या आठ मंत्रियों के

मंत्रिमण्डल के अतिरिक्त आजकल की प्रिवीकौंसिल की भांति एक बड़ी परामर्शदात्री संस्था भी होती थी जिसके सदस्य "अमात्य" जाते थे। महाभारत में उल्लिखित 36 अमात्यों की परिष्द् इसी प्रकार की संस्था थी। अर्थशास्त्र से भी ज्ञात होता है कि अमात्य विभागों के अध्यक्ष जैसे उच्च पदस्थ अधिकारी होने पर भी मंत्रियों से कम पद में हीन थे इसलिए संख्या में भी अधिक थे उनका वेतन भी मन्त्रियों से था। परन्तु गम्भीर स्थिति उपस्थिति होने पर सलाह के लिए वे भी मंत्रियों के साथ ही आमंत्रित किये जाते थे।[15]

मंत्रिपरिषद् की सदस्य संख्या के विषय में प्राचीन भारत के राजशास्त्र प्रणेताओं का एक मत नहीं रहा है। इसका सम्भवत: एकमात्र कारण था कि राज-नीतिज्ञों के सम्मुख अलग-अलग छोटे-बड़े राज्यों का आदर्श था और उनके आदर्श-राज्यों की आवश्यकताएं एक दूसरे से भिन्न थीं।[16] यदि राज्य छोटा होता है तो उसका कार्य-क्षेत्र भी सीमित होगा। अत: चार या पांच मंत्रियों से ही कार्य चल जायेगा जैसा कि शिलाहार राज्य में था।[17] जातक-काल में भी जब राज्य का कार्य-क्षेत्र व्यापक न होता था तो साधारणत: पाँच मंत्री होते थे।[18] परन्तु बड़े-बड़े साम्राज्यों में अधिक मंत्री होते थे।

मंत्रियों की योग्यताएं

शासन-व्यवस्था में मंत्रियों का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान था। अत: इनकी नियुक्ति में बहुत सावधानी से काम लेना पड़ता था। इस पद पर वही व्यक्ति नियुक्त किया जा सकता था जिसमें अपेक्षित गुण होते थे। याज्ञवल्क्य ने ज्ञानी, वंश-परम्परा से चले आने वाले, धैर्यवान, पवित्र तथा सन्धि एवं विग्रह के अवसर को जानने वाले व्यक्ति को मंत्रि-पद पर नियुक्त करने का निर्देश दिया है।[19] महाभारत की सम्मति है कि काम, क्रोध, मद, लोभ से रहित, सब कार्यों में दक्ष, कुलीन, उत्तम.स्वभाव-युक्त क्षमावान, मेधावी, शूर, विद्वान, विवेकवान, राजकीय कल्याण-वृद्धि में रत, हितैषी तथा अपने ही राज्य का निवासी-व्यक्ति ही मंत्री बनाये जाने योग्य है।[20]

कौटिल्य का मन्तव्य है कि मंत्री को स्वदेशी उच्चकुल का, कला में परिपक्व, दूरदर्शी, बुद्धिमान, तेजयाद्धास्त वाला, धीर, चतुर, उत्साही, सच्चरित्र, शक्तिशाली, बहादुर, स्वस्थ, स्वतंत्र विचार वाला तथा घृणा एवं शत्रु-भाव रहित होना चाहिए।[21] शुक्र का विचार है कि कुल, गुण तथा शीलवान व्यक्ति को ही इस पद पर प्रतिष्ठित करना चाहिए।[22] इसी तरह का विचार विष्णु एवं बृहस्पति ने भी व्यक्त किया है। सोमेश्वर ने मंत्रियों के लिए कुलीन, श्रुत-सम्पन्न, पवित्र, अनुरागी, वीर, धीर, निरोग नीतिशास्त्र में पंडित, प्रगल्भ, वाग्मी, प्राज्ञ, राग-द्वेष से रहित, सत्यसन्ध, महात्मा, दृढ़ चित्त वाला, निरामय, प्रजा का प्रिय तथा दक्ष होना आवश्यक बताया है।[23]

अग्निपुराण, नीतिवाक्यामृत, पंचतंत्र, कामन्दक नीतिसार आदि से भी मंत्रियों की योग्यता की सूचना मिलती है।[24] इन सबके उल्लेख का सार यह है कि मंत्री राज्य का नागरिक, कुलीन सम्पूर्ण विद्याओं का मर्मज्ञ, कुशाग्र-बुद्धि, उत्साह-सम्पन्न, वाग्मी,

पराक्रमी, पवित्र, सच्चा स्वामिभक्त हो और क्रोध,व्यसन, मद-मान लोभ आदि दुर्गुणों से रहित हो। कथा-सरित्सागर के अनुसार मंत्री को राजा के प्रति स्वामी-भक्त तथा जनता का शुभचिन्तक होना चाहिए।[25] राजा भी मंत्रियों को सम्मान प्रदान करता था।[26] वह मंत्रियों को अपना हृदय समझता था। राज्य में पुरुषार्थों की अभिवृद्धि मंत्रियों की कार्य-पटुता पर निर्भर करती थी।[27]

स्पष्ट है कि मंत्रियों की योग्यता, जैसी याज्ञवल्क्य ने दी है, लगभग वैसी ही अर्हताएं इस पद के लिए प्राचीन भारत के अधिकतर राजनीति-विशारदों ने दी है। सैद्धान्तिक-दृष्टि से मन्त्री-पद के प्रत्याशी को सब-गुण-सम्पन्न होना आवश्यक था किन्तु व्यवहार में सम्भवत: यह सब गुण एक ही व्यक्ति में नहीं देखे जाते थे। वैसे भी याज्ञवल्क्य सहित कई मनीषियों ने मंत्रियों की आनुवंशिकता पर जोर दिया है।[28] व्यवहार में भी प्राय: मंत्री-पुत्र ही मंत्री पद पर नियुक्त होते थे। गुप्त राज्य के मंत्री शाब और पृथ्वीषेण के वंश में मंत्रिपद कई पीढ़ियों से चला आता था।[29]

मंत्री और अमात्य

याज्ञवल्क्य-स्मृति में मंत्री तथा अमात्य शब्द का प्रयोग एक दूसरे के पर्याय के रूप में सम्भवत: हुआ है। कौटिल्य के मत में राजा अमात्योचित गुण, देश, काल और कार्योचित व्यवस्था को देखकर उपर्युक्त योग्यता सम्पन्न किसी भी पुरुष को अमात्य बनाए, किन्तु सहसा किसी व्यक्ति को मंत्रिपद पर नियुक्त न करे।[30] इससे लगता है कि मंत्री और अमात्य एक दूसरे से भिन्न अधिकारी थे। मंत्री राजा को मंत्रणा देता था और अमात्य मंत्रिपरिषद् का सदस्य होता था। यह मंत्रिपरिषद् का सदस्य होते हुए भी मंत्रणा नहीं देता था। मनु एवं कामन्दक[31] ने दोनों को एक दूसरे का पर्याय माना है। किन्तु बसाक के अनुसार सभी अमात्य जो सचिव कहे जाते थे, मंत्री नहीं थे।[32]

रामायण में कहीं-कहीं मंत्री को सचिव कहा गया है परन्तु अन्य स्थलों पर इन दोनों में अन्तर किया गया है।[33] पश्चिमी भारत में शक-क्षत्रियों ने मति-सचिव (मंत्री) तथा कर्म-सचिव (विभागी-मंत्री) के सहयोग से प्रशासन का कार्य किया था।[34] मध्यकालीन अभिलेखों में अमात्य को सचिव से भिन्न[35] बताया गया है। अस्तु उन्हें माल तथा कर विभाग का मंत्री बताया गया है। निशीथ-चूर्णी में एक स्थल पर सचिव को मंत्री कहा गया है।[36] विभिन्न चालुक्य अभिलेखों में महामन्त्री को महामात्य कहा गया है।[37]

ऐसा लगता है कि मंत्रिपरिषद् की आज की सी ही व्यवस्था प्राचीन भारत में भी प्रचलित थी। जैसे आज मंत्रिपरिषद् के अन्तर्गत एक "कैबिनेट" अन्य "इन कैबिनेट" होती है जो कि अत्यन्त महत्त्व के गोपनीय विषयों पर विचार करती है, सम्भवत: उसी प्रकार प्राचीन भारत में "अमात्य-परिषद्" हुआ करती थी और उसके

शीर्ष सदस्य कैबिनेट-स्तर के समान होते थे एवं "मंत्रिन्" कहे जाते थे। मंत्रिपरिषद् ही गोपनीय मंत्रणाएं करती थी।

मंत्रियों की नियुक्ति

प्राचीन भारत में मंत्रियों की नियुक्ति राजा द्वारा की जाती थी। फलस्वरूप याज्ञवल्क्य ने सम्बद्ध व्यक्तियों के गुण-दोष को भलीभांति परख कर ही उनको मंत्री-पद पर नियुक्ति की सलाह राजा को दी है।[38] प्रायः सभी शास्त्रकार इस मत का समर्थन करते हैं जिसका उल्लेख पहले किया गया है। स्मृतियां निर्वाचित कार्यकारिणी का उल्लेख नहीं करती हैं। इसी भांति शासन के प्रमुख सहायकों की नियुक्ति भी निर्वाचन पद्धति पर आधारित नहीं थी। यह सब अधिकारी मनोनीत होते थे। मनु तथा याज्ञवल्क्य दोनों ही मंत्रियों की नियुक्ति को राजा के प्रमुख कर्तव्यों में से एक मानते हैं। मंत्रियों की नियुक्ति पूर्ण राजा के विवेक पर ही आधारित थी किन्तु राजा को इस पद के अनुरूप सही व्यक्ति का चुनाव करने की दृष्टि से मनु और याज्ञवल्क्य आदि ने मंत्रिपद के लिए कई योग्यताएं बताई हैं। सम्भवतः प्राचीन भारतीय राजा मंत्रियों के नियुक्ति के समय इन योग्यताओं पर आपेक्षित ध्यान भी देते थे।[39]

प्राचीन काल में मंत्रियों की नियुक्ति 'उपधा-प्रणाली' द्वारा होती थी। धर्म, अर्थ, काम और भय के अवसर पर मनुष्य की परीक्षा ही 'उपधा' कहलाती है।[40] कौटिल्य ने इन चारों परीक्षाओं में सफल व्यक्तियों को ही मंत्रि पद पर प्रतिष्ठित करने की सलाह दी है।[41] मंत्रियों की नियुक्ति में यदि वस्तुतः इन योग्यताओं को ध्यान में रखा जाता था तो प्रायः मंत्री अपने राजाओं को उचित सलाह देते रहे होंगे और अपने सम्मिलित प्रभाव का प्रयोग कर राजा को जनहितकारी कार्य करने के लिए प्रेरित करते रहे होंगे। इस प्रकार किसी हद तक मंत्रिपरिषद् राजा पर नियंत्रण भी रखती थी और उसे निरंकुश होने से रोकती थी।

मंत्रियों के कार्य

राज्य की समस्त कार्य-प्रणाली के विषय में राजा को परामर्श देना मंत्रियों का प्रमुख कार्य था। किसी भी विषय पर अन्तिम-निर्णय राजा का ही होता था, परन्तु साधारणतया कोई भी राजा मंत्रियों की मंत्रणा की उपेक्षा नहीं करता था। कामन्दक का विचार है कि जो राजा अपने मंत्रियों की अवहेलना करता है, वह शीघ्र ही अपने शत्रुओं से भरा-पूरा होता है।[42]

मनु का विचार है कि राजा ब्राह्मण मंत्री में विश्वास करके जो कार्य करता है उसे उसी के ऊपर छोड़ देना चाहिए। तदुपरान्त उसी की सलाह से समस्या को निश्चित करके उसे कार्यारम्भ करना चाहिए। वे पुनः कहते हैं कि मंत्रिपरिषद विद्वान्, धर्मादियुक्त एक ब्राह्मण से षडगुण से युक्त श्रेष्ठ मंत्र की मंत्रणा राजा करता था। याज्ञवल्क्य के मत में भविष्य जानने वाले, दण्डनीति में दक्ष, विद्वान् तथा गुह-

शान्ति आदि क्रियाकलापों में कुशल ब्राह्मण को पुरोहित के पद पर नियुक्त करना चाहिए। वह पुनः कहते हैं कि मंत्रियों का मुख्य कर्तव्य होता है कि वह मंत्र को इस प्रकार गुप्त रखे कि राजा के कर्मों (सन्धि-विग्रह आदि) के फलीभूत होने के पूर्व उसकी जानकारी किसी को न मिल सके। ब्राह्मण मंत्री राजा के साथ धर्मशास्त्र के अनुसार व्यवहारों पर विचार करता था। राजा के किसी कार्यवश व्यवहार न देखने पर राजा सभासदों के साथ योग्य एवं सभी धर्मों के मर्मज्ञ ब्राह्मण को इस कार्य के लिए नियुक्त करता था। व्यवहार में धर्म के विरुद्ध आचरण करने वाले सभासदों को दण्डित किया जाता था।[43]

पुरोहित का मंत्रिपरिषद् में विशेष महत्त्व था। गूढ़ समस्याओं के निदान के लिए तो इसकी परामर्श ली ही जाती थी, धार्मिक-गतिविधियों में इसकी सलाह अन्तिम होती थी। इस प्रकार पुरोहित की स्थिति एक प्रकार से इंग्लैण्ड के प्रारम्भिक प्रधानमंत्रियों से तुलनीय है।[44]

मन्त्रणा के पांच अंग माने गये थे। इन पर विचार करना मंत्रियों का कार्य था। इनमें कार्य को प्रारम्भ करने का उपाय, योग्य-पुरुषों को समीप रखना व द्रव्य, संचय करना, देश, काल का विचार, विपत्ति से रक्षा और कार्य की सिद्धि आदि पांच कार्य आते हैं।[45] अज्ञात विषयों का ज्ञान प्राप्त करना, निश्चित विषयों को दृढ़ बनाना, मतभेद में संशय का उच्छेदन करना और एक देश का ज्ञान होने पर उसके अन्य अंगों का ज्ञान प्राप्त करना मंत्रियों के कार्य माने गये हैं। स्वपक्ष एवं शत्रुपक्ष की दुर्बलताओं की जानकारी प्राप्त करना भी इनके कार्य में सम्मिलित था। अग्नि-पुराण के अनुसार राज्य के कार्य से सम्बन्धित मंत्रणा, अनुष्ठित-कार्यों की सफलता के प्रयत्न, भावी (अर्थात् भविष्य) के लिए प्रबन्ध, कोष का विवरण, राज्य के साहस एवं वित्तीय विधि (कानूनों) का संग्रह, वृद्धमती शत्रु-शक्ति को रोकना, उपद्रवों के रोकने का प्रयत्न करना तथा राजा एवं राज्य की रक्षा के प्रयत्न करना मंत्रियों के कार्य हैं।[46]

अशोक के शासन-काल में मंत्रि-मण्डल जैसी संस्था का नाम परिषद् था। परिषद् के सदस्य सम्भवतः राजकीय उच्च अधिकारी होते थे। ऐसा ज्ञात होता है कि परिषद् की बैठकों में प्रत्येक सदस्य अपने विचार स्वतन्त्रतापूर्वक व्यक्त करता था, चाहे उसका मत सम्राट या किसी अन्य सदस्य के विचार के विरुद्ध ही क्यों न हो। सम्राट को तत्काल ही परिषद् के अभिनव-निर्णयों की सूचना दी जाती थी। परिषदें "युत" नाम के कर्मचारियों को धर्म की वृद्धि करने की दिशा में सहयोग देती थी।[47] मंत्रिपरिषद् का राजा के ऊपर समुचित नियंत्रण था। मौखरी-प्रशासन में मंत्रिपरिषद् को प्रशासनिक अधिकार प्राप्त था, क्योंकि जब अन्तिम राजा संतान रहित मर गया तो मंत्रिपरिषद् ने ही मौखरी-प्रशासन हर्षवर्धन को सौंपा था।[48]

आधुनिक विद्वानों ने मंत्रियों के अधिकार क्षेत्र का सारांश इस प्रकार दिया है—(1) राजा की नीति पर मनन-मंत्र, (2) उस नीति के परिणाम को प्राप्त करना, (3) राजा के कार्य करना, (4) आय और-व्यय सम्बन्धी कार्य, (5) सेना एवं युद्ध, (6) शत्रुओं से रक्षा, (7) प्रशासन को बनाये रखना, (8) राष्ट्रीय पतन न हों इस प्रकार की व्यवस्था करना और (9) राजपुत्रों की रक्षा आदि। भारद्वाज द्वारा बताया "मंत्र" मेगस्थनीज द्वारा दिये गये सार्वजनिक मामलों पर मनन से मिलता है।[49] जातकों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि कुछ परिस्थितियों में मंत्री यह भी निर्णय करते थे, होने वाले राजा में शासन करने की क्षमता भी है या नहीं। यदि वह अयोग्य होता था तो वे स्वतन्त्रतापूर्वक आवश्यक निर्णय कर सकते थे।[50] अलतेकर के अनुसार मंत्रियों के कार्य-क्षेत्र में शासन का पूर्ण-क्षेत्र आ जाता था। उनका कार्य नई नीति का निर्धारण, उसे सफलता-पूर्वक कार्यान्वित करना, इसमें आने वाली कठिनाइयों को दूर करना, राज्य की आय-व्यय के सम्बन्ध में नीति-निर्धारण और उनका निरीक्षण राजकुमारों की शिक्षा-दीक्षा का उचित-प्रबन्ध, राज्याभिषेक में भाग लेना और पर राष्ट्रनीति का सचालन करके पड़ोसी स्वतंत्र राजाओं की ओर साम्राज्यान्तर्गत करद-सामन्तों की नीति पर विचार करना था।[51]

मंत्रणा का महत्व

भारत के प्राचीन विचारकों का मत है कि परिषद् की मंत्रणा नितान्त गोपनीय रहनी चाहिए। याज्ञवल्क्य सुरक्षित या गुप्त-मन्त्र को ही राज्य का मूल मानते हैं। सन्धिविग्रहादि कर्मों के फलीभूत होने के पूर्व तक "मंत्र" को गुप्त रखने का वे आदेश देते हैं। मनु के विचार में धनहीन राजा भी अपनी मंत्रणा को गुप्त रखकर सम्पूर्ण पृथ्वी का स्वामी, बन सकता है।[52] महाभारत के अनुसार राजा को 'संवृत मंत्र' होना चाहिए। वही राजा राज्य करने का अधिकारी है जिसके गोपनीय-मन्त्र को शत्रु जान पाते। वही राजा सम्पूर्ण धरा पर शासन करने में समर्थ है जिसका मन्त्र गुप्त नहीं है। विष मात्र एक ही व्यक्ति को मारता है, शस्त्र से भी एक ही का बध होता है किन्तु मन्त्र का प्रकाशन राजा एवं प्रजा दोनों के लिए विनाशकारी होता है।[53] इसलिए मन्त्र की गोपनीयता की रक्षा का दायित्व राजा और मन्त्री दोनों पर था। महाभारत में कहा गया है कि मन्त्रियों को मन्त्र की गोपनीयता के विषय में कछुये का अनुसरण करना चाहिए। पंचतन्त्र के अनुसार राजा को छोटे कार्य भी सबके सामने नहीं बताना चाहिए।[54]

मन्त्रणा के स्थान के विषय में याज्ञवल्क्य मौन हैं। लगता है कि उन्होंने मनुस्मृति का समर्थन किया है। मनु का कथन है कि मन्त्रणा निर्जन स्थान, गुप्त-कक्ष, राजप्रासाद के ऊपरी भाग अथवा निर्जन-वन, पर्वत-शिखर अथवा ऐसे भवन में होनी चाहिए जिसमें मन्त्रियों को कोई देख न सके। कौटिल्य ने स्वीकार किया है कि मन्त्रणा का स्थान इतना सुरक्षित हो कि कोई सुन न सके। पक्षी भी उसे न देख सकें। सुना

गया है कि शुक, सारिका ने किसी राजा के मन्त्र को प्रकट कर दिया था। कहीं कुत्तों एवं कहीं पक्षियों ने मन्त्र प्रकट कर दिया था। राजा की आज्ञा के बिना कोई वहां न आवे (जहां मन्त्रणा हो रही हो) एवं मन्त्रवेदी का मूलोच्छेदन कर दिया जाय।[55]

कामन्दक का विचार है कि रात्रि में मकान के अन्दर, दिन में निर्जन वन में राजा भावी-कार्य के विषय में मन्त्रियों से विचार-विमर्श करे।[56] हर्षचरित एवं शुक्र-नीति से भी इन कथनों की पुष्टि होती है।[57] राज्य की उन्नति तथा वृद्धि मन्त्रियों के परामर्श पर निर्भर करती थी। राज्य में शत्रु राज्यों के गुप्तचर रहते थे जिनका कार्य वहां की दुर्बलताओं तथा परिस्थितियों से अपने राजा को परिचित करना था। इसलिए कार्य पूर्ण होने तक मन्त्रणा को गुप्त रखना सर्वथोचित था। इसीलिए प्राचीन भारतीय मनीषियों ने इस विषय पर इतना अधिक विचार किया है। मन्त्रणा की गोपनीयता का महत्व वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भी कम नहीं है। प्राचीन भारत में सम्भवतः राजनीतिक दार्शनिकों के इन सुझावों का व्यवहार में भी परिपालन होता था।

यौधेय गणराज्य की एक मुहर से उनके "जयमन्त्र" को धारण करने वालों अर्थात् मन्त्रियों की प्रतीक होती है। वैसे यह अनुमान मन्त्र एवं मंत्रिन के सम्बन्ध के ऊपर ही अधिक आधारित है। इससे यह अनुमान भी होता है कि सैनिक-महत्व की मन्त्रणा की रक्षा का विशेष प्रयास किया जाता रहा होगा।

कार्य-प्रणाली

याज्ञवल्क्य के अनुसार राज्य के सन्धि, विग्रह आदि महत्वपूर्ण समस्याओं के समाधानों के लिए मन्त्रिपरिषद् की बैठक बुलाई जाती थी। सभी कार्यों में मन्त्रियों की उपस्थिति आवश्यक मानी जाती थी। यदि कोई किसी कारणवश उपस्थित होने में असमर्थ होता था तो उसकी सम्मति लिखित रूप से ली जाती थी। साधारणतः मंत्रिपरिषद् की बैठक राजा की अध्यक्षता में होती थी।[58] कहा भी गया है कि मंत्रियों की राय अपनी राय से भिन्न होने पर राजा क्रोध न करे।[59] मनु की सम्मति है कि राजा मन्त्रियों से सामूहिक और अलग-अलग दोनों प्रकार से मन्त्रणा करे। अन्य मन्त्रियों के सामने कोई मन्त्री अपनी स्पष्ट राय देने में संकोच कर सकता है इसलिए अलग-अलग मन्त्रणा करने की राय दी गयी है।[60]

साधारणतः मन्त्रिपरिषद् एक होकर कार्य करती थी। संयुक्त-रूप से राजा को मन्त्रणा देती थी। सम्यक् विचारों के बाद मन्त्रिपरिषद् एक मत होकर शास्त्र-सम्मत राय देती थी। वह उत्तम मन्त्र समझा जाता था और उसका बहुत महत्व होता था। निर्णय करते समय प्रजा के हित को ध्यान में रखा जाता था।[61] कौटिल्य का मन्तव्य है कि गम्भीर स्थितियों में भी राजा को साधारणतः मन्त्रिपरिषद् के बहुमत की राय माननी चाहिए, यद्यपि उचित समझने पर उसे इस राय से अलग जाने का भी पूरा अधिकार था।[62]

लिखित आलेख के बिना राज्य का कोई कार्य नहीं किया जा सकता था। किसी मामले पर पहले गृहमन्त्री, मुख्य न्यायाधिपति, विधि-मन्त्री, दूत (कूटनीति का मन्त्री) की सहमति प्राप्त होती थी, जिसका निश्चितरूप यह था—"स्वाविरुद्धं लेख्यं" अर्थात् जो लेख्य या प्रस्ताव है, वह हमारे प्रतिकूल नहीं है। भूमि कर और कृषि मन्त्री ने भी उस पर अपनी सहमति देते हुए लिखा "साधु लिखतम्"—टिप्पणी बहुत ठीक है, वित्तमन्त्री ने लिखा—"सम्यग् विचरितं" अच्छी प्रकार विचार हुआ है, "परिषद् के प्रधान ने लिखा—"सत्यं"—अर्थात् उचित है। उसके बाद प्रतिनिधि ने लिखा—"अंगीकर्त्तुं"—"स्वीकृति के योग्य उचित है।" युवराज ने अपने हाथ से लिखा—"अंगीकर्तव्यम्"—"स्वीकृत होना चाहिए" और धर्म-मन्त्री ने सहमति देते हुए कहा—"मैं भी इससे सहमत हूं।" अपनी टिप्पणी के बाद प्रत्येक मन्त्री ने उस पर अपनी मोहर लगाई अन्त में, राजा ने उस परलिखा—"स्वीकृत है" और उस पर मोहर लगाई इस पर टिप्पणी करते हुए जायसवाल ने लिखा है कि राजा को उस पर आलोचना करने की क्षमता न थी, क्योंकि परिषद् के बहुमत ने उसे पहले ही स्वीकार करा लिया था। परिषद् द्वारा स्वीकृत संकल्प पर राजा "अक्षम" था। राजा के आदेश से संकल्प राज्य का संकल्प हो गया, और सवैंधानिक कानून की दृष्टि में वही आलेख "राजा" हो गया। शुक्रनीति में कहा गया है—"राजा के हस्ताक्षर हो जाने और मोहर लग जाने पर आलेख ही "राजा" हो गया, स्वयं राजा भी राजा नहीं रहा।[63]

मन्त्रिपरिषद् के अधिकारों की व्यापकता और वास्तविकता इसी से सिद्ध हो जाती है कि उसके कहने से राजा अपने आदेशों पर पुनर्विचार करने पर बाध्य होते थे।[64] स्पष्ट है कि मन्त्रिमण्डल के निर्णय प्राय: बहुमत से होते थे। राजा ऐसे निर्णय को जो प्रजा के हित में न हो, अस्वीकार भी कर सकता था। राजा का निर्णय अन्तिम होता था। स्वयं-शासन-नीति-निर्धारण का अधिकार याज्ञवल्क्य ने राजा को नहीं दिया है।[65] इसलिए यह भी कह सकते हैं कि याज्ञवल्क्य किसी हद तक राजतन्त्र को सीमित रखने के पक्ष में रहे होंगे। व्यवहार में इसका कहां तक प्रयोग होता था निश्चित कह सकना सम्भव नहीं है, किन्तु साधारणतया यदि राजा योग्य होता था, तो मन्त्री उसकी आज्ञा पर चलते होंगे, पर उनके अयोग्य होने की स्थिति में सम्भवत: वास्तविक शासन मन्त्रियों द्वारा ही होता रहा होगा।

वर्गीकरण

एक व्यक्ति समस्त विषयों का ज्ञाता नहीं होता और न ही सब प्रकार के कार्यों को करने में समर्थ हो सकता है। अत: भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को उनकी योग्यतानुसार भिन्न-भिन्न विभागों को सौंपा गया होगा। याज्ञवल्क्य-स्मृति में मन्त्रियों के वर्गीकरण का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया है, किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से मंत्री, अमात्य, पुरोहित, सेनापति, दूत आदि विभागों की सूचना मिलती हैं। इससे मन्त्रिमण्डल के

कुछ सदस्यों का नाम जाना जा सकता है। शुक्र ने भी दस मन्त्रियों का उल्लेख किया है।[66] इनके बताए मन्त्री तथा याज्ञवल्क्य में उल्लिखित सदस्यों में कुछ साम्य प्रतीत होता है।

पुरोहित

प्रशासन के कार्यों में राज-पुरोहित का पद बड़ा सम्मानजनक था। याज्ञवल्क्य-स्मृति में उल्लिखित है कि पुरोहित को देवज्ञ, सभी शास्त्रों का ज्ञाता, अनुष्ठान से सम्पन्न, दण्ड एवं नीति में कुशल और शान्त एवं घोर कर्म में दक्ष होना चाहिए।[67] पुरोहित ब्राह्मण होता था। महाभारत में पुरोहित का विशद् वर्णन मिलता है। शांतिपर्व में पुरोहित की उपादेयता पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि जो राजा पुरोहित विहीन है वह जूठन (अपविज) के समान है, इसलिए राजा को चाहिए कि धर्म को अच्छी तरह समझने वाले विद्वान् इस पद पर नियुक्त करें। यदि वह अपनी उन्नति चाहता है तो ऐसे निःस्वार्थी और विद्वान् ब्राह्मण को, जो भी भूमि वह विजय में प्राप्त करता है सौंप दे। अकेले राजा के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह अपनी शक्ति का धर्मानुकूल प्रयोग कर सके। रजोगुण प्रधान राजा सत्वगुण प्रधान ब्राह्मण पुरोहित से धर्मशास्त्रानुकूल व्यवस्था को ग्रहण कर, उन्हें व्यावहारिकत रूप प्रदान करेगा तभी आदर्श की सुरक्षा सम्भव है।[68]

मनु का विचार है कि नियुक्त मन्त्रियों में से विद्वान् धर्म सम्पन्न ब्राह्मण मंत्री के साथ राजा को षड्गुण मन्त्र की सलाह लेनी चाहिए। राजा अपना सम्पूर्ण उत्तरदायित्व उसी पर दे यथा—उससे विचार-विमर्श करने के पश्चात् ही किसी कार्य का शुभारम्भ करे। यदि राजा राज्य के कार्यों को करने में असमर्थ है, तो ब्राह्मण मन्त्री उसके स्थान पर कार्य कर सकता है। अर्थशास्त्र के अनुसार पुरोहित को शास्त्र प्रतिपादित विद्याओं से युक्त, उत्तम कुल, शीलबान: षडङ्गबेदज्ञाता, ज्योतिषशास्त्र, शकुनशास्त्र तथा दण्डनीतिशास्त्र में निपुण और देवी तथा मानुषी आपत्तियों के प्रतिकार में समर्थ होना चाहिए।[69] शुक्र का विचार है कि पुरोहित को मन्त्रानुसार अनुष्ठान में कुशल, वेदत्रयी, क्रोधरहित, लोभ-मोह विहीन होना चाहिए। नीतिशास्त्र, व्यूह-रचना आदि में भी पुरोधा (पुरोहित) को कुशल होना उचित बताया गया है। पुरोधा आचार्य भी होता था, श्राप और अनुग्रह की क्षमता भी रखता था। मानसोल्लास में राज पुरोहित को त्रयी विद्या, दण्डनीति, शक्ति-कर्म आदि गुणों का ज्ञाता कहा गया है।[70]

स्पष्ट है कि उपर्युक्त विधि-विधान ब्राह्मण मन्त्री या पुरोहित को विशेष महत्व का स्थान प्रदान करते हैं। बिना पुरोहित के राजा, बिना महावत के हाथी के समान था। राजा और पुरोहित दोनों का ही महत्व था,[71] क्योंकि वे राज्य को योग-क्षेम की ओर ले जाने वाले होते थे। पुरोहित के प्रभाव का कारण उसके तप और मन्त्र थे। अतः वह राजा तथा राष्ट्र का रक्षक रहा होगा।

आय-व्यय का मन्त्री

याज्ञवल्क्य के अनुसार आय और व्यय के लेखा-जोखा के लिए कार्य-कुशल, पवित्र एवं कर्त्तव्यनिष्ठ मन्त्री (अध्यक्ष) नियुक्त किये जाते थे।[72] समाहर्ता को मोनधन ने कोष से सम्बन्धित मन्त्री बताया है।[73] कौटिल्य ने समाहर्ता के लिए निर्देश किया है कि उसे दुर्ग, राष्ट्र, आकर, सेतु, वन, गोष्ठ और व्यापार के मार्गों आदि का सर्वदा निरीक्षण करते रहना चाहिए। राज्यांश कर संग्रह और राज्यांश की आय वृद्धि और व्यय का हिसाब भी रखना चाहिए।[74]

सेनापति

याज्ञवल्क्य का कथन है कि सेनापति युद्ध आदि से सम्बन्धित विषयों पर राजा को सलाह देते थे।[75] पुरातत्व के लेखों से ज्ञात हुआ है कि साधारणतः मन्त्री सैनिक-नेता भी हुआ करते थे। समुद्रगुप्त का संधि-विग्रहिक हरिषेण "महाबलाधिकृत" या महासेनापति भी था।[76] सम्भवतः प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति में धर्म विभाग या धार्मिक विषय पुरोहितों के अधीन था। वह राजधर्म और नीति का संरक्षक था।[77] इस विभाग के अधिकारी को मौर्यकाल में धर्ममहामात्र, सातवाहन काल में श्रवण-महामात्र, गुप्त शासन-काल में विनयस्थिति-स्थापक और राष्ट्रकूट काल में "धर्मांकुश" कहा जाता था।[78] याज्ञवल्क्य के पुरोहित की तुलना वर्तमान समय के प्रधानमन्त्री से की जा सकती है।[79] पुरोहित राज्य-शक्ति का प्रतीक था। न्याय कार्य तथा अन्य राजकीय कार्यों में उसका स्थान महत्त्वपूर्ण था।[80]

वैदिक-काल में पुरोहित मन्त्र, योग तथा पूजा आदि के द्वारा विजय प्राप्त करने की लालसा से राजा के साथ युद्ध-क्षेत्र में भी जाता था।[81] उसे शस्त्र, शास्त्र और राजनीति में कुशल होना बताया गया है। जब लम्बे समय तक राजा यज्ञादि-अनुष्ठान में व्यस्त रहता तो उस समय तक पुरोहित ही राज-कार्य देखता था।[82] रणक्षेत्र में युद्ध जीतने में जितना योग वीरों का होता था, उतना ही पुरोहित के जादू-टोने अथवा जादू भरे कार्यों का भी था। युद्ध और शान्ति दोनों ही स्थितियों में राजा का अनिवार्य सहयोगी था। उसका ब्रह्म-बल और शारीरिक-बल क्षत्रिय का नेता है। इसके अतिरिक्त वह राजा का प्रचार अधिकारी भी था और जनता के मनोबल को बहुत ऊंचे स्तर पर रखता था।[83]

गंगवंशी राजा मारसिंह के मन्त्री चामुण्डराय ने गोनूर की लड़ाई जीती थी। सन् 1024 ई० में उत्तर चालुक्य-वंशी राजा का मन्त्री, महाप्रचण्ड दण्डनायक अर्थात् उच्च सैनिक अधिकारी भी था। कलचुरिवंशी राजा बिज्जलदेव के सर्वमन्त्री दण्डनायक या सेनापति भी थे।[84] इससे स्पष्ट होता है कि सेनापति सलाह एवं युद्ध दोनों कार्यों को करता था। सेनापति मन्त्रिमण्डल का सम्भवतः सदस्य होता था।

दूत

याज्ञवल्क्य का मन्तव्य है कि राजा दूतों को निर्दिष्ट कार्य करने के लिए भेजता था। शुक्र ने मन्त्रि मण्डल के सदस्यों में दूत को भी स्वीकार किया है। मनुस्मृति के मन्त्रियों में एक को "दूत" कहा गया है। मनु के अनुसार अनुरक्त (राजा से प्रेम करने वाली), शुचि (शुद्ध हृदय वाला), दत्त (चतुर), स्मृतिवान (अच्छी स्मृति वाला), देश-काल को पहचानने वाला, शरीर से हृष्ट-पुष्ट (वपुष्मान), वाणी में दक्ष, दूत राजा के लिए हितकर है। सन्धि एवं युद्ध को मनु ने इसके अधीन बताया है। दूत का यह भी कर्तव्य है कि राज कर्मचारियों के विचारों तथा उनकी इच्छाओं पर भी दृष्टि रखे। दूसरे राज्य के विचारों को ठीक-ठीक जानने का प्रयत्न करना चाहिए। जिससे अपने राज्य को किसी प्रकार की हानि न पहुंच सके।[85] स्पष्ट है कि दूत भी मन्त्रिपरिषद् का एक सदस्य सम्भवतः होता रहा होगा।

प्राड्विवाक

प्राड्विवाक को शुक्र ने मन्त्रिमण्डल का एक सदस्य माना है।[86] याज्ञवल्क्य एवं मनु प्राड्विवाक जैसे महत्त्वपूर्ण पदाधिकारी का नामतः उल्लेख नहीं करते हैं, परन्तु सभा में राजा की अनुपस्थिति पर विद्वान् ब्राह्मण को प्रतिनिधि के रूप में नियुक्त किये जाने का विधान करते हैं। यदि किसी कारण से राजा सभा के कार्यों को स्वयं देखने में असमर्थ रहता है, तब वह विद्वान् ब्राह्मण को अपने प्रतिनिधि के रूप में नियुक्त कर सकता था। यह विद्वान् ब्राह्मण सभ्यों की सहायता से सभा का सब कार्य करता था। इसको प्राड्विवाक कहा जा सकता है। नारदस्मृति के वर्णन से ज्ञात होता है कि इस पदाधिकारी की स्थिति पर राजा की उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति का कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। नारद के अनुसार विवाद में निहित धर्म को जो पूछता है तथा उस पर जो विवेचना करता है वह प्राड्विवाक कहलाता था।[87] स्पष्ट है कि प्राड्विवाक का स्वतन्त्र अस्तित्व रहा होगा। मिताक्षरा में उद्धृत नारदस्मृति के एक श्लोक से सूचना मिलती है कि राजा धर्मशास्त्र को सम्मुख करके प्राड्विवाक के मत में स्थित हो तथा स्थिर-बुद्धि से व्यवहार को देखे।[88]

प्राड्विवाक की योग्यता के विषय में अलतेकर का कथन इस प्रकार है—मुख्य न्यायाधीश (प्राड्विवाक) प्रख्यात धर्मशास्त्रज्ञ होता था। न्यायालय में किस प्रकार से मामले की छानबीन करना चाहिए यह वह ठीक जानता था। विधि-नियम उसे कण्ठस्थ रहते थे। देश-धर्म, जाति-धर्म इत्यादि के साथ भी वह ठीक तरह से परिचित रहता था।[89] बृहस्पति राजा को सर्वश्रेष्ठ न्यायिक अधिकारी माना था फिर भी वे न्याय विभाग को एक मन्त्री (न्यायमन्त्री एवं प्रधान न्यायाधीश) प्राड्विवाक के अधीन रखते हैं।[90]

उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि प्राड्विवाक मन्त्रिपरिषद् का सदस्य होता था। जो सम्भवतः न्यायमन्त्री होता था। इसे प्रधान न्यायाधीश भी कहा जाता था। इसके महत्त्व तथा कार्यों का उल्लेख करते हुए नारद कहते हैं कि जिस प्रकार चिकित्सक शरीर से यत्नपूर्वक कांटा निकलता है उसी प्रकार प्राड्विवाक व्यवहार से दोषों को निकालता था।[91] व्यवहार में सत्य, असत्य का विवेक करके न्याय तक पहुंचना प्राड्विवाक का प्रमुख कार्य होता था।

संदर्भ एवं टिप्पणियां

1. याज्ञ०, 1/344; महा, शांतिपर्व, 83/48; मनु०, 7/55; कौटिल्य, 1/7।
2. न राज्यमनमात्येन शक्यं शास्तुमपित्र्यहम्। महा०, शांति०, 106/11; 81/1।
3. महा०, उद्योग०, 37/38; पंचतंत्र, 1/137।
4. नीतिवाक्यामृत, 10; नीतिसार, 18/27; मत्स्य पु०, 215/2।
5. शुक्र०, 2/1-2,5; रामायण, अयोध्या, सर्ग 100/18।
6. के०पी० जायसवाल, हिन्दू पॉलिटी, पृ० 276-77।
7. अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० 137।
8. मनु०, 7/61। कौटिल्य०, 1/15।
9. मनु०, 754।
10. वा० रामायण, बालकाण्ड, 7/2; महा०, 12/85।
11. प्रबोधचन्द्रोदय 1, पृ० 23; शुक्र०, 2/70; मानसोल्लास, 2/2/56।
12. उद्धृत, अलतेकर द्वारा, प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० 120।
13. कृष्णकान्त हैंडीकी, यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कलचर, पृ० 101।
14. वा०, रामायण, 1/100/71; अर्थशास्त्र, 1/15।
15. अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० 121-22।
16. वही।
17. ए०ऐ०, भाग-5, 578, भाग 9, पृ० 35।
18. जातक, सं०, 528।
19. याज्ञवल्क्य, 1/3, 12; मनु०, 7/54, 60-61।
20. महा०, शान्ति०, 80/27 तथा 83/19; रामायण, 1/7/7-14।
21. अर्थशास्त्र, 1/9।
22. कुल-गुण शील-वृद्धान शूरान्भक्तान्प्रियंवदान्॥ शुक्र०, 2/8।
23. विष्णु०, 3/71; बृहस्पति०, 1/171; मानसोल्लास, 2/2/52/59।
24. अग्नि पु०, 249/11-15; नीतिवाक्यामृत, 10/5; पंचतंत्र, 2/228। 4/25-31।
25. कथासरित्सागर, 17/46।
26. इपि० इण्डि०, 9, पृ०254-परवल नृपते मूर्ध्नि वन्द्यः प्रधानः। देखिए, इण्डि० ऐण्टीक्वेरी 14, पृ० 7, यो जिह्वा पृथ्वीशस्य योराज्ञो दक्षिणः करः।

27. जर्नल ऑफ दी बाम्बे ब्रांच ऑफ र्‌वायल एशियाटिक सोसायटी, 15, पृ० 5; इण्डियन एँटीक्वेरी 7, पृ० 41।
28. याज्ञ०, 1/3, 12; मनु०, 7/54; पंचतंत्र, 3/228।
29. एपि०इण्डिका, 10, पृ० 71।
30. याज्ञ०, 1/312, 353, अमात्यास्सर्वं ऐवैते कार्यात्स्युर्नतु मंत्रिणः॥ कौटिल्य, 1/8।
31. मनु०, 7/54, 60; कामन्दक, 4/25, 27।
32. बसाक, आर० जी०, मिनिस्टर्स इन एँसियन्ट इण्डिया, इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, वालूम 1, पृ० 523-24।
33, रामायण, 2 /12/7; 1/7/3, 1/8/4।
34. रुद्रदामन प्रथम का जूनागढ़ अभिलेख, इपि० इण्डिका, 8, पृ० 52।
35. अलतेकर, राष्ट्रकूटाज एण्ड देयर टाइम्स, पृ० 81।
36. निशीथचूर्णी, पृ० 267।
37. अलतेकर, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एँसियन्ट इण्डिया, पृ० 125।
38. याज्ञ०, 1/312-13।
39. लक्ष्मीदत्त ठाकुर, प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन, पृ० 226।
40. कामन्दक; 4/27; देखिए, काणे, पूर्वोल्लिखित कृति, भाग-2, पृ० 624।
41. कौटिल्य, 1/10; द्रष्टव्य, कामन्दक०, 4/27।
42. याज्ञ०, 1/312; मनु०, 7/56; कामन्दक; 12/56।
43. मनु०, 7/58-59; याज्ञ०, 1/313, 44, 2/1, 3-4।
44. लक्ष्मीदत्त ठाकुर, प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन, पृ० 243।
45. कामन्दक०, 4/27; पी० वी० काणे, पूर्वलिखित कृति, भाग-2, पृ० 624।
46. अर्थशास्त्र, 1/15; महा०, शान्ति०, 83/48; अग्निपुराण, 241/16-18।
47. डी०सी० सरकार, सेलेक्ट इन्सक्रिप्सन्स, पृ० 19; वही, पृ० 21।
48. वाटर्स आन युवानच्वांग, पृ० 343।
49. के० पी० जायसवाल, पूर्वलिखित कृति, पृ० 298-99।
50. बेनी प्रसाद, दि स्टेट इन ऐसियन्ट इण्डिया, पृ० 129, 242।
51. अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० 122।
52. याज्ञ०, 1/344; मनु, 7/148।
53. महा०, शांति०, 57/14, 39 वही, 113/20।

54. महा० उद्योग०, 43/28, 38/18-19, शांतिपर्व, 83/49, पंचतन्त्र, 1/107; कामन्दक०, 4/31।
55. मनु०, 7/147; अर्थशास्त्र, 1/15, पृ० 26।
56. कामन्दक०, 12/47।
57. हर्षचरित, अध्याय 6; शुक्र०, 1/150।
58. याज्ञ०, 1/312; मनु०, 7/56।
59. अलतेकर, पूर्वलिखित कृति, पृ० 127।
60. बार्हस्पत्य, मन्त्रकाले नकोपयेत्। अर्थशास्त्र, 2/53; मनु०, 8/57।
61. अलतेकर, पूर्वोक्त कृति, पृ० 127; वा० रामायण, 6/12।
62. अर्थशास्त्र, 1/6; शुक्र०, 83/55।
63. जायसवाल, हिन्दू पालिटी, (बंगलौर, 1955), पृ० 296-97।
64. अलतेकर, पूर्वोक्त कृति, पृ० 146-47।
65. याज्ञ०, 1/312-13।
66. याज्ञ०, 1/312,-314, 322, 328-329, 353; शुक्र०, 2/69।
67. याज्ञ०, 1/313।
68. लक्ष्मीदत्त ठाकुर, प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन, पृ० 249।
69. मनु०, 7/58-59, 8/9; अर्थशास्त्र, 1/9।
70. शुक्र०, 2/77, 79; मानसोल्लास, 2/2/60।
71. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० 391-393।
72. याज्ञवल्क्य०, 1/322।
73. यू०एन० घोषाल, कन्ट्रीब्यूशंस टू द हिस्ट्री ऑफ द हिन्दू रेवन्यू सिस्टम, पृ० 143।
74. अर्थशास्त्र, 2/6/1, 2/8/28।
75. याज्ञ०, 1/329।
76. वासुदेव उपाध्याय, प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, द्वितीय खण्ड, मूल लेख, पृ० 49।
77. अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० 152।
78, अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० 152।
79. याज्ञ०, 1/313।
80. वरदाचार्य, हिन्दू जूडिशियल सिस्टम, पृ० 13।

81. ऋग्वेद, 2/33।
82. आपस्तम्ब धर्मसूत्र. 20/2/12, 3/1/3; बौधायन धर्मसूत्र, 15/4।
83. एन०जे० शेण्डे: द रिलीजन ऐण्ड द फिलॉसफी ऑफ द अथर्ववेद, पृ० 82-87।
84. अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० 122।
85. याज्ञ०, 1/328; शुक्र०, 2/69; मनु०, 7/64-68।
86. शुक्र०, 2/69।
87. याज्ञ०, 2/3; मनु०, 8/9/10; नारदस्मृति, 3/15।
88. याज्ञ०, 2/3 पर मिताक्षरा।
89. अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० 186।
90. बृ०स्मृ०, व्य०का०, 1/65/68-69।
91. यथा शाल्यं भिषक्कायादुद्धरेद्यंत्रयुक्तित:।
प्राड्विवाकस्तथा शस्यमुद्धरेदव्यवहारत:॥ नारद०, 2/16।

+●——●+
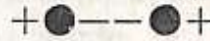
एकादश अध्याय

प्रशासन-व्यवस्था

केन्द्रीय प्रशासन

याज्ञवल्क्य के समय में शासन के इस पक्ष पर पर्याप्त बल दिया गया था। राजा राज्य का सर्वोच्च अधिकारी होता था। सम्भवत: प्रशासन को सुव्यवस्थित ढंग से चलाने के लिए विविध विभागों की व्यवस्था रही होगी। याज्ञवल्क्य ने विभागों का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। विष्णुस्मृति में खान, चुंगी, नौका और हाथी केवल इन्हीं चार विभागों का उल्लेख किया है।[1] रामायण और महाभारत में 18 विभागों या तीर्थों का उल्लेख किया गया है, किन्तु इनके नाम नहीं दिये गए हैं। अर्थशास्त्र से भी विभागों की इस परम्परागत संख्या की सूचना मिलती है।[2] अष्टादश तीर्थ की पारिभाषिक विवेचना करते हुए जायसवाल ने कहा है कि एक प्राचीन वर्गीकरण अष्टादश तीर्थ के नाम से ज्ञात था। कौटिलीय-अर्थशास्त्र में वर्णित अष्टादश तीर्थों में मन्त्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज, दौवारिक, आन्तरवंशिक, प्रशास्तृ, समाहर्तृ, सन्निधातृ, प्रदेषद, नायक, पौर, व्यावहारिक, कार्मान्तिक, मन्त्रिपरिषदाध्यक्ष, दण्डपाल, दुर्गपाल, अन्तपाल को ही जायसवाल अष्टादश तीर्थ मानते हैं।[3] सम्भवत: प्रत्येक तीर्थ एक महामात्य के अधीन रहा होगा। इन महामात्यों और उनके विविध कार्यों का संक्षेप में उल्लेख इस प्रकार है।

मंत्री और पुरोहित

याज्ञवल्क्य के अनुसार राजा वंश-परम्परा से चले आने वाले पवित्र पुरुषों को मन्त्री पद पर नियुक्त करता था, उनके साथ राज्य के (सन्धि-विग्रह आदि) कार्यों पर विचार-विमर्श करता था।[4] इसी तरह नीति में कुशल व्यक्ति को पुरोहित नियुक्त करता था, जो धार्मिक-कार्यों का सम्पादन करता था। अर्थशास्त्र के अनुसार पुरोहित द्वारा बढ़ाया हुआ और मन्त्री के परामर्श से पुष्ट क्षत्र (राजा) स्वयं अजित रहकर दूसरों को विजित करने में समर्थ होता था।[5] अत: स्पष्ट है कि यह विभाग राजा को सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों में उचित सलाह देता था।

समाहर्त्ता

याज्ञवल्क्य ने समाहर्त्ता का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु अन्य साहित्यिक-साक्ष्यों के आधार पर इसका उल्लेख किया जाएगा। अर्थशास्त्र में समाहर्त्ता का उल्लेख किया गया है। विभिन्न जनपदों के शासन के लिए नियुक्त राजपुरुषों को शमाहर्त्ता

कहा जाता था। सब जनपदों के शासन का संचालन करने वाला विभाग (तीर्थ) भी समाहर्त्ता नामक अमात्य के अधीन था।[6] समाहर्त्ता के अधीन अनेक अध्यक्ष होते थे। याज्ञवल्क्य ने संक्षेप में अध्यक्षों के निर्वाचन का उल्लेख किया है,[7] किन्तु उनका नामोल्लेख नहीं किया है। सम्भवतः ये अपने-अपने विभाग के राजकीय करों को एकत्रित करते थे, तथा व्यापार, व्यवसाय आदि का संचालन करते थे। ऐसे कुछ अध्यक्ष निम्नलिखित रहे होंगे—

(क) **शुल्काध्यक्ष**—व्यापार से सम्बन्ध रखने वाले (करों) को एकत्र करना इसका कार्य था। राजा की ओर से ली जाने वाली चुंगी को शुल्क कहा जाता था।[8]

(ख) **पोतबाध्यक्ष**—तौल और माप के परिणामों पर नियन्त्रण रखने वाले राजपुरुषों को पोतबाध्यक्ष कहते थे। ये बटखरों की परीक्षा करके उन पर मुहर या छापा लगाते थे। अलतेकर के अनुसार छोटे नगरों में बाजार, चुंगी और माप तौल आदि का निरीक्षण एक ही व्यक्ति करता रहा होगा। ग्रामों में यह कार्य सम्भवतः मुखिया करता था।[9]

(ग) **मानाध्यक्ष**—देश और काल को मापने के विविध साधनों का नियन्त्रण राज्य के अधीन था। यह कार्य मानाध्यक्ष के अधिकार में होता था।[10]

(घ) **सूत्राध्यक्ष**—अलतेकर के अनुसार देश का सबसे बड़ा उद्योग वस्त्र-उत्पादन था और राज्य के अपने वस्त्र बुनने के कारखाने थे जिनका मुख्य उद्देश्य गरीबों की मदद और राज्य की आय बढ़ाना था। इस विभाग के माध्यम से गरीब लोगों के घर रुई भेजी जाती थी और उनसे निश्चित पारिश्रमिक देकर सूत कतवाया जाता था। शुक्रनीति में इस अधिकारी को वस्त्राध्यक्ष कहा गया है।[11] इस प्रकार कताई और बुनाई की व्यवस्था और निरीक्षण करने वाले अधिकारी को सूत्राध्यक्ष कहा जाता था।

(ङ) **सीताध्यक्ष**—कृषि-विभाग के अध्यक्ष को सीताध्यक्ष कहते थे।[12] खेती के काम की जांच और व्यवस्था करना इसका मुख्य कर्तव्य रहा होगा।

(च) **सुराध्यक्ष**—अलतेकर के अनुसार सुराध्यक्ष की देखरेख में सरकार के मदिरा बनाने के कारखाने थे। निश्चित शुल्क देने पर नागरिकों को भी सुरा बनाने की अनुमति थी। इस विभाग के अधिकारी सुरापान या विक्रय का समय निर्धारित करते थे तथा सुरालयों में बेईमानों आदि पर नियन्त्रण रखते थे।[13]

(छ) **सूनाध्यक्ष**—इसका कार्य बूचड़खानों का नियन्त्रण करना तथा राजकीय वनों में अन्य लोगों को आखेट से रोकना भी था।[14]

(ज) **गणिकाध्यक्ष**—याज्ञवल्क्य ने वेश्याओं का उल्लेख किया है। गणिकाध्यक्ष द्वारा सरकार वेश्यावृत्ति को नियन्त्रित करने की चेष्टा करती थी।[15] अलतेकर का मन्तव्य है कि वेश्याओं को अपने यहां आने-जाने वाले लोगों के बारे में पूरा ब्यौरा

देना पड़ता था। इससे पुलिस-विभाग को अपराधों की जांच में भी सहायता मिलती थी। वेश्याएं गुप्तचर का कार्य भी करती थी।[16]

(झ) **मुद्राध्यक्ष**—राज्य से बाहर जाने या राज्य में आने के लिए राजकीय मुद्रा प्राप्त करना अति आवश्यक होता था। यह सब कार्य मुद्राध्यक्ष करता था।[17]

(ञ) **विवीताध्यक्ष**—गोचर-भूमि की व्यवस्था करना इस विभाग का प्रमुख कार्य था। पशुओं को पिलाने के लिए जलाशयों का प्रबन्ध करना, कुएं बनवाना आदि इस विभाग का कार्य था।[18]

(ट) **नवाध्यक्ष**—जल-मार्गों का सब तरह से प्रबन्ध करना नवाध्यक्ष का कर्तव्य माना जाता था। जल-मार्ग से यात्रा करने पर क्या किराया लगेगा यह सब नवाध्यक्ष निर्धारित करता था।[19]

(ठ) **गोध्यक्ष**—राज्य की ओर से बड़ी-बड़ी गौशालाएं भी होती थीं, जिनका प्रबन्ध 'गोध्यक्ष' करता था।[20] इनका सम्बन्ध अरण्याध्यक्ष से भी रहता था, क्योंकि पशुओं को चरने के लिए जंगल में ही भूमि सुरक्षित की जाती थी।[21]

(ड) **अश्वाध्यक्ष**—सैनिक दृष्टि से घोड़ों का बड़ा महत्व था। उनके पालन और नसल की उन्नति आदि का प्रबन्ध अश्वाध्यक्ष करता था।[22]

(ढ) **हस्त्यध्यक्ष**—राजा के हाथियों का प्रधान प्रबन्धक हस्त्यध्यक्ष कहलाता था।[23]

(ण) **कुप्याध्यक्ष**—कुप्य-पदार्थों का अभिप्राय शाक, महुआ, तिल, शीशम, कत्था आदि से था। ये सब पदार्थ जंगलों में पैदा होते थे। इनको एकत्र करके कारखानों में भेजना कुप्याध्यक्ष का कार्य था।[24]

(त) **पण्याध्यक्ष**—यह न केवल स्वदेशी और विदेशी व्यापार का प्रबन्ध करता था, अपितु राज्य द्वारा अधिकृत व निर्मित पदार्थों के विक्रय की भी व्यवस्था करता था।[25]

(थ) **लक्षणाध्यक्ष**—सम्पूर्ण मुद्रा प्रणाली (करेंसी) इसके अधीन थी। वही सिक्कों के प्रचलन आदि के लिए जिम्मेदार था।[26]

(द) **आकराध्यक्ष**—खानों से धातुओं और अन्य बहुमूल्य पदार्थों को निकालने का कार्य आकराध्यक्ष करता था।[27]

(ध) **देवताध्यक्ष**—देवताओं और उनके मन्दिरों का प्रबन्ध इसके अधीन रहता था।[28]

(न) **सौवर्णिक**—टकसाल के अध्यक्ष को सौवर्णिक कहा जाता था।[29]

(प) **द्यूताध्यक्ष**—याज्ञवल्क्य ने द्यूताध्यक्ष का उल्लेख किया है। इसकी अध्यक्षता में द्यूत (जुआ) खेला जाता था। यह द्यूतकरों से कर वसूल करता था तथा चोरों आदि को पहिचानने का कार्य भी करता था।[30]

याज्ञवल्क्य ने धर्म, अर्थ, काम आदि कर्मों में कुशल अध्यक्षों को नियुक्त करने का उल्लेख किया है ।[31] किन्तु उनका नामोल्लेख नहीं किया है । लगता है कि इस विषय को वे गौण समझकर इसका उल्लेख संक्षेप में ही किया है । सम्भवत: उपर्युक्त अध्यक्षों की नियुक्ति याज्ञवल्क्य के समय में भी होती रही होगी ।

सेनापति

याज्ञवल्क्य ने सेनापति का उल्लेख किया है । यह सैन्य-विभाग का महामात्य था । राजा के साथ यह देशकालोचित विचार-विमर्श करता था । कौटिल्य भी इस विभाग के श्रेष्ठ अधिकारी को सेनापति मानते थे ।[32] पद के महत्व को दृष्टिगत रखते हुए बृहस्पति ने उसके लिए कुल, शील, शास्त्रीय-ज्ञान तथा व्यावहारिक-अनुभव को विशेष महत्त्व प्रदान किया है ।[33]

लेखक

याज्ञवल्क्य के समय में "लेखक" का कार्य प्राय: कायस्थ लोग करते थे ।[34] अर्थशास्त्र के अनुसार विविध-विभागों के बड़े-बड़े अधिकारी लेखक कहे जाते थे । ये लेखक साधारण "क्लर्क" न थे । लेखक का पद अमात्य के बराबर होता था ।[35] सात-वाहनों के शासन-काल में भी लेखकों का यही पद बना रहा ।[36] सम्भवत: लेखक, राजा और मन्त्री के मौखिक-आदेशों को शीघ्रातिशीघ्र ठीक-ठीक लेखबद्ध करता था । जो लेखक राजा की आज्ञा को घटा-बढ़ाकर लिखता था, उसे उत्तम-साहस का दण्ड दिया जाता था ।[37] इससे लेखक का महत्व स्पष्ट होता था ।

गुप्तचर विभाग

याज्ञवल्क्य के समय में प्राचीन परम्परा के अनुसार गुप्तचर विभाग की व्यवस्था की गई थी ।[38] राज्य में होने वाले हर गलत कार्य की सूचना गुप्तचरों द्वारा राजा को मिलती थी । राजा अपने मन्त्रियों तथा दूसरे राजाओं के पास गुप्तचरों को भेजकर उनके क्रिया-कलापों के विषय में सही सूचना प्राप्त करता था ।[39] प्रशासन में इस विभाग की महत्वपूर्ण भूमिका रही होगी । आज भी इस विभाग के महत्व को स्वीकार किया जाता है ।

दूत

याज्ञवल्क्य ने दूत नामक अधिकारी का उल्लेख किया है ।[40] इसका सर्वप्रथम उल्लेख हमें ऋग्वेद में मिलता है ।[41] अलतेकर के अनुसार परराष्ट्र विषय एक अलग मन्त्री के जिम्मे था जिसे लेखों में "महासन्धिविग्रहिक" और स्मृतियों में "दूत" कहा गया है । साधारणत: इसे बहुत से सामन्त और स्वतन्त्र राज्यों से सम्बन्ध रखना पड़ता था अत: इसके मातहत कई अधिकारी होते थे । परराष्ट्र विभाग में गुप्तचरों की भी टुकड़ी होती थी जो छद्म-वेष में घूम-घूमकर भेद लगाया करती थी और अपने अध्यक्ष को सब हाल बताया करती थी ।[42]

सभिक

याज्ञवल्क्य के अनुनार यह राजा द्वारा संरक्षित अधिकारी था। यह जुआ खेलने तथा उससे प्राप्त शुल्क राजा (राजकोष) को देता था। कपटपूर्ण जुआ खेलने वालों को दण्डित करता था।[43] जुआ-विभाग "सभिक" के नियन्त्रण में रहता था।

ग्राहक (स्थानपाल)

याज्ञवल्क्य के अनुसार यह राजा द्वारा नियुक्त अधिकारी था। यह चोरी के अभियोग में अभियुक्तों को पकड़ता था।[44] सम्भवतः यह पुलिस अधिकारी रहा होगा जो इस तरह के अपराधों का निवारण करता था।

दण्डपाशिक का उल्लेख पाल, परमार तथा प्रतिहार अभिलेखों से मिलता है, जिसका मुख्य कार्य चोरों को पकड़ना था।[45] इसी कोटि का अधिकारी ग्राहक भी रहा होगा।

भाण्डारिक

शासन सत्ता की सुव्यवस्था एवं स्थायित्व के लिए कोष को राज्य के सात आवश्यक तत्वों में से एक बताया गया है। याज्ञवल्क्य कालीन भारतीय राजसत्ता-धारियों के पास भण्डागार की व्यवस्था थी।[46] भण्डागार (कोष) का अधिकारी भण्डागारिक होता था।[47] याज्ञवल्क्य ने मात्र भण्डागार शब्द का उल्लेख किया है। इसके अधिकारी का नामोल्लेख नहीं किया गया है, किन्तु यह सम्भावना व्यक्त की जा सकती है कि उनके समय में भण्डागार विभाग का अधिकारी भण्डागारिक रहा होगा।

ग्रामपाल

याज्ञवल्क्य के अनुसार गाँव के भीतर किसी का बध या चोरी होने पर यदि हत्यारे या चोर के गांव से बाहर जाने के संकेत न मिले तो ग्रामपाल ही इसके लिए दोषी सिद्ध होता था।[48]

मार्गपाल

यह मार्ग में यात्रियों को चोरों, डकैतों एवं बधिकों से सुरक्षा करता था। यह राजा द्वारा नियुक्त किया जाता था। यदि मार्ग में ये सब अपराध होते थे तो इसके लिए मार्गपाल को दोषी ठहराया जाता था।[49] इस प्रकार मार्ग की सुरक्षा व्यवस्था इसका प्रमुख कार्य था।

सामन्त

सामन्त राजा द्वारा नियुक्त किये जाते थे। ये खेत की सीमा के विवाद को समाप्त करके सीमा का सही निर्धारण करते थे। गलत निर्धारण एवं झूठ बोलने पर इन्हें मध्यम-साहस का दण्ड दिया जाता था। इस प्रकार खेत की सीमा का निर्धारण सामन्त ही करते थे। चिह्न आदि के अभाव में राजा स्वयं सीमा का निर्धारण करता था।[50]

प्रान्तीय शासन

याज्ञवल्क्य-स्मृति से प्रान्तीय-प्रशासन की सूचना नहीं मिलती है। इसका सम्भवत: एक कारण यह हो सकता है कि याज्ञवल्क्य के समय के राज्य इतने छोटे रहें होंगे कि उनका प्रशासन केन्द्रीय तथा स्थानीय निकायों के माध्यम से सुव्यवस्थित-ढंग से चलता था। दूसरा कारण यह हो सकता है कि याज्ञवल्क्य-स्मृति अर्थशास्त्र की तरह राजनीतिक ग्रन्थ नहीं है, बल्कि यह धर्म प्रधान ग्रन्थ है। इस कारण विषयवस्तु को गौण समझ कर इसका उल्लेख न किया गया हो। यदि प्रान्तीय प्रशासन रहा होगा तो केन्द्र जैसे अधिकारी एवं विभाग प्रान्तों में भी रहे होंगे।

जनपद प्रशासन

याज्ञवल्क्य-स्मृति में "जनपद" शब्द का उल्लेख मिलता है।[51] याज्ञवल्क्य राजा के अधीनस्थ "जनपद" की परिकल्पना करते हैं। जनपद शब्द का तात्पर्य "समुदाय" से है।[52] जायसवाल का विचार है कि राजधानी को छोड़कर शेष भाग जनपद कहलाता था। इस प्रकार जनपद, राष्ट्र और देश पर्यायवाची थे। जनपद का रहने वाला "जानपद" कहलाया। जानपद का बहुवचन में प्रयोग "जानपदा:" हुआ, जिसका अर्थ जनपद के निवासी समझा गया। पुर अथवा राजधानी के अतिरिक्त राज्य के सम्पूर्ण क्षेत्र को जनपद कहा जाता था।[53] बहुवचन जानपदा से दोनों भाव सूचित हो सकते हैं, एक तो जनपद संस्था के सदस्य और दूसरे जनपद के निवासी। वस्तुत: इस बहुवचन रूप से यह स्पष्ट होता है कि इस नाम की कोई संस्था थी। उनके अपने कुछ नियम और कानून होते थे, जो मान्य होते थे।

जनपद का तात्पर्य याज्ञवल्क्य में राजा से है। इसमें जनसंख्या और भूभाग दोनों सम्मिलित होंगे क्योंकि दोनों के द्वारा ही राज्य बनता है। इस प्रकार जनपद या राष्ट्र सप्तांग का एक अंग है। ईसापूर्व दूसरी शताब्दी के खारवेल के हाथी गुम्फा-अभिलेख से इस बात की सूचना मिलती है कि जनपद एक सामूहिक संस्था थी।[54]

इस संस्था के महत्वपूर्ण कार्य राजनीतिक एवं संवैधानिक थे। जनपद का अधिवेशन महत्त्वपूर्ण कार्यों पर विचार करने के लिए हुआ करता था। किसी के युवराज बनाये जाने का समर्थन, उसके अभिषेक में भाग तथा किसी राजकुमार के उत्तराधिकार में विघ्न डालना आदि। राज्य की नीति के सम्बन्ध में प्रस्ताव पारित करना इस संस्था का मुख्य कार्य था।

स्पष्ट है कि जनपद एक प्रशासनिक संस्था थी जो सम्भवत: राजा के अधीन थी। इसके अपने नियम और कानून थे जिसका परिपालन सामाजिकों को करना पड़ता था। समाज में शान्ति एवं सुव्यवस्था बनाये रखने के लिए विस्तृत साम्राज्य में इस प्रकार की संस्था की व्यवस्था की गयी होगी।

ग्राम प्रशासन

याज्ञवल्क्य-स्मृति में "गण" शब्द का उल्लेख मिलता है।[55] यह शब्द सम्भवत: नगर अथवा-ग्राम-निगम का वाचक है। वीर-मित्रोदय तथा याज्ञवल्क्य-स्मृति पर

विज्ञानेश्वर की टीका से इस विचार की पुष्टि होती है। सर्वप्रथम याज्ञवल्क्य तथा नारद-स्मृति के बीच तुलना करने पर यह बात स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाती है कि "पूग" और "गण" समानार्थक शब्दों के रूप में प्रयुक्त होते थे, और नगर अथवा ग्राम के निवासियों का निगम ही वह एकमात्र अर्थ है जिसमें इन शब्दों का व्यवहार वहां सम्भव है ।[56]

प्राचीन काल से ही ग्राम भारतीय-सभ्यता का आधार और शासन-व्यवस्था की धुरी रहे हैं। सम्पूर्ण राष्ट्र की संस्कृति, समृद्धि और प्रशासन इन्हीं पर निर्भर थी। याज्ञवल्क्य ने "ग्रामपाल" का उल्लेख किया है। मनु ने "ग्रामिक" नामक पदाधिकारी का उल्लेख किया है।[57] ईसवी सन् की प्रारम्भिक सदियों में इसे उत्तर भारत में "ग्रामिक" या "ग्रामयक" और तैलंग देश में "मनुन्द" कहा जाता था।[58] ग्राम के इस पदाधिकारी को ग्राम के मुखिया के रूप में ही चित्रित किया गया है। वह ग्रामवासियों के आगे-आगे चलता था।[59] ग्राम-शासन में मुखिया ही सबसे महत्व का पद रखता था।

ग्राम का यह अधिकारी ग्रामपति अथवा ग्रामिक ग्राम में उत्पन्न होने वाले दोषों आदि को स्वयमेव ठीक करने का प्रयत्न करता था। इसका तात्पर्य यह है कि ग्राम की शान्ति व्यवस्था, उसकी उचित सुरक्षा का प्रबन्ध कृषि कार्य में उपस्थित व्यवधान का निराकरण आदि इसके कार्य थे। ग्रामपाल ग्राम की समस्याओं को दूर करने का प्रयत्न करता था।[60] जैसा ग्रामपाल नाम से स्पष्ट है। याज्ञवल्क्य उसे ग्राम के पालक के रूप में देखते थे।

याज्ञवल्क्य का मन्तव्य है कि यदि अपने गांव की सीमा के भीतर चोरी आदि हुई हो तो, उसका दण्ड गांव के निवासी दे अथवा जिस गांव में चोरों के जाने के पद चिह्न दिखाई पड़े उस गांव के लोग दे। यदि कई गांवों के बीच एक कोश की दूरी पर चोरी आदि की घटना घटित हुई हो तो, पांच गांव या दश गांव मिलकर दण्ड-स्वरूप चोरी आदि की क्षति पूरी करते थे ।[61] लगता है कि ग्रामपाल ग्राम की कठिनाइयों की सूचना पांच-ग्रामाधिकारी को देता था। इसी प्रकार पांच-ग्रामाधिकारी दश-ग्रामाधिकारी को सूचना देकर चोरी आदि की समस्याओं को ग्रामवासियों के सहयोग से सुलझाने का प्रयत्न करते रहे होंगे।

महाभारत के अनुसार ग्राम-शासन में "ग्रामिक" अपने ग्राम तथा उसके निवासियों की स्थिति, गति-विधि और उनके गुण-दोषों से अवगत रहता था। अपने ग्राम की ज्ञातव्य बातों, विशेषत: कठिनाइयों की सूचना वह दश-ग्रामाधिकारी या दशप को देता था। इसी प्रकार दशप विंशत्यधिप को, विंशत्यधिप शत-ग्रामपाल को और शत-ग्रामाध्यक्ष, सहस्र-ग्रामपति को अपने-अपने क्षेत्रों से सम्बन्धित आवश्यक सूचनाएं देते थे और उनके आदेशानुसार शासन करते थे। सहस्त्र ग्रामाधिप राजा के आदेशानुसार कार्य करता रहा होगा।[62]

अलतेकर के अनुसार ग्राम के कार्यालय में राज्यकर की वसूली और भूमि के क्रय-विक्रय या स्वामित्व सम्बन्धी सब लेखपत्र रखे जाते थे। सरकार तथा जिले के अधिकारियों से होने वाले पत्र-व्यवहार और ग्रामपंचायत के निश्चयों की भी प्रतिलिपि रखना जरूरी था। यह सब काम गांव का मुनीम करता था।[63] ग्रामसभा को यातायात तथा सिंचाई के लिए उचित प्रबन्ध भी करना पड़ता था। इस प्रकार के कोई उल्लेख याज्ञवल्क्य में नहीं हैं किन्तु अन्य साक्ष्यों से इस अनुमान की पुष्टि होती है।[64]

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि ग्राम-व्यवस्था की पूरी जिम्मेदारी ग्रामसभा या ग्राम पंचायत पर थी। ग्राम में शान्ति एवं सुव्यवस्था बनाये रखना उसका मुख्य कर्तव्य होता था। यही कर वसूल करती थी और स्वयं कर लगाती भी थी, ग्रामीण विवादों का फैसला करती थीं तथा अन्यान्य लोक हितकारी कार्य करती थी। देवालयों द्वारा विभिन्न सांस्कृतिक एवं धार्मिक-कार्य सम्पन्न करती थीं। ग्रामवासियों की सब तरह से रक्षा करती थी। ग्रामवासियों के उत्थान में इनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।

अन्य संस्थाएं

प्राचीन भारत में पूर्व वर्णित संस्थाओं के अतिरिक्त अनेक सामुदायिक संघ अथवा समूह भी थे। इनके निर्माण का आधारभूत सिद्धान्त पारस्परिक सहायता एवं प्रतिरक्षा था। अस्तु आधुनिक दृष्टिकोण से कुल, श्रेणी एवं गण आदि को स्वशासन संस्थाओं के रूप में किसी हद तक स्वीकार कर सकते हैं।

कुल—याज्ञवल्क्य ने कुल का उल्लेख किया है।[65] कुल शब्द का प्रयोग कुटुम्ब या परिवार के अर्थ में हुआ है। सम्भवतः कुल शब्द का प्रशासनिक महत्व भी था। भारतीय साहित्य में कुल-संघ का अर्थ ऐसे संविधान से है जहां कुल अथवा परिवार का शासन हो, अथवा कुलीन राज्य। प्रायः सभी धर्मशास्त्रियों ने यह स्वीकार किया है कि प्रत्येक कुल-समूह राजनीतिक-दृष्टि से एक पृथक संगठन होता था, उसके पृथक विनिमय होते थे। कदाचित आपसी निर्णय हेतु कुल-जेष्ठ व्यक्तियों से मिलकर कुल-न्यायालय बनता था।[66]

श्रेणी—श्रेणी शब्द व्यापारियों या शिल्पियों के संगठन का बोधक है। याज्ञवल्क्य की धारणा है कि यदि कोई पुरुष किसी श्रेणी या अन्य किसी निगम की जायदाद चुराए या उनसे हुए अनुबन्ध को तोड़े तो उसे निष्कासित किया जाय और उसकी सम्पत्ति को छीन लिया जाये। इस कथन का समर्थन मनु-स्मृति से भी होता है।[67] ईसवी सन् के शीघ्र बाद ही श्रेणी-संगठन राज्य की राजनीति में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग के रूप में विकसित हो गया। वह न केवल राज्य के ढांचे के एक निश्चित अंग के रूप में माना जाने लगा अपितु उसका अधिकार शासन द्वारा स्वीकृत हो गया। राज्य की इस नीति से उसका सम्मान तथा स्तर बहुत बढ़ गया और उसे सभी आवश्यक तथा सामयिक सहायता प्रदान कर उसके अस्तित्व को सफल बनाया गया।[68]

श्रेणियां नैगम-सम्पत्ति भी रखती थी। वे वर्तमान-युग की संस्थाओं कनी धाराओं के अनुरूप नियम-विनिमय बना सकती थीं, जिनका उल्लंघन राजद्रोह के समा माना जाता था। उनके प्रतिनिधि प्रायः उनके नाम पर न्यायालय सम्बन्धी कार्य कर सकते थे और वहां उनका बड़ा आदर और सम्मान था। शुद्ध और चरित्रवान कुछ व्यक्ति उनके कार्यचिंतक (प्रबन्ध अधिकारी) नियुक्त किये जाते थे।[69] "कर्तव्य वचन तेषां समूहहितवादिनाम्" इस कथन मे ज्ञात होता है कि इन अधिकारियों को निगम-सदस्यों के ऊपर प्रबन्ध सम्बन्धी अधिकार प्राप्त थे और जो कोई उनके निर्णय की अवमानना करता उसे वे दण्ड दे सकते थे।[70] इस प्रकार श्रेणी के प्रति कर्तव्यों को राज्य के प्रति कर्तव्यों के बराबर समझा जाता था।

महाभारत की सूचना है कि श्रेणी के अपने नियम और कानून होते थे, जिनको राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त थी। श्रेणी-मुख्य का समाज में बहुत उच्च स्थान था।[71] बसाढ़ से प्राप्त मिट्टी की मुहरों से श्रेणी संगठनों के अधिकारों एवं कर्तव्यों की सूचना मिलती है।[72] श्रेणियों की अपनी सेना भी होती थी। कभी-कभी श्रेणी-बल रक्षा एवम् आक्रमण, इन दोनों कार्यों के लिए प्रर्याप्त होता था। इस कथन की पुष्टि कौटिल्य से भी होती है। रामायण से भी श्रेणी सैनिकों की सूचना मिलती है।[73] श्रेणी या निगम सम्भवतः बड़े व्यापारिक प्रतिष्ठान थे। इनकी सेना सम्भवतः इनके धन एवं सम्पत्ति की रक्षा एवम् उसकी देखभाल के लिए ही होती थी। आधुनिक अर्थों में इसे "सिक्युरिटी फोर्स" कहा जा सकता है।

गण—याज्ञवल्क्य द्वारा उल्लिखित "गण" शब्द का तात्पर्य सम्भवतः शस्त्रादि विषयक एक ही कार्य द्वारा जीविका चलाने वाले एक समूह से है जिसका अपना कुछ नियम और कानून होता था। अष्टाध्यायी में संघ शब्द का तीसरा अर्थ गणवाची है।[74] यह राजनैतिक संघ था जो अधिकांश में गण नाम से प्रसिद्ध होता था। इस अर्थ में संघ और गण दोनों पर्यायवाची थे। याज्ञवल्क्य के अनुसार जो "गण" अर्थात् सबके सामूहिक धन का अन्यायपूर्ण अपहरण करता है अथवा राजा द्वारा बनाये गये नियमों और कानूनों का उल्लंघन करता है, उसका सब कुछ लेकर राज्य से निकाल दिया जाता था। गण के आदेशों का परिपालन सभी लोग करते थे। गण अथवा समूह के विपरीत बोलने वालों को प्रथम साहस का दण्ड दिया जाता था। समूह के कार्य के लिए आये हुए व्यक्ति का राजा कार्य करके उसे दान, मान एवं सम्मान द्वारा बिदा करता था। वह समूह के प्रधान व्यक्तियों को दे देता था, ऐसा न करने पर उससे उसका ग्यारह गुना दण्ड वसूल किया जाता था।[75]

स्पष्ट है कि गण अथवा समूह का अपना संविधान होता था। उनके बनाये गये नियमों और कानूनों का विधिवत लोग परिपालन करते थे। इसका उल्लंघन करने वालों को दण्डित किया जाता था। राजा गण के सदस्यों का आदर एवं सम्मान करता था। इस प्रकार तद्युगीन समाज में गण प्रशासन का महत्वपूर्ण स्थान रहा होगा।

संदर्भ एवं टिप्पणियां

1. विष्णुस्मृति, 3/16।
2. रामायण, 2/100/26; महाभा०, 4/5/38; अर्थशास्त्र, 1/8।
3. के०पी० जायसवाल, हिन्दू पॉलिटी, पृ० 290; अर्थ०, 1/12, पृ० 20।
4. याज्ञ०, 1/312; अर्थ०, 9/1; आप०ध०सू०, 2/10/25; मत्स्य पु०, 215/3; रामा०, अयोध्याकाण्ड, 100/18; महा०, सभा०, 5/28।
5. याज्ञ०, 1/3/13; अर्थ०, 1/10; मनु०. 7/78; शुक्र०, 2/77-78।
6. अर्थ०, 2/1; के०पी० जायसवाल, हिन्दू पालिटी, पृ० 194-93; यू० एन० घोषाल, कन्ट्रीव्यूशंस टू द हिस्ट्री ऑफ हिन्दू रेवन्यू सिस्टम, पृ० 144।
7. याज्ञ०, 1/322।
8. अर्थ०, 2/21; एपि० इण्डिका, 13, पृ० 71।
9. अर्थ०, 2/19; अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० 150।
10. अर्थ०, 2/20।
11. वही, 2/23; अलतेकर, पूर्वलिखित कृति, पृ० 149; शुक्र०, 2/119।
12. अर्थ०, 2/24।
13. वही, 2/25; अलतेकर, पूर्वलिखित कृति, पृ० 149।
14. अर्थ०, 2/26।
15. वही, 2/27; याज्ञ०, 2/292; एपि० इण्डिका, 6, पृ० 102।
16. अ०स० अलतेकर. पूर्वलिखित कृति. पृ० 149।
17. अर्थ०, 2/34।
18. अर्थ०, 2/33।
19. वही, 2/28।
20. वही, 2/29; एपि० इण्डिका, पृ० 1.29।
21. अलतेकर, पूर्वलिखित कृति, पृ० 147।
22. अर्थ०, 2/30।
23. वही, 2/31।
24. वही, 2/17।
25. वही०, 3/16।
26. वही, 2/12।
27. वही, 2/12।

28 वही, 2/6 ।

29. वही, 2/14 ।

30. याज्ञ०, 2/203 ।

31. याज्ञ०, 1/322; मनु०, 7/81 ।

32. याज्ञ०, 1/329; अर्थ०, 2/33, पृ० 140; मनु०, 7/21 ।

33. बृ०स्मृ०पु०, 493, पृ० 140; महावस्तु, जि०, 2/299/16; रामायण अयोध्या काण्ड, 100/30, 300/11; महा, सभा०, 5/48; शान्ति०, 85/31/3; मत्स्यपु०, 215/8-10; अग्निपु०, 220/1; विष्णुधर्मोत्तर पु०, 2/24/4-6; मानसोल्लास, 2/2; शुक्र०, 2/429-430 ।

34. याज्ञ०, 1/336; 1/319-320; महा०, सभा० 5/62 ।

35. अर्थशास्त्र, भाग-2, अध्याय 10; शुक्र०, 2/172 ।

36. एपि० इण्डि०, 7 नासिक गुफालेख सं० 16, 27 ।

37. याज्ञ०, 2/296 ।

38. याज्ञ०, 1/228; महा०, शान्ति०, 59/8; आश्रमवासिक (गीता), 5/15 ।

39. वही, अर्थशास्त्र, भाग-1, अध्याय 12; मनु०, 7/223-24; शुक्रनीति अध्याय 1, 2; वी०ए० स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० 145-147 ।

40. याज्ञ०, 1/328; मिताक्षरा, याज्ञ०, 1/328; मनु०, 7/63-68; धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-2, हिन्दी अनुवाद, पृ० 635-36 ।

41. ऋग्वेद, 1/12/1, 1/61/3, 8/44/3, 1/16; रामायण, अयोध्या०, 100/35; महा०, उद्योग०, 37/25; शान्ति०, 86/27; कामन्दक०; 13/3; मत्स्यपु०, 215/12-13 ।

42. अलतेकर, पूर्वलिखित कृति, पृ० 147; महा०उद्योग०, 1/23-24; 6/8-15; 135-35; अर्थशास्त्र. भाग-1, अध्याय 16; माल०, पृ० 88 ।

43. याज्ञ०, 2/199-202 ।

44. वही, 2/266-270 ।

45. हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग-1 पृ० 285; इपि०इण्डि०, 19, पृ० 73, 96 ।

46. याज्ञ०, 1/353, 328 ।

47. इपी०इण्डि०, 8, पृ० 91; वही, 9, पृ० 302; वेणीप्रसाद, स्टेट इन ऐंसियन्ट इण्डिया, पृ० 299-303; वैशाली की मुहर, आर्क्योलाजिकल सर्वे रिपोर्ट, 1904, पृ० 108, वासुदेव उपाध्याय, गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग-2, पृ० 14।
48. याज्ञ०, 2/271।
49. वही, 2/271।
50. वही, 2/150-153।
51. याज्ञ०, 1/361; शतपथ ब्राह्मण, 13/4/21/7; ऐतरेय०, 8/14; वासुदेव शरण अग्रवाल, पाणिनि कालीन भारतवर्ष, पृ० 470।
52. सेन्ट पीट्सवर्ग डिक्शनरी, "जनपद" शब्द।
53. जायसवाल, हिन्दू राज्यतंत्र, हिन्दी अनुवादक रामचन्दर बर्मा, दूसरा-खण्ड, पृ० 114-38; काशिका, 4/2/81। ग्रामसमुदायो जनपदः।
54. डी०सी० सरकार, सेलेक्ट इन्सक्रिप्सन्स, पृ० 215।
55. याज्ञ०, 1/361, 2/187-192।
56. कृष्णदत्त बाजपेयी, हिन्दी अनुवाद, प्राचीन भारत में संघटित जीवन, पृ० 135।
57. याज्ञ०, 2/271; मनु०, 7/115 से 120 तक।
58. अ०स० अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० 168।
59. ऋग्वेद, 5-10, 7,5; पी०वी० काणे, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, तृतीय-भाग, पृ० 153।
60. लक्ष्मीदत्त ठाकुर, प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन, 255-256।
61. याज्ञ०, 2/272; नारद०, 16/7; मनु०, 7/113-115।
62. प्रेम कुमारी दीक्षित, महाभारत में राज्य-व्यवस्था, पृ० 246।
63. अ०स० अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० 170।
64. देखिए, गवर्नमेन्ट एपिग्राफिस्ट रिपोर्ट, 1899, पृ० 23।
65. याज्ञ०, 1/361; महा०, शान्ति०, 108/30; सभापर्व, 14/2-6।
66. परमात्माशरण, प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं, पृ० 485।
67. याज्ञ०, 2/187-192; मनु०, 8/219-220।

68. कृष्णदत्त बाजपेयी, प्राचीय भारत में संघटित जीवन, हिन्दी अनुवाद, पृ० 33।
69. याज्ञ०, 2/186-192।
70. कृष्णदत्त बाजपेयी, पूर्वोल्लिखित कृति, पृ० 39।
71. महा०, आरण्य०, 238/15।
72. आर्केलाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया की वार्षिक रिपोर्ट, 1903-04, पृ० 10 और आगे, 1911-12, पृ० 56, 1913-14, पृ० 138।
73. अर्थशास्त्र, अधि० 9, दूसरा प्रकरण, पृ० 340; रामायण, 2/123,5।
74. अष्टाध्यायी, 3/3/86।
75. याज्ञ०, 2/187-190।

द्वादश अध्याय

न्याय और दण्ड-व्यवस्था

न्याय-व्यवस्था

आधुनिक युग की भांति प्राचीन काल में भी न्याय की समुचित व्यवस्था करना राजा का आवश्यक कार्य था, क्योंकि दण्ड-शक्ति के प्रयोग द्वारा मत्स्य-न्याय को दूर करने के लिए ही राजा की उत्पत्ति हुई थी। राजा का प्रथम कर्तव्य है प्रजा की रक्षा करना। प्रजा के रक्षार्थ न्याय की व्यवस्था अत्यन्त आवश्यक है। राजा को अभिषेक के समय प्रजा-रक्षण की प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी, साथ ही मन्त्रिपरिषद् आदि से उसकेअ धिकारों पर नियन्त्रण रखा जाता था। पर इन अधिकारों से कहीं अधिक शक्तिशाली हिन्दुओं का धर्मशास्त्र था। धर्मशास्त्र एक स्वर से कहते हैं कि राजा धर्म को व्यवस्थित करने वाला है, परन्तु धर्म सब राजाओं से बढ़कर एवं सब राजाओं का राजा है।[1]

धर्म के स्रोत

प्राचीन काल में न्याय के आधार के रूप में विधि के स्थान पर धर्म शब्द का प्रयोग होता था। धर्म शब्द के अनेक अर्थ हैं, यथा—अनिवार्य स्वाभाविक विशेषताएं, नैतिक-गुण, धार्मिक-सम्प्रदाय, कर्तव्य, पुरुषार्थ, विधि इत्यादि। न्याय-व्यवस्था के सन्दर्भ में धर्म शब्द का तात्पर्य समाज को व्यवस्थित करने वाली मर्यादाओं से है। धर्म के इस अर्थ को याज्ञवल्क्य-स्मृति में स्पष्ट रूप से समझाया गया है। वेद धर्मशास्त्र, सज्जनों के आचरण, अपने आत्मा के अनुकूल (उत्तम) कार्य इसके अतिरिक्त विवेक-पूर्ण संकल्प से उत्पन्न हुई इच्छा को याज्ञवल्क्य ने धर्म के स्रोत के रूप में स्वीकार किया है।[2] गौतम के मत में वेद, वेद को जानने वालों की स्मृति तथा शील—ये तीन स्रोत हैं।[3] वसिष्ठ के अनुसार श्रुति (वेद) और स्मृति धर्मशास्त्र हैं। इनकी अनुप-स्थिति में शिष्टाचार को प्रमाण मानना चाहिए। आपस्तम्ब केवल धर्म जानने वालों का आचरण और वेद को ही प्रमाण मानते हैं।[4]

महाभारत के वनपर्व, अनुशासनपर्व और शान्तिपर्व में धर्म के तीन वेद, स्मृति और शिष्ट व्यक्तियों का आचरण—स्रोत माने गये हैं।[5] राज्य कानून के दो मुख्य स्रोत थे—धार्मिक-नियम, जिनकी अनेक शाखाएं थीं और विभिन्न प्रकार की स्थानीय, सामाजिक और आर्थिक समूहों की प्रथाएं या अभिसमय।[6]

दीक्षितार के मतानुसार गौतम ने धर्म और प्रथाओं के साथ न्याय-औचित्य को भी जोड़ दिया है। बाद में इन धर्म-नियम संग्रहों पर लिखी गयी शास्त्रीय

टीकाओं यथा याज्ञवल्क्य की मिताक्षरा के भी विवादों के निर्णय में कानूनी सत्ताधारी माना जाने लगा। धर्मसूत्रों एवं धर्मशास्त्रों के प्रणेताओं ने वेदों के पेचीदा श्लोकों का निर्वाचन किया है। इसके विपरीत आपस्तम्ब और बौधायन ने श्रुति (वेद), स्मृति और शिष्टाचार (स्मृतियों के सदाचार) को विधि का आरम्भिक श्रोत माना है। मनु ने आत्मतुष्टि और जोड़ दिया है।[7]

उक्त प्रमाणों की अनुपस्थिति में धर्म के विषय में सन्देह होने पर निर्णय के लिए किसे प्रमाण माना जाये, इस सन्दर्भ में याज्ञवल्क्य ने परिषद् (विद्वानों की) के वचनों को भी प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है। याज्ञवल्क्य के अनुसार वेद और धर्म को जानने वाले चार पुरुषों की या तीन विद्याओं के ज्ञाता—तीन पुरुषों की परिषद् या अध्यात्म में निपुणतम एक ही व्यक्ति जो कुछ कहे वह धर्म है अर्थात् उसे ही प्रमाण समझना चाहिए।[8]

याज्ञवल्क्य ने कहा है कि जब दो स्मृतियों के बीच मतभेद (विवाद) हो तो व्यवहार (चलन) पर आधारित न्याय मान्य होगा, परन्तु अर्थशास्त्र व धर्मशास्त्र के बीच मतभेद की स्थिति में धर्मशास्त्र की सत्ता अर्थशास्त्र से ऊपर है।[9] इससे स्पष्ट है कि उसने धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र दोनों को विधि का श्रोत स्वीकार किया है।

टीकाकारों ने समाज की शक्ति पर अधिक जोर दिया। उन्होंने समाज एवम् उसकी परम्परा जानने वालों के विपरीत विधि को प्रमाण नहीं माना।[10] अतः इन्होंने देश, काल एवं परिस्थिति के अनुसार ही वैदिक-विधि का प्रयोग किया। विज्ञानेश्वर ने स्पष्ट लिखा है कि समाज द्वारा स्वीकृत विधियां ही मान्य हैं। अपरार्क के अनुसार विधि या वेद से विहित होने पर भी वे समाज में अस्वीकृत होने से प्रामाणिक नहीं मानी जायेगी।[11]

प्राचीन भारतीय आचार्यों ने धर्म को देश, काल तथा पात्र अर्थात् परिस्थिति के अनुसार परिवर्तनशील माना है। विधि का मुख्य श्रोत समाज रहा। वह उस पर श्रुति, स्मृति एवं सदाचार के रूप में अपनी स्वीकृति व्यक्त करता रहा। अस्तु विधि समाज से विकसित होकर समाज के लिए विधान प्रस्तुत करने में सर्वोच्च हो जाती थी। यही भारतीय न्यायपालिका में विधि-सम्प्रभुता की पृष्ठभूमि है। अतः धर्म के श्रोतों के सन्दर्भ में विभिन्नता स्वाभाविक प्रतीत होती है।

न्यायिक अधिकारी

याज्ञवल्क्य के समय में न्याय का सर्वोच्च अधिकारी सम्भवतः राजा होता था। इसलिए याज्ञवल्क्य ने राजा के दैनिक कार्यक्रम में व्यवहारों को देखना भी आवश्यक माना है।[12] यदि राजा किसी कार्यवश स्वयं व्यवहार देखने में असमर्थ होता तो सभी धर्मों को जानने वाला ब्राह्मण यह कार्य करता था।[13] राजा द्वारा नियुक्त ब्राह्मण को अकेले किसी व्यवहार का निर्णय करने का अधिकार नहीं था। मनु स्पष्ट

रूप से इसे तीन अन्य सदस्यों के साथ फैसला करने का आदेश देते हैं।[14] सम्भवत: इसे न्यायिक-सभा कह सकते हैं।

सभासदों की योग्यता

याज्ञवल्क्य ने सभासदों की योग्यता के विषय में लिखा है कि ऐसे व्यक्ति को इस पद के लिए नियुक्त किया जाता था जो अपने कार्य की गुरुता को उत्तरदायित्व की भावना से वहन कर सके। सभासदों का समदर्शी होना आवश्यक था। धर्मज्ञ, सत्यवादी तथा श्रुति आदि के अध्ययन से सम्पन्न व्यक्ति इस पद पर नियुक्त होता था। मनु के अनुसार सभासदों को देश काल का ज्ञाता होना चाहिए।[15] अलतेकर के अनुसार इन्हें विधि, नियम कण्ठस्थ रहते थे। देश-धर्म और जाति-धर्म इत्यादि से भी वे परिचित होते थे।[16] ब्राह्मण के अभाव में अन्य द्विजाति के लोग इस पर नियुक्त किये जा सकते थे। मनु ने शूद्रों को इस कार्य के लिए सर्वथा अयोग्य माना है।[17] अलतेकर के अनुसार जिन मामलों में धर्मशास्त्र का ज्ञान आवश्यक नहीं होता था या जो मामले कृषक, व्यापारी एवं अरण्यवासियों में उत्पन्न होते थे, उनमें सभासद भी कृषक, व्यापारी इत्यादि वर्ग के होते थे। विजय नगर के न्यायालयों में जब धर्मशास्त्रों का विशेष ज्ञान आवश्यक होता था तब ब्राह्मण सभासद नियुक्त किये जाते थे, अन्य मामलों में कृषक एवं व्यापारी आदि सभासदों का कार्य करते थे।[18] सम्भवत: इस प्रकार की व्यवस्था पहले भी रही होगी।

याज्ञवल्क्य के अनुसार सभ्यों की संख्या चार, तीन अथवा एक होती थी। किन्तु यह प्रकरण व्यवहार का नहीं है। यहां याज्ञवल्क्य ने सामान्य परिषद् पर विचार किया है अतएव याज्ञवल्क्य भी नारद के समान इस पर मौन हैं। मनु के अनुसार सभ्यों की संख्या तीन होती थी। इसका समर्थन कौटिल्य ने भी किया है।[19] बृहस्पति ने सभ्यों की संख्या सात, पांच या तीन मानी है। जहां इस संख्या में राजाधिकृत ब्राह्मण उपस्थित होकर व्यवहार निर्णय करने लगे वह सभा यज्ञ के समान हो जाती थी।[20]

उक्त न्याय-सभा में "प्राड्विवाक" नामक पदाधिकारी का विशेष स्थान था। याज्ञवल्क्य तथा मनु इस पदाधिकारी का नामत: उल्लेख नहीं करते। परन्तु सभा में राजा की अनुपस्थिति में विद्वान् ब्राह्मणों को प्रतिनिधि के रूप में नियुक्त किये जाने का विधान करते हैं। यदि किसी कारण राजा सभा के कार्यों को स्वयं देखने में असमर्थ होता था तब वह विद्वान् ब्राह्मणों को अपने प्रतिनिधि के रूप में नियुक्त कर सकता था। वह विद्वान् ब्राह्मण सभ्यों की सहायता से सभा का कार्य करता था।[21] इसको प्राड्विवाक कहा जा सकता था। परन्तु नारद के वर्णन से ज्ञात होता है कि इस पदाधिकारी की स्थिति पर राजा की उपस्थिति या अनुपस्थिति का कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। नारद के अनुसार विवाद में निहित धर्म को जो पूछता है तथा उस

पर जो विवेचना करता है वह प्राड्विवाक कहलाता था।[22] अलतेकर ने प्राड्विवाक को मुख्य न्यायाधीश माना है।[23] इससे प्राड्विवाक का स्वतन्त्र अस्तित्व ज्ञात होता है। मिताक्षरा में नारदस्मृति का एक श्लोक उद्धृत है जो इस पदाधिकारी की स्थिति की सूचना देता है। वहां कहा गया है कि राजा धर्मशास्त्र को सम्मुख करके प्राड्-विवाक के मत में स्थित हो तथा स्थिर-बुद्धि से व्यवहार को देखे।[24]

उसकी योग्यता के विषय में नारद ने लिखा है कि प्राड्विवाक को व्यवहार के अष्टादश पदों की जानकारी होना, आन्वीक्षिकी आदि विद्याओं में कुशल होना आदि कई एक योग्यताओं से युक्त होना चाहिए।[25] अलतेकर के अनुसार प्राड्विवाक धर्मशास्त्र का मर्मज्ञ होता था। कानून उसे कण्ठस्थ रहते थे। देश-धर्म, जाति-धर्म का उसे पूर्ण ज्ञान रहता था।[26]

न्यायिक-प्रक्रिया

व्यवहार शब्द का अर्थ

याज्ञवल्क्य स्पष्ट रूप से व्यवहार की कोई परिभाषा नहीं देते। परन्तु उस पर टीका करते हुए मिताक्षरा का कहना है कि एक ही विषय में दो पक्षों में विवाद होने पर निर्णय तथा उसके लिए प्रयुक्त प्रक्रिया ही व्यवहार है।[27] व्यवहार शब्द का प्रयोग कार्य के अनुष्ठान, न्यायिक-प्रशासन, विधीय-प्रक्रिया, विवाद, विधीय-विवाद, किसी मुकदमे में प्रवेश की विधीय-क्षमता एवं विवाद-निर्णय के अर्थ में पाया जाता है।[28] इसका समर्थन शिलालेखों से भी होता है। याज्ञवल्क्यस्मृति में भी विवाद एवं व्यवहार में भेद किया गया है।[29]

कात्यायन के अनुसार "व्यवहार" शब्द वि उपसर्ग पूर्वक अव+हार के संयोग से बना है। "वि" का अर्थ है विभिन्न, "अव" का अर्थ है संशय और "हार" का अर्थ है निराकरण करना।[30] इस प्रकार संकुचित अर्थ में व्यवहार शब्द का तात्पर्य विभिन्न संशयों के निराकरण से है।

व्यवहार की परिभाषा स्मृतिकारों एवं टीकाकारों ने इस प्रकार दी है कि उसमें सभास्थल, वादी-प्रतिवादी, निर्णायक, निर्णय, न्याय-प्रमाण आदि विषयों का समावेश होता था।[31] इस प्रकार स्पष्ट है कि व्यवहार में विवाद के साथ न्यायिक-प्रक्रिया का प्रवेश हुआ। इसमें आवेदन से लेकर साक्षी तक के अंश समाविष्ट होते थे।

व्यवहार के विषय

विषय का तात्पर्य उस पक्ष से है जिससे न्याय की प्रक्रिया की जा सके। इसके लिए विभिन्न आचार्यों ने अन्यान्य शब्दों का प्रयोग किया है। याज्ञवल्क्य ने इसके लिए "व्यवहार पद", मनु ने "स्थान" और कौटिल्य ने "विवाद पद" शब्द का प्रयोग किया है।[32]

इसकी परिभाषा देते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यदि स्मृति और आचार की परम्परा के विरुद्ध दूसरों के द्वारा पीड़ित कोई व्यक्ति राजा को आवेदन करता है तो वह व्यवहार का विषय होता है। इसका तात्पर्य है कि विवाद का प्रारम्भ वादी की ओर से हो सकता था। राजा या राज्य किसी को विवाद प्रस्तुत करने के लिए बाध्य नहीं कर सकते थे। मनु ने स्पष्ट रूप से कहा है कि राजा या राज-पुरुष स्वयं विवाद को उत्पन्न न करें और दूसरों के लाये हुए विवाद की उपेक्षा न करें।[33]

व्यवहार के विषय कई प्रकार के हो सकते हैं। इनकी निश्चित संख्या के विषय में मतभेद है। याज्ञवल्क्य ने स्त्री तथा पुरुष के विवादों को व्यवहार सीमा से बाहर मानते हुए 'क्रय-विक्रयानुशय' में दो भेद कर 'प्रकीर्णक' और अभ्युपेत्या शुश्रुषा' को भी व्यवहार के विषयों में समाविष्ट किया है। इस प्रकार वह 20 विषयों के पक्ष में है।[34] मनु के अनुसार व्यवहार के 18 स्थान हैं।[35] नारद भी मनु के मत का समर्थन करते हैं परन्तु इनके नामों में कुछ अन्तर है। इन विषयों की सूची में विभिन्नता के कारण ही नारद ने व्यवहार को 100 शाखाओं वाला कहा है।[36]

व्यवहार के अंग

सामान्य रूप से व्यवहार के चार अंग माने गए हैं। याज्ञवल्क्य ने भी इसे चतुष्पद अर्थात् चार पदों वाला माना है।[37] परन्तु उन्होंने चारों के नाम का उल्लेख नहीं किया है। मिताक्षरा में इन्हें भाषापाद, उत्तरपाद, क्रियापाद और साध्यसिद्धिपाद नाम से उल्लिखित किया है। नारद ने भी व्यवहार के चार पाद—धर्म, व्यवहार, चरित्र और राजशासन का उल्लेख किया है।[38] इसके अतिरिक्त व्यवहार में चार की संख्या का विशेष महत्व है। इसके चार पाद, चार स्थान और चार साधन हैं। यह चार का हित करने वाला है और चारों में व्याप्त है तथा चार का उपकार करने वाला है।[39]

बृहस्पति के अनुसार भी इसके चार अंग हैं—पूर्व, उत्तर, क्रिया और निर्णय। परन्तु सामण्ड ने निर्णय के कार्यान्वयन को भी इसमें सम्मिलित करते हुए इसके 5 भेद किए हैं। आह्वान, विचार, प्रमाण, निर्णय और कार्यान्वयन है।[40]

पूर्वपाद

किसी व्यक्ति से पीड़ित होने पर वादी के द्वारा राजा को आवेदन करने से विवाद का प्रारम्भ होता है और इसे ही पूर्वपाद या भाषापाद कहते हैं। न्यायालय में विवाद प्रस्तुत हो जाने पर राजा किस प्रकार कार्यवाही करे, इस विषय में याज्ञवल्क्य की सम्मति है कि पहले प्रत्यर्थि के विषय में अर्थी द्वारा बताया गया अभियोग लिखे और उसके आगे वर्ष, मास, पक्ष, दिन, नाम और जाति आदि अंकित करे। मिताक्षरा आदि शब्द से द्रव्य, संख्या, वेला, स्थान को भी ग्रहण करते हैं।[41]

आवेदनपत्र को शुद्ध होना चाहिये। नारद इसकी शुद्धि को विशेष महत्वपूर्ण मानते हैं। उनके अनुसार किसी बिन्दु के इधर-उधर होने पर या अन्य किसी तरह भ्रष्ट होने पर स्पष्ट होते हुए भी वह आवेदनपत्र स्वीकार नहीं किया जाता था।[42] ऐसा सम्भवत: इसलिए कहा गया है कि भ्रष्ट आवेदन को ठीक से पढ़ने में कठिनाई होने पर उचित निर्णय नहीं दिया जा सकता था।

बृहस्पति ने आवेदनपत्र की संक्षिप्तता पर विशेष बल दिया है। इसका औचित्य यही प्रतीत होता है कि न्यायाधीश कम समय में उसे अच्छी तरह से पढ़ सके। आवेदनपत्र को स्वीकार करने के बाद इस सम्बन्ध में यदि स्पष्टीकरण आवश्यक होता तो न्यायाधीश तथा वादी की बातों को लेखक नामक अधिकारी लिखता था।[43]

कुछ ऐसे विवाद भी होते थे जो विचारणीय नहीं माने जाते थे और जो अनादेयवाद कहलाते थे। याज्ञवल्क्य का मन्तव्य है कि मत्त, उन्मत्त, रोगी (प्रियजन की मृत्यु आदि से) विपत्तिग्रस्त, बालक, त्रस्त व्यक्तियों के ऊपर चलाया गया व्यवहार सिद्ध या विचारणीय नहीं होता था। इसी प्रकार गुरुशिष्य, पिता-पुत्र, दम्पत्ति और स्वामी-सेवक का व्यवहार भी विचारणीय नहीं माना जाता था।[44] नारद का कथन है कि एक का बहुत के साथ और स्त्री तथा भृत्यों के विवाद पर विचार नहीं किया जाता था।[45]

उत्तरपाद

इसमें वादी द्वारा प्रस्तुत आक्षेप का उत्तर देने के लिए प्रतिवादी को बुलाया जाता था। वादी की उपस्थिति भी इस समय आवश्यक थी। याज्ञवल्क्य ने कहा है कि प्रत्यर्थी द्वारा सुनी हुयी बात और उसका उत्तर अर्थी की उपस्थिति में लिखाया जाय। इसके पश्चात् अर्थी अभियोग सिद्ध करने वाला प्रमाण दिखाता था। प्रतिवादी को उत्तर देने के लिए निश्चित समय दिया जाता था। परन्तु साहस, चोरी, कठोर भाषण, गौ के महापातक, प्राण और धन का नाश एवं स्त्रियों के विवादों में तत्काल उत्तर देने का निर्देश था।[46] मिताक्षरा के अनुसार प्रतिवादी का उत्तर स्पष्ट, असंदिग्ध और परस्पर विरुद्ध नहीं होना चाहिए। अर्थी द्वारा लगाये गये प्रत्याभियोग को छिपाने पर प्रत्यर्थी को (उस वाद के) समान धन राजा को देना पड़ता था और यदि अर्थी द्वारा लगाया गया अभियोग झूठा सिद्ध होता था तो अभियोग के मूल्य का गुना धन देना पड़ता था।[47] इससे सम्भवत: कोई भी व्यक्ति दूसरों पर झूठा अभियोग लगाने का साहस नहीं कर सकता था। मिताक्षरा के अनुसार यह उत्तर चार प्रकार का होता था—संप्रतिपति, मिथ्या, प्रत्यवस्कंद और पूर्वन्याय। नारद[48] और कात्यायन[49] भी इसी विचार के हैं।

जब प्रतिवादी वादी के अभियोग को स्वीकार कर लेता है, तो वह संप्रतिपत्ति कहलाता है। यदि वह उसे अस्वीकार करता है तो वह मिथ्या कहलाता है। कात्यायन

ने भी कहा है कि यदि अभियुक्त अभियोग को छिपाता है तो वह मिथ्या उत्तर कहलाता है।[50] मिथ्या उत्तर भी चार प्रकार का माना गया है।

1. वादी द्वारा लगाया गया अभियोग पूर्णतया असत्य है।
2. मैं इस विषय में कुछ भी नहीं जानता।
3. इस घटना के समय मैं समीप नहीं था।
4. उस समय मेरा जन्म ही नहीं हुआ था।

इस मत से नारद भी सहमत हैं।[51]

यदि प्रतिवादी के आक्षेप को स्वीकार करते हुए वादी कारण प्रस्तुत करता है, तो वह "प्रत्यवस्कन्दन" कहलाता है।[52] पूर्वन्याय में वह विवाद पूर्व-निर्णीत बताया है।

क्रियापाद

न्याय-कार्य वास्तव में इसी पाद पर आधारित रहता है। इसमें वादी, प्रतिवादी जिनके ऊपर प्रमाण का भार रहता है, वे अपने समर्थन में साक्षियों को उपस्थित करते हैं। साक्षी के द्वारा विवाद की पूर्ण विवेचना होती है। इसी में बहुत कुछ अंशों में निर्णय प्राप्ति हो जाती है। अपने तथ्यों की पुष्टि में प्रमाण दिया जाना तथा उसकी विवेचना होना व्यवहार को क्रियात्मक स्वरूप प्रदान करता है।[53] यह प्रमाण चार प्रकार के होते थे—लिखित, भुक्ति, साक्षी और दिव्य।[54] ये क्रियापाद के चार अंग हैं।

लिखित—प्रमाणों में लिखित को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना गया था। मिताक्षरा ने इसे दो प्रकार का माना है—शासन और चीरक। अन्यत्र वह इसे शासन और जनपद नामक दो प्रकारों में विभक्त करते हैं। स्वहस्त लिखित और अन्य लिखित। नारद ने भी इस मत का समर्थन किया है।[55] लेख्य-प्रमाण मुख्य रूप से तीन प्रकार का होता था—राज्यलेख्य, स्थानकृत और स्वहस्तलिखित। राज-लेख्य तीन प्रकार का होता था—शासन, जयपत्र, प्रसादपत्र।[56] वशिष्ठ ने इसे चार प्रकार का माना है—शासन, जयपत्र, आज्ञापत्र और प्रज्ञापत्र।[57] अन्य विचारकों ने इसकी संख्या अलग-अलग बतायी है। परन्तु स्मृतिचन्द्रिका ने इसे इच्छानुसार कहकर समस्त विवाद को ही समाप्त कर दिया।[58]

लेख्य-प्रमाण में किन नियमों का परिपालन करना चाहिए, इस विषय में याज्ञवल्क्य से विस्तृत सूचना मिलती है। इनके अनुसार लेख में वर्ष, मसा, पक्ष, दिन, नाम, जाति और गोत्र लिखना चाहिए। और अपने पिता के नाम का भी उल्लेख करना चाहिए। ऋणदाता तथा ऋणी में तय हुई बात को लिखने के उपरान्त ऋणी अपने हाथ से अपना नाम लिखे और यह भी लिखे कि अमुक के पुत्र मुझको उपर्युक्त लिखी हुई बात स्वीकार है। साक्षीगण भी अपने हाथ से अपने पिता के नाम के साथ अपना नाम लिखें कि इस समय मैं अमुक के यहां साक्षी के रूप में उपस्थित हूँ। अपने

हाथ से लिखा लेख साक्षियों के बिना भी प्रमाण होता है बशर्ते कि वह बलपूर्वक या छल से न लिखा गया हो। लेख की भाषा के विषय में मिताक्षरा का मत है कि राजलेख्य शुद्ध और स्पष्ट भाषा में लिखना चाहिए। किन्तु सामान्य लेख लोकभाषा में लिखा जा सकता है। नारद भी देशाचार के विरुद्ध लिखे लेख्य को प्रमाण नहीं मानते हैं।[59]

लेख की शुद्धता पर भी याज्ञवल्क्य ने विशेष बल दिया है। लेख के कहीं दूसरे देश में छूट जाने पर, पढ़ने योग्य न रहने पर, मिट जाने पर दूसरा लेख तैयार करने का आदेश देते हैं। परन्तु इसके लिए उभय पक्ष की स्वीकृति आवश्यक थी। यदि लेख के विषय में सन्देह हो तो अपने हाथ से लिखे हुये लेख्य से युक्ति, क्रिया, चिन्ह, सम्बन्ध (ऋणी और धनी का) और आगम हेतु से शुद्धि करनी चाहिए।[60]

लेख ऐसा दर्पण है जिसमें सत्य का साक्षात्कार होता है।[61] किन्तु लेख पर ही पूर्णतया निर्भर नहीं होना चाहिये। उसकी परीक्षा अच्छी तरह करनी चाहिए क्योंकि स्त्री, नाबालिग, अपंग तथा अन्य कारणों से असमर्थ व्यक्तियों से दबाव डालकर अन्यथा भी लिखाया जा सकता है।[62] जाली लेख्यों का भी प्रचलन था। इस प्रकार के अपराधी को कठोर दण्ड दिया जाता था।[63]

उक्त विधान लेख्य-प्रमाण की वैधता की पुष्टि करते हैं। जिसके पास इस प्रकार से लिखित-प्रमाण होता था वह विजय श्री प्राप्त करता था। लेख में भी छल-छद्म होता है किन्तु प्रत्येक व्यक्ति का लेख्य भिन्न प्रकार का होने से उस छल का ज्ञान हो जाता है। इसके अतिरिक्त युक्ति का सहारा लेकर भी छल का पता लगाया जा सकता है। यदि इतने पर भी कपट-व्यवहार का पता न चलता हो तब साक्षी आदि का सहारा लिया जा सकता है।[64]

भुक्ति

भुक्ति का अभिप्राय उपभोग से है।[65] भुक्ति से ही स्वत्व की उत्पत्ति मानी गयी थी। याज्ञवल्क्य के अनुसार स्वामी के देखते रहने एवं आपत्ति न करने पर भूमि दूसरे व्यक्ति द्वारा जोती जाने पर बीस वर्ष में उसके (स्वामी) के अधिकार से निकल जाती है। इसी प्रकार दस वर्ष तक दूसरे के द्वारा उपयुक्त सम्पत्ति पर स्वामी का अधिकार नष्ट हो जाता है। मनु और नारद भी इस मत से सहमत हैं।[66]

स्वत्व की उत्पत्ति के लिए केवल भुक्ति ही अपर्याप्त थी। उसके साथ-साथ आगम का होना भी अनिवार्य था। याज्ञवल्क्य तीन पीढ़ी से चले आते भोग की अपेक्षा आगम को अधिक प्रमाणित मानते हैं। परन्तु वह यह भी स्वीकार करते हैं कि भुक्तिरहित आगम में भी कोई बल नहीं होता।[67] नारद भी इस मत के समर्थक है। इस प्रकार भुक्ति और आगम दोनों आवश्यक हैं।[68] लेख्य और साक्षी प्रमाण के रहते हुये भी भोग के बिना आगम पूर्ण वैध नहीं माना जाता। इससे स्पष्ट है कि स्वत्व के

लिए भोग तथा आगम दोनों ही एक दूसरे पर आश्रित थे। बिना आगम के भोग और बिना भुक्ति के आगम को प्रमाणिक नहीं माना जाता था।

कुछ परिस्थितियों में 10 या 20 वर्ष के उपभोग से भी स्वत्व की उत्पत्ति नहीं होती थी। यथा-आधि (बन्धक), सीमा, उपनिक्षेप, जड़, बालक का धन, उपनिधि, राजधन, श्रोत्रिय का धन,[69] आदि के मामलों में। अलतेकर के अनुसार भुक्ति-लेख से व लेख साक्षियों से अत्यधिक महत्वपूर्ण समझे जाते थे।[70]

साक्षी

साक्षी शब्द का तात्पर्य उससे है जिसने साक्षात् देखा हो।[71] अन्य दो प्रमाणों (विजित और भुक्ति) की अनुपस्थिति में अथवा उनसे निर्णय में असमर्थ होने पर साक्षी प्रमाण प्रस्तुत किया जाता था। स्वयं देखने और स्वयं सुनने वाले के साक्ष्य को ही प्रमाणिक माना जाता था। किन्तु इसके अपवाद स्वरूप यदि गवाह मर जाय या विदेश चला जाय तो उसके कथन को सुनने वाला व्यक्ति भी साक्ष्य दे सकता था।[72]

साक्षियों की संख्या—इनकी निश्चित संख्या के विषय में आचार्यों में मतैक्य नहीं है। परन्तु कम से कम तीन साक्षियों को सभी ने स्वीकार किया है।[73] विष्णु धर्म सूत्र में एक साक्षी के साक्ष्य को प्रमाणिक नहीं माना गया है। परन्तु याज्ञवल्क्य और नारद आदि के मत में उभय पक्ष द्वारा स्वीकृत धर्म को जानने वाला एक ही व्यक्ति साक्षी हो सकता है।[74] साहस के अपराध में एक व्यक्ति के साक्ष्य को स्वीकार किया गया है।[75] अलतेकर गवाही को मुख्य प्रमाण मानते हैं।[76]

साक्षियों की योग्यता—सम्भवतः उस युग में भी न्यायालय में असत्य वक्तव्य देने वालों की कमी नहीं रही होगी। यही कारण है कि जिन लोगों की सत्यवादिता के सम्बन्ध में समाज को सन्देह नहीं होता था, उन्हीं को साक्षी बनाने के योग्य माना जाता था। साक्षी को तपस्वी, दानी, कुलीन, सत्यवादी, धर्म में रत, सरल, पुत्रवान, श्रौतस्मार्त-कर्मों का अनुष्ठान करने वाला और वंश-परम्परा से देशवासी होना आवश्यक मान्य था।[77] कुछ आचार्यों के कथनानुसार साक्षी को अपने (पक्ष के) वर्ण और जाति का होना चाहिए। स्त्रियों के व्यवहार में स्त्रियों को, द्विजों के विवाद में द्विजों को, शूद्रों के मुकदमे में शूद्रों को तथा अन्त्यजों के व्यवहार में अन्त्यजों को साक्षी बनाना चाहिए।[78] परन्तु सभी वर्गों का सबके लिए साक्षी होने का उल्लेख मिलता है।[79] साहस के अपराधों में सभी साक्षी हो सकते थे। इसलिए सबका सबके लिए होने का निर्देश दिया गया है परन्तु वर्गीय विवादों में वर्ग विशेष के लोग ही साक्ष्य दे सकते थे।[80]

साक्षी पद के लिए कुछ अयोग्यताएं भी निश्चित की गई थीं जिनमें अधो-लिखित अयोग्यताएं विद्यमान रहती थीं वे साक्षी पद के लिए योग्य नहीं समझे जाते थे। यथा—स्त्री, बालक, वृद्ध, जुआरी, मत्त, उन्मत्त, महापातकी, पाखण्डी, झूठा-लेख

लिखने वाले, विकलेन्द्रिय, ब्रह्म इत्यादि महापातक, मित्र, धन देने वाला, शत्रु और चोर, साहसी (बलपूर्वक किसी वस्तु का अपहरण करने वाला) बन्धुओं के द्वारा परित्यक्त आदि।[81] इसके अपवाद स्वरूप साहस-कार्य, चोरी, स्त्री-संग्रहण तथा वचन और दण्ड की कठोरता में साक्षियों की परीक्षा न करने का आदेश दिया गया।[82] इससे ज्ञात होता है कि उपर्युक्त विवादों मे सभी साक्षी हो सकते थे। कौटिल्य के अनुसार कठोर व्यवहार, चोरी और व्यभिचार के अभियोग में शत्रु, साला और सहायक को छोड़कर अन्य साक्षी माने जाते थे। दूसरे साक्षियों के अभाव में ही बालक, वृद्ध, शिष्य, बन्धु और दास के साक्ष्यों को स्वीकार किया जाता था। नारद भी वस्तुतः साहस के विवाद में साक्षियों की परीक्षा न करने का निर्देश देते हैं, किन्तु वह बालक, स्त्री, एक ही व्यक्ति, वञ्चक, सम्बन्धी और शत्रु के साक्ष्य को स्वीकार नहीं करते हैं।[83] स्त्रियों के विवाद में स्त्रियों को भी साक्ष्य का अधिकार दिया गया था।[84] हिंसामूलक वादों में निषिद्ध कोटि के साक्षी भी स्वीकार किये जा सकते थे।[85]

उपर्युक्त विवेचना से ज्ञात होता है कि साक्षियों की नियुक्ति से सम्बन्धित नियम बड़े जटिल थे। उनकी भलीभांति परीक्षा करके ही उनका साक्ष्य लिया जाता था। यदि विरोधी पक्ष सिद्ध कर देता था कि साक्षी अयोग्य है तो उस साक्षी को हट जाना पड़ता था।

साक्षी के प्रकार—मिताक्षरा ने दो प्रकार के साक्षियों का वर्णन किया है—(1) कृत अर्थात् पक्ष के द्वारा नियुक्त और (2) अकृत अर्थात् अनियुक्त। कृत को पांच तथा अकृत को छः वर्गों में विभक्त किया गया है।[86] नारद ने भी इसी तरह का विचार व्यक्त करते हुए इनके नामों का उल्लेख किया है। उन्होंने कृत को लिखित, स्मरित, सकारण, गुप्त और उत्तर पांच में परिगणित किया है। अकृत को—सहग्रामवासी, प्रधान न्यायाधीश, राजा, कार्य-मध्यगत—जिनके सामने घटना घटित है, उभय पक्ष द्वारा स्वीकृत और कुल्य के विवादों में अन्य सदस्य छः वर्गों में वर्गीकृत किया है। किसी पक्ष द्वारा नियुक्त न होने पर भी घटना को जानने वाला साक्ष्य प्रस्तुत कर सकता था।[87]

अर्वाचीन विचारकों के समान प्राचीन भारतीय विचारकों ने भी सक्ष्य में सत्य भाषण पर विशेष बल दिया है। सबके द्वारा स्वीकृत साक्षी को अपना वक्तव्य किसी पवित्र दिन प्रातःकाल न्यायाधीश सत्य की प्रशंसा तथा असत्य-भाषण के दुष्परिणामों को बताते हुए साक्षियों को सत्य बयान देने के लिए प्रेरित करते थे। मनु के अनुसार न्यायाधीश का सभी साक्षियों के प्रति अनुयोग इस प्रकार होता था—इस वाद के विषय में वादी और प्रतिवादी दोनों के पारस्परिक-व्यवहार के विषय में आप लोग जो कुछ जानते हैं, तो सच-सच बतला दे इस प्रसंग में आपलोगों की साक्षिता है। साक्ष्य में सत्य बोलता हुआ साक्षी मरणोत्तर काल में सर्वोच्च लोक प्राप्त करता है और समाज में उत्तम यश कीर्ति-पाता है। सत्य वाणी ब्राह्मण पूजित होती है।[88]

चारों वर्णों के लिए अलग-अलग शब्दों का प्रयोग किया जाता था। ब्राह्मण से से "कहो", क्षत्रियों से "सत्य कहो", वैश्यों से "गाय, बीज और सोना चुराने के बराबर पाप असत्य गवाही से लगता है" और शूद्रों से "गवाही से सभी पाप तुम्हें लगेगें", इन शब्दों के माध्यम से सत्य बोलने के लिए प्रेरित किया जाता था।[89]

यद्यपि साक्षियों के लिए सत्य बोलना ही विहित था, परन्तु परिस्थिति विशेष में जहां सत्य बोलने से चारों वर्णों में से किसी के बध की सम्भावना हो वहां साक्षी को झूठ बोलने का भी निर्देश मिलता है। इसके प्रायश्चित्त-स्वरूप चरुओं से सरस्वती का याग किया जाता था। मनु भी इसका समर्थन करते हैं।[90]

जो साक्ष्य स्वीकार करके अन्य साक्षियों के साथ शपथ दिलाये जाने पर साक्षी होने से विरत होता है, उससे विवाद के हारने पर दण्ड का आठ गुना धन दण्ड के रूप में लेना चाहिए और यदि वह ब्राह्मण हो तो उसे निर्वासन का दण्ड दिया जाता था।[91]

कूट साक्षी—साक्षियों के द्वारा सत्य के अतिरिक्त वक्तव्य देने पर उसे कूट-साक्ष्य कहते हैं। धन लेकर मिथ्या बोलने वाले कूट साक्षियों में प्रत्येक से उस विवाद में हारने वाले के दण्ड का दूना धन दण्ड के रूप में लिया जाता था। ब्राह्मण कूट-साक्षी को निर्वासन का दण्ड दिया जाता था। मनु का विचार है कि यदि कूट-साक्ष्य का पता व्यवहार के मध्य में निर्णय देने से पहले या निर्णय के बाद भी लगे तो सब पद्धति आकृत समझी जायेगी, निर्णय ही रद्द हो जायगा और पुनः छान-बीन होगी।[92] झूठी गवाही पर दण्ड का विधान था। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र यदि इसके अपराधी पाये जाते तो उन्हें अर्थदण्ड एवं देश निकाला दोनों प्रकार का दण्ड दिया जाता था। ब्राह्मण अपराधी का धन हरण न करके उसे राष्ट्र से निकाल दिया जाता था।

ब्राह्मण के दण्ड के लिए "विवासयेत्" पद का प्रयोग किया गया है। इसके तीन अर्थ माने गये हैं। विगत-वासस् अर्थात् वस्त्र रहित (नग्न) कर दिया जाय, या वास अर्थात् उसका घर नष्ट कर दिया जाय अथवा देश से निर्वासित कर दिया जाय। याज्ञवल्क्य की टीका में विज्ञानेश्वर ने इन तीनों ही अर्थों का वर्णन किया है और यह स्पष्ट कहा है कि अपराध की गुरुता के अनुसार तीनों प्रकार के दण्ड विहित हो सकते हैं। वे यह भी लिखते हैं कि ब्राह्मण को भी अर्थदण्ड हो सकता है क्योंकि यदि वह व्यवस्था न मानी जायेगी तो यह अड़चन उपस्थित होगी कि छोटे अपराध में अर्थदण्ड के अभाव में या तो उसे कठोर दण्ड नग्नकरण, गृहभंग या देश निकाला देना पड़ेगा या बिल्कुल छोड़ देना पड़ेगा। दोनों ही अनुचित होंगे। इससे स्वल्प अपराध में अर्थदण्ड होना चाहिए।[93] यह समीचीन प्रतीत होता है। जो व्यक्ति जानता हुआ भी साक्ष्य नहीं देता था वह कूट साक्षियों के समान दण्ड का भागी होता था।[94]

भाव-परीक्षा—साक्षी परीक्षा में भाव परीक्षा पर विशेष बल दिया जाता

था। जो इधर-उधर घूमता रहता है, ओठों को जीभ से चाटता है, जिसके ललाट से पसीना छूटता है, जिसके मुख का रंग उतरा रहता है, जिसका मुख बोलते समय सूखने लगता है। रुक-रुक कर वाणी निकलती है, विरुद्ध बातें कहता है, तत्काल उत्तर नहीं देता, पूछने पर उत्तर नहीं देता, ओठों को टेढ़ा करता है—ऐसे सभी व्यक्ति साक्ष्य में दुष्ट माने गये हैं। मनु ने भी इसी तरह का विचार व्यक्त किया है। नारद भी इस कथन से सहमत हैं।[95] इस प्रकार भाव परीक्षण से भी सत्य एवं असत्य का ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा की जाती थी।

साक्षियों में मतभेद—साक्षियों में परस्पर विरोध होने पर बहुमत से निर्णय लेने की सलाह दी गयी है। यदि दोनों ओर संख्या समान हो तो गुणियों के कथन को और उनमें भी परस्पर विरोध होने पर सर्वाधिक गुणवान साक्षियों के बचन को ही प्रमाण माना जाता था।[96] याज्ञवल्क्य ने स्पष्टतया गुण को मात्रा से अधिक महत्व दिया है। अकेला व्यक्ति भी समाज प्रतिष्ठा तथा उभय पक्ष से सम्मत जो कुछ कहेगा वह अनेक के विचारों से अधिक महत्वपूर्ण होता था।[97]

किसी पक्ष की विजय या पराजय साक्षी पर निर्भर करती थी। जिसकी (वादी की) प्रतिज्ञा साक्षी सत्य करा देता, वह विजयी और जिसकी प्रतिज्ञा को साक्षी असत्य बताते, उसकी पराजय होती थी। विस्मरणादि से साक्षी प्रतिज्ञा के भावाभाव नहीं प्रस्तुत करपा रहा है, तो प्रमाणानुसार निर्णय करना चाहिए।[98] साहस में साक्षी द्वारा अंश के प्रमाण करने मात्र से सबका प्रमाण मान लिया जाता था।[99] कोई भी पक्ष साक्षी पर आर्थिक, नैतिक अथवा अन्य किसी प्रकार का दबाव नहीं डाल सकता था।

दिव्य प्रमाण

मानवी साक्षियों की अनुपस्थिति में दिव्य-साक्ष्यों की सहायता ली जाती थी। सत्य की खोज में दिव्य अन्तिम साधन है।[100] इसकी परिभाषा कुछ आचार्यों ने इस प्रकार दी है—"मानुष प्रमाण (लिखित, भुक्ति और साक्षी) से निश्चित न होने पर जो विवाद का निर्णय करता है वह दिव्य है।"[101] सूत्रकाल में भी दिव्य परीक्षाओं का प्रचलन था।[102] इससे यह स्पष्ट होता है कि भारतीयों ने न्याय-व्यवस्था के मध्यम स्तर पर दिव्य साक्ष्य स्वीकार किया।[103] किन्तु दिव्य साक्ष्य का सूत्र ऋग्वेद से प्रारम्भ हो जाता है।[104] दिव्य-प्रमाण कई प्रकार के होते थे। याज्ञवल्क्य ने तुला, अग्नि, जल, विष और कोष का उल्लेख किया है।[105] मनु ने मात्र अग्नि और जल का ही उल्लेख किया है। किन्तु नारदस्मृति के एक स्थान पर कहा है कि मनु के अनुसार पांच प्रकार के दिव्य होते हैं।[106] सम्भव है कि मनुस्मृति के कुछ अंश समय की गति में लुप्त हो गये हैं।[107] इन दिव्यों में शुद्धि के बाद ही विजय का निर्णय होता था।

सम्पूर्ण विवाद को सिद्ध करने में समर्थ होने पर भी मानुष-प्रमाण के समक्ष दिव्य-साक्ष्य बलहीन थे। परन्तु जंगल, रात्रि, साहस, पारुष्य, एकान्त आदि ऐसे स्थानों के लिए दिव्य-प्रमाण का प्रयोग विहित था क्योंकि इन स्थानों पर मानुष-प्रमाण का

मिलना सर्वथा असम्भव था।[108] स्त्रियों के शील सम्बन्धी अभियोगों में भी दिव्य-प्रमाण का विधान था।[109] याज्ञवल्क्य राजद्रोह तथा ब्रह्म इत्यादि पातकों में बिना जय-पराजय के विचार के इनका प्रयोग विहित मानते थे।[110] ऋणादि में भी दोनों पक्षों की सहमति पर दिव्य-साक्ष्य मान्य हो जाता था, किन्तु साधारण सम्पत्ति के मसलों पर इसका व्यवहार नहीं किया जाता था।[111]

दुर्बल लोगों के लिए सरल दिव्य तथा बलवानों के लिए कठोर परीक्षा का विधान था। याज्ञवल्क्य ने ब्राह्मण, बालक, स्त्री, वृद्ध, अंधे, पंगु एवं रोगियों के लिए तुला परीक्षा, क्षत्रियों के लिए अग्नि परीक्षा, वैश्यों के लिए जल-परीक्षा और शूद्रों के लिए विष परीक्षा का उल्लेख किया है। लेकिन नारद ने व्रतियों, विपत्ति-ग्रस्तों, तपस्वियों और स्त्रियों के लिए दिव्य का प्रयोग निषिद्ध बताया है।[112]

दिव्य-प्रमाण की विधि के विषय में याज्ञवल्क्य ने विधान किया है कि (शपथ लेने वाले को) प्रथम दिन उपवास करके सूर्योदय के समय वस्त्र सहित स्नान कराके बुलाये और राजा तथा ब्राह्मण के समक्ष सभी दिव्य कराए।[113] शपथ ग्रहण करना पवित्र कार्य माना जाता था सम्भवतः इसीलिए शपथ के पूर्व स्नान कराया जाता था। सूर्योदय का समय दिव्य-प्रयोग के लिए उचित माना गया था और रविवार ही इसके लिए उपयुक्त दिन मान्य था। अलग-अलग समय, मास और ऋतुओं में अलग-अलग दिव्यों की परीक्षा होती थी। पूर्वाह्न में अग्नि, मध्याह्न में जल और रात्रि के अन्तिम प्रहर में विष-दिव्य का विधान था। चैत्र मार्गशीर्ष और बैसाख सामान्य महीने थे। इनमें सभी दिव्यों का प्रयोग करना विहित था। इसी तरह अग्नि दिव्य का शिशिर, हेमन्त और वर्षा-ऋतु में, शरद् और ग्रीष्म-ऋतु में जल और हेमन्त, शिशिर में विष-दिव्य का प्रयोग किया जाता था। नारद ने शीत-ऋतु को जल के लिए, ग्रीष्म को अग्नि के लिए, वर्षा को विष के लिए और तीक्ष्ण वायु को तुला के लिए वर्जित माना था।[114] इसका कारण भी स्पष्ट है। शीत काल में जल अत्यधिक ठंडा होता है, अग्नि का प्रभाव उष्ण होता है और वायु के तेज झोंके से तुला का संतुलन सही नहीं रहता है। इस कारण इन ऋतुओं में उपर्युक्त दिव्य-साक्ष्यों के प्रयोग का निषेध किया गया है, जिससे शुद्धि के विषय में कोई शंका न रह जाए।

याज्ञवल्क्य ने पांचों दिव्यों के प्रयोग की अलग-अलग विधि का भी उल्लेख किया है।

जो तोलने में दक्ष (सुवर्णकार आदि) हो उनसे एक पलड़े पर अभियुक्त को बैठाकर दूसरी ओर मिट्टी, कंकड़, पत्थर आदि रखकर तोला जाता था। फिर अभियुक्त को उतार दिया जाता था और उसके द्वारा तुला की इन शब्दों में प्रार्थना की जाती थी—"हे तुले तुम सत्य के स्थान हो, देवताओं ने इसीलिए तुम्हारी रचना की है। सत्य की घोषणा करो। इस संदेह से मुझे मुक्त करो। मां यदि मैं पापी हूं तो मुझे नीचे ले जाओ। यदि मैं शुद्ध हूं तो मुझे ऊपर ले जाओ।" फिर वह दूसरी बार

पलड़े पर रखा जाता था। पांच पल का समय दिया जाता था। उसका तौल एक बार और निष्पन्न होता था। यदि उसका तौल पहले के बराबर या अधिक होता था तो वह अपराधी माना जाता था। अन्यथा उसकी शुद्धि प्रमाणित हो जाती थी।[115]

अग्नि परीक्षा में अग्नि का दिव्य करने वाले के दोनों हाथों में धान मलवाकर हथेलियों पर बने हुए व्रणादि के स्थानों पर अलक्तक रस से प्रतीक बनाकर उसके ऊपर पीपल के सात पत्ते रखने के पश्चात् सात श्वेत धागों से उन्हें लपेट दिया जाता था। तब अभियुक्त इन शब्दों से प्रार्थना करता था—"हे अग्नि तुम सभी प्राणियों के शरीर में विद्यमान हो। हे पवित्र करने वाले, क्रान्तदर्शी, सत्य और असत्य के साक्षी होकर सत्य को प्रमाणित करो।" उसके ऐसा कहने के बाद उसके दोनों हाथों पर 50 पल भारी लोहे का पिण्ड अग्नि में इतना तपाया जाता था कि वह लाल हो जाय और उससे चिनगारी निकलने लगे, फिर उसे लेकर अभियुक्त धीरे-धीरे सात मण्डल चलता था। एक मण्डल सोलह अंगुल का होता था। इसके पश्चात् अग्नि को गिराकर वह पुन: व्रीहि हाथों पर मलता था। यदि जला नहीं रहता था तो वह शुद्ध होता था और यदि जल जाता था तो अपराधी घोषित किया जाता था। यदि कहीं आठवें वृत्त में पहुंचने के पहले लौह पिण्ड गिर जाता था या कहीं सन्देह होता था कि उससे जलन हुई कि नहीं तो उसकी पुन: परीक्षा होती थी।[116] अलतेकर ने लिखा है कि जिस युग में लोगों का यह दृढ़ विश्वास था कि परमेश्वर निर्दोषी व्यक्ति की सहायता करता है तो उस युग के लोगों के लिए ऐसा दिव्य न्यायसंगत ही दीखता था।[117]

जल-परीक्षा में न्यायाधीश के निर्देशानुसार एक तोरण किसी जलाशय के समीप बनाया जाता था। अभियुक्त इन शब्दों में वरुण की प्रार्थना है—"हे वरुण तुम सत्य द्वारा मेरी रक्षा करो।" इस प्रकार जल देवता का आह्वान करके नाभि तक जल में खड़े हुए सच्चरित्र व्यक्ति की जांघों को पकड़कर डुबकी लगाता था। उसके डुबकी लगाने के समय ही धनुर्धर द्वारा छोड़े गए बाण को लाने के लिए एक तेज दौड़ने वाला व्यक्ति जाता था। लौटने पर यदि वह अभियुक्त को जल में डूबा ही पाता था तो वह निर्दोष होता था, पर यदि कहीं उसके कान या अन्य अंग भी दिखाई दे जाते थे वह अपराधी माना जाता था। मनु ने भी इसका समर्थन किया है।[118] जल परीक्षा का विधान मौर्यकाल में था।[119]

विष-परीक्षा में माहेश्वर की स्तुति शोध्य इन शब्दों में करता था—"हे विष तुम ब्रह्मा के पुत्र हो और सत्य धर्म में प्रतिष्ठित हो। इस अभिशाप से सत्य के द्वारा मेरी रक्षा करो और मेरे लिए सत्य के द्वारा अमृत बन जाइए।" इस प्रकार माहेश्वर से प्रार्थना करके दिव्य करने वाला व्यक्ति हिमालय से उद्भूत एवं श्रृंग से निकले हुए उनके समीप रखे गए विष को खाता था। वह विष खाकर बिना भोजन के ही छाया में पड़ा रहता था। दिन भर उसकी देखभाल होती थी। यदि उस पर विष का कोई प्रभाव नहीं पड़ता था तो उसे निर्दोष प्रमाणित किया जाता था।[120] अलतेकर ने

लिखा है कि जल दिव्य, विष दिव्य इत्यादि दिव्यों में भी निरपराध व्यक्ति को यशस्वी न होना असम्भव नहीं था ।[121]

कोष-परीक्षा में अभियुक्त के आराध्य देव की मूर्ति को गन्ध, पुष्प एवं जल से अभिषिक्त किया जाता था और अभिषिक्त जल को दिव्य करने वाले को तीन अंजलि पिलाया जाता था और 14 दिन तक उसका परिणाम देखा जाता था कि उस पर राजकृत अथवा देवकृत कोई घोर विपत्ति पड़ी या नहीं। यदि उस पर कोई असाधारण विपत्ति पड़ी तो उसे अपराधी माना जाता था अन्यथा वह निर्दोष प्रमाणित होता था ।[122]

सभी प्रमाणों के आधार पर निर्णय देने में असमर्थ होने पर दिव्य-प्रमाणों का प्रयोग किया जाता था। उपर्युक्त दिव्यों में शुद्धि या अशुद्धि आधार पर जय या पराजय का निर्णय होता था। अभी भी कुछ पहाड़ी जातियां है, जो अपने निर्णय दिव्य-परीक्षाओं पर करती हैं और उनमें विष आदि का व्यवहार चलता है। मध्ययुग में उन जातियों को भारतीय न्यायपालिका में स्थान मिल जाने पर उक्त विधि उनके लिए मानी गयी ।[123] कुछ भी हो इतना तो मानना ही पड़ेगा कि मानुष-प्रमाणों के अभाव में ऐच्छिक-प्रमाण की व्यवस्था थी। साक्षियों के आधार पर जब सत्य का पता नहीं लग पाता था तब न्याय के लिए दिव्य-परीक्षाओं का प्रयोग किया जाता था। इन सब प्रयासों का मुख्य उद्देश्य निर्दोष व्यक्ति को दण्डित होने से बचाना तथा अपराधी को दण्ड दिलाना था।

निर्णय

न्यायिक-प्रक्रिया का यह अन्तिम पाद है जिसमें राजा अन्यान्य प्रमाणों का अध्ययन करने के पश्चात् अपने सभासदों की सहायता से निर्णय देता था। निर्णय की घोषणा विजयी पक्ष को न्यायाधीश के हस्ताक्षर और राजमुद्रा से युक्त जयपत्र और हीनवादी[124] को हीनपत्र देकर की जाती थी ।[125] हीनपत्र देने का तात्पर्य उस पक्ष को कालान्तर में दण्ड देना और जयपत्र का यह उद्देश्य विवाद को निर्णीत मानना था। जिससे बाद में पुनः विवाद न हो ।[126] नारद ने जयपत्र में वर्णित विषयों का भी उल्लेख किया है। उनके शब्दों में जयपत्र को पूर्व, उत्तर और क्रियापाद, प्रमाण, परीक्षा, साक्षी, साक्षियों पर विचार-विमर्श, तर्कयुक्ति, उपयुक्त स्मृति-वचन, सभ्यों की सम्मति, छूट, न्यायाधीश का हस्ताक्षर एवं राजमुद्रा से युक्त होना चाहिए ।[127] जब तक जयपत्र नहीं मिल जाता विवाद का द्रव्य लेने का अधिकार विजयी को नहीं होता। यदि धनवाद ऋणी निर्णय के पश्चात् भी धन नहीं देता तब राजा उसे दिलाकर तथा उसका बीसवां भाग दण्ड के रूप में स्वयं ग्रहण करता था ।[128]

पुनर्न्याय

आधुनिक न्याय-व्यवस्था में पराजित पक्ष अपने पक्ष का पुनरुद्घाटन प्रार्थना-पत्र देकर करता है, अथवा निर्णय के विपरीत, न्याय की उपेक्षा सम्बन्धी अरोप लगा-

कर, दूसरा विवाद उसी विषय पर प्रस्तुत कर देता है।[129] तीसरी स्थिति यह है कि वह बड़ी अदालत में अपील करता है। प्राचीन भारतीय न्याय-पद्धति में भी उपर्युक्त विधियां प्रचलित थीं। न्यायालय द्वारा निर्णय दिये जाने के पश्चात् भी कुछ मामले पुनर्विचार के योग्य माने जाते थे। यथा—राजा को आदेश दिया गया है कि बलपूर्वक एवं भय आदि के द्वारा निष्पन्न व्यवहारों तथा स्त्रियों के साथ, रात्रि में, घर के भीतर ग्राम के बाहर और शत्रुओं द्वारा किये गए व्यवहारों पर पुनर्विचार करें। मनु तथा नारद ने भी इसी तरह का विचार व्यक्त किया है। आवश्यक कार्य में व्यस्त व्यक्ति की अनुपस्थिति में हुआ निर्णय भी पुनर्न्याय के योग्य होना था।[130] राजा को यह अधिकार प्राप्त था कि वह कारण-विशेष से पुनर्न्याय कर सकता था।[131] इस पुनर्विचार के द्वारा यदि पूर्व पराजित व्यक्ति विजयी घोषित किया जाता तो पूर्व विजयी घोषित व्यक्ति और सभासदों को दण्ड का दूना धन देना पड़ता था। जो व्यक्ति न्यायतः पराजित होने के पश्चात् भी अपने को पराजित नहीं मानता था उसे राजा पुनः धर्मपूर्वक पराजित करके उससे दुगुना दण्ड वसूल करता था।[132]

उपर्युक्त उल्लेखों से ज्ञात होता है कि पुनर्न्याय तभी होता था जब साक्षी, सभ्य, प्राड्विवाक आदि ने अनुचित रीति से कोई व्यवहार देखा हो। इसी प्रकार कूट-साक्ष्य का पता लगने पर निर्णय की जो भी स्थिति रहेगी वह सब नहीं के बराबर हो जाती थी। प्राड्विवाक के अन्यायपूर्ण कार्य करने पर पुनर्न्याय के अतिरिक्त उन्हें दण्डित भी किया जाता था। नियम-विरुद्ध कार्य में ही पुनर्न्याय होता था। सिद्धान्ततः उस समय न्याय प्राप्त करने की सुविधा सबको थी।

वर्गीय न्यायालय

गैरसरकारी न्यायालयों का वर्णन भी याज्ञवल्क्य-स्मृति में आया है। धर्मसूत्र व मनुस्मृति में उनका वर्णन नहीं है।[133] याज्ञवल्क्य ने तीन प्रकार के गैरसरकारी न्यायालयों का उल्लेख किया है जिनका नाम कुल, श्रेणी व पूग था। विज्ञानेश्वर ने भी इन न्यायालयों को गैर सरकारी सिद्ध किया है।[134] नारद-स्मृति से भी कुल, श्रेणी एवं गण न्यायालयों की सूचना मिलती है। इसमें 'गण-सभा' सबसे उच्च थी।[135] न्याया-धीश राजा से अधिकृत होते थे। आधुनिक पंचायतों के समान इनका स्वरूप था।[136] बृहस्पतिस्मृति में भी याज्ञवल्क्य द्वारा उल्लिखित उपर्युक्त न्यायालयों का वर्णन मिलता है। वहां कहा गया है कि कुल न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध श्रेणी-न्यायालय में अपील होती थी, व श्रेणी के निर्णय के विरुद्ध पूग-न्यायालय में अपील होती थी।[137]

अलतेकर के अनुसार विजय नगर शासन-पद्धति में इन न्यायालयों को "अमुख्य" कहते थे, इसका कारण यह रहा होगा कि सरकारी न्यायालयों की अपेक्षा वे कम महत्व के थे।[138] बृहस्पति के अनुसार कुलादि से सभ्य, सभ्यों से अध्यक्ष और अध्यक्षों से राजा अधिक अधिकार रखता था।[139] कुल-न्यायालय से श्रेणी न्यायालय में, श्रेणी।न्यायाल से पूग-न्यायालय में, पूग-न्यायालय से प्राड्विवाक के न्यायालय में

और अन्ततोगत्वा प्राड्विवाक के न्यायालय से राजा के सामने अपील की जा सकती थी।[140] इस प्रकार छोटी सभा से राजसभा में सीधे विवाद न जाकर क्रम से ही जाता था।[141] अतः वर्गीय-न्यायालयों का सम्बन्ध केन्द्रीय-न्यायालयों से था। यह वर्गीय न्यायालयों की स्वतंत्रता की सुरक्षा करता था।

स्वरूप एवम् अधिकार

मिताक्षरा के अनुसार "कुल" न्यायालय में करीब या दूर के रिस्तेदार समझौता कराने का कार्य करते थे। कुल या संयुक्त-परिवार में अनेक लोगों का अन्तर्भाव होता था। जब उनमें से किसी दो व्यक्तियों में झगड़ा होता था तो कुल-वृद्ध लोग उस झगड़े का निपटारा कराने का प्रथम प्रयत्न करते थे। इस प्रकार कुल न्यायालय एक विशाल संयुक्त परिवार का न्यायालय होता था जिसमें कुल के वयोवृद्ध लोग निर्णय देने का काम करते थे।[142]

कुल-न्यायालय द्वारा जब विवाद का अंत नहीं होता था तब श्रेणी-न्यायालय का सहारा लिया जाता था। ई०पू० 500 के बाद व्यापारी-क्षेत्रों में श्रेणी की प्रथा सर्वत्र विद्यमान हुयी। इन श्रेणियों का अपना न्यायालय भी होता था। महाभारत व बौद्ध-साहित्य से श्रेणी व उनके मुख्यों की सूचना मिलती है। चार-पांच सभासदों की श्रेणियों की एक कार्यकारिणी समिनि होती थी। अन्य कार्यों के साथ समिति के सभासद् श्रेणी के सदस्यों के विवादों का समझौता भी करते थे। वस्तुतः याज्ञवल्क्य में श्रेणी न्यायालयों का प्रथम विवरण मिलता है, किन्तु धर्मसूत्रों में भी श्रेणियों के उल्लेख के कारण हम इस तथ्य पर पहुंच सकते हैं कि श्रेणी-न्यायालय ई०पू० 300 के आस पास अस्तित्व में थे। यह विवादरहित है कि महाराष्ट्र में 18वीं सदी में श्रेणी-न्यायालय थे।[143]

पूग का तात्पर्य है "एक स्थान के विभिन्न जातियों एवं पेशों के लोगों का संगठन।" व्यवहार-प्रकाश ने गण एवं पूग को एक ही माना है। अलतेकर ने लिखा है कि पूग-न्यायालय में अनेक जातियों व धन्धों के किन्तु एक ही स्थान के रहने वाले लोग न्याय का निर्णय करते थे। यदि वैदिक-काल की सभा वास्तव में न्याय करती होगी, तो वह पूग-न्यायालय का एक प्रकार होगी। तैत्तिरीय-संहिता का ग्रामवादी इस न्यायालय का एक न्यायाधीश रहा होगा। अर्थशास्त्र के ग्राम-वृद्ध भी पूग-न्यायालय के सभासदों का काम करते थे। मध्ययुग में पूग-न्यायालय को महाराष्ट्र में गोत कहने लगे व कर्नाटक में धर्मशासन।[144]

सभा में दर्शकों के लिए भी योग्यता निर्धारित थी। व्यावसायिक संगठनों के प्रतिनिधि, धनी, कुलीन, शक्तिवान आदि न्याय सुनने तथा देखने के लिए अधिकारी माने गये थे। निर्णय में उपेक्षा होने पर उनसे भी मत लिया जाता था उसका निर्णय में महत्वपूर्ण स्थान रहता था।[145] पूग पोत अथवा धर्म शासन के निर्णय राजशासन के सहयोग से किया जाता था।[146]

प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति अनेक कारणों से गैरसरकारी न्यायालय को प्रोत्साहन देती थी। लोग उसके माध्यम से स्थानीय-प्रशासन करने में अच्छी तरह से सफल होते थे। प्रशासकीय न्यायालयों का काम हलका होता था। सत्य का निर्धारण करने में महत्वपूर्ण सहयोग मिलता था। वादी-प्रतिवादी जब एक ही धन्धे के सदस्य रहते हैं अथवा एक ही गांव के निवासी होते हैं, तब उस धन्धा या गांव के लोग वास्तविक वस्तुस्थिति के निर्धारण में प्राय: सफल होते थे।

उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि कुल, श्रेणी एवं पूग गैरसरकारी न्यायालय होते थे। इनकी गणना स्थानीय न्यायालयों में होती थी। सभी न्यायालयों का स्वरूप सभा जैसा था अर्थात् मुकदमों की सुनवायी कोई अकेला न्यायधीश नहीं करता था बल्कि सभासदों द्वारा होती थी। इन न्यायालयों का सम्बन्ध केन्द्रीय-न्यायालयोंसे होता था। वस्तुत: पूग आदि न्यायालय गैर सरकारी थे किन्तु उसकी स्थापना सरकारी नीति के अनुसार ही हो चुकी थी।

दण्ड-व्यवस्था

संस्कृत भाषा का "धर्म" शब्द बहुत व्यापक है। अंग्रेजी भाषा में एक भी शब्द ऐसा नही है जो इसका पर्यायवाची माना जा सके। इस शब्द में "रेलिजन एथिक्स" तथा "ला"सभी का समावेश है। प्रस्तुत सन्दर्भ में हम "धर्म" को "लॉ" के अर्थ में प्रयुक्त करेंगे। धर्मशास्त्रों में धर्म को अत्यधिक महत्व प्रदान किया गया है। याज्ञवल्क्य मनु आदि ने राजा की भांति, धर्म को भी दैवी-उत्पत्ति के सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादित किया है। उनका कथन है कि जब सांसारिक प्राणी मत्स्य-न्याय से पीड़ित थे तब प्रजापति ने उनके कष्ट के निवारण के लिए धर्म की उत्पत्ति की और उसकी सहायता से प्रशासन करने का निर्देश दिया। किन्तु उस समय की जनता मोह-ग्रस्त थी। वह धर्मानुसार अपना प्रशासन करने में असमर्थ रही। अत: प्रजापति ने विवश होकर राजा की सृष्टि की और उसकी सहायता के लिए दण्ड की व्यवस्था की राजा को यह आदेश दिया गया कि वह दण्ड की सहायता से धर्म की मर्यादा की रक्षा करे और उसका उल्लंघन करने वालों को दण्ड दे। स्पष्ट है कि राजा, धर्म तथा दण्ड तीनों की सृष्टि का कारण दैवी-अनुग्रह है। इससे भी इनके परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध का अनुमान होता है।

दण्ड की परिभाषा

याज्ञवल्क्य के अनुसार दुराचारियों अर्थात् अपराधियों का दमन करना ही दण्ड है। मनु का कथन है कि दण्ड वह विधान है जिसके भय से समस्त जीव अपने-अपने कर्म को नियत रूप से करते हैं। भीष्म के अनुसार दण्ड उद्दण्ड मनुष्यों का दमन करता है और दुष्टों को दण्डित। इस दमन और दण्ड-प्रक्रिया के कारण ही इसे दण्ड कहते हैं।[147] मनुष्य को प्रमाद से बचाने तथा उसके धन की रक्षा करने के लिए

लोक में जो मर्यादा प्रस्थापित की गयी है यह उसी का नाम है। इस प्रकार ज्ञात होता है कि दण्ड वह विधान है जो सामाजिक सम्बन्धों, साम्पत्तिक अधिकारों एवं परम्पराओं का सही ढंग से परिपालन करवाता था।

दण्ड की उत्पत्ति

याज्ञवल्क्य के अनुसार आदि काल में ब्रह्मा ने दण्ड के रूप में धर्म की सृष्टि की थी। मनु ने भी इसका समर्थन किया है।[148] महाभारत के अनुसार अत्यन्त प्राचीन काल में जब ब्रह्मा यज्ञ कर रहे थे। उस समय याग की प्रधानता होने के कारण उनका दण्ड अन्तर्ध्यान हो गया। दण्ड के लुप्त होते ही प्रजा में वर्ण-संकरता फैल गयी। कर्तव्याकर्तव्य, भक्ष्याभक्ष्य, गम्यागम्य विचारों का लोप हो गया। सर्वत्र अराजकता व्याप्त हो गयी। ऐसी परिस्थिति में ब्रह्मा ने शंकर से इस सामाजिक अनाचर को रोकने के लिए स्तुति की। परिणामस्वरूप स्वयं शिव दण्ड रूप में प्रकट हुये। क्रमशः विष्णु, मनु एवं मनु के पुत्र से होते हुये अन्ततोगत्वा दण्ड राजा के हाथ में आया। अन्यत्र कहा गया है कि स्वयं ईश्वर ने धर्म की रक्षा के लिए दण्ड को क्षत्रिय के हाथ में दिया था।[149]

दण्ड का महत्व

याज्ञवल्क्य ने दण्ड के महत्व का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार शास्त्र के विधि-विधानों के अनुसार व्यवहार में लाये जाने पर दण्ड देवता, राक्षस एवं मनुष्यों सहित इस सम्पूर्ण संसार को आनन्दित करता है। शास्त्र के विपरीत दण्ड देने पर राजा का सर्वस्व विनष्ट हो जाता है किन्तु सम्यक् रूप से दण्ड देने पर राजा को यशकीर्ति एवं स्वर्ग की प्राप्ति होती थी, जो राजा दण्ड का उचित ढंग से प्रयोग करता था वह अधिक दक्षिणा वाले यज्ञों का फल प्राप्त करता था। सभी वर्णों, जातियों तथा समुदायों को अपने धर्म से पथभ्रष्ट होने पर राजा दण्ड के द्वारा ही पुनः स्वधर्म परिपालन करने के लिए बाध्य करता था।[150] मनु के अनुसार वह दण्ड राजा है (क्योंकि दण्ड में ही राज करने की शक्ति है), वह दण्ड पुरुष है, वह दण्ड नेता है, वह दण्ड प्रशासन करने वाला है (क्योंकि दण्ड की आज्ञा से ही सब अपने-अपने कर्म में संलग्न है) और वह दण्ड चारों आश्रमों के धर्म का प्रतिभू कहा गया है। विद्वान लोग दण्ड को ही धर्म समझते हैं। दण्ड के भय से ही सम्पूर्ण संसार (अपने-अपने धनादिक) भोगने के लिए समर्थ होते हैं।[151]

महाभारत के अनुसार दण्ड के भय से ही समस्त लोक सन्मार्ग पर चलता है। दण्ड के अभाव में वेद तथा धर्म बिनष्ट हो जाते हैं, मत्स्यन्याय का प्राबल्य हो जाता है। कामन्दक ने तो दण्ड के महत्व का उल्लेख करते हुये दण्ड को राजा का पर्यायवाची माना है, क्योंकि राजा ही दण्डधर है।[152]

उपर्युक्त विवेचना से ज्ञात होता है कि दण्ड से ही धनधान्य की रक्षा होती थी। वही प्रजा का शासन एवम् उसकी सुरक्षा करता था। इसी कारण यह कहा

जाता है कि सबके सो जाने पर भी दण्ड जागृत रहता था और इसी कारण विद्वान उसे राजा का धर्म मानते थे। उसका अनुचित प्रयोग स्वयं राजा का सर्वनाश करता था। उचित-अनुचित का सम्यक् रूप से ध्यान रखकर दण्ड का न्यायोचित ढंग से व्यवहार करने वाला स्वर्गलोक को प्राप्त करता था।

दण्ड का उद्देश्य

दण्ड का प्रयोग धर्म-नियंत्रण में होना चाहिए। इस प्रकार का दण्ड प्रयोग करने वाला राजा धर्मावतार कहा गया है। न्याय के लिए दण्ड प्रयोग करने वाले राजा का यश विस्तार होता है।[153] शारीरिक एवं लौकिक-दण्ड से राजा को मुक्त करते हुये नारद कहते हैं कि राजा कभी अनुचित नहीं करता। उसकी आज्ञा विधि है। दण्ड का कार्य राजाज्ञा का पालन करना है। राजाज्ञा के विपरीत कार्य करने वाले को दण्ड देकर राजाज्ञा का पालन कराना चाहिए। एक अन्य स्थल पर नारद का मन्तव्य है कि दण्ड जनकल्याण के लिए होता है। उसे शक्ति प्रयोग के स्थान पर न्याय का प्रयोग करना चाहिए। याज्ञवल्क्य ने शास्त्राज्ञा ही राजाज्ञा मानी है।[154] कौटिल्य ने प्रजा.सुख को सर्वोच्च माना है। अस्तु, दण्ड राज्य की शक्ति है तो धर्म उसका उद्‌देश्य।[155] दोनों के समन्वय से ही दण्ड संस्कृति के विकास की संस्था और धर्म मानव के अन्तिम लक्ष्य का प्रतिपादक होता है।[156]

महाभारत के अनुसार दण्ड का उद्देश्य अपराधियों में भय उत्पन्न करना, और उन्हें दण्ड देना था। प्रहलाद चे अनुसार प्रजा को भय दिखाकर धर्म में लगाना ही दण्ड का उद्देश्य है, किसी का प्राण लेना नहीं।[157] दण्ड के तीन उद्देश्य होते हैं। प्रथम के अनुसार दण्ड में बदले की भावना रहती है। आंख के बदले में आंख लेने की प्रवृत्ति रही है। द्वितीय के अनुसार दण्ड के द्वारा समाज में एक उदाहरण रखने की आकांक्षा रहती है अर्थात् अपराधी का दण्ड इस प्रकार का हो जो लोगों के हृदय में भय का संचार करे जिससे अन्य लोग अपराध की ओर प्रवृत्त न हों। तृतीय सिद्धान्त का उद्देश्य सुधारवादी कहा जा सकता है, इसमें अपराधी को सुधारने का प्रयत्न किया जाता है, ताकि वह पुनः उस तरह का अपराध न करे।[158] दण्ड के ये तीनों ही उद्देश्य हो सकते हैं। पी०वी० काणे के अनुसार समाज-रक्षा तथा समाज-सुख की स्थापना ही दण्ड का उद्देश्य था।[159] इस प्रकार समाज में सुख, शान्ति, सुरक्षा, न्याय तथा स्वधर्म का परिपालन करवाना ही दण्ड-विधान का मुख्य उद्देश्य था।

दण्ड के भेद

याज्ञवल्क्य ने दण्ड के चार प्रकारों का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार हैं— वादण्ड (कठोर वचनों द्वारा फटकारना), धिग्दण्ड (धिक्कार के वचन), धन (अर्थ) और वध-दण्ड। इनमें से सबका अथवा किसी एक का अपराध की गुरुता के अनुसार प्रयोग किया जाता था। मनु ने भी इसका समर्थन किया है।[160] बृहस्पति तथा महाभारत से भी इन्हीं प्रकारों की सूचना मिलती है।[161] दण्ड क्रमशः दिया जाता था।

सर्वप्रथम वाग्दण्ड दिया जाता था। यदि उससे अपराधी में सुधार नहीं आता था तो धिग्दण्ड की व्यवस्था थी। इसके पश्चात् अर्थदण्ड। यदि इससे भी अपराध की निवृत्ति नहीं होती तो अन्ततोगत्वा बाध्य होकर मृत्युदण्ड दिया जाता था।[162]

उक्त दण्ड के चारों प्रकारों का अभिप्राय इस प्रकार से है—

वाक् दण्ड—इस अपराध में अभियुक्त की मौलिक-भर्त्सना की जाती थी कि तुमने यह उचित नहीं किया है, भविष्य में ऐसा न करना। इसमें गुणवान अपराधी की भर्त्सना की जाती थी।[163]

धिग्दण्ड—यदि प्रथम प्रकार के दण्ड विधान से व्यक्ति सत्य मार्ग पर नहीं आता था तब उसे धिक्कारा जाता था अर्थात् 'तुम्हारे इस पापयुक्त जीवन को तथा तुम्हारे इस कार्य को धिक्कार है' आदि वाक्यों से निन्दा की जाती थी।[164] सम्भवतः धिग्दण्ड में भर्त्सना से आगे धिक्कार एवं अपशब्दों का प्रयोग किया जाता था।[165]

अर्थ दण्ड—अर्थदण्ड के अनेक भेद हैं। याज्ञवल्क्य ने उत्तम, मध्यम और अधम-साहस के तीन भेद किये हैं। उनके अनुसार एक हजार अस्सी पण का दण्ड उत्तम-साहस में होता था और इसका आधा मध्यम साहस में दण्ड दिया जाता था। मध्यम साहस का आधा दण्ड अधम या प्रथम-साहस में दिया जाता था। शंख के अनुसार उत्तम साहस में 600 से 1000 पण दण्ड दिया जाता था। मध्यम साहस में 200 से 500 पण तथा अधम (प्रथम) साहस में 24 से 91 पण दण्ड दिया जाता था।[166] पणों की संख्या में मतभेद है किन्तु उक्त तीनों भेद प्रायः सभी स्मृतिकारों ने किया है।[167]

मृत्युदण्ड—मृत्युदण्ड अन्तिम दण्ड था। याज्ञवल्क्य ने महापातकों के अपराध में मृत्युदण्ड का विधान किया है। मनु की सम्मति है कि यदि व्यक्ति किसी प्रकार का प्रायश्चित्त नहीं करता तो उसे मृत्युदण्ड देना चाहिए। कौटिल्य ने शस्त्र से हत्या करने पर किसी भी स्तर के अपराधी को मृत्युदण्ड देने का आदेश दिया है।[168] याज्ञवल्क्य की सम्मति है कि अपने से उच्च जाति की भार्या से व्यभिचार करने पर दोषी पुरुष का बध कर देना चाहिए तथा स्त्रियों का कान आदि काट लिया जाता था। जिसका विवाह संस्कार होने वाला हो ऐसी वस्त्र-आभूषणों से युक्त उच्च जाति की कन्या का अपहरण करने वाले पुरुष को भी मृत्युदण्ड दिया जाता था।[169]

दण्डपारुष्य

काणे के अनुसार हाथ, पत्थर, लाठी, शस्त्र, पंक, धूल अथवा हथियार से मारना या चोट पहुंचाना दण्ड-पारुष्य कहलाता है।[170] मिताक्षरा ने तो पशुओं को पीड़ा पहुंचाने तथा पेड़ गिरा देने को भी इसके अन्तर्गत गिनाया है।[171] कौटिल्य के अनुसार स्पर्श करने, धमकी देने या सही रूप से आहत करने को भी दण्ड-पारुष्य कहते हैं। नारद का मन्तव्य है कि हाथ, पैर, अस्त्र-शस्त्र अथवा किसी अन्य वस्तु से शरीर के

अंगों पर घाव करने या राख आदि से गन्दा कर देने तथा एक-दूसरे को कष्ट देने को दण्ड-पारुष्य कहते हैं।[172]

याज्ञवल्क्य का कहना है कि यदि कोई भस्म, कीचड़ और धूल किसी पर फेंके तो दस पण का दण्ड दिया जाता था। यदि वह अमेध्य (शरीर के विकार एवं जूठा भोजन) थूक तथा एड़ी से मारता था तो बीस पण का दण्ड दिया जाता था। यह व्यवस्था समान जाति या वर्ण वालों के लिए थी। यदि कोई दूसरे की भार्या और अपने से उत्तम जाति के व्यक्तियों को भस्म आदि फेंककर पीड़ित करता था तो इसका दूना दण्ड दिया जाता था किन्तु अपनी अपेक्षा निम्नतर वर्ण एवं वृत्ति वाले को इस प्रकार पीड़ित करने पर आधा दण्ड दिया जाता था। मोह अथवा मदपान के कारण ऐसा अपराध करने पर दण्ड नहीं दिया जाता था।[173]

ब्राह्मण को पीड़ा देने वाला यदि अब्राह्मण (क्षत्रिय आदि) हो तो उस अंग को कटवा लिया जाता था जिससे वह मारता था। मारने के उद्देश्य से शस्त्र उठाने पर प्रथम साहस का दण्ड दिया जाता था। किन्तु शस्त्र छूकर छोड़ देने वालों को उसका आधा दण्ड मिलता है। पैर, केश, वस्त्र और हाथ पकड़कर बलपूर्वक खींचने पर दश पण तथा जो वस्त्र में बांधकर पैर से मारते थे उनको सौ पण दण्ड के रूप में देना पड़ता था।[174]

याज्ञवल्क्य के अनुसार, यदि कोई लकड़ी आदि से किसी व्यक्ति को मारकर रक्त निकालता था तो अपराधी को 64 पण दण्ड के रूप में देना पड़ता था। बिना रुधिर निकाले पीड़ा पहुंचाने पर उसे 32 पण का दण्ड दिया जाता था। मारते-मारते अधमरा कर देने पर मध्यम साहस का दण्ड दिया जाता था। भोजन आदि बन्द कर देने पर, आँख फोड़ देने पर, ग्रीवा, बांह तथा जंघा तोड़ने पर, मध्यम साहस का दण्ड दिया जाता था। यदि किसी अकेले व्यक्ति को कई लोग मिलकर पीटें तो प्रत्येक को उस अपराध का दूना दण्ड लगता था।[175] याज्ञवल्क्य का मत है कि घायल कर देने पर, अपराधी को दवा, भोजन तथा अन्य व्ययों की व्यवस्था तक करनी पड़ती थी, जब तक कि वह व्यक्ति काम करने योग्य नहीं हो जाता था। विष, सर्प आदि प्राण-घातक द्रव्य या जीव दूसरे के घर फेंकने पर 16 पण का दण्ड दिया जाता था। मुग्दर आदि से दीवाल को तोड़ने और गिराने पर क्रमशः पाँच, दस तथा बीस पण देना पड़ता था तथा उसे बनवाने का खर्च भी देना पड़ता था।[176]

पशुओं को मारने पर भी याज्ञवल्क्य ने दण्ड का विधान किया है—बकरी, भेड़, हरिण जैसे पशुओं को मारकर रक्त निकालने तथा निर्जीव अंग काटने पर क्रमशः दो, चार, छः और आठ पण का दण्ड दिया जाता था। उनके लिंग काटने तथा मार डालने पर मध्यम साहस का दण्ड दिया जाता था तथा उनका मूल्य भी देना पड़ता था। गाय, हाथी, घोड़ा आदि पशुओं को इन स्थानों पर चोट पहुंचाने पर पूर्वोक्त दण्ड से दुगुना दण्ड दिया जाता था। पशुओं को मार डालने या अंग-विच्छेद करने पर मनु ने

कई प्रकार के दण्डों की व्यवस्था दी है जो पशुओं के मूल्य आदि पर आधारित है। वृक्षों, लताओं एवं शाखाओं को काटने तथा सम्पूर्ण वृक्ष काटने पर भी दण्ड दिया जाता था।[177]

उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि व्यक्ति को आहत करने पर, गन्दी वस्तुओं के फेंकने पर, पशुओं को मारने पर तथा हरे-भरे वृक्षों एवं शाखाओं को काटने पर दण्ड की उचित व्यवस्था थी।

वाक्पारुष्य

वाणी द्वारा दूसरों को मानसिक कष्ट पहुंचाना 'वाक्पारुष्य' कहलाता था। याज्ञवल्क्य का विचार है कि जो किसी विकलेन्द्रिय और रोगी आदि को सच्चे या झूठे ही निन्दापरक वचनों से आक्षेप करता था तो उससे 13½ पण दण्ड लिया जाता था। मां-बहन की गाली देने वाले से राजा पच्चीस पण दण्ड लेता था। हीन-वर्ण की भार्या के विषय में ऐसी गाली देने पर उपर्युक्त दण्ड का आधा होता था। किन्तु उत्तम-वर्ण की स्त्री के लिए ऐसा करने पर दण्ड दूना होता था। इसी प्रकार वर्ण और जाति की उच्चता एवं निम्नता का विचार करके दण्ड दिया जाता था।[178]

याज्ञवल्क्य का कहना है कि बाहु, गर्दन, आंख एवं हड्डी तोड़ने की धमकी देने पर सौ पण तथा पैर, नाक, कान, हाथ आदि तोड़ने की धमकी देने पर पचास पण का दण्ड दिया जाता था। यदि ज्वरादि से क्षीण शक्ति वाला व्यक्ति इस प्रकार की वाणी का प्रयोग करता था तो उसे दस पण का दण्ड दिया जाता था। याज्ञवल्क्य ने लिखा है कि यदि कोई ब्रह्महत्या आदि मिथ्या आरोप लगाता था जिससे पतित होने की सम्भावना होती थी तो उस पर मध्यम साहस का दण्ड किया जाता था। किन्तु उपपातक का दोष लगाने पर प्रथम (अधम) साहस का दण्ड दिया जाता था।[179]

राजा, देवता तथा तीनों वेदों के विद्वानों पर आक्षेप करने वालों को उत्तम-साहस का दण्ड दिया जाता था। जाति, युग (साहस के आक्षेप में मध्यम-साहस का तथा ग्राम और देश के आक्षेप में प्रथम (अधम) साहस के दण्ड का विधान था। परिहास अथवा प्रमादवश भी यदि निन्दात्मक बातें कही जाती थीं तब भी दण्ड ही दिया जाता था, यद्यपि वह आधा होता था।[180]

साहस

याज्ञवल्क्य के अनुसार सामान्य वस्तु के बलपूर्वक अपहरण को साहस कहते थे। इसके लिए उस वस्तु के मूल्य का दुगुना दण्ड होता था अपराध अस्वीकार करने पर उसका चौगुना दण्ड दिया जाता था। जो व्यक्ति साहस करने के लिए उकसाता था, उससे साहसिक के दण्ड से दुगुना लिया जाता था, किन्तु जो इस प्रकार कहता था कि तुम करो जो लगेगा वह मैं दूंगा, उससे उसका चौगुना दण्ड लिया जाता था। आचार्य आदि व्यक्तियों पर आक्षेप करने वाले, भाई की पत्नी को मारने वाले, सन्देश

न कहने वाले, बन्द गृह का द्वार तोड़ने वाले, सामन्त तथा अपने कुल में उत्पन्न व्यक्तियों का अपकार करने वालों से पचास पण का दण्ड लिया जाता था।[181]

विना नियोग के अपनी इच्छा से विधवा भार्या के साथ सहवास करने वाला, भयभीत व्यक्ति की पुकार पर, शक्तिशाली होते हुए भी न दौड़ने वाला, बिना कारण आर्तनाद करने वाला और द्विजातियों को छूने वाला चाण्डाल, शूद्र तथा देवयज्ञ एवं श्राद्ध में भोजन देने वाला, झूठी शपथ लेने वाला, अपने वर्ण के अयोग्य कर्म करने वाला, बैल और छोटे पशुओं को बधिया करने वाला, दासी का गर्भपात करने वाला तथा परिवार के सदस्यों, आचार्यों, शिष्यों के निर्दोष होने पर भी उनका परित्याग करने वाला—ये सभी सौ पण के दण्ड के भागीदार होते थे।[182]

स्तेय

प्राचीन भारत चोरों को दण्डित करने में बहुत सतर्क था। याज्ञवल्क्य का कथन है कि चोरों को स्थानपाल पकड़ता था। यह राजा द्वारा नियुक्त अधिकारी होता था। चुराई गई वस्तु के मिलने, चोरी का हिन मिलने, चौर्य पद के अनुसरण से नामजद चोर होने से तथा निवास स्थान सही न ज्ञात होने पर किसी को चोरी के अपराध में पकड़ा जाता था। सन्देह पर भी व्यक्ति पकड़े जाते थे। यह पूछने पर अपना नाम अथवा जाति न बताने वाले को पकड़ा जाता था। शराबी, जुआरी एवं वेश्यागामी को भी चोरी के सन्देह में पकड़ा जाता था। यदि पूछे जाने पर मुख सूख जाय और बोली बदल जाय, दूसरे के धन और गृह के विषय में पूछने वाले को, गुप्त निवास करने वाले, आय न होने पर भी अधिक व्यय करने वाले और खोई हुई वस्तु को बेचने वाले व्यक्तियों को भी सन्देह में पकड़ा जाता था।[183] मिताक्षरा के अनुसार मात्र सन्देह पर ही अपराध सिद्ध नहीं होता था, अस्तु राजा को अच्छी तरह छान-बीन करनी चाहिए, क्योंकि निरपराधी भी उपर्युक्त लक्षण प्रकट कर सकते थे या अपने पास में वैसी वस्तुएं रख सकते थे। यदि चोरी की वस्तु किसी के पास प्राप्त हो, तो वह सम्भव था कि उसके पास किसी अन्य व्यक्ति द्वारा लायी हो अथवा उसे वह कहीं पड़ी मिली हो, या उसकी उसने स्वयं चोरी की हो, झूठे व्यक्ति बहुधा सच्चे व्यक्तियों का चेहरा बनाये रहते थे।[184] जो चोरी में पकड़ लिया जाता था, वह मात्र अस्वीकार से बरी नहीं होता था। उसे प्रमाण द्वारा सिद्ध करना पड़ता था कि वह उस समय अन्यत्र था। प्रमाण के द्वारा निर्दोष न सिद्ध होने पर उससे चोरी गया हुआ धन लिया जाता था तथा चोर के निर्दिष्ट दण्ड भी दिया जाता था। ब्राह्मण के यहां चोरी करने वाले के ललाट पर कुत्ते के पंजे का चिन्ह बनाकर उसे अपने राज्य से राजा निकाल देता था। नारद ने देश-निष्कासन के स्थान पर नगर निष्कासन का उल्लेख किया है। निष्कासन शिरोमुण्डन के बाद गधे पर बैठाकर तथा ललाट पर पाप चिन्ह अंकित करके किया जाता था।[185]

याज्ञवल्क्य का मन्तव्य है कि यदि गांव के भीतर किसी व्यक्ति का वध या

चोरी होती थी, यदि हत्यारे अथवा चोर के गांव से बाहर जाने का संकेत नहीं मिलता था तो ग्रामपाल को दोषी माना जाता था। सराय में चोरी होने पर उसके स्वामी को और मार्ग आदि में चोरी होने पर मार्गपाल दोषी होता था। ग्राम-सीमा के अन्दर चोरी होने पर उसका दण्ड ग्राम के निवासी या जिस ग्राम में चोर जाने का संकेत मिलता था उस ग्राम के लोग देते थे। कभी-कभी चोरी का दण्ड पांच या दस गांव मिलकर भी देते थे।[186]

बन्दी को छुड़ाने वाले, घोड़ा और हाथी चुराने वाले एवं किसी का बलपूर्वक घात करने वाले अभियुक्त को शूली पर चढ़ाया जाता था। बस्त्र चुराने वाले गिरहकटों को तर्जनी एवं अंगूठा काट कर दण्डित किया जाता था। दुबारा अपराध करने पर एक हाथ तथा एक पैर काट लिया जाता था। याज्ञवल्क्य के अनुसार केवल चोर के लिए ही दण्ड विधान नहीं था बल्कि उनको भोजन, पात्र एवं शरण आदि देने वाले भी राजा के द्वारा दण्डनीय माने जाते थे। पुरुष एवं स्त्री को मारने पर उत्तम या अधम साहस का दण्ड दिया जाता था।[187]

याज्ञवल्क्य का विचार है कि जो स्त्री दूसरों को मारने के उद्देश्य से अन्न में विष, गृह जलाने के लिए अग्नि दे, पति, गुरु या अपनी सन्तान का बध किये हो उसके नाक, कान, हाथ और होट को काटकर उसे बैलों से मरवा डाला जाता था। किसी दूसरे के खेत, घर, वन बाड़ा, गांव या खलिहान को जलाने वाले तथा राजपत्नी के साथ संभोग करने वाले को कह (सरहरी) में लपेटकर जला दिया जाता था।[188] याज्ञवल्क्य के नियमों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि चोरों को घोर दण्ड दिया जाता था और उनको ढूंढ़ निकालने तथा उनके सहायकों को प्राप्त करने की प्रणाली उत्तम थी।

स्त्री-संग्रहण

मिताक्षरा के अनुसार मैथुन या संभोग के लिए किसी पुरुष-स्त्री का एक साथ होना संग्रहण है।[189] याज्ञवल्क्य ने आदेश दिया है कि पराई स्त्री का बाल पकड़कर केलि-क्रीड़ा तथा व्यभिचार में प्रवृत्त व्यक्ति को बन्दी बनाया जाता था। पति, पिता, भाई आदि ने जिस पुरुष के साथ बोलने के लिए मना किया हो उससे बोलने पर स्त्री सौ पण तथा इस प्रकार का निषेध किये जाने पर किसी स्त्री से बोलने या सम्बन्ध रखने वाले पुरुष को दो सौ पण का दण्ड दिए जाने का विधान था।[190]

एक दूसरे की सहमति से व्यभिचार करने पर पुरुष को अपनी ही जाति की स्त्री के साथ ऐसा करने पर अधिकतम दण्ड एवम् अपने से हीन जाति की स्त्री के साथ ऐसा करने पर उसका आधा दण्ड देना पड़ता था, किन्तु अपने से उच्च जाति की नारी के साथ ऐसा करने पर प्राण-दण्ड दिया जाता था तथा स्त्री का कान आदि काट लिया जाता था। आभूषण से युक्त सवर्णा कन्या का अपहरण करने वाले को उत्तम-साहस का दण्ड दिया जाता था, अन्यथा अधम-साहस का दण्ड दिया जाता था। उच्च जाति की कन्या का हरण करने वाले व्यक्ति को मृत्युदण्ड दिया जाता था। उच्च वर्ग की

क्वारी कन्या को दूषित करने पर मृत्युदण्ड की व्यवस्था थी। कन्याओं पर झूठा दोष लगाने पर दो सौ पण तथा पशु-मैथुन करने पर सौ पण दण्ड लगता था। हीन स्त्री एवं गाय के साथ मैथुन करने वाले को मध्यम साहस का दण्ड दिया जाता था। दासियों के साथ संभोग करने पर दस पण का दण्ड लगता था। यदि अनेक पुरुष बलात्कार करें तो उनमें से प्रत्येक से चौबीस पण दण्ड लिया जाता था।[191]

चौदह पण शुल्क लेकर भी सम्बद्ध पुरुष से संभोग की इच्छा न रखने वाली वेश्या से शुल्क का दूना धन दण्डस्वरूप लिया जाता था। बिना शुल्क लिए ही संभोग की स्वीकृति देने के पश्चात् नट जाने वाली वेश्या से शुल्क के बराबर धन लिया जाता था। इसी प्रकार का दण्ड वेश्या के समीप गए हुए पुरुष के विषय में भी होता था। अप्राकृतिक व्यभिचार तथा संन्यासिनी से संभोग करने वाले व्यक्ति से चौबीस पण दण्ड के रूप में लिया जाता था।[192] चाण्डाली से संभोग करने वाले पुरुष के शरीर पर भग की आकृति दागकर उसे राज्य से निर्वासित कर दिया जाता था। उत्तम जाति की स्त्री से संभोग करने पर चाण्डाल को मृत्युदण्ड देने का विधान था।

द्यूत और समाह्वय

द्यूत या जुआ वह खेल था जो पासे, चर्म-खण्डों, हस्ति-दन्त-खण्डों आदि से खेला जाता था जिसमें कोई बाजी लगी रहती थी। समाह्वय वह खेल था जिसमें प्राणियों यथा-मुर्गों, कबूतरों, भेड़ों, भैंसों एवं मल्लों की लड़ाई होती थी और बाजी लगती थी।[193] याज्ञवल्क्य ने राज्य के संरक्षण में किसी केन्द्र-स्थान में द्यूत खेलने की छूट दी है, क्योंकि इससे चोरों का पता भी लगता था। इसका समर्थन कौटिल्य ने भी किया है। इसके विपरीत मनु ने राजा को इसे वर्जित करने का निर्देश दिया है। इसके द्वारा लोगों में वैमनस्य उत्पन्न होता था। अतः आनन्द के लिए भी खेलना मना था, क्योंकि यह बुरी लत थी। कात्यायन भी इससे सहमत हैं।[194]

याज्ञवल्क्य ने इसे वर्जित नहीं किया है किन्तु उन्होंने यह आदेश दिया है कि अध्यक्ष की उपस्थिति में ही खेला जाना चाहिए। इससे राज्य को कर मिलता था। द्यूत खेलाने वाले को सभिक तथा बाजी के धन को पण या ग्लह कहा जाता था।[195]

याज्ञवल्क्य का मत है कि गोपनीय स्थान पर, बिना राजा की आज्ञा के, झूठे पासों एवं चालाकी का सहारा लेकर कपटपूर्ण ढंग से द्यूत खेलने वालों को कुत्ते के पंजे आदि प्रतीक से दागकर राज्य से निकाल दिया जाता था। नारद के अनुसार निष्कासित जुआरियों के गले में पासों की माला पहना दी जाती थी। प्राणी-द्यूत में भी इन नियमों का परिपालन होता था।[196]

स्पष्ट होता है कि द्यूत और समाह्वय से राज्य को कर मिलता था तथा चोरों को पकड़ने में सहयोग भी मिलता था। इन्हें कपटपूर्ण ढंग से खेलने पर कड़ा दण्ड दिया जाता था। वस्तुतः इससे राग-द्वेष तथा अनैतिकता आदि को बढ़ावा मिलता था।

आज भी जुआ खेलना अपराध माना जाता है। खेलने वालों को कड़ा दण्ड दिया जाता है। प्राचीन ग्रन्थों में इसकी भर्त्सना की गई है।[197]

प्रकीर्ण

याज्ञवल्क्य का कथन है कि राजाज्ञा को घटा-बढ़ाकर लिखने वाले, दूसरे की स्त्री के साथ व्यभिचार करने वाले या चोर को पकड़ करके भी छोड़ देने वाले को उत्तम साहस का दण्ड दिया जाता था। अभक्ष्य पदार्थों द्वारा ब्राह्मणों के अन्न और जल को दूषित करने वाले व्यक्ति को भी उपर्युक्त दण्ड दिया जाता था। वर्णक्रम से दण्ड कम होता जाता था। कूट स्वर्ण (सोने का पानी चढ़ाकर बनाए गए खोटे सोने) का व्यवहार करने वाले और वर्जित कुत्तों आदि का मांस बेचने वालों के नाक, कान, हाथ काट कर उन्हें उत्तम-साहस का दण्ड दिया जाता था। गाड़ी के पीछे चलने पर यदि किसी की हिंसा हो जाय तो यान का स्वामी दोषी नहीं माना जाता था। दांत एवं सींग वाले पशुओं के स्वामी यदि समर्थ होते हुए भी इनके आक्रमण से किसी को न बचावें तो उन पर प्रथम-साहस का दण्ड लगता था। यदि ऐसे व्यक्ति चिल्लाने अथवा पुकारने पर भी नहीं बचाते तो उन पर प्रथम-साहस के दण्ड वसूलने की व्यवस्था थी।[198]

याज्ञवल्क्य का विचार है कि यदि कोई व्यभिचारी को चोर आदि कहकर भाग जाने देता था, तो उसे 500 पण दण्ड देना पड़ता था। यदि हजार (व्यभिचारी से) घूस लेकर छोड़ देता था तो उसे अठगुना दण्ड देना पड़ता था। राजा की निन्दा एवं राजनीति की गोपनीयता को भंग करने वाले की जिह्वा काटकर उन्हें राज्य से निष्कासित कर देने का विधान था।[199]

कफन बेचने वाले, पिता एवम् आचार्य को प्रताड़ना देने वाले, राजा की सवारी तथा सिंहासन पर बैठने वालों पर उत्तम-साहस का दण्ड निर्धारित करने की व्यवस्था याज्ञवल्क्य ने दी है। किसी का दोनों नेत्र फोड़ने वाले, राज-प्रशासन की बात फैलाने वाले, शूद्र होकर भी ब्राह्मण का वेष बनाकर जीविका अर्जित करने वाले को आठ सौ पण का दण्ड दिया जाता था।[200]

अधर्म पूर्वक सभासदों द्वारा देखे गए व्यवहार पर फिर से न्यायपूर्वक राजा विचार करके पहले विजयी एवं सभासदों से विवाद में हारने वाले पर जितना दण्ड होता था, उसका दुगुना धन दण्ड के रूप में पृथक्-पृथक् लेता था। जो न्यायत: पराजित होने पर भी अपने आपको पराजित नहीं मानता था उसे पुन: धर्मपूर्वक पराजित करके राजा उससे दुगुना दण्ड वसूल करता था। यदि राजा स्वयं अन्यान्यपूर्वक कोई दण्ड लेता था तो स्पष्ट होने पर उसका तीस गुना करके उसे वरुण देवता के लिए संकल्प करके ब्राह्मणों को देता था। इसके साथ ही साथ जितना धन अन्यायपूर्वक लिया गया हो उसे उतना धन वापस भी करना पड़ता था।[201]

अन्य अपराध

याज्ञवल्क्य ने भृत्यों के कार्य एवं वेतन का उल्लेख करते समय उनके लिए भी दण्ड का विधान दिया है। वेतन लेकर कार्य न करने वाले भृत्य से वेतन का दूना स्वामी को राजा दिलवाता था। बिना वेतन लिए कार्य करने के लिए तैयार भृत्य यदि कार्य न करे तो उसे वेतन के बराबर धन देना पड़ता था। भृति ठहराये बिना भृत्य से व्यापार, पशुपालन या कृषि का काम जो व्यक्ति लेता है उससे राजा उन-उन कार्यों से होने वाले लाभांश का दसवाँ भाग भृत्य को दिलाता था। बिना दैवी-उत्पात के भृत्य द्वारा ले जाने वाले भाण्ड का नाश हो जाय तो उसे भाण्ड देना पड़ता था।[202]

राजद्रोह

राजा, राजपरिवार और राज्य को क्षति पहुंचाना एवं अपमानित करना महान् अपराध माना जाता था। राजा के प्रति द्रोह-भाव, राजा के प्रति शत्रुता एवं विद्रोह बढ़ाने में शरीर-दण्ड दिया जाता था। रानी के प्रति अमानुषिक व्यवहार पर मृत्युदण्ड दिया जाता था। राजा के हाथी, अश्व, अस्त्र-शस्त्र ध्वंस करने का प्रयास राजद्रोह जैसा अपराध माना जाता था।[203]

राजपत्नी के साथ व्यभिचार करने वालों को जलाकर मार डालने का विधान था। राज-द्रोहियों को अंग-छेदन का दण्ड देकर उन्हें राज्य से निष्कासित कर दिया जाता था।[204] विश्व के अन्य प्राचीन समाजों में भी राजद्रोह महान् अपराध माना जाता था। उसमें कठोर दण्ड दिये गए हैं। बेबीलोनिया और परसिया में मृत्युदण्ड का विधान था। रोमन लॉ में राज्य के विरोध में सोचने के लिए रात्रि में एकत्र होना भी मृत्युदण्ड के स्तर का अपराध था। एथेन्स में राजद्रोह की भावना, विद्रोहियों को उकसाना, सहायता प्रदान करना एवं अवसर प्रदान करने वाले सभी अपराध उच्च-कोटि के थे। मध्युगीन फ्रांस में संदिग्ध व्यक्ति द्वारा अपराध स्वीकार करने पर फांस की विशेष विधि द्वारा मृत्यु-दण्ड दिया जाता था। इंग्लैण्ड में भी शरीर-दण्ड की उत्तम व्यवस्था थी।[205]

उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि अपराधियों को सुधारने तथा समाज में अपराध पुनः न हों, लोग अपने-अपने धर्म का परिपालन करते रहें, समाज में शांति एवं सुव्यवस्था बनी रहे आदि बातों को दृष्टि में रखकर याज्ञवल्क्य ने न्यायोचित दण्ड की व्यवस्था की थी।

संदर्भ एवं टिप्पणियां

1. के० पी० जायसवाल, हिन्दू राजतन्त्र, हिन्दी अनुवाद, रामचन्द्र वर्मा, द्वितीय खण्ड, पृ० 300।
2. याज्ञ०, 1/7।
3. वेदो धर्ममूलम्। तद्विदां च स्मृतिशीले। गौतम०, 1/1-2।
4. वशिष्ठ, 1/4-6; धर्मज्ञ समयः प्रमाणं वेदाश्च। आपस्तम्ब०, 1/1/1/2।
5. महा०, वनपर्व, 207/83; अनुशासन,० 14/65; शान्ति०, 353/6।
6. यू० एन० घोषाल, ए हिस्ट्री ऑफ ऐन्सियन्ट इण्डियन पोलिटिकल आइडियाज, पृ० 48।
7. बेनी प्रसाद, दी स्टेट इन ऐन्सियन्ट इण्डिया, पृ० 240।
8. याज्ञ०, 1/9; महा० शांतिपर्व, 37/15।
9. याज्ञ०, 2/21; नारदस्मृति, 1/39।
10. याज्ञ० 1/456 पर विश्वरूप।
11. हरिहरनाथ त्रिपाठी, प्राचीन भारत में राज्य एवं न्यायपालिका' पृ० 116।
12. याज्ञ०, 1/327; अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० 186।
13. याज्ञ०, 2/1-3; मनु० 8/9।
14. मनु०, 8/10।
15. याज्ञ०, 2/2; मनु०, 8/11-26. 45; नारद०, 1/44।
16. अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० 186।
17. याज्ञ० 2/1-3; याज्ञ०, 2/1-3 पर मिताक्षरा।
18. अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० 187।
19. याज्ञ०, 1/9; मनु०, 8/10; अर्थशास्त्र, 3/1।
20. लोकेवेदाङ्गधर्मज्ञाः सप्त पञ्च त्रयोपिवा।
    यत्रोपविष्ठा विप्राः स्युः सा यज्ञसदृशी सभा॥
    वृ० उद्धृत, स्मृ० चं०, 2, पृ० 15; मनु, 8/2; महा० शान्ति०, 33/15।
21. याज्ञ०, 2/3; मनु०, 8/9-10।
22. नारद०, 3/15।
23. अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० 186।

24. याज्ञ०, 2/3 पर मिताक्षरा ।
25. लक्ष्मीदत्त ठाकुर, प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन, पृ० 305 ।
26. अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० 186 ।
27. याज्ञ०, 2/1 पर मिताक्षरा ।
28. हरिहरनाथ त्रिपाठी, प्राचीन में भारत राज्य और न्यायपालिका, पृ० 260 ।
29. पी०वी० काणे, हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, भाग-द्वितीय, हिन्दी अनुवाद पृ० 703-706; इ०आई०, भाग-20, पृ० 79; याज्ञ० 2/8 और 305 ।
30. पी०वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, द्वितीय-भाग, पृ० 705 ।
31. अपरार्क, पृ० 596; स्मृति-चन्द्रिका, 2, पृ० 1; परा० भा०, 3, पृ० 5-7; व्या० प्रदीप, पृ० 3-1; हारीत स्मृ० चं० 2, पृ० 1 पर उद्धृत ।
32. याज्ञ० 2/5; मनु० 8/8; अर्थशास्त्र, 3/18 ।
33. याज्ञ०, 2/5, मनु०, 8/43 ।
34. याज्ञ०, 2/5 पर मिताक्षरा; अपरार्क, पृ० 596; स्मृतिसंग्रह पृ० 325 ।
35. मनु०, 8/4-7; व्यवहारमयूख, पृ० 1; विवाद चिंतामणि 1 ।
36. नारद०, 1/16-20 ।
37. चतुष्पाद्व्यवहारोयं···॥ याज्ञ०, 2/8 ।
38. याज्ञ०, 2/8 पर मिताक्षरा । नारद०, 1/10 ।
39. वही, 1/8-14 ।
40. त्रिपाठी, पूर्वोल्लिखित कृति, पृ० 262; सामण्ड, जुरिसप्रूडेन्स, पृ० 650 ।
41. याज्ञ०, 2/6 तथा इस पर मिताक्षरा ।
42. नारद०, 1/13-14 ।
43. त्रिपाठी, पूर्वोल्लिखित कृति, पृ० 263 ।
44. याज्ञ०, 2/22, 2/32 पर मिताक्षरा ।
45. एकस्य बहुभिः सार्धं स्त्रीर्णाप्रेष्यजनस्य च ।
    अनादेयो भवेद्वादो धर्मविद्भरुदाहृतः ॥
    वही, 2/32 पर मिताक्षरा द्वारा उद्धृत ।
46. याज्ञ०, 2/7; 2/12 ।
47. वही, 2/7 पर मिताक्षरा; याज्ञ०, 2/11 ।
48. याज्ञ०, 2/7 पर मिताक्षरा; नारद०, 2/4 ।

49. सत्य मिथ्योत्तरं चैव प्रत्यवस्कन्दनं तथा ।
    पूर्वन्यायविधिश्चैवमुत्तरं स्याच्चतुर्विधम् ॥
    याज्ञ०, 2/7 पर मिताक्षरा द्वारा उद्धृत ।
50. याज्ञ०, 2/7-8 पर मिताक्षरा ।
51. वही, 2/7 पर मिताक्षरा; नारद०, 2/5 ।
52. याज्ञ०, 2/7 पर मिताक्षरा द्वारा उद्धृत ।
53. लक्ष्मीदत्त ठाकुर, प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन, पृ० 318 ।
54. प्रमाणं लिखितं भुक्तिः साक्षिणश्चेति कीर्तितम् ।
    एषामन्यतमाभावे दिव्यान्यतममुच्यते ॥याज्ञ०, 2/22 ।
55. याज्ञ०, 2/22, 2/84 पर मिता०; नारद०, 4/135 ।
56. त्रिपाठी, पूर्वोल्लिखित, कृति, पृ० 279-280 ।
57 वशिष्ठ, स्मृ० चं०, 2. पृ० 55 ।
58. त्रिपाठी, पूर्वोल्लिखित कृति, पृ० 281 ।
59. याज्ञ०, 2/85-87, 89, तथा इसी पर मिता०; नारद०, 3/136 ।
60. याज्ञ०, 2/91-92; नारद०, 4/143, 146 ।
61. कात्यायन०, स्मृ चं०, 2,65 पर उद्धृत ।
62. इण्डियन एविडेन्स ऐक्ट, सेक्सन 68 ।
63. याज्ञ०, 2/295; मनु०, 9/232; वि०ध०सू०, 5/9-10 ।
64. लक्ष्मीदत्त ठाकुर, प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन, पृ० 333 ।
65. भुक्तिरूप भोगः । याज्ञ०, 2/22 पर मिताक्षरा ।
66. याज्ञ०. 2/24; मनु०, 8/147-8; नारद०, 4/79-80 ।
67. याज्ञ०, 2/27; देखिये इसी पर मिताक्षरा ।
68. आगमने विशुद्धेन भोगो याति प्रमाणताम् ।
    अविशुद्धागमो भागेः प्रमाण्यं नैव गच्छति ॥ नारद०, 4/85;
    देखिये, वही, 4/77, 86-87; याज्ञ०, 2/28 ।
69. याज्ञ० 2/25; मनु०, 8/149; नारद०, 4/81 ।
70. अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० 194 ।
71. मनु०, 8/74; नारद०, 4/148, पाणिनि, 5/2/91 ।
72. मनु० 8/74; सभापर्व, 68/84; नारद०, 4/148; विष्णु धर्म सूत्र, 8/12-13; कात्यायन०, 346; व्यवहारमातृका, पृ० 317 एवं व्यवहार प्रकाश, पृ० 16 में उद्धृत ।
73. त्र्यवराः साक्षिणो ज्ञेयाः श्रौतस्मार्तक्रियापराः । याज्ञ०, 2/69 ।
    मनु०, 8/60; नारद०, 4/153; गौतम०, 13/2 ।

74. विष्णु० ध० सू०, 8/5, 9; याज्ञ०, 2/72; मनु०, 8/77; नारद०, 4/192; बृहस्पति स्मृति चन्द्रिका, 2/2० ।
75. पी० वी० काणे, पूर्वोल्लिखित कृति, पृ० 736 ।
76. अलतेकर, पूर्वोल्लिखित कृति, पृ० 194 ।
77. याज्ञ०, 2/68-69; द्रष्टव्य मनु०, 8/62-63; नारद०, 4/153; गौतम०, 13/2 ।
78. मनु०, 8/68; गौतम०, 13/4; 11/21; नारद०, 1/155 ।
79. यथाजाति यथावर्णं सर्वे सर्वेषु वा स्मृताः ।। याज्ञ०, 2/69; मनु०, 8/66; नारद०, 4/154 ।
80. पी० वी० काणे, पूर्वोल्लिखित कृति, पृ० 736-37; त्रिपाठी, पूर्वोल्लिखित कृति, पृ० 288 ।
81. याज्ञ० 2/70-71; मनु०, 8/72; नारद०, 4/177-78 ।
82. सर्वःसाक्षी संग्रहणे चौर्यपारुष्यसाहसे ।। याज्ञ०, 2/72; द्रष्टव्य, मनु०, 8/72; नारद०, 4/189 ।
83. अर्थ० बार्ता, 32-40, अधि०, 3, अ० 11; मनु०, 8/70; नारद०, 4/190-191 ।
84. पी० वी० काणे, पूर्वोल्लिखित कृति, पृ० 738 ।
85. रामजी उपाध्याय, प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका, पृ० 672 ।
86. याज्ञ०, 2/5 पर मिताक्षरा ।
87. याज्ञ०, 2/68 पर मिताक्षरा; अपरार्क, पृ० 666 में उद्धृत, नारद०, 4/150-152; मनु०, 8/76 ।
88. याज्ञ०, 2/73-75; आप० ध० सू०, 2/11/29/7; गौतम०, 13/13; मनु०, 8/78-101; नारद०, 4/201-8 ।
89. मनु०, 8/88 ।
90. याज्ञ०, 2/83; मनु०, 8/104-5 ।
91. याज्ञ०, 2/82 ।
92. याज्ञ०, 2/80-81; मनु०, 8/117-118 ।
93. लक्ष्मीदत्त ठाकुर, प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन, पृ० 329 ।
94. याज्ञ०, 2/77; मनु०, 8/107 ।
95. याज्ञ०, 2/13-15; मनु०, 8/25; नारद०, 4/193-196 ।

96. द्वैधे बहूनां वचनं समेषु गुणिनां तथा ।
गुणिद्वैधे तु वचनं ग्राह्यं ये गुणवत्तमाः ।। याज्ञ०, 2/78; मनु०, 8/73; वि० ध० सू०, 8/39; नारद०, 4/229 ।
97. याज्ञ०, 2/72; मिताक्षरा, 2/78 पर; कौटिल्य०, 5/11 ।
98. याज्ञ०, 2/79, 2/79 पर मिताक्षरा ।
99. कात्या०, याज्ञ०, 2/20 पर मिताक्षरा द्वारा उद्धृत ।
100. एषामन्यतमाभावे दिव्यान्यतममुच्यते ।। याज्ञ०, 2/22 ।
101. काणे, पूर्वोल्लिखित कृति, पृ० 748 ।
102. आपस्तम्ब०, 2/11/29/6 तथा 2/5/11/3 ।
103. एस० वरदाचार्य, हिन्दू जुडीशियल सिस्टम, पृ० 164 ।
104. ऋग्वेद, 1/158/4-5; अथर्व०, 2/12/8 ।
105. तुलाग्न्यापो विषं कोशो दिव्यानीह विशुद्धये । याज्ञ०, 2/95; नारद०, 4/252 ।
106. अग्नि वाहारयेदेनम्प्सु चैनं निमज्जयेत । मनु०, 8/114 ।
107. लक्ष्मीदत्त ठाकुर, प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन, पृ० 335 ।
108. वही ।
109. कात्य०, याज्ञ०, 2/22 पर मिताक्षरा द्वारा उद्धृत; नारद०, 2/30 ।
110. याज्ञ०, 2/96, 99 ।
111. हरिहरनाथ त्रिपाठी, प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका, पृ० 297 ।
112. याज्ञ०, 2/98; पी०वी० काणे, पूर्वोल्लिखित कृति, पृ० 749-50 ।
113. याज्ञ०, 8/97; नारद०, 4/268 ।
114. याज्ञ०, 2/97 पर मिताक्षरा; नारद०, 4/259 ।
115. याज्ञ०, 2/100-102 ।
116. याज्ञ०, 2/103-107; मनु०, 8/114-115 ।
117. अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० 195 ।
118. याज्ञ०, 2/108-109; मनु०, 8/115 ।
119. बेनी प्रसाद, दी स्टेट इन ऐन्सियन्ट इण्डिया, पृ० 187-188 ।
120. त्वं बिष ब्रह्मण: पुत्र: सत्यधर्मे व्यवस्थितः ।
त्रायस्वास्मादभीशापात्सत्येन भव मेऽमृतम् ।।
एवमुक्त्वा विषं शाङ्र्गं भक्षयेद्धिमशैलजम् ।
यस्य वेगैर्बिना जीर्येच्छुद्धिं तस्य विनिर्दिशेत् ।। याज्ञ०, 2/110-111 ।
121. अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० 195 ।

122. देवानुग्रान्समभ्यर्च्य तत्स्नानोदकमाहरेत् ।
संस्राव्य पाययेत्तस्माज्जलं तु प्रसृतित्रयम् ॥
अर्वाक चतुर्दशादह्नो यस्य नो राजदैविकम् ।
व्यसनं जायते घोरं स शुद्धः स्यान्न संशयः ॥ याज्ञ०, 2/112-113।
123. हरिहरनाथ त्रिपाठी, प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपलिका, पृ० 299।
124. नारद०, 2/33।
125. प्राडविवाकादिहस्ताकं मुद्रित राजमुद्रया ।
सिद्धेऽर्थेवादिने दद्याज्जयिने जयपत्रकम् ॥ याज्ञ०, 2/91 पर मिताक्षरा द्वारा उद्धृत; द्रष्टव्य, नारद०, 2/43।
126. याज्ञ०, 2/91 पर मिताक्षरा।
127. काणे, पूर्वोल्लिखित कृति, पृ० 757-758।
128. ऋणिकः साधनो यस्तु दौरात्म्यान्न प्रयच्छति ।
राज्ञा दापयितव्यः स्यादगृहीत्वांशं तु विंशकम् ॥ नारद०, 3/132; पा०मा०, व्य०का०, पृ० 200।
129. इविडेन्स ऐक्ट 44।
130. याज्ञ०, 2/31-32; मनु०, 9/231; नारद०, 1/65।
131. याज्ञ०, 2/306 पर मिताक्षरा।
132. याज्ञ०, 2/305, 306।
133. अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० 189।
134. याज्ञ०, 2/30 तथा इसी पर मिताक्षरा।
135. नारद०, 1/7।
136. पी०वी० काणे, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, वालूम 2, पृ० 280; देखिये, वरदाचार्य, हिन्दू जूडिशियल सिस्टम, पृ० 100।
137. अलतेकर, पूर्वोल्लिखित कृति, पृ० 189।
138. अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० 189।
139. वृ० उद्धृत व्य०, पृ० 30।
140. परमात्माशरण, प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं, पृ० 494-95।
141. कुलादिक्रमेणैव व्यवहारणां राजगामिता। द्रष्टव्य, धर्मशक, I, पृ० 41।
142. अलतेकर, पूर्वोल्लिखित कृति, पृ० 189।
143. अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० 190।

144. वही ।

145. कुलशीलवयोवृत्तवित्तवाद्भिरमत्सरैः । वणिग्भिः स्यात्कतिपयैः कुलभूतैरधिष्ठितम् । श्रोतांशे वाणि जस्तत्रवर्तव्या न्यायदर्शन । कात्या०, उद्धृत मिता०, याज्ञ०, 2/2 पर ।

146. इन्सक्रिप्सन्स फाम मद्रास प्रेसिडेन्सी, अनंतपुर जिला, मदस्किरी ताम्र-पट्ट, शक, 1578 ।

147. याज्ञ०, 1/355; मनु०, 7/15; महा०, शान्ति०, 121 ।

148. याज्ञ०, 1/354; मनु०, 7/14 ।

149. महा०, शान्ति०, 15/30, 67/16, 121/47; अयोध्या०, 67/31; कौ०, 1/4/17-18; कामन्दक०, 2/40 ।

150. याज्ञ०, 1/356-57, 359, 361 ।

151. मनु०, 7/17-18, 22-25 ।

152. महा०, शान्ति०, 15/5, 32-33, 36-42, 45, 63/28, 7/12-13, 30; नीतिसार; 2/40, 15 ।

153. याज्ञ०, 1/357; विष्णु०, 3/356, 190-96 ।

154. नारद०, 3/6, 15/16-20, 18/13,21; याज्ञ०, 1/357-58 ।

155. प्रजासुखे सुखम् । अर्थशास्त्र, 1/19 ।

156. बी०के० सरकार, पोलिटिकल स्टकल इंस्टीट्यूशन एण्ड थ्योरीज ऑफ द हिन्दूज, पेज, 206; जे०एच० गांगुली, फिलासफी ऑफ धर्म, आई० एच० क्यू०, वाल्यूम द्वितीय पृ० 15 ।

157. महा०, शान्ति०, 15/11; वही, 15/5, 67/25; राजदंडभयादेके पापाः पापं न कुर्वते ।

158. लक्ष्मीदत्त ठाकुर, प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन, पृ० 355 ।

159. पी०वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, हिन्दी अनुवाद, भाग-2, पृ० 762 ।

160. याज्ञ०, 1/367; मनु०, 8/126 ।

161. बृहस्पति०, 27/4; महा०, शान्ति०, 160/68, आश्रम वासिक (गीता), 5/31 ।

162. हरिहर नाथ त्रिपाठी, प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका, पृ० 242 ।

163. हरिहरनाथ त्रिपाठी, पूर्वोल्लिखित कृति, पृ० 242 ।

164. लक्ष्मीदत्त ठाकुर, पूर्वोल्लिखित कृति, पृ० 358 ।

165. त्रिपाठी, पूर्वोल्लिखित कृति, पृ० 242।
166. याज्ञ०, 1/366; शंखलिखित, उद्धृत दण्ड-विवेक, पृ० 23।
167. मनु०, 8/128; नारद०, 7/8; वि०ध०सू०, 4/10।
168. याज्ञ०, 2/278; मनु०, 9/238; बृ० हारीत०, 7/190; अर्थशास्त्र, 4/11।
169. याज्ञ०, 2/286-87; मनु०, 9/271; 8/366; वशि०, 21/1-5।
170. पी०वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, हिन्दी अनुवाद, भाग-2, पृ० 820।
171. याज्ञ०, 2/312 पर मिताक्षरा।
172. दण्डपारुष्यं स्पर्शनमवगूर्णनं प्रहतमिति। अर्थशास्त्र०, 3/19; नारद०, 18/4।
173. याज्ञ०, 2/213-214।
174. वही, 2/215-217।
175. याज्ञ०, 2/218-221; अर्थशास्त्र, 3/19; वि०ध०सू०, 5/73।
176. याज्ञ०, 2/222, 224; मनु०, 8/287; अर्थशास्त्र, 3/19; वि०ध० सू०, 5/75-76।
177. याज्ञ०, 2/223-225, 229; मनु०, 8/296-98; अर्थशास्त्र०, 3/19; कात्यायन०, 793।
178. याज्ञ०, 2/204-207; मनु०, 9/267-268।
179. याज्ञ०, 2/298-210; मनु०, 8/276-77।
त्रैविद्यनृपदेवानां क्षेप उत्तमसाहस:।
मध्यमो जातिपूगानां प्रथमो ग्रामदेणयो:॥
180. वही, 2/211; मनु०, 8/283; नारद०, 18/30; कात्यायन०, 775।
181. याज्ञ०, 2/230-233।
182. वही, 2/234-237।
183. वही, 2/266-268; पी०वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, हिन्दी अनुवाद, भाग-2, पृ०, 825।
184. याज्ञ०, 2/268 पर मिताक्षरा; नारद०, 1/42, 1/71; मनु०, 9/270; मत्स्य पु०, 227/166।
185. याज्ञ०, 2/269-270; बर्न: द स्टोरी ऑफ पनिशमेन्ट, पृ० 61; नारद०, साहस, 9-10; राजतरंगिणी, 4/82-105।
186. याज्ञ०, 2/271-272।

187. याज्ञ०, 2/273-277; मनु०, 9/276-277; वि०ध०सू०, 6/136।
188. याज्ञ०, 2/279-282।
189. स्त्रीपुंसयोर्मिथुनीभाव: संग्रहणम् । वही, 2/283 पर मिताक्षरा; स्मृति चं० 2, पृ० 8।
190. याज्ञ०, 2/283-285; मनु०, 8/356-358।
191. याज्ञ०, 2/286-291; मनु०, 8/366, 323, 364; कात्या०, 830; नारद०, 1579।
192. याज्ञ०, 2/292-294; कौटिल्य०, 4/13; विष्णु०, 5/44; नारद०, 15/76।
193. पी० वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, हिन्दी अनुवाद, भाग-2, पृ० 834।
194. याज्ञ०, 2/203 अर्थशास्त्र०, 3/20; मनु०, 9/221, 222, 224-227; महा०, उद्योग०, 37/19; कात्यायन०, 934।
195. याज्ञ०, 2/199; अपरार्क, पृ० 802; नारद०, 19/2; कौटिल्य०. 3/20।
196. याज्ञ०, 2/202-203; नारद०, 19/6-7; मनु०, 9/224।
197. ऋग्वेद, 10/34/10-11; महा०, सभा०, 583/16; ब्रह्मपुराण, 171/29-38।
198. वही, 2/295-300.
199. वही, 2/301-302; मनु०, 9/275; नारद०, 17/10-11; गौतम०, 12/46।
200. याज्ञ०, 2/303-304.
201. याज्ञ०, 2/305-307; मनु०, 9/233।
202. वही, 2/193-208; नारद०, 6/5, 2; मनु०, 8/217।
203. त्रिपाठी, प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका, पृ० 207।
204. याज्ञ०, 2/292, 302।
205. कन्टीनेन्टल हिस्ट्री ऑफ क्रिमिनल लॉ, भाग-1, अध्याय-6; ओरेशन ऑफ डेमोस्थेनीज, भाग-3, पृ० 339-40, (ट्रान्सलेटेड बाई चार्ल्स आर० केनेडी), 1856; एम०एन० थल, जीरोआस्ट्रियन सिविलाईजेशन, अध्याय-1।

+●——●+

त्रयोदश अध्याय

अन्तर्राज्य-सम्बन्ध

प्राचीन भारतीय विचारकों ने राज्यों को आपसी सम्बन्धों के आधार पर चार श्रेणियों में विभक्त किया है—शत्रु, मित्र, मध्यस्थ और उदासीन। याज्ञवल्क्य ने केवल तीन ही प्रकार के राज्यों का उल्लेख किया है। याज्ञवल्क्य ने मध्यस्थ का उल्लेख नहीं किया है। इन सम्बन्धों के निर्धारण में चतुरुपाय (साम, दान, भेद एवं दण्ड) और षाड्गुण्य (सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय, द्वैधीभाव) का महत्वपूर्ण स्थान था। इनसे परिचित रहना राजा के लिए आवश्यक था।[1]

चतुरुपाय

ये चार उपाय हैं—साम, दान, भेद और दण्ड। याज्ञवल्क्य ने इनका उल्लेख तो किया है परन्तु इनके विषय में उन्होंने कोई विस्तृत सूचना नहीं दी है। इसके विपरीत अन्य शास्त्रकारों ने इस विषय में पर्याप्त विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है।[2]

साम—शत्रु को समझा-बुझाकर राजी करने का उपाय साम कहलाता है। मधुर वाणी से मैं तुम्हारा हूं इस प्रकार अपने को अर्पण करना ही साम है। शुक्र के अनुसार तुम्हारे समान मेरा कोई मित्र नहीं यह कहना और हम दोनों को परस्पर अनिष्ट का विचार नहीं करना चाहिए बल्कि एक दूसरे की सहायता ही करनी चाहिए, ऐसा शत्रु के लिए कहना ही सामवाक्य कहलाता है।[3] साम का आश्रय इसलिए भी आवश्यक है कि मित्र राज-मण्डल अथवा तटस्थ राजा इससे अलग न हों, इसलिए साम के द्वारा विरोध शान्त करना मुख्य उपाय माना जाता था।[4] इस प्रकार हम साम को शान्तिपूर्ण समझौता कह सकते हैं।

दान—एक राजा का दूसरे राजा के लिए जीवन के सहित मेरी सब वस्तुएं तुम्हारी हैं यह कहना और प्रबल राज्य को योग्यतानुसार कुछ देकर सन्तुष्ट करना ही दान नीति है।[5] कौटिल्य का कथन है कि भूमि, द्रव्य, कन्या तथा अभयदान के द्वारा राजा को प्रसन्न करना ही दान उपाय है।[6] दूसरे शब्दों में प्रबल राज्य को सामर्थ्यानुसार उपहार देकर वश में करना ही दान है।

भेद—किसी राज्य में फूट पैदा करना भेद है। मित्र के सामने अन्य मित्र के गुणों की प्रशंसा करना ही मित्र के लिए भेद-वाक्य होता है।[7] शत्रु-राज्य की विभिन्न प्रकृतियों में फूट पैदा कराकर उसकी नींव को दुर्बल किया जाता था।[8] महाभारत के अनुसार कालकवृक्षीय मुनि भी कौशल नरेश को यह निर्देश देते हैं कि राजा को शत्रु-पक्ष में भेद कराना चाहिए।[9] अतः इस नीति के द्वारा एक राजा दूसरे राजा के मित्रों एव सेना में भेद डालकर उसकी शक्ति को निर्बल एवं खोखला बना देता है।

दण्ड—दण्ड के अनेक अर्थ हैं—सजा, बल या सेना और नीति विशेष। परन्तु इस सम्बन्ध में इसका अभिप्राय विशेष प्रकार की नीति से है। कामन्दक के अनुसार बध कर देना, धन का अपहरण करना, त्यधिक कष्ट देना ही दण्ड कहलाता है। शुक्र ने भी इसी मत का अनुसरण किया है।[10]

युद्ध के प्रति दृष्टिकोण

जहां तक इन चारों उपायों के महत्व का प्रश्न है, प्रायः सभी विचारकों ने यथा-सम्भव युद्ध की उपेक्षा करने का आदेश दिया है। शेष तीनों उपायों के विफल हो जाने पर ही दण्ड का प्रयोग समीचीन माना गया था। ब्रह्मा ने साम से लेकर दण्ड-पर्यन्त नीतियां कहीं हैं। इनमें से दण्ड पापिनी नीति है। उसका प्रयोग अन्त में करना चाहिए।[11] युद्ध के द्वारा प्राप्त विजय महान् नहीं है। एस०बी० विश्वनाथ का मत है कि प्राचीन भारत में जब अन्य सभी साधनों का प्रयोग निष्फल हो जाता था तभी युद्ध किया जाता था।[12] विष्णुधर्मसूत्र में भी दण्ड का अत्यन्त विचार कर प्रयोग करने का निर्देश दिया गया है। जो शत्रु साम-दान से प्रसन्न न हो सके उस पर दण्ड का प्रयोग करना उचित है।[13]

अलतेकर ने लिखा है कि प्राचीन भारतीय आचार्य अन्यान्य राज्यों में परस्पर शान्ति स्थापना की ओर से उदासीन रहे। प्रायः सबने महत्वाकांक्षी राजाओं को यथा-सम्भव युद्ध से दूर रहने और शान्तिमय उपायों से ही अभीष्ट सिद्धि का प्रयत्न करने का निर्देश दिया है। उनका विचार है कि अधर्म और अन्यायपूर्ण युद्ध से इस लोक में तो विनाश होता ही है परलोक भी मारा जाता है। प्राचीन भारत में बिना विचार के प्रायः युद्ध नहीं छेड़े जाते थे।[14] स्पष्ट है कि भारतीय विचारक युद्ध की बुराइयों से परिचित थे। सम्भवतः इसी कारण उन्होंने युद्ध को अन्तिम उपाय माना है।

चतुरुपायों का प्रयोग

किस राज्य के साथ किस नीति का प्रयोग करना चाहिए, इस विषय में भी प्राचीन भारतीय विचारकों ने कुछ सुझाव दिए हैं। समान शक्ति वाले राजा के साथ साम और भेद-नीति का, अपने से अधिक शक्ति सम्पन्न राजा के साथ दान-नीति का और अपने से हीन शक्ति वाले राजा के साथ दण्डनीति का प्रयोग करना चाहिए। आचार्य कौटिल्य ने निर्बल राजाओं को साम और दान तथा सबल शत्रुओं को भेद और दण्ड के द्वारा वश में करने की सलाह दी है।[15] शुक्र ने अत्यन्त शक्तिशाली शत्रु के लिए साम और दान का, अपने से अधिक बलवान के लिए साम और भेद का, अपने बराबर वाले शत्रु के लिए भेद और दण्ड का तथा अपने से हीन शत्रु के लिए दण्ड का प्रयोग उचित माना है।[16]

स्पष्ट है कि अन्तर्राज्य सम्बन्ध में चतुरुपायों का विशेष महत्व है। राज्य की सफलता इन्हीं पर निर्भर है। मिताक्षरा के मत में व्यावहारिक जीवन के लिए भी यह

आवश्यक है ।[17] महाभारत का मन्तव्य है कि किसी तीरन्दाज का निशाना अस-फल हो सकता है किन्तु बुद्धि से सुनियोजित नीति कभी असफल नहीं होती ।[18] उपाय से ही मनुष्य भूमि में रहकर भी स्वर्ग पहुँचता है और वज्र को भी विदीर्ण करता है ।[19] इसी कारण राजा को समयानुसार चतुरुपायों के उचित प्रयोग का आदेश दिया गया है । इन्हीं उपायों द्वारा राज्य-वर्धन तथा राज्य में शान्ति स्थापित करने में राजा पूर्णतया सफल होता था और शत्रु तथा मित्र को वश में कर सकता था ।

षाड्गुण्य

याज्ञवल्क्य-स्मृति में छः गुणों को स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय द्वैधीभाव आदि का भी आश्रय शत्रु पर विजय करने के लिए लेना चाहिए । मनु ने भी इसी तरह का विचार व्यक्त किया है ।[20] अर्थशास्त्र के कति-पय आचार्यों का मत देते हुए कौटिल्य ने सन्धि, विग्रह, आसन, यान, संश्रय और द्वैधी-भाव का वर्णन किया है । परन्तु आचार्य वातव्याधि, संधि और विग्रह इन दोनों गुणों में ही शेष चार गुणों को अन्तर्निहित मानते हैं ।[21] इस मत का खण्डन करते हुए आचार्य कौटिल्य अवस्था-भेद के कारण संधि तथा विग्रह में अन्य गुणों के अन्तर्भाव को स्वीकार नहीं करते ।[22] महाभारत, कामंदक, शुक्र, सरस्वतीविलास आदि में भी इन्हीं छः गुणों का उल्लेख किया गया है । इसके अतिरिक्त अग्निपुराण, विष्णुधर्मोत्तर तथा राजनीति प्रकाश में भी इन गुणों पर प्रकाश डाला गया है । मनु में इन छः गुणों में से प्रत्येक को दो प्रकार का बताया गया है ।[23] इससे ज्ञात होता है कि इन सभी गुणों का यथो-चित प्रयोग करना राजा के लिए अनिवार्य था ।

याज्ञवल्क्य षाड्गुण्यों का उल्लेख तो करते हैं किन्तु उनके लक्षण और प्रयोग के लिए उचित अवसर के विषय में कोई स्पष्ट सूचना नहीं देते हैं।

1. सन्धि

दो या अधिक राजाओं द्वारा परस्पर वैर-भाव की समाप्ति और एक-दूसरे की सहायता करने का समझौता ही सन्धि है । कौटिल्य कुछ बातों के आधार पर दो राजाओं में मेल को ही सन्धि कहते हैं । शुक्र के अनुसार जिस क्रिया द्वारा बलवान् शत्रु निश्चित मित्रता भाव को प्राप्त करें, उसे सन्धि कहते हैं ।[24] पंचतन्त्र में आचार्य बृहस्पति के मत का उद्धरण देते हुए कहा गया है कि यदि विजय में सन्देह हो और शत्रु समान शक्ति वाला हो तो सन्धि करना ही श्रेयस्कर है । कामन्दक के अनुसार जब राजा किसी दूसरे बलवान शत्रु से आक्रान्त हो और अपनी रक्षा का कोई उपाय उसे न दिखाई पड़े तो ऐसी अवस्था में राजा को समय व्यतीत करने के लिए सन्धि कर लेनी चाहिए ।[25] दीक्षितार ने लिखा है कि शत्रु के कमजोर पड़ने पर सन्धि करनी चाहिए, अपने से प्रबल राजाओं से सेना तथा न्याय में भी सन्धि करनी चाहिए । सेना आदि के

द्वारा सम्पन्न राजा से आक्रान्त निर्बल राजा को चाहिए कि वह शीघ्र ही धन, सेना भूमि आदि के द्वारा आत्मसमर्पण करके शक्तिशाली राजा से सन्धि कर लें ।[26]

सन्धि के प्रकार

मनु के अनुसार सन्धि दो प्रकार की होती है—समान यान कर्मा—अर्थात् जिस सन्धि के अनुसार एक राजा पर आक्रमण होने पर दूसरा राजा भी उसकी सहायता युद्ध में दे। दूसरे शब्दों में दो राजाओं में सन्धि के द्वारा यह निश्चिय किया जाय कि तुम इस ओर से और हम उस ओर से एक साथ आक्रमण करेंगे। दूसरा प्रकार है आसमान-यान कर्मा। यह तात्कालिक फल की दृष्टि से उसी अवसर के लिए किया जाता है।[27]

महाभारत के अनुसार सन्धि तीन प्रकार की होती है—हीन, मध्यम और उत्तम—जो क्रमशः भय, सत्कार और उपकार के कारण की जाती है। आचार्य कौटिल्य सन्धि के अन्यान्य प्रकारों का उल्लेख करते हैं जिनमें हीन सन्धि को ही मुख्य माना गया है और इसे पुनः कई उपप्रकारों में विभक्त किया है। दण्डोपनत सन्धि, कोशोपनत सन्धि और देशोपनत सन्धि। हीन बल राजा अपने से अधिक शक्तिशाली राजा द्वारा आक्रमण किये जाने पर देश, काल और कार्य की परिस्थिति के अनुसार किसी एक सन्धि का आश्रय लेने का निर्देश देते हैं।[28]

कामन्दक ने सन्धि के 16 प्रकारों का परिगणन किया है। उनमें से उपहार सन्धि को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हुए अन्य सभी सन्धियों को इसका भेद स्वीकार किया है। शुक्र भी इस मत के समर्थक हैं। सोमेश्वर ने चार प्रकार की सन्धियों का उल्लेख किया है। वे क्रमशः मैत्र, सम्बन्धज, परस्परोपकाराख्य तथा उपहार हैं।[29]

स्पष्ट है कि सन्धि के अन्यान्य प्रकारों में उपहार सन्धि को ही सर्वोत्कृष्ट माना गया था। महाभारत से भी उपहार सन्धि ही सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित होती है।

सन्धि के लिए उचित अवसर

राजा को किन परिस्थितियों में सन्धि गुण का आश्रय लेना चाहिए। इस विषय में प्रायः सभी विचारकों में मतैक्य है कि जब स्वपक्ष दुर्बल हो और दूसरा पक्ष सबल हो तो प्राणरक्षार्थ राजा को सन्धि करनी चाहिए।[30]

सन्धि के उपरान्त राजा के कर्तव्य

सन्धि के बाद भी राजा को सजग रहते हुए अपनी रक्षा के लिए सावधान रहने की सलाह दी गयी है। सन्धि के पश्चात् आराम से शयन करने वाले की तुलना वृक्ष पर सोने वाले उस व्यक्ति से की गयी है जो वृक्ष से गिरने पर ही जागता है।[31] स्पष्ट है कि अपनी पराजय को निश्चित समझने और रक्षा का कोई उपाय न होने पर ही राजा शत्रु से सन्धि करता था। इसके बाद भी शत्रुओं के प्रति सावधान रहते हुए उचित समय आने पर उस पर आक्रमण किया जा सकता था।

2. विग्रह

इस शब्द का अर्थ युद्ध है। कौटिल्य का कथन है कि परस्पर एक-दूसरे के अपकार में लग जाना ही विग्रह है।[32] शुक्र का मन्तव्य है कि शत्रु का उत्पीड़न या उसे अधीनस्थ बनाना ही विग्रह है। सोमेश्वर के अनुसार राजा सुन्दर यत्नों, सहायकों, सामर्थ्य, बल के अनुसार मन्त्रों से हीन राजा के साथ विग्रह करे।[33] विग्रह उसी से करना उचित माना जाता था जो अपने से हीन हो।[34] यह वास्तव में यान का (हमला करने का) पूर्व-रूप है।[35]

बलवान के साथ विग्रह के निषेध

विग्रह के लिए अपने पक्ष का शक्तिशाली होना आवश्यक माना गया है। महाभारत, कामन्दक, और शुक्र तीनों ही दुर्बल राजा को शूरवीर तथा अत्यन्त बलवान शत्रु से विग्रह का निषेध करते हैं, क्योंकि इससे न तो वह राज्य ही प्राप्त करेगा और न ही सुख। इसका परिणाम सर्वनाश ही है। छेड़ा हुआ सिंह भी मतवाले हाथी को मार देता है। इस सिद्धान्त के अनुसार राजा को बलवान राजा को न छेड़ने (विग्रह न करने) और उससे सन्धि करने का आदेश दिया गया है।[36]

विग्रह के प्रकार

मनु ने विग्रह के दो भेद बतलाये हैं—(1) स्वयंकृत अर्थात् स्वयं किया गया विग्रह और (2) दूसरे किसी राजा के द्वारा अपने मित्र पर आक्रमण या किसी प्रकार क्षति पहुंचाने पर मित्र की रक्षा के लिए किया गया विग्रह। कामन्दक ने पांच प्रकार के विग्रहों का उल्लेख किया है—सौतेले भाई का बैर, भूमि सम्बन्धी बैर, स्त्री सम्बन्धी बैर, शाब्दिक-बैर, त्रुटियों से उत्पन्न बैर। अग्निपुराण में भी इसी तरह का उल्लेख मिलता है।[37] विग्रह का सहारा लेकर राजा अपनी श्री एवं राज्य की पर्याप्त वृद्धि करने में सफलता प्राप्त करता था।

3. यान

इसका अर्थ है चढ़ाई करना। शुक्र का विचार है कि एक राज्य का दूसरे पर आक्रमण ही यान है। कौटिल्य ने शक्ति के आधिक्य को ही यान का कारण माना है।[38] विष्णुधर्मोत्तर में यान को विजिगीषु द्वारा शत्रु देश में यात्रा के नाम से सम्बोधित किया गया है।[39] अन्य नीतियों के अनुपयुक्त या असफल सिद्ध होने पर आक्रमण का सहारा लेने की सलाह प्राचीन भारतीय विचारकों ने दी है।

यान के भेद

मनु ने यान के दो भेद किए हैं—अकेले और स्वयं समर्थ न होने पर मित्र के साथ आक्रमण करना।[40] शुक्र और कामन्दक ने विगृह्य सन्धाय, सम्भूय, प्रसंग तथा उपेक्षा इन पांच प्रकार के यानों का उल्लेख किये हैं।[41]

यान के लिए उचित समय

अधिक शक्तिशाली शत्रु के प्रति यान के भी आश्रय का निषेध किया गया है। अपनी सेना के सबल और शत्रु की सेना के दुर्बल होने पर ही उस पर आक्रमण करना चाहिए। अपनी सफलता की निश्चित आशा होने पर ही राजा को शत्रुओं पर आक्रमण का निर्देश दिया गया है। मत्स्यपुराण एवम् अग्निपुराण में भी इसी तरह का विचार व्यक्त किया गया है।[42]

4. आसन

यह यान से पूर्व की स्थिति का परिचायक है। जब दोनों शत्रु राजा अपनी-अपनी सीमा के अन्दर रह कर अपनी शक्ति संगठित करके युद्ध की प्रतीक्षा करते हैं, तब दोनों ही पक्ष युद्ध के लिए पूर्णत: सन्नद्ध रहते हैं। इसकी तुलना कुछ अंश में आधुनिक परिप्रेक्ष्य के शीत-युद्ध से की जा सकती है।[43] उचित समय की प्रतीक्षा में चुपचाप बैठना ही आसन है।[44] शुक्र का कथन है कि जहां पड़े रहने से अपनी रक्षा और शत्रु-पक्ष का नाश हो सके, वह स्थिति आसन है।[45] कौटिल्य ने स्थान तथा उपेक्षण शब्दों को आसन का पर्यायवाची बतलाया है। शत्रु के बराबर शक्ति का होना आसन कहलाता है, जब शत्रु की तुलना में निर्बल शक्ति हो तो स्थान तथा चतुरोपायों का प्रयोग न करना उपेक्षण कहलाता है।[46] विश्वनाथ का विचार है कि आसन का अभिप्राय उदासीनता का प्रदर्शन करने से है।[47] स्पष्ट है कि ऊपर से शान्त रहकर शत्रु के चारों ओर घेरा डाले रहने की स्थिति ही आसन है।

आसन के प्रकार

मनु ने इसके दो प्रकार बताये हैं।[48] अपनी क्षीण स्थिति को ठीक होने तक चुपचाप बैठे रहना प्रथम आसन है। अपनी स्थिति ठीक रहने पर भी अपने मित्र, राजा की क्षीण दशा के कारण युद्ध को टालते रहना दूसरा आसन है।[49] कामन्दक ने विग्रह्य, संधाय, संभूय, प्रसंग और उपेक्षा आदि पांच प्रकार के आसन का उल्लेख किया है। शुक्र मात्र संधायासन का ही उल्लेख करते हैं।[50] सम्भवत: शुक्र पूर्व प्रचलित आसन के सभी भेदों को स्वीकार करते हुए संधायासन को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं।

5. संश्रय

इसका अभिप्राय दुर्बल राजा द्वारा अपनी रक्षा के लिए बलशाली राजा का आश्रय लेने से है।[51] कौटिल्य बलवान राजा के समक्ष आत्मसमर्पण को ही संश्रय कहते हैं। शुक्र के मत में जिसके द्वारा रक्षित होने पर दुर्बल भी सबल हो जाए ऐसे प्रबल राजा का आश्रय लेना ही संश्रय है। मनु ने भी आश्रय गुण को संश्रय नाम से सम्बोधित किया है।[52] कौटिल्य की सम्मति है कि दो बलवान राजाओं के मध्य पड़ जाने पर जो अपनी रक्षा करने में अधिक समर्थ हो उसी की शरण संश्रय ग्रहण करने वाले राजा को लेनी चाहिए।[53]

संश्रय के प्रकार—संश्रय के दो प्रकार बतलाये गए हैं। प्रथम शत्रु के द्वारा पीड़ित होते हुए आत्मरक्षार्थ किसी बलवान राजा का आश्रय लेना। दूसरा भविष्य में शत्रु से पीड़ित होने की आशंका से आश्रय लेना। सोमेश्वर ने तीन प्रकार के आश्रयों का वर्णन किया है—सत्संश्रय, अन्य संश्रय, दुर्ग संश्रय। इन तीनों का वर्णन कौटिल्य ने भी किया है।[54]

संश्रय के लिए उचित अवसर—अपनी पराजय को निश्चित समझनेवाले राजा को शीघ्र ही बलवान राजा का आश्रय लेने का निर्देश दिया गया है। शुक्र और कामन्दक के मत में भी बलवान राजा द्वारा राज्य उच्छिन्न होने पर प्रतिकार का कोई उपाय न हो तो राजा को बलवान और कुलीन किसी दूसरे का आश्रय लेना चाहिए।[55] इससे स्पष्ट है कि शत्रु के आक्रमण का सामना करने में असमर्थ तथा अपनी पराजय को निश्चित जानकर राजा दूसरे सबल राजा का ही आश्रय ले निर्बल का नहीं।

6. द्वैधीभाव (दोहरी नीति)

सेना को कई भागों में विभाजित कर शत्रुपक्ष पर चढ़ाई करना ही द्वैधी भाव है।[56] अग्निपुराण का मन्तव्य है कि सेना को बांटकर आक्रमण करना, द्वैधी-भाव है। मनु भी इससे सहमत हैं।[57] एक राजा से संधि और दूसरे राजा से विग्रह ही द्वैधीभाव है।[58] शुक्र के अनुसार सेना को अलग-अलग गुल्मों में विभक्त करना द्वैधीभाव है।[59] नीलकण्ठ कुछ भिन्न अर्थ बताते हैं। उनके कथनानुसार परस्पर युद्ध करने वाले दोनों दलों से सन्धि करना ही द्वैधीभाव है।[60] कौये की आंख की पुतली के समान दोनों ओर का व्यवहार रखना, दिखाने में दूसरा कार्य और करने में दूसरा कार्य भी द्वैधीभाव माना गया है। अन्तर्राज्य-सम्बन्ध के विषय में यह दोनों ही मत समीचीन प्रतीत होते हैं, क्योंकि दोनों का ही उद्देश्य शत्रु को भ्रम में ही डालना है। जैसाकि पार्ल हार्बर पर आक्रमण करते समय जापानियों ने किया था।

स्पष्ट है कि इन्हीं षाड्गुण्यों पर ही अन्तर्राज्य सम्बन्ध निर्भर करता है। इसलिए राजा को इनकी ओर विशेष ध्यान देने का निर्देश दिया गया है। इनका विधिवत् पालन करने से राजा की श्री एवं राज्य-सीमा में वृद्धि होती थी।

मण्डल

मण्डल का अर्थ—अन्तर्राज्य सम्बन्ध निर्धारित करने और शक्ति का संतुलन बनाए रखने के लिए प्राचीन भारतीय विचारकों ने मण्डल सिद्धान्त की कल्पना की है। मण्डल शब्द का अर्थ घेरा, दायरा अर्थात् राज्यों के घेरे से किया जाता है। राज्य मण्डल का केन्द्र विन्दु विजिगीषु है और अन्य राज्यों—शत्रु, मित्र, मध्यस्थ और उदासीन की स्थिति इस प्रकार होती है कि आवश्यकता पड़ने पर अपने पक्ष के राज्यों की सहायता कर सकें।

मण्डल सिद्धान्त—मण्डल-सिद्धान्त को स्पष्ट रूप से बताने के पूर्व याज्ञवल्क्य ने मित्र की महत्ता का वर्णन किया है क्योंकि मण्डल-सिद्धान्त मित्र पर ही निर्भर है।

उनके अनुसार सोने या भूमि को पाकर राजा इतना नहीं बढ़ता, जितना स्थिर-मित्र को पाकर इसलिए मित्र की प्राप्ति के लिए निरन्तर यत्नशील रहना चाहिए। सावधानी-पूर्वक सत्य की रक्षा करनी चाहिए।[62] मित्र भविष्य में काम आ सकता है। धर्मात्मा, कृतज्ञ, संतोषी, प्रेमी तथा कृतिशील छोटा मित्र भी अच्छा होता है। महाभारत के अनुसार कोई किसी का मित्र अथवा शत्रु नहीं होता। सम्पत्ति द्वारा ही शत्रु एवं मित्र बनते हैं। कामन्दक भी महाभारत के मत से सहमत रहते हुए मनु के विरोधी हैं। महाभारत में चार प्रकार के मित्रों का वर्णन किया गया है। कामन्दक ने भी चार प्रकार के मित्रों का वर्णन किया है। मित्र बनाने की रीति ही मण्डल-सिद्धान्त को जन्म देती है ऐसा धर्मशास्त्रों का मत है।[63]

प्राचीन भारतीय आचार्य जानते थे कि युद्ध का एकदम परित्याग कर देना सम्भव नहीं है इसलिए युद्ध की सम्भावना कम करने के उद्देश्य से उन्होंने विविध राज्यों के मण्डल बनाकर उनमें शक्ति संतुलन कायम रखने की व्यवस्था दी थी। मण्डलनीति शक्ति संतुलन के सिद्धान्त पर ही आधारित थी। आचार्यों ने निर्बल राज्यों से मैत्री सम्बन्ध स्थापित करके ऐसे "मण्डल" बनाने का निर्देश दिया है जिस पर आक्रमण करने का शत्रु को साहस ही न हो सके।[64]

मण्डल को द्वादश राजमण्डल भी कहा गया है क्योंकि इसमें बारह प्रकार के राज्य समाविष्ट होते हैं, जो कौटिल्य के मत में इस प्रकार है—(1) विजिगीषु, (2) अरि, (3) मित्र, (4) अरिमित्र (शत्रु या मित्र), (5) मित्रमित्र (मित्र का मित्र), (6) अरि-मित्र-मित्र (शत्रु के मित्र का मित्र), (7) पार्ष्णिग्राह (पीछे की ओर स्थित शत्रु जो संख्या 2 से तुलनीय है), (8) आक्रन्द (पीछे का मित्र, संख्या तीन से तुलनीय), (9) पार्ष्णिग्राहसार (पीछे क शत्रु या मित्र, संख्या चार से तुलनीय), (10) आक्रन्दसार (पीछे के मित्र का मित्र, संख्या पांच से तुलनीय), (11) मध्यस्थ और (12) उदासीन।[65]

स्पष्ट होता है कि राज्य-मण्डल में विजिगीषु का राज्य मध्य में स्थित होता है। संख्या दो से छः तक के राज्य उसके राज्य के आगे स्थित होते हैं। संख्या सात से दस तक राज्यों की स्थिति इसके राज्य के पीछे होती है। मध्यस्थ अर्थात् बीच राज्य की स्थिति विजिगीषु तथा उसके शत्रु के बीच में होती है, जैसाकि कौटिल्य की परिभाषा से स्पष्ट होता है।[66] उदासीन, की स्थिति सभी राज्यों से अलग होती थी। राज्य-मण्डल की स्थिति निम्न तालिका से भी स्पष्ट होती है।

					मध्यस्थ				
अरि मित्र मित्र	मित्र मित्र	अरि-मित्र	मित्र	अरि	विजि-गीषु	पार्षिण-ग्राह	आक्रन्द	पार्षिण-ग्राहसार	आक्रन्द-सार

उदासीन

मनुस्मृति में सिर्फ मित्र, शत्रु, विजिगीषु, उदासीन, मध्यम, आक्रन्द तथा पार्ष्णिग्राह् का ही उल्लेख किया गया है।[67] याज्ञवल्क्य ने भी शत्रु, मित्र और उदासीन का ही वर्णन किया है।[68] लॉ ने भी मण्डल सिद्धान्त को स्वीकार किया है।[69] अलतेकर ने लिखा है कि भारत में प्राचीन काल में प्रायः एक विजिगीषु या साम्राज्य की स्थापना चाहने वाला शक्तिशाली राजा रहता था। उसके आसपास अन्य छोटे-छोटे राजा रहते थे, जो स्वतन्त्र होने का प्रयत्न करते थे। इसीलिए मण्डल सिद्धान्त की व्यवस्था की गयी थी।[70]

आजकल यद्यपि संयुक्तराष्ट्र संघ की स्थापना हो चुकी है, किन्तु परिस्थिति वैसी ही है। कुछ छोटे राष्ट्र अमेरिका के गुट में तथा कुछ एशिया के गुट में शामिल हैं। पक्षरहित राष्ट्रों का भी एक वर्ग है। मण्डल सिद्धान्त के अनुसार साधारणतः एक राज्य अपने पड़ोसी का शत्रु व उसके पड़ोसी का मित्र होता था। यह सिद्धान्त सामान्यतः सत्य है। फ्रान्स व जर्मनी, पोलैण्ड व रूस एवं चीन व जापान में शत्रुता कायम रखने के लिए उसके साथ 1937 में क्यों सन्धि की ? आदि पर हम मण्डल सिद्धान्त से विचार कर सकते हैं।[71]

मण्डल की प्रकृतियां—इन 12 राज्यों के राजाओं को राजप्रकृति कहा गया है।[72] प्रत्येक राज्य की पांच प्रकृतियां होती है—अमात्य, कोष, दुर्ग, बल और राष्ट्र। अतः मण्डल के समस्त राजाओं की प्रकृतियों की संख्या मिलकर 72 होती है। महाभारत में हमें द्वादश राजमण्डल, उनकी 60 प्रकृतियां और दोनों के सम्मिलित योग 72 का भी उल्लेख मिलता है।[73] इस तरह का विचार कौटिल्य ने भी प्रतिपादित किया है।[74]

मनु भी 72 की संख्या को इस प्रकार समझाते हैं। उनके अनुसार राजमण्डल की चार (मध्यम, उदासीन, शत्रु और विजगीषु) मूल प्रकृतियां हैं। अरि, अरिमित्र, मित्र-मित्र और अरि-मित्र-मित्र, पार्ष्णिग्राह, आक्रान्द, पार्ष्णिग्राहसार तथा आक्रान्द सार—ये आठ अन्य शाखा-प्रकृतियां हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर मण्डल की 12 प्रकृनियां होती हैं। इस प्रकार $12 \times 5 = 60$ द्रव्य,प्रकृतियाँ तथा 12 राज्य-प्रकृतियों को मिलाकर राजमण्डल की 72 प्रकृतियां होती हैं। कामन्दक भी इस संख्या के ही समर्थक हैं।[75]

उपमण्डल

राज्य मण्डल में चार उपमण्डलों के समाविष्ट होने का भी उल्लेख है। विजिगीषु, अरि, मध्यम और उदासीन—ये मण्डल के चार घटक माने गये हैं। इनमें प्रत्येक राज्य का अपना एक अलग राजमण्डल बनता है। विजिगीषु, उसके मित्र और उसके मित्र का मित्र, इन तीनों राज्यों को तीन प्रकृति कहा गया है। इन तीनों राज्यों की अपनी अलग-अलग प्रकृतियां होती हैं। इस प्रकार $3 \times 5 = 15 + 3 = 18$ प्रकृतियां एक राजमण्डल बनाती है। इसी प्रकार अरि मण्डल, मध्यम मण्डल और उदासीन मण्डल भी बन जाते हैं।[76]

मण्डल का महत्त्व

दूसरे राज्य की शक्ति के अत्यधिक विकास को रोकने तथा अपने राज्य को क्षीण होने से बचाने अर्थात् शक्ति में संतुलन स्थापित करने के लिए अन्तर्राज्य सम्बन्ध में मण्डल-सिद्धान्त का विशेष महत्त्व है। क्योंकि इसके शत्रु और मित्र राज्य इस क्रम में रखे गए हैं कि यदि कोई अपने आगे स्थित शत्रु पर आक्रमण करना चाहता है तो पीछे से शत्रु के द्वारा उस पर आक्रमण की सम्भावना होती है। इसी महत्त्व के कारण ही राजा को मण्डल से भलीभांति परिचित होने की सलाह दी गई है।[77]

दूत

अन्य राज्यों में अपने राज्य का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्ति को दूत कहा जाता है। दूत-पद निःसन्देह बहुत प्राचीन है। इसका सर्वप्रथम उल्लेख हमें ऋग्वेद में मिलता है।[78] प्राचीन भारतीय विचारकों ने दूत की आवश्यकता स्वीकार की है। कौटिल्य के अनुसार दूतरूपी मुख से ही राजा परस्पर बात करते हैं। वर्तमान समय में भी दूत-पद्धति प्रचलित है। प्राचीन एवं अर्वाचीन दूत-पद्धति में कुछ परिवर्तन परिलक्षित होता है। प्राचीन समय के दूत स्थायी रूप से दूसरे देश में सम्भवतः निवास नहीं करते थे, जबकि वर्तमान समय के दूत जिन देशों से हमारे सम्बन्ध अच्छे हैं, वहां स्थायी रूप से रहते हैं। सम्बन्ध बिगड़ने पर इन्हें वापस बुला लिया जाता है।[79]

दूतों की योग्यता

याज्ञवल्क्य दूत का उल्लेख मात्र करते हैं। इनकी योग्यता, कार्य इत्यादि के विषय में ये कोई सूचना नहीं देते। मनु ने इंगित (वचन और स्वर आदि अभिप्राय-सूचक भाव) आकार और चेष्टा का ज्ञान, स्वामी के प्रति अनुरक्ति और देश काल के ज्ञान को भी दूत के लिए आवश्यक माना है।[80] कामन्दक और शुक्र ने भी इस विचार का समर्थन किया है। महाभारत का मन्तव्य है कि कुलीन, बोलने में दक्ष, प्रिय बोलना, सन्देश को उसी रूप में कहने की क्षमता और स्मरण शक्ति आदि गुणों से दूत को सम्पन्न रहना अति आवश्यक था।[81]

स्वाभाविक है कि इन गुणों से सम्पन्न दूत अपनी कार्यसिद्धि में अवश्य सफल होगा। शुद्धता पर इसलिए जोर दिया गया है कि वह धन या स्त्री आदि के प्रलोभन से स्वामी के कार्य का विनाश नहीं करेगा, दक्ष होने से अवसर का लाभ उठाने से नहीं चूकेगा, स्मरण शक्ति होने से सन्देश को नहीं भूलेगा, देश काल का जानकार होने से परिस्थिति के अनुसार अपने विचार से कार्य कर लेगा और वाक्पटु होने से सुन्दर एवं मृदुल युक्तिपूर्ण वचनों से दूसरों को प्रभावित करने में समर्थ होगा।

दूत के प्रकार

इस विषय में याज्ञवल्क्य कोई प्रत्यक्ष सूचना नहीं देते परन्तु मिताक्षरा ने इसके तीन प्रकारों का उल्लेख किया है—निसृष्टर्थ, संदिष्टार्थ और शासनहर।[82] अलतेकर

ने लिखा है कि विदेशों में भेजे जाने वाले दूत तीन श्रेणी के होते थे। निष्टार्थ दूत वह था जिसे अपने राज्य की ओर से सब विवादभूत बातें तय करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त था। परिमितार्थ दूत दिये गए निर्देश से बाहर नहीं जा सकता था और शासन-हर दूत केवल अपने राज्य की ओर से संदेश देता था और उसका जवाब लाता था। उसे बातचीत का अधिकार नहीं था।[83]

दूत के कार्य

प्राचीन काल में दूत के अधीन अनेक कार्य थे। विशेष रूप से सन्धि और विग्रह के कार्य जैसाकि मनु ने स्पष्ट रूप से आदेश दिया है। इसके अतिरिक्त शत्रु राजा के अभिलषित कार्य का पता लगाना भी इसका प्रमुख कार्य था।[84] दूत का प्रधान कार्य था, अपने स्वामी की नीति और विचारों से दूसरे राजाओं को अवगत कराना।[85] युधिष्ठिर और दुर्योधन के दूत यज्ञ में सम्मिलित होने का निमन्त्रण लेकर विभिन्न राजाओं के पास गए थे।[86] रामदूत अंगद ने भी लंकापति को अपने स्वामी का वह सन्देश सुनाया था—"सीता को लौटा दो अन्यथा जीवित न बचोगे।"[87]

अलतेकर ने लिखा है कि आजकल की भांति प्राचीन काल में भी दूत अधिकृत और प्रकाश्य-रूप में भेदिये का कार्य करता था। उसका काम विदेशी राजपुरुषों से जान-पहचान करके उस देश की वास्तविक राज्य-नीति की जानकारी प्राप्त करना था। राज्य की साधारण स्थिति का ज्ञान प्राप्त करना, उसके जन, बल और साधनों का ठीक-ठीक अनुमान करना और अपने गुप्तचरों द्वारा उसके दुर्ग और सेना के प्रमाणिक विवरण प्राप्त करना, यह सब भी उसका काम था। यह सब वह "गूढ़-लेख" (संकेत-लिपि) द्वारा अपनी सरकार को भेजता था।[88]

आधुनिक काल की भांति प्राचीन काल में भी दूत अवध्य था। रामायण में कहा गया है, दूत केवल संदेशवाहक है, वह अपने स्वामी की ही बात कहता है। अतः वह बात कटु और क्रोधजनक भी हो तो दूत पर कुछ शासन नहीं करना चाहिए। महाभारत में कहा गया है कि दूत का हन्ता राजा अपने सचिवों के साथ नरकगामी होता है।[89] भीष्म के अनुसार आपद्काल में भी दूत की हत्या वर्जित थी।[90]

स्पष्ट है कि दूत विभिन्न राज्यों में सम्पर्क के साधन थे। अन्य राज्यों की राजनैतिक, आर्थिक, प्रशासनिक और भौगोलिक सभी क्षेत्रों की शक्ति एवं दुर्बलताओं से अपने राज्य को परिचित कराना ही इसका मुख्य काम था। इसी महत्त्व के कारण याज्ञवल्क्य ने राजा के दैनिक कार्यों में दूत भेजना भी महत्त्वपूर्ण माना है।

संदर्भ एवं टिप्पणियां

1. मनु०, 7/155; याज्ञ०, 1/345।
2. उपाय: साम दानं च भेदो दण्ड स्तथैव च। वही, 1/346; देखिये, मनु०, 7/198; महा०, आदि०, 140/24; अर्थ०, 9/3; वा० रामा०, सुन्दर०, 41/2-3।
3. कामन्दक०, 17/5; शुक्र०, 4, 1, 28 और 31।
4. लक्ष्मीदत्त ठाकुर, प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन, पृ० 286।
5. शुक्र०, 4/1/28 और 32; कामन्दक०, 17/6-7।
6. अर्थशास्त्र, 7/16/7, भूमि द्रव्यकन्यादानभयस्य चेति दानमाचरेत्॥
7. शुक्र०, 4/1/29, 33; कामन्दक०, 17/8; मानसोल्लास, 2/18/988।
8. लक्ष्मीदत्त ठाकुर, प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन, पृ०, 286-287।
9. महा० शान्ति०, 106/9-13; विराट० (गीता), 51/13; अर्थ०, 7/6; अनुवाद सामाशास्त्री, पृ० 338।
10. कामन्दक०, 17/9, शुक्र०, 4/1/34-5।
11. सम्यक्प्रयुक्ता: सिद्ध्येयुर्दण्डस्त्वगतिका गति:। याज्ञ०, 1/346, बृहत्पाराशर-संहिता, पृ० 284; महा०, आदि०, 202/20; कामन्दक०, 18/1; शुक्र०, 4/34/35; पंचतन्त्र, 1/409।
12. एस०बी० विश्वनाथ, इन्टरनेशनल लॉ इन ऐन्सियन्ट इण्डिया, पृ० 118।
13. महा०, उद्योग०, 80/12-13।
14. अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० 224।
15. महा०, आदि०, 140/23-4; कौटिल्य०, 17/16।
16. प्रबले रोऽसामदाने साम भेदोधिकेऽस्मृतौ।
    भेददण्डौ समे कार्यो दण्ड: पूज्य प्रहीनके॥ शुक्र०, 4, 1, 38।
17. एते सामादयो न केवलं राज्यव्यवहारविषया: अपितु सकललोक व्यवहार-विषया:। याज्ञ०, 1/346 पर मिताक्षरा।
18. महा०, उद्योग०, 33/43।
19. भूमिष्ठा: स्वर्गमायन्ति बज्रभिदन्त्युपायत:॥ शुक्र०, 4/1/25।
20. याज्ञ०, 1/347।
21. मनु०, 7/160; अर्थ०, वार्ता 2, अधि०, 7, अ० 1, वार्ता 4, 7, अ० 1।
22. षाडगुण्यमेवैतदवस्थाभेदात् इति कौटिल्य:। अर्थ०, 7/1।

23. महा०, शान्ति०, 69/67-8; कामन्दक०, 9/16; शुक्र०, 4/7/232-8; सरस्वती विलास, पृ० 42; अग्नि०पु०, 240; विष्णुधर्मोत्तर पु०, 1/150/35; राजनीतिप्रकाश, पृ० 324,413; मनु०, 7/162,168।
24. तत्र पणबन्ध: सन्धि: । कौटिल्य, 7/1; शुक्र०, 4/7/233-4।
25. पंचतन्त्र, 3/11; कामन्दक०, 9/1।
26. दीक्षितार, पूर्वोल्लिखित कृति, पृ० 225।
27. लक्ष्मीदत्त ठाकुर, प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन, पृ० 289।
28. महा०, शान्ति०, 59/37; कौटिल्य, 7/3, विस्तृत विवरण के लिए देखिये पाण्डेय, कौटिल्य की राज्य व्यवस्था, पृ० 215।
29. कामन्दक०, 9/2-19, 21; अग्निपुराण, 240; शुक्र०, 4/7/238-40, मानसोल्लास, 2/11/728।
30. महा०, आश्रमवासिक, 6/8; वही, शान्ति०, 138/15-7; कौटिल्य०, 7/1; मनु०, 7/169; कामन्दक०, 9/1; शुक्र, 4/7, 237-8।
31. महा०, शान्ति०, 138/109, आदि०, 140/75।
32. उपकारो विग्रह: । कौटिल्य०, 7/1/7।
33. शुक्र०, 4/7, 234-35, 249-51; मानसोल्लास, 2/12/733।
34. अभ्युच्चीयमानो हि गृह्णीयात् ॥ अर्थ०, 7/1/13।
35. लक्ष्मीदत्त ठाकुर, प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन, पृ० 290।
36. मनु०, 7/170; अर्थशास्त्र, 1/7; महा०, शान्ति०, 139/2; कामन्दक०, 9/48; शुक्र०, 4/7/251-2।
37. मनु०, 7/164; कामन्दक०, 10/15; अग्नि पु०, 240/19, 240/20,24।
38. कामन्दक०, 11/1; शुक्र०, 4/7/235, अभ्युच्चयो यानम् । अर्थशास्त्र. 7/1/9।
39. विष्णुधर्मोत्तर पु०, 2/15/3-5; जिगीषो: शत्रुविषये यानं विधीयते।
40. मनु०, 7/165।
41. शुक्र०, 4/7/253-4; कामन्दक०, 11/2।
42. मनु०, 7/171; मत्स्य पु०, 240/2; अग्नि पु०, 228/1/2।
43. प्रेम कुमारी दीक्षित, महाभारत में राज्य व्यवस्था, पृ० 200।
44. उपेक्षणमासनम् । अर्थशास्त्र, 7/1/8; कामन्दक०, 11/13।
45. स्वरक्षणं शत्रुनाशो भवेत् स्थानात्तदासनम् । शुक्र०, 4/7, 236 और 284-5।
46. स्थानमासनमपेक्षणं चेत्यासनपर्यायाः ॥ अर्थशास्त्र, 7/4/2, 7/4/46।

47. एस० वी० विश्वनाथ, इण्टरनेशनल लॉ इन ऐंसियन्ट इण्डिया, पृ० 192।
48. मनु०, 7/166।
49. लक्ष्मीदत्त ठाकुर, प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन, पृ० 290।
50. कामन्दक०, 11/14-22; शुक्र०, 4/7/287-8।
51. परस्य अन्यस्याश्रयो दुर्गादेर्महाराजस्य वा। महा०, शान्ति०, 1968, पर नीलकंठ।
52. परार्पणं संश्रय। अर्थशास्त्र, 7/1; शुक्र०, 4/7/236; मनु०, 7/168।
53. बलीयसोर्वामध्यगतस्त्राण समर्थमाश्रयेते ॥ अर्थ०, 7/2/14।
54. मनु०, 7/168; मानसोल्लास, 2/15/950-955; अर्थशास्त्र, 7/2/8, 14, 21।
55. मनु०, 7/174; शुक्र०, 4/7, 288-9; कामन्दक०, 11/28।
56. आप्टे, स्टूडेन्ट्स संस्कृत-इंग्लिश डिक्सनरी; द्वैधीभाव, पृ० 267।
57. वलार्धेन प्रयाणम्। अग्नि पु०, 224, 19; मनु०, 7/167।
58. संधिविग्रहोपादानं द्वैधीभाव···। कौटिल्य, 7/2।
59. द्वैधीभावः स्वसैन्यानां स्थापनं गुल्मगुल्मयोः। शुक्र०, 4/7/237।
60. द्वैधीभावः उभयत्र संधिरणम्। महा०, शान्ति०, 69/68, पर नीलकण्ठ।
61. आयंगर, आस्पेक्ट ऑफ सोशल एण्ड पोलिटिकल सिस्टम्स इन मनुस्मृति, पृ० 198।
62. याज्ञ०, 1/352; मनु०, 7/208।
63. मनु०, 7/209; महा०, शान्ति०, 138/110; कामन्दक०, 8/52; शुक्र०, 7/1, 8-10; महा०, शान्ति०, 80/3; कामन्दक०, 4/74।
64. अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० 224।
65. कौटिल्य, 6/2।
66. अर्थशास्त्र, 6/2।
67. पी०वी० काणे, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, भाग-3, पृ० 220-22।
68. अरिर्मित्रमुदासीनोऽनन्तरस्तत्परः परः। याज्ञ०, 1/345।
69. एन०एन० लॉ, स्टडीज इन ऐन्सियन्ट हिन्दू पॉलिटी, पृ० 220-22।
70. अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० 224।
71. वही, पृ० 224-225।
72. द्वादश राजप्रकृतयः। कौटिल्य, 6/2।
73. प्रेमकुमारी दीक्षित, महाभारत में राज्य-व्यवस्था, पृ० 108।
74. षष्टिर्द्रव्य प्रकृतयः। अर्थशास्त्र, 6/2।

75. मनु०, 7/155-7; कामन्दक०, 8/25; लॉ, इन्टर स्टेट रिलेशन्स इन एन्सियन्ट इण्डिया, पृ० 15; कांग्ले, दि कौटिल्य अर्थशास्त्र, भाग-3, पृ० 248-50।
76. विजिगीषुर्मित्रं मित्रमित्रं वाऽस्य प्रकृतयास्त्रिया। कौटिल्य, 6/2।
77. क्रमशो मण्डलं चिन्त्यं। याज्ञ०, 1/145; महा० आश्रमवासिक०, 6/1-5; मनु०, 1/154।
78. ऋग्वेद, 1/12/1, 1/61/3, 8/44/3।
79. दूतमुखा वैराजनस्तव चान्ये च। कौटिल्य, 1/16।
80. याज्ञ०, 1/328; मनु०, 7/63-64।
81. कामन्दक०, 12/2; शुक्र०, 2/87-88; महा०, शान्ति०, 85/28।
82. याज्ञ०, 1/328 पर मिताक्षरा।
83. अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० 230।
84. मनु०, 7/66-68; कौटिल्य०, 1/16; कामन्दक०, 12/4-7।
85. प्रेमकुमारी दीक्षित, महाभारत में राज्य-व्यवस्था, पृ० 236।
86. महा०, सभा०, 30/39-42, महा० अरण्य०, 242/6-10।
87. महा०अरण्य०, 267/54; 268/9; 15/17।
88. अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० 220।
89. अ०स० अलतेकर, प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० 230।
90. महा०, शान्ति०, 86/25-26।

+●——●+
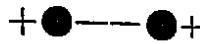
उपसंहार

याज्ञवल्क्य-स्मृति में तद्युगीन समाज की सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक सांस्कृतिक, वैधानिक, यत्किञ्चित सर्वक्षेत्रीय विचारधारा प्रतिबिम्बत होती है। इस स्मृति में न केवल विभिन्न भारतीय विचारधाराएं सन्निहित हैं अपितु इस स्मृति ने भारतीय विचारधारा के वैधानिक पक्ष को सर्वाधिक प्रभावित किया है। साथ ही भारतीय विचारधारा के अन्य पक्ष भी इससे प्रभावित होते रहे हैं।

स्मृति-साहित्य भारतीय धर्मशास्त्र का एक महत्वपूर्ण अंग है। स्मृति का तात्पर्य स्मरण एवं प्रत्यास्मरण आदि से है। स्मृति स्मरण का विषय है और यह परम्परागत रूप से चला आ रहा धार्मिक साहित्य है। स्मृतियों की कोई निश्चित संख्या नहीं मिलती है। याज्ञवल्क्य-स्मृति से बीस धर्मशास्त्र प्रणेताओं की सूचना मिलती है। पी० बी० काणे स्मृतियों की संख्या 100 के लगभग बताते हैं। विद्वानों में इस स्मृति के प्रणेता के विषय में मतभेद है। यह याज्ञवल्क्य या उनके किसी शिष्य द्वारा प्रणीत मानी जाती है। इसका काल भी विवादास्पद है। इस दिशा में पी० बी० काणे का मत समीचीन प्रतीत होता है। उनके अनुसार इसे प्रथम शताब्दी ईसापूर्व से तीसरी शताब्दी ईसवी में रख सकते हैं। गणेश, ग्रहों की पूजा, ताम्रपत्र लेख, बौद्ध मत का खण्डन, शरीर रचना एवं चिकित्सा से सम्बन्धित बातों में मनु तथा याज्ञवल्क्य में मतभेद है। यह याज्ञवल्क्य-स्मृति के अधिक विकसित और नूतन परिस्थितियों में प्रणीत होने के द्योतक हैं। जो सामग्री इन दोनों स्मृतियों में पायी जाती हैं, उनमें भी याज्ञवल्क्य में मनु की अपेक्षा अधिक सूक्ष्मता और स्पष्टता मिलती है।

प्राचीन भारतीय विचारकों ने समाज को सुव्यवस्थित एवं सुसंगठित ढंग से चलाने के लिए वर्णाश्रम-धर्म की व्यवस्था दी है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र ये चार वर्ण थे जिनमें से प्रथम तीन द्विज कहलाते थे। ब्राह्मणों का मुख्य कार्य पठन-पाठन एवं यज्ञ आदि करना था। क्षत्रियों का मुख्य धर्म प्रजा की रक्षा करना था। कृषि, वाणिज्य एवं व्यापार आदि वैश्यों का कार्य माना जाता था। याज्ञवल्क्य ने ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं यति या संन्यास धर्म का भी उल्लेख किया है। व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और आध्यात्मिक विकास हेतु चारों आश्रमों की व्यवस्था की गई थी। इनका लक्ष्य समाज कल्याण करते हुए मोक्ष प्राप्त करना था।

स्त्रियों का समाज में ऊंचा स्थान था, परन्तु उन्हें सब तरह से नियंत्रित रहना पड़ता था। चरित्रवान स्त्रियों का समाज में अत्यधिक आदर था। वे सब तरह से पवित्र मानी जाती थीं। मनु का कथन है कि "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।" तद्युगीन समाज में ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस तथा पैशाच-ये आठ प्रकार के विवाह प्रचलित थे। जन्म से मृत्यु तक के प्रायः सभी संस्कारों का

परिपालन होता था। अच्छे संस्कारों से ही व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र का उत्थान होता था।

समाज में संयुक्त परिवार प्रथा प्रचलित थी। इसके मुख्य सदस्य माता, पिता, भाई-बहन, पुत्र, कन्या, वधू, पौत्र, प्रपौत्र आदि थे। संयुक्त परिवार प्रणाली में पिता परिवार को सुव्यवस्थित ढंग से चलाता था। उसके संरक्षण में ही परिवार के सभी सदस्य नियंत्रित रहते थे। पिता की मृत्यु के बाद सभी भाई उसकी सम्पत्ति एवं ऋण के बराबर-बराबर के भागीदार होते थे।

भारतीय संस्कृति में भोजन-पान का महत्त्व वैदिक काल से ही चला आ रहा है। समाज में दो प्रकार के भोजन वर्ग प्रचलित थे—शाकाहारी और मांसाहारी। शाकाहारी गेहूं, जौ, घृत एवं दूध से बनाया गया भोज्य पदार्थ ग्रहण करते थे। मधु का भी प्रयोग आगत अतिथियों के लिए किया जाता था। फलों का भी सेवन होता था। फलाहार वानप्रस्थी का मुख्य भोजन था। समाज में मांसाहार भी प्रचलित था। याज्ञवल्क्य ने पंचनख वाले जीवों को भक्षण योग्य बताया है। श्राद्ध, यज्ञ, उत्सव आदि विशेष अवसरों पर ही मांस भक्षण का विधि विधान किया जाता था। ब्राह्मण भी श्राद्ध आदि में मांस खाते थे। वर्जित पशु-पक्षियों का मांस नहीं खाया जाता था। समाज में सहभोज की प्रथा प्रचलित थी। लोग जल, दुग्ध एवं मद्य आदि पेय पदार्थों का भी प्रयोग करते थे। उत्सव, पर्व, आदि के अवसर पर मद्य का सेवन विशेष रूप से होता था। समाज में ऊनी, सूती, वल्कल, रेशमी एवं चर्म वस्त्रों का प्रयोग होता था। वानप्रस्थी एवं संन्यासी मृग-चर्म का प्रयोग विशेष रूप से करते थे। स्त्री एवं पुरुष दोनों आभूषण का प्रयोग करते थे। आभूषण सोना, चांदी, मणि आदि धातुओं से बनाये जाते थे।

समाज में मनोरंजन का महत्त्व मान्य था। लोग गायन-वादन, नृत्य, मृगया, द्यूत आदि द्वारा मनोरंजन करते थे। कलात्मक मनोविनोद में लोग क्रीड़ा, खेल-कूद, उत्सव-महोत्सव आदि का आयोजन भी करते थे। समाज में अन्यान्य प्रकार के मनोरंजन के साधन उपलब्ध थे, जिनका लोग अपनी रुचि के अनुसार अनुगमन करते थे तथा अपने को सर्वदा स्वस्थ बनाये रखते थे।

प्राचीन भारतीय समाज में चरित्र निर्माण तथा धार्मिक कार्यों के सम्पादन के लिए शिक्षा को अनिवार्य माना जाता था। मनुष्य और समाज का आध्यात्मिक एवं बौद्धिक विकास शिक्षा के द्वारा ही सम्भव माना जाता रहा है—विद्या से ही मनुष्य शिल्प में निपुणता प्राप्त करता है। याज्ञवल्क्य के समय में शिक्षा-दीक्षा गुरु के आश्रम में दी जाती थी। धन लेकर पढ़ाने वाले अध्यापक हेय दृष्टि से देखे जाते थे। आन्वीक्षिकी (आत्म विद्या), दण्ड-नीति (योगक्षेमोपयोगी), त्रयी एवं वार्ता को विद्या बताया गया है।

याज्ञवल्क्य का मन्तव्य है कि आध्यात्म ज्ञान में दक्ष व्यक्ति जो कुछ कहता है

वह सब धर्म है। धर्म एक ऐसा मित्र है जो मरने के बाद भी व्यक्ति का साथ नहीं छोड़ता। याज्ञवल्क्य ने नैतिक धर्म का प्रतिपादन किया है। नैतिक या मानव धर्म में सत्य, अहिंसा, संयम, क्षमा, विद्या, चोरी न करना, आक्रोश न करना आदि आते हैं। आचार्य इस बारे में एक मत हैं कि आपत्तिकाल में सामान्य एवं विशिष्ट धर्म में परिवर्तन करने पर भी व्यक्ति को दोष नहीं लगता। पातक दोष से मुक्ति पाने के लिए प्रायश्चित्त का विधि-विधान किया जाता था।

राज्य का मेरुदण्ड वार्ता थी। वार्ता का सम्बन्ध कृषि, पशुपालन एवं वाणिज्य से था। कृषि आदि की अच्छी व्यवस्था थी। बीज परीक्षण के बाद बोया जाता था। पशुपालन आर्थिक जीवन का मुख्य आधार था। पशुपालन की दशा अच्छी थी। इससे ज्ञात होता है कि लोग सुखी एवं समृद्ध थे। व्यापार उन्नत दशा में था। विदेशों से भी व्यापार होता था। वस्तुओं के मूल्य निर्धारण एवं मापतौल पर राज्य की ओर से विशेष ध्यान दिया जाता था। बनाये गये नियम का परिपालन न करने पर व्यवसायी राजा द्वारा दण्डित भी किये जाते थे।

प्राचीन भारतीय आचार्यों ने राज्य की परिकल्पना सप्तांग के रूप में की है। याज्ञवल्क्य ने राजा, आमात्य, जन, दुर्ग, कोश, दण्ड और मित्र, इन सात राज्यांगों का उल्लेख किया है। इन्हें प्रकृति भी कहा गया है। सप्तांगों के सम्मिलित रूप से ही राज्य की स्थिति मान्य थी। राजा राज्य का प्रधान होता था। इसलिए उसमें उत्साह, महान लक्ष्य, सेवा, सत्यभाषी, कुलीनता, पवित्रता, आदि सद्‌गुण होना अनिवार्य था। राजा सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं संवैधानिक कार्यों को अपने बुद्धि-विवेक, शौर्य एवं पराक्रम से सम्पन्न करता था। उचित सलाह के लिए राजा एक मंत्रिपरिषद् का गठन करता था। याज्ञवल्क्य तथा अन्य आचार्यों ने मंत्रियों की मंत्रणा को ही राज्य का मूल माना है। राजा मंत्रिपरिषद् की स्वीकृति व सहयोग के बिना कार्य प्रायः नहीं करता था। राज्य की समस्त कार्य प्रणाली के विषय में राजा को उचित परामर्श देना मंत्रियों का प्रमुख कार्य माना जाता था। राजा स्वयं आय-व्यय का हिसाब देखता था। ब्राह्मण सम्भवत: कर मुक्त थे। उनका 1/6 भाग करके रूप में लिया जाता था। व्यापार, शिल्प, पशुकर, जुआ, सन्तरण, अर्थदण्ड आदि से आय होती थी। आय का अधिकांश भाग सेना, युद्ध एवं लोक हितकारी कार्यों में व्यय होता था।

शासन सहाय साध्य है। प्रशासन की सुविधा की दृष्टि से राज्य अनेक उपभागों में विभाजित कर दिया जाता था। केन्द्रीय शासन का सर्वोच्च अधिकारी राजा होता था। समाहर्त्ता के अधीन अनेक अध्यक्ष होते थे जो अपने-अपने विभाग के राजकीय करों को एकत्रित करते थे, तथा व्यापार, व्यवसाय आदि का संचालन नियंत्रण करते थे। प्रशासन को सुव्यवस्थित ढंग से चलाने के लिए गुप्तचर विभाग की व्यवस्था की गई थी। याज्ञवल्क्य ने जनपद प्रशासन का उल्लेख किया है। ग्राम प्रशासन एवं

कुल श्रेणी, गण आदि अन्य संस्थाओं का भी उल्लेख है। छोटी बड़ी प्राय: सभी प्रशासनिक संस्थाएं सुव्यवस्थित एवं सुसंगठित ढंग से कार्य करती थीं।

राजा न्याय-व्यवस्था का प्रधान होता था। उसकी दैनिक परिचर्या में न्याय को स्थान दिया गया है। वह प्रधान न्यायाधीश (प्राड्विवाक) तथा धर्म एवं नीतिशास्त्र के ज्ञाता, सभ्यों की सहायता से न्याय करता था। न्याय में पक्षपात नहीं होता था। अपराधियों के साथ रियायत नहीं बरती जाती थी। बल्कि उन्हें अपराध के अनुसार कठोर दण्ड दिया जाता था। आर्थिक एवं शारीरिक दोनों प्रकार के दण्ड व्यवहृत थे।

प्राचीन भारतीय आचार्यों ने राज्य को उनके आपसी सम्बन्धों के आधार पर चार भागों में विभक्त किया है—शत्रु, मित्र, मध्यस्थ और उदासीन। किन्तु याज्ञवल्क्य ने मध्यस्थ को छोड़कर शेष तीन प्रकार के राज्यों का ही उल्लेख किया है। इन सम्बन्धों के निर्धारण में चतुरुपाय (साम, दान, भेद एवं दण्ड) और षाड्गुण्य (संधि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय, द्वैधीभाव) आदि का विशेष महत्त्व था। इनसे परिचित रहना राजा के लिए आवश्यक था। यह सब मण्डल सिद्धान्त की व्यवस्था के अन्तर्गत माने जाते थे। मण्डल को द्वादश राजमण्डल भी कहा जाता था, क्योंकि इसमें बारह प्रकार के राज्य अनुमानित थे। गुप्तचरों एवं दूतों के माध्यम से अन्तर्राज्य सम्बन्धों एवं तत्सम्बन्धी नीति का निर्धारण किया जाता था।

+●——●+
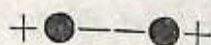
परिशिष्ट

याज्ञवल्क्य-स्मृति : शरीरतन्त्र एक अध्ययन

भारतीय धर्म एवं चिकित्सा-शास्त्र के प्रणेता प्राचीन ऋषि-महर्षियों ने अपने चिर-कालिक सत्य, निष्ठा, योग एवं तपस्या के द्वारा सम्पूर्ण मानव समाज के कल्याण के लिए शास्त्रों की रचना की थी। इसके द्वारा व्यक्ति पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष) को प्राप्त करता है। ऋषि-महर्षियों का मुख्य लक्ष्य मानव समाज का उत्थान करना रहा है। हमारे आचार्य त्रिकालद्रष्टा थे। वे भूत-भविष्य को वर्तमान की भांति प्रत्यक्ष कर अपनी पवित्र भावना को लोककल्याण के लिए सिद्धान्त रूप में शारीरिक आवश्यकताओं से जोड़ देते थे। उनकी सर्वज्ञता का परिचय हमें अन्यान्य स्थलों पर प्राप्त होता है।[1] डॉ० पी०वी० काणे के अनुसार यह स्मृति ईस्वी सन् की प्रथम दो शताब्दियों के मध्य अथवा इससे भी कुछ पहले लिखी गई होगी।[2] मानव धर्म पर लिखी गई यह कृति भारत की प्राचीन सामाजिक एवं वैधानिक पद्धति को प्रतिबिम्बित करती है। स्मृतियों में मनुस्मृति सबसे महत्वपूर्ण मानी जाती है, किन्तु शरीर-तन्त्र की दृष्टि से याज्ञवल्क्य-स्मृति उससे भी महत्वपूर्ण मानी जाती है। याज्ञ-वल्क्य ने प्रायश्चित्त अध्याय के यति प्रकरण में शरीर सम्बन्धी वर्णन किया है, जिससे उनके शरीर-सम्बन्धी ज्ञान का बोध होता है। उनकी बहुज्ञता इसी से सिद्ध होती है।

जीवात्मा का शरीर धारण विषयक वर्णन

ऋतुस्नाता स्त्री में पुरुष का नियोग होने पर शुद्ध शुक्र एवं रज के सम्यक् योग से पंचतत्वों के अतिरिक्त एक छठी आत्मा स्थूल रूप ग्रहण करता है। विशुद्ध शुक्र-स्फटिकमणि के सदृश थोड़ी नीलिमायुक्त श्वेत और तरल, थोड़ा चिकना, मधुर तथा मधु के समान गन्ध वाला होता है। शुद्धार्त्तव खरगोश के रक्त के समान वर्ण वाला और गाढ़ा होता है अथवा लाख के पानी के रंग का होता है। यह वस्त्र पर सूख जाने के बाद वस्त्र धोने पर साफ-साफ छूटता है। इससे वस्त्र पर दाग नहीं पड़ता। उपर्युक्त ऐसे ही शुक्र और आर्त्तव सन्तानोत्पत्ति में समर्थ होते हैं।[3]

शुक्र-शोणित से युक्त शरीर का क्रमशः विकास

पंचभूतों से युक्त वह छठा जीवात्मा क्रमशः तत्वों के प्रभाव से प्रथम मास में गर्भ में द्रव रूप में विद्यमान रहता है। द्वितीय मास में अर्बुद सदृश (कुछ कठिन) रूप धारण करता है। तृतीय मास के प्रारम्भ होने पर वह पिण्ड अंगों एवं इन्द्रियों से युक्त होता है। तृतीय मास में ही वह आकाशीय अंश के कारण शब्द-ग्रहण तथा कुछ इधर-उधर हिलना-डुलना प्रारम्भ करता है। इसी प्रकार जल से रसनेन्द्रिय अंगों की शीत-

लता आदि, तेज से दृष्टि-शक्ति, पाचन, उष्णता आदि, वायु से स्पर्शेन्द्रिय की चेष्टा आदि, पृथ्वी से घ्राणेन्द्रिय की गन्ध-ग्रहण एवं गुरुता आदि प्राप्त होता है, किन्तु यह सर्व-सम्मत है कि तृतीय मास के पूर्व गर्भ-धारण के समय से ही पंच-तत्वों के कार्य जीवात्मा के संयोग से प्रारम्भ हो जाते हैं। अस्तु शनैः-शनैः कार्य करते हुए तृतीय मास में स्पष्ट हो जाते हैं।[4]

चतुर्थ मास में गर्भ-शिशु के अंगों में स्थिरता आती है। पांचवें मास रक्त उत्पन्न होता है। छठें में बल-वर्ण तथा रोम उत्पन्न हो जाते हैं। पांचवे मास में रक्त एवं मांस की वृद्धि के कारण गर्भिणी इस मास में दुर्बल हो जाती है। छठें में शिशु के बल-वर्ण की अभिवृद्धि के कारण ही गर्भिणी के बल-वर्ण की हानि होती है।[5]

गर्भिणी स्त्री दौहृद की अवस्था चौथे मास में धारण करती है क्योंकि चेतना का स्थान हृदय ही होता है। इसलिए चौथे मास में गर्भ इन्द्रियों के विषयों की चाह या इच्छा करने लगता है। गर्भिणी स्त्री को दो हृदय वाली होने से दौहृद कहते हैं। दौहृद की इच्छाओं की पूर्ति न होने से सन्तान कुरूप, लूली, लंगड़ी, कुबड़ी उत्पन्न होती है। जो व्यक्ति सुन्दर सन्तान की कामना करता हो, उसे गर्भिणी की सम्पूर्ण इच्छाओं की पूर्ति अवश्य करनी चाहिए। इससे सन्तान प्रभावशाली और दीर्घजीवी होती है।[6]

सातवां मास पूर्ण होने पर यह गर्भ सब प्रकार से पूर्ण शरीर वाला होता है। गर्भ पुष्टि से इस मास में गर्भिणी पूर्व की अपेक्षा कृश होते हुए उदास रहती है। गर्भस्थ शिशु सातवें मास में मन एवं चेतना को प्राप्त करता है। वह उसी समय नाड़ी तथा शिराओं से युक्त या परिपूर्ण होता है। आठवें मास के प्राप्त होने पर यह बच्चा त्वचा-मांस के साथ ही स्मृति शक्ति को धारण करता है।[7] इसका समर्थन चरक ने भी किया है।[8]

आठवें मास में रसवाहिनी के द्वारा ओज गर्भिणी के हृदय से गर्भ में बार-बार आता-जाता रहता है। इस अवस्था में गर्भ पूर्ण रूप से पुष्ट नहीं रहता। इस ओज के आने-जाने का प्रभाव है कि आठवें मास में गर्भिणी उदास एवं प्रसन्न हुआ करती है। इस मास में यदि बालक का जन्म होता है तो वह संकटपूर्ण रहता है। ओज की अस्थिरता के नाते भी यह स्थिति उत्पन्न होती है।[9] आधुनिक दृष्टि से भी यह समय बालक के लिए घातक होता है। इस समय प्राण-शक्ति की न्यूनता रहती है। बालक की वृषण ग्रन्थियां कभी-कभी एक ही कोष में चली जाती हैं। इन सब व्यवधानों से ही बालक की उत्पत्ति के लिए आठवां मास निषिद्ध कहा गया है। यह गर्भिणी एवं गर्भ के लिए प्राणघातक माना जाता है।

आठवां मास समाप्त होने पर नवें मास से लेकर दसवें मास तक का काल प्रसव के लिए सर्वोत्तम माना गया है। इन्हीं मासों में बच्चा वायु के वेग के कारण छोड़े गए बाण के समान तीव्र वेग से गर्भाशय से बाहर आता है।[10]

गर्भस्थ शिशु में छः प्रकार की त्वचाएं होती हैं। ये त्वचाएं ही शरीर को सन्तुलित रूप से धारण करती हैं। ये निम्न प्रकार की हैं—

शरीर के ऊपरी भाग की त्वचा जलीयांश को धारण करती है। दूसरी त्वचा शरीर के रक्त को धारण करती है। इस त्वचा के कारण शरीर से बाहर रक्त बह नहीं पाता है। तृतीय त्वचा में बाहरी चर्म रोग उत्पन्न होते हैं। चौथी त्वचा में सभी प्रकार के कुष्ठ उत्पन्न होते हैं। पांचवीं त्वचा में विद्रधि उत्पन्न होती है। छठी त्वचा वह है, जिसके कट जाने पर मनुष्य अपने को अन्धकार में प्रविष्ट समझता है। ये छः प्रकार की त्वचाएं षड् अंग शरीर को व्याप्त किये रहती हैं।[11]

शरीर की अस्थियों का वर्णन

दांत 32, दन्तलूखल 32, नख 20, हाथ-पैर की अस्थियां 60, पैर की शलाकास्थियां 20, हाथ-पैर की अंगुलियों के आश्रयभूत 4, एड़ी की अस्थियां 2, अरत्नि की 4, पैर में गुल्फ की अस्थियां 4, जंघास्थियां 4, जान्वस्थियां 2, बांह की नलीकास्थियां 2, जानुपाल की 2, उर्वस्थि (जलकास्थियां) 2, अंश की अस्थियां 2, अंशफलक 2, अक्षकास्थि 2, जनु की अस्थि 1, तालु की 2, श्रेणी फलक 2, भगास्थि 1, पृष्ठवंश की अस्थियां 45, गरदन की अस्थियां 15, वक्षस्थल की 14, दोनों पार्श्वों में पशुकास्थियां 24, पशुकाओं में लगे हुए स्थालक 24, स्थालकार्बुद 24, हन्वस्थि 1, हनुमूल को बांधने वाली 2, नासिकास्थि 1, गण्ड कूटस्थि 1, ललाटस्थि 1, शंखस्थियां 2, शिर की कपालास्थियां 4। इस प्रकार पूरे शरीर की सारभूत अस्थियां 360 हैं।[12] ठीक इसी तरह का विचार चरक संहिता में भी व्यक्त किया गया है।[13] इस सम्बन्ध में डॉ हार्नले की समीक्षा अवलोकनीय है।[14]

दशेन्द्रिय-वर्णन

इन्द्रियों के दस स्थान हैं। त्वचा, जिह्वा, नासिका, नेत्र और कर्ण इन्हें बुद्धीन्द्रियां कहते हैं। स्पर्शेन्द्रिय (त्वचा), रसेन्द्रिय (जिह्वा), गन्धेन्द्रिय (नाक), दर्शनेन्द्रिय (नेत्र), श्रोत्रेन्द्रिय (कर्ण) ये ज्ञानेन्द्रियां हैं। इन इन्द्रियों के विषय में आसक्ति ही पुरुष के लिए बन्धन कहा गया है। कर्मेन्द्रियां भी पांच प्रकार की होती हैं—हाथ, पैर, गुदा, मूत्रेन्द्रिय, वाक। 11वीं इन्द्रिय मन को कहते हैं। यह मन ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों है। मन के संयोग के बिना कोई भी इन्द्रिय अपने विषय का ज्ञान नहीं कर सकती है। विषय ज्ञान के लिए इन्द्रियों का दोषरहित होना आवश्यक है। जैसे बधिर ध्यान देने पर भी शब्द नहीं सुन पाता है।[15]

शरीर में प्राण का स्थान

प्राण प्रधान रूप से शरीर के कुछ विशिष्ट स्थानों में ही रहता है। ये स्थान नाभि, ओज, गुदा, शुक्र, रुधिर, दोनों शंखक (अण्डकोश) मूर्धा, कण्ठ और हृदय हैं। वैसे तो सम्पूर्ण शरीर में प्राण व्याप्त रहता है पर हृदय में प्राण पूर्णतया निवास करता है। प्राण के निवास स्थान को ही मर्म कहा जाता है। जहां आघात होने पर शरीर का शीघ्र विनाश हो जाता है। ये दस स्थान ही प्राण के मुख्यतः आश्रय-स्थल हैं।[16]

शिरा-स्नायु धमनियों एवं पेशियों का वर्णन

शिरायें सात सौ हैं। इन शिराओं के द्वारा शरीर में रक्त आवश्यकतानुसार बहा करता है। अंग-प्रत्यंगों और जोड़ों को बांधने वाली स्नायुओं की संख्या नौ सौ है। धमनियां शाखाभेद से दो सौ हैं। शिरा और धमनियां मिलकर सम्पूर्ण शरीर में शाखा-प्रशाखा भेद से उन्नीस लाख नौ सौ छप्पन होती हैं। शरीर के सम्पूर्ण बालों की संख्या तीन लाख है। शरीर में मर्मों की संख्या एक सौ सात है एवं अस्थियों के जोड़ दो सौ है।[17]

शरीर में रसादि की मात्रा

शरीर में पचे हुए आहार का रस पूरे शरीर में नव अंजलि प्रमाण में रहता है। जल की मात्रा दस अंजलि है। मल सात अंजलि, रक्त आठ अंजलि, श्लेष्मा छः पित्त पाँच, मूत्र चार, वसा तीन, मेदस दो और मज्जा एक अंजलि होती है। विशेषतः आधी अंजलि प्रमाण की मज्जा शिरा में रहती है। आधी अंजलि प्रमाण की मज्जा शिर में रहती है। आधी अंजलि श्लेष्मसार, वीर्य आधी अंजलि होता है। यह मात्रा स्वस्थ व्यक्ति में ही होती है। जिसके दोष, धातु, मल साम्यावस्था में हों, वही व्यक्ति स्वस्थ कहलाता है।[18]

उपर्युक्त उल्लेखों से ज्ञात होता है कि याज्ञवल्क्य का शरीर सम्बन्धी ज्ञान एक महान् आयुर्वेदज्ञ के समान है। इनकी तुलना चरक ऋषि से की जा सकती है। चरक ऋषि एवं योगी याज्ञवल्क्य ये दोनों वैशम्पायन ऋषि के शिष्य थे। यह अन्यान्य प्राचीन ग्रंथों से प्रमाणित है। याज्ञवल्क्य-स्मृति और चरक-संहिता में शरीर सम्बन्धी उल्लेख एक ही समान है। चरकसंहिता से यह विषय याज्ञवल्क्य-स्मृति में लिया गया है। दार्शनिक तथ्य भी इस बात की पुष्टि करते हैं।[19] शरीर सम्बन्धी तथ्यों का वैद्यक ग्रन्थ से ही लिया जाना समीचीन एवं युक्तियुक्त प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त 360 अस्थियों का निर्धारण ब्राह्मण काल से ही चला आ रहा है।[20] ब्राह्मण-ग्रन्थों से यह भी सूचना मिलती है कि यदि किसी मृत पुरुष का शरीर प्राप्त न हो तो 360 पलाश के पत्तों से उसका पुतला बनाकर अन्त्येष्टि संस्कार करें।[21] इससे यह भी ज्ञात होता है कि अग्निवेश-संहिता में भी ऐसा ही होना चाहिए, क्योंकि भेलसंहिता में भी अस्थियों की संख्या इतनी ही है। मनुस्मृति में अस्थियों का ऐसा उल्लेख नहीं मिलता। यदि ब्राह्मण-ग्रन्थों से लेने की बात होती है तो मनुस्मृति में भी समान रूप से यह विवरण मिलना चाहिए। इससे भी यह प्रमाणित होता है कि चरक-संहिता से ही याज्ञवल्क्य ने इस अंश को लिया था। चरक मनु के समकालीन (दूसरी शती ई०पू०) थे। चरक तथा मनु में जो विषयगत साम्य देखने को मिलता है, वह समकालीन विचारधारा के कारण सम्भव है।

सुश्रुत के भी कुछ तथ्य याज्ञवल्क्य में मिलते हैं—यथा 107 मर्म। इससे ज्ञात होता है कि याज्ञवल्क्य-स्मृति से पूर्वसुश्रुत की रचना हो चुकी थी, किन्तु अस्थियों की संख्या याज्ञवल्क्य ने सुश्रुतानुसार 300 न देकर चरक के अनुसार 360 दी है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि चरकसंहिता से याज्ञवल्क्य-स्मृति का यह अंश पूर्णतया प्रभावित था।

संदर्भ एवं टिप्पणियां

1. प्रज्ञा, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका, अंक 23, (भाग-2), एवं 24 (भाग-1), वर्ष 1978, सुरेश्वर द्विवेदी, पृ० 305।
2. पी०वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-1, पृ० 187।
3. स्त्रीपुंसयोस्तु संयोगे विशुद्धे शुक्रशोणिते ।
   पंचधातून् स्वयं षष्ठ आदत्ते युगपत्प्रभुः ।। याज्ञ०, 3/72।
4. याज्ञ०, 3/75; तृतीये मासिसर्वेन्द्रियाणि सर्वाङ्गगावयवाश्च यौगपद्येनाभिनिर्वर्तन्ते ।। चरकसंहिता, अध्याय 4/9-11।
5. याज्ञ०, 3/80; चरकसंहिता, भाग-1, अध्याय 4/20-22।
6. याज्ञ०, 3/79; सा यद्यदिच्छेत्तत्तदस्यै दद्यादन्यत्र गर्भोपघातकरेभ्यो भावेभ्यः। चरकसंहिता, अध्याय 4/17।
7. मनश्चैतन्ययुक्तो सौ नाड़ीस्नायुशिरायुतः।
   सप्तमे चाष्टमे चैव त्वङ्मांसस्मृतिमानपि ।। याज्ञ०, 3/31।
8. सप्तमे मासि गर्भः सर्वैभविराप्याय्यते।
   तस्मात्तदा गर्भिणी सर्वाकारैः क्लान्ततमा भवति। चरकसंहिता, भाग-1, अध्याय 4/23।
9. पुनर्धात्रीं पुनर्गर्भमोजस्तस्य प्रधावति।
   अष्टमे मास्यतो गर्भो जातः प्राणैर्वियुज्यते। याज्ञ०, 3/82; चरक संहिता, अध्याय 4/24।
10. नवमे दशमे वापि प्रबलैः सूतिमारुतैः।
    निःसार्यते बाण इव यन्त्रच्छिद्रेण सज्वरः ।। याज्ञ०, 3/83; चरकसंहिता, अध्याय 4/25।
11. तस्य षोढा शरीराणि षट् त्वचो धारयन्ति च।
    षडङ्गानि तथा स्थ्यां च षष्ठ्या शतत्रयम् ।।
    याज्ञ०, 3/84; चरकसंहिता, अध्याय 7/4-5।
12. द्वौ शङ्खकौ कपालानि चत्वारि शिरसस्तथा।
    उरः सप्तदशास्थीनि पुरुषस्यास्थिसंग्रहः ।। याज्ञ०, 3/85-90।
13. चरकसंहिता, अध्याय 7/6
14. हार्नले, स्टडीज इन दि ऐन्सियण्ट इण्डिया, वाल्यूम-प्रथम।
15. याज्ञ०, 3/92-93; चरकसंहिता, अध्याय 7/7।

16. नाभिरोजो गुदं शुक्रं शोणितं शङ्खकौ तथा ।
मूर्धासकण्ठहृदयं प्राणस्यायतनानि तु ॥ याज्ञ०, 3/93; चरक संहिता, अध्याय 7/9; डॉ० जे० डी० शर्मा, सुश्रुत-संहिता, शारीरस्थानम्, पृ० 152-158 ।
17. याज्ञ०, 3/100-102; चरक सहिता, अध्याय 7/14 ।
18. याज्ञ०, 3/105-107,; चरक संहिता, अ० 7/15 ।
19. चरकसंहिता, 1/140; याज्ञ०; 3/202-203; चरकसंहिता, 1/8; याज्ञ०, 1/120-130; चरकसंहिता, 1/53; याज्ञ०, 3/125; चरकसंहिता, 1/43-55; याज्ञ०, 3/146-148 ।
20. शतपथब्राह्मण, 10/5/4/12; 12/3/2 ।
21. ऐतरेय ब्राह्मण, 2/2 ।

+●——●+
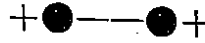
संदर्भ-ग्रन्थ-सूची

अथर्ववेद	: निर्णय सागर प्रेस बम्बई, 1895-1898। अंग्रेजी अनुवाद, ग्रिफिथ, आर०टी०एच०। हिम्स ऑफ अथर्ववेद, चौखम्भा संस्कृत सी०, 1968।
अमरकोष	: मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1966-68।
अर्थशास्त्र	: (अंग्रेजी अनुवाद) कांगले, आर० पी० यूनिवर्सिटी ऑफ बाम्बे, 1963। (हिन्दी अनुवाद), गैरोला वाचस्पति, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, 1952।
अष्टादश-स्मृति	: (भाषा अनुवाद) लाला श्यामसुन्दर वेंकटेश्वर, स्टीम प्रेस, बम्बई, 1908।
अपरार्क	: याज्ञवल्क्य-स्मृति पर भाष्य, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, 1903-41।
अपरादित्य	: अपरार्क, याज्ञवल्क्य-स्मृति पर भाष्य, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना, 1903-04। (दो भागों में)।
अंगुत्तर निकाय	: महाबोधि सभा, कलकत्ता।
अत्रि-संहिता	: कलकत्ता, 1908।
अस्त्रि-स्मृति	: आनन्दाश्रम, पूना।
अष्टाध्यायी	: रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर, 1964-68।
अभिज्ञान शाकुन्तल	: बम्बई, 1961 ई०।
अग्निपुराण	: सं० राजेन्द्र लाल मित्र, बिब्लिओथिका इण्डिका कलकत्ता, 1873-79; आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, 1900।
आपस्तम्ब-धर्मसूत्र	: चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1969।
आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र	: चौखम्बा संस्कृत प्रकाशन, वाराणसी, 1928।
आश्वलायन-गृह्यसूत्र	: सं०, ए०एफ० स्टेजलर, लिपजिग, 1864।
आश्वलायन-श्रौतसूत्र	: सं० आर० विद्यारत्न, कलकत्ता, 1864।
आचारांग-सूत्र	: आगमोदय समिति, सूरत, 1935।
आदिपुराण	: बनारस, 1951।
औपपातिक-सूत्र	: टीका अभयदेव कृत, द्वितीय-संस्करण, वि० सं० 1914।
ऐतरेय-ब्राह्मण	: त्रिवेन्द्रम, 1942।
ऋग्वेद	: वैदिक शोध संस्थान, पूना, 1937-1946।

कठोपनिषद् : निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1930

कथासरित्सागर : (अंग्रेजी अनुवाद), हवनी, सी०एच०, दिल्ली, 1968।

कल्पसूत्र : (अंग्रेजी अनुवाद), जैकोबी, एच०, सै०बु०इ०, जिल्द 22, वाराणसी, 1964।

कौषीतकि ब्राह्मण : लंदन, 1887।

कात्यायन-श्रौत्रसूत्र : चौखम्भा संस्कृत सीरीज प्रकाशन, 1928-29।

कामसूत्र : आर० एण्ड के० पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1967।

काशिका-वृत्ति : बनारस, 1931।

कामन्दक-नीतिसार : सं०, गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम, 1921।

कुमारसम्भव : सं०, एस० आर० सहगल, नवयुग पब्लिकेशन्स, जालन्धर, 1959।

कृत्यकल्पतरु : लक्ष्मीधरकृत, सं०, के०वी० रंगस्वामी आयंगर, बड़ौदा, 1941-53।

कादम्बरी : चौखम्भा संस्कृत सीरीज प्रकाशन, 1961, (द्वितीय संस्करण)।

काठक-गृह्यसूत्र : संपादक, डॉ० कलन्द, 1925।

गौतम-धर्मसूत्र : (अंग्रेजी अनुवाद) जार्ज बूलर, सै० बु० ई०, जिल्द-2, वाराणसी, 1965।

गोपथ-ब्राह्मण : कलकत्ता, 1972।

गोभिल-स्मृति : आनन्दाश्रम प्रेस, पूना, 1905।

गीता श्रीमद्भगवत् : चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1962।

गरुड़ पुराण : खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, 1906।

चरक-संहिता : चौखम्भा, विद्या भवन, वाराणसी, 1962।

चुल्लवग्ग : नालन्दा, 1956।

छान्दोग्य-उपनिषद् : निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1930; तथा गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० 1994।

जातक : कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, 1895-1907।

जैमिनीय-श्रौतसूत्र : डियूक गस्त्रा, लीडेन, 1906।

तैत्तिरीय-उपनिषद् : आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, 1929। (पंचम संस्करण); अंग्रेजी अनुवाद; मैक्समूलर, सं० बु० ई०, जिल्द 15, वाराणसी, 1965।

तैत्तिरीय-ब्राह्मण : आनन्दाश्रम, मुद्रणालय, पूना, 1934-38।

तैत्तिरीय-संहिता : भारत मुद्रणालय, औन्ध, 1945।

तैत्तिरीय-आरण्यक : सं०, हरिनारायण आप्टे, पूना, 1868।

तंत्रवार्तिक : कुमारिल भट्ट, मीमांसा दर्शन, शाबर भाष्य, आनन्दाश्रम, पूना।

थेरीगाथा : बम्बई, 1937।

दशवैकालिक सूत्र : बम्बई, 1918; 1954।

दीघनिकाय : पालि टैक्स्ट सोसायटी, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, 1890-1911।

दशकुमारचरित : बम्बई, 1917।

दक्ष-स्मृति : आनन्दाश्रम, पूना।

दीपकलिका : शूलपाणि, याज्ञवल्क्य,स्मृति पर भाष्य, बम्बई।

दिव्यावदान : मिथिला विद्यापीठ प्रकाशन, दरभंगा, 1958।

नारद-स्मृति : (अंग्रेजी अनुवाद), जार्ज जॉली, सै० बु० ई०, जिल्द 33, वाराणसी, 1965।

नीतिवाक्यामृत : हरिबलीया टीका, पन्नालाल सोनी, बम्बई, 1922।

नीतिशतक : सम्पादक: एच० डी० वैद्य, मथुरा, 1941।

नैषधीयचरित : बम्बई, 1907।

पारस्कर-गृह्यसूत्र : सम्पादक, गोपाल शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1926।

पराशर-स्मृति : श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1958।

पंचतन्त्र : पण्डित पुस्तकालय, काशी, 1958।

प्रज्ञापन-सूत्र : टीका, मलयगिरि, बम्बई, 1912-19।

पद्मपुराण : कलकत्ता, 1957, तथा गुरुमण्डल ग्रन्थमाला, 18।

प्रबोधचन्द्रोदय : कृष्णमिश्र, बम्बई, 1935।

पंचविंश ब्राह्मण : कलकत्ता, 1931।

बौधायन-धर्मसूत्र : चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी, 1934।

बुद्धचरित : आक्सफोर्ड, 1893।

बृहदारण्यक उपनिषद् : गीता प्रेस, गोरखपुर, संवत् 2012।

बृहस्पति-स्मृति : रंगस्वामी आयंगार, के० वी०, गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज 85, बड़ौदा, 1941।

ब्रह्माण्ड-महापुराण : श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1906।

बालक्रीड़ा : विश्वरूप, याज्ञवल्क्यस्मृति पर भाष्य, त्रिवेन्द्रम संस्कृत ग्रंथमाला, 1924।

ब्रह्मवैवर्त्तपुराण : श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1906 तथा कलकत्ता, 1955।
ब्रह्मसूत्र : शकर भाष्य, निर्णय सागर, बम्बई, 1915।
भरद्वाज-स्मृति : कलकत्ता, 1932-39।
भागवत-पुराण : श्रीधर टीका सहित, कलकत्ता।
भगवती सूत्र : आगमोदय समिति, बम्बई, 1921।
मनुस्मृति : (मेधातिथि भाष्यसहित), कलकत्ता, 1932-39।
मित्रमिश्र : वीरमित्रोदय, वाराणसी, 1906।
मार्कण्डेय-स्मृति : बिब्लियोथिका इंडिका, कलकत्ता।
महाभारत : भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना, 1933-66।
महावस्तु : पेरिस, 1882-1897।
मानसोल्लास : सोमेश्वर कृत, खण्ड 1, 2, गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज, बड़ौदा, 1924, 1939।
मालविकाग्निमित्र : बम्बई, 1935।
महाभाष्य (पतंजलिकृत) : सम्पादक, एफ० कीलहार्न, बम्बई।
मैत्रयणी-संहिता : भारत मुद्रणालय, औन्ध (सतारा), 1942।
महावग्ग : संपादक, भिक्खु जगदीश कश्यप, पालि पब्लिकेशन बोर्ड, बिहार गवर्नमेन्ट, 1956।
मत्स्यपुराण : आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, 1907।
याज्ञवल्क्य-स्मृति : निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1949 (पंचम संस्करण)।
रघुवंश : चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।
राजतरंगिणी : कल्हणकृत अनुवादक, आर० एस० पंडित, इलाहाबाद-1935 तथा बम्बई, 1982।
रत्नावली : हर्षकृत, मद्रास, 1945।
राजनीति प्रकाश : वीर मित्रोदय मित्रमिश्र, चौखम्बा प्रकाशन, बनारस, 1916।
वाल्मीकि रामायण : वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, कल्याण, बम्बई।
वशिष्ठ-स्मृति : आनन्द सागर संस्कृत ग्रन्थमाला, 48 के अन्तर्गत।
वृद्धहारीत-स्मृति : आनन्द सागर प्रेस, संस्कृत ग्रन्थमाला 48 के अन्तर्गत।
विष्णुस्मृति : बीस स्मृतियां, बरेली, 1966।
व्यास-स्मृति : कलकत्ता, 1976।
विष्णु धर्मोत्तर पुराण : वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई।

विष्णुपुराण : बम्बई, 1889, विल्सन, 5 भाग, लन्दन, 1864-70; गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० 2009।
वशिष्ठ-धर्मसूत्र : पूना, 1930।
विष्णु-धर्मसूत्र : संपादक. जॉली, कलकत्ता, 1881।
वंश-ब्राह्मण : मंगलोर, 1973।
विनयपिटक : अनुवाद रीज डेविड्स आक्सफोर्ड, 1881-85; पूना, 1905।
वाजसनेयि-संहिता : लन्दन, 1849-1852।
विपाक सूत्र : टीका, बड़ौदा, विक्रम सं०, 1922।
शतपथ ब्राह्मण : ए० वेवर, चौखम्भा प्रकाशन 1964, अनु०, जे० एगलिंग, सै० बु० ऑफ दि ईस्ट, वाल्यूम 17, 26, 41, 43, 44, ऑक्सफोर्ड, 1882-1900।
शुक्रनीतिसार : मिहिर चन्द्र, बम्बई, 1909; डॉ० बी० के० सरकार, सै० बु० ऑफ दि हिन्दूज, वाल्यूम 13, इलाहाबाद।
शांख्यायन-गृह्यसूत्र : दिल्ली, 1960।
शंख-स्मृति : आनन्दाश्रम पूना।
शुक्लयजुर्वेद-संहिता : निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1929।
शब्दकल्पद्रुम : राधाकान्तदेव, शब्दकल्पद्रुम, दिल्ली, 1961।
सूत्रकृतांग : टीका, वाराणसी, 1964।
स्मृति-संदर्भ : गुरुमण्डल ग्रन्थमाला प्रकाशन, कलकत्ता, 1952।
सुभाषितरत्न-भण्डार : खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, संवत् 1985।
सरस्वती-विलास : प्रतापरुद्र, डॉ० आर० श्यामशास्त्री, मैसूर, 1927।
समराइच्चकहा : हरिभद्रकृत, सं० हर्मट्ट जैकोबी, कलकत्ता, 1926।
संस्काररत्नमाला : गोपीनाथ भट्टकृत।
स्मृतिचन्द्रिका : जे० आर० धारपुड़े, पूना, 1946।
हस्त्यायुर्वेद : पालकाप्य मुनि।
हितोपदेश : सम्पादक, काशीनाथ पाण्डुरंग परब, बम्बई।
हर्षचरित : बम्बई, 1946।
सुश्रुत-संहिता : श्री वेंकटेश्वर मुद्रणालय, बम्बई, 1911।

सहायक-ग्रन्थ

अग्रवाल, वासुदेवशरण : पाणिनिकालीन भारतवर्ष, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, वि०सं० 2012।

—— : कादम्बरी एक सांस्कृतिक अध्ययन, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणासी, 1958।

—— : हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना, 1953।

अग्निहोत्री, प्रभुदयाल : पंतजलिकालीन भारत, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना, 1963।

अलतेकर, अ०स० : प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, 1959।

—— : राष्ट्रकूटाज एण्ड देयर टाइम्स, ओरियन्टल बुक एजेन्सी, पूना, 1967।

—— : गुप्तकालीन मुद्राएं, पटना, 1972।

—— : स्टेट एण्ड गवर्नमेंट इन ऐंसियन्ट इण्डिया, दिल्ली, 1958।

ओमप्रकाश : फूड एंड ड्रिंक्स इन ऐंसियन्ट इंडिया, मुंशीराम मनोहरलाल दिल्ली, 1961।

अवस्थी, रामाश्रय : खजुराहो की देव-प्रतिमाएं, ओरियन्टल पब्लिशिंग हाउस, सिविल लाइन आगरा, 1967।

अवस्थी, अवध विहारी लाल : गरुड़ पुराण एक अध्ययन, कैलाश प्रकाशन, लखनऊ, 1968।

अन्जारिया, जे०जे० : दि नेचर एंड ग्राउण्ड्स ऑफ पोलिटिकल ओबिलेगेशन इन दी हिन्दू स्टेट्स, लांगमेंस ग्रीन, 1935।

इलियट एंड डाउसन : हिस्ट्री ऑफ इंडिया ऐज टोल्ड बाई हर ओन हिस्टोरियन्स, वाल्यूम नं० 1 और नं० 2, लन्दन, 1866।

उपाध्याय, वासुदेव : प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, प्रज्ञा प्रकाशन, पटना, 1970।

उपाध्याय, वासुदेव : गुप्त साम्राज्य का इतिहास, (तृतीय संस्करण), इंडियन, प्रेस, इलाहाबाद, 1959।

उपाध्याय, रामजी : प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1966।

उपाध्याय, भगवतशरण : भारतीय कला और संस्कृति की भूमिका, रणजीत प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स, चांदनी चौक, दिल्ली, 1965।

काणे, पी०वी० : धर्मशास्त्र का इतिहास, हिन्दी अनुवाद (अनुवादक अर्जुन चौबे कश्यप), भाग-1, 2 तथा 3, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ।

—— : हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, वाल्यूम 1 से 5 तक भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना, 1930-62।

कपाडिया, के० एम० : मैरेज एण्ड फैमिली इन इंडिया, आक्सफोर्ड, 1955।

गोपीनाथ कविराज : अभिनन्दन ग्रन्थ, अखिल भारतीय संस्कृत परिषद् लखनऊ, 1967।

गोपाल लल्लनजी : इकोनामिक लाइफ ऑफ नार्दर्न इंडिया, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी।

घोषाल, यू० एन० : ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन पोलिटिकल आइडियाज, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1959 तथा 1966।

—— : हिन्दू पोलिटिकल थ्योरीज, कलकत्ता, 1923।

—— : कन्ट्रीब्यूशंस टू द हिस्ट्री ऑफ द हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम, कलकत्ता, 1929।

चक्रवर्ती, पी० सी० : आर्ट ऑफ वार इन ऐंसियन्ट इंडिया, यूनिवर्सिटी ऑफ ढाका, 1941।

चकलादार, एच० सी० : सोशल लाइफ इन ऐंसियन्ट इंडिया-स्टडीज इन कामसूत्र, बृहत्तर भारत परिषद् कलकत्ता, 1929।

चौधरी, गुलाबचन्द : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इण्डिया फ्राम जैन सोर्सेज (650-1300), सोहनलाल जैन धर्मप्रकाशक समिति, अमृतसर, 1963।

जैन, जगदीशचन्द्र : जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, चौखम्बा विद्या भवन, चौक, वाराणसी, 1965।

जैन, हीरालाल : प्राचीन भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, मध्य प्रदेश साहित्य परिषद् व्याख्यानमाला, भोपाल, 1963।

जैन, श्रीचन्द्र : हमारे पशु-पक्षी, आत्माराम एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली, 1967।

जैन, कैलाशचन्द्र : प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक-संस्थाएं, भोपाल, 1971।

जौहरी, मनोरमा : पालिटिक्स एड एथिक्स इन ऐंसियन्ट इण्डिया, वाराणसी, 1968।

—— : वर्णाश्रम-व्यवस्था, विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1968।

जॉली एंड जूलीयस : हिन्दू लॉ एण्ड कस्टम, कलकत्ता, 1928।

जायसवाल, के० पी० : हिन्दू पॉलिटी, बंगलौर, 1955।

—— : मनु एंड याज्ञवल्क्य, कलकत्ता, 1930।

ठाकुर, लक्ष्मीदत्त : प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, 1965।

तकाकुसु, जे० ए० : रिकार्ड्स ऑफ बुद्धिस्ट रिलीजन ऐज प्रैक्टिज्ड इन इण्डिया एंड मलाया आर्कीयेलागो गाई इत्सिग, आक्सफोर्ड, 1886।

त्रिपाठी, हरिहरनाथ : प्राचीन भारत में अपराध और दण्ड, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 1964।

—— : प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पटना, वाराणसी, 1965।

दत्ता, बी० एन० : हिन्दू लॉ ऑफ इनहेरिटेंस, कलकत्ता, 1967।

दीक्षितार : हिन्दू ऐडमिनिस्ट्रेटिभ इन्स्टीट्यूसन्स, मद्रास, 1939।

—— : वार इन ऐंसियन्ट इण्डिया, मद्रास, 1944।

दीक्षित, प्रेमकुमारी : महाभारत में राज्य-व्यवस्था, लखनऊ, 1970।

द्विवेदी, हजारी प्रसाद : प्राचीन भारत में कलात्मक मनोविनोद, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, 1958।

दूबे, सत्यमित्र : मनु की समाज-व्यवस्था, किताब महल, इलाहाबाद 1964।

दास, एम० के० : दि एजुकेशनल सिस्टम ऑफ दि ऐंसियन्ट हिन्दूज, कलकत्ता, मित्र प्रेस, 1923।

धर्मा, पी० सी० : रामायण पॉलिटी, मद्रास, 1941।

नियोगी, पुष्पा : कन्ट्रीब्यूशन्स टु दी इकोनामिक हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इण्डिया, प्रोगेसिव पब्लिशर्स, 1962।

प्राणनाथ : इकोनामिक कन्डीशन इन ऐंसियन्ट इण्डिया, लन्दन, 1932।

प्रभु पांटरिनाथ : हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन-लांगमेंस ग्रीन एंड कम्पनी, 1938।

पिगोट, स्टुअर्ट : प्री-हिस्टोरिक इण्डिया, लन्दन, 1952।

पाण्डेय, राजबली : हिन्दू संस्कार, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 1966।

—— : अशोक के अभिलेख, ज्ञान मण्डल संवत् 2022।

पाण्डेय, उमेशचन्द्र : भारतीय साहित्य, किताब महल, इलाहाबाद, 1968।

परमात्माशरण : प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं समस्याएं, मेरठ, 1967।

पुसालकर, ए० डी० एण्ड मजुमदार (सं०) : दि स्ट्रगल फार एम्पायर बम्बई, 1957 ।

—— : दी एज ऑफ इम्पीरियल कन्नौज, बम्बई, 1955 ।

पाण्डेय, एस० एल० : शुक्र की राजनीति, लखनऊ, 1952 ।

—— : कौटिल्य की राज्य-व्यवस्था, लखनऊ, 1956 ।

प्रसाद, बेनी : हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता, प्रयाग, 1931 ।

—— : थियरी ऑफ गवर्नमेंट इन ऐंसियन्ट इण्डिया, सेंट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद, 1968 ।

—— : दि स्टेट इन ऐंसियन्ट इण्डिया, इलाहाबाद, 1928 ।

बनर्जी, जे० एन० : डेवलपमेंट ऑफ हिन्दू आइक्नोग्रैफी, यूनिवर्सिटी ऑफ कलकत्ता, 1956 ।

बनर्जी, पी० एन० : पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन ऐंसियन्ट, इन्डिया लन्दन, 1916 ।

बाजपेयी, आम्बिका प्रसाद : हिन्दू राज्य शास्त्र, प्रयाग, 1941 ।

बाजपेयी, के० डी० : ज्योग्राफिकल इंसाइक्लोपीडिया ऑफ ऐंसियन्ट एण्ड मेडिवल इण्डिया, वाराणसी, 1967 ।

बाजपेयी, के० डी० : भारतीय व्यापार का इतिहास ।

—— प्राचीन भारत में संगठित जीवन, जबलपुर, 1966 ।

बाजपेयी, राघवेन्द्र : बार्हस्पत्य राज्य-व्यवस्था, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, संवत् 2023 ।

भट्ट, जर्नादन : अशोक के अभिलेख, पब्लिकेशन्स डिवीजन, दिल्ली, 1967 ।

भट्टाचार्य, सुखमय : महाभारतकालीन समाज, लोकभारती, इलाहाबाद, 1966 ।

भट्टाचार्य, रमाशंकर : इतिहास-पुराण का अनुशीलन, वाराणसी, 1963 ।

भार्गव, पुरुषोत्तम लाल : इण्डिया इन दी वैदिक एज, दी अपर इण्डियन पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ, 1971 ।

भण्डारकर, डी० आर० : सम ऐस्पेक्ट्स ऑफ ऐंसियन्ट हिन्दू पॉलिटी, कलकत्ता, 1929 ।

—— अशोक (हिन्दी अनुवाद), नई दिल्ली, 1974 ।

मजुमदार. बी० के० : मिलिटरी सिस्टम इन ऐंसियन्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1960 ।

मिश्र, उमेश : भारतीय दर्शन, लखनऊ, 1964 ।

मिश्र, जयशंकर : ग्यारहवीं सदी का भारत, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1968 ।

मुकर्जी, राधाकुमुद : हिन्दू सभ्यता, (अनुवाद) वासुदेवशरण अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन।

——— : ऐंसियन्ट इण्डियन एजूकेशन, लन्दन, 1947।

मैकक्रिण्डिल : ऐंसियन्ट इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड बाई टोलमी, कलकत्ता, 1927।

——— : ऐंसियन्ट इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड बाई मेगस्थनीज एण्ड एरियन, कलकत्ता, 1660।

मैकडोनल, ए० ए० : वैदिक माइथोलाजी, स्ट्रेसवर्ग, 1817।

मेंडिस, जी० सी० : दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ सीलोन, कलकत्ता, 1954।

मोतीचन्द्र : प्राचीन भारतीय वेश-भूषा, भारती भण्डार, प्रयाग, सं० 2012।

——— : सार्थवाह, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1963।

मैकडानल, ए० ए० एवं कीथ : वैदिक इण्डेक्स, भाग-2, लंदन जॉनपुरे, 1912।

मेहता, रतिलाल : प्री-बुद्धिस्ट इण्डिया, बाम्बे इक्जामिनर प्रेस, 1939।

मिश्र, शिवशेखर : मानसोल्लास एक सांस्कृतिक अध्ययन, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 1966।

मोटावानी, केवल : मनु का धर्मशास्त्र, मद्रास, 1958।

रायचौधरी, एच० सी० : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐंसियन्ट इण्डिया, कलकत्ता 1950।

रीज डेविड्स : बुद्धिस्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1950।

रैप्सन, ई० जे० : कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, दिल्ली, 1955।

राव, गोपीनाथ : एलीमेन्ट्स ऑफ हिन्दू आइक्नोग्राफी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पटना, वाराणसी, 1968।

राधाकृष्णन्, एस० : धर्म और समाज, राजपाल एण्ड सन्स, काश्मीरी गेट, दिल्ली।

लॉ, एन० एन० : ऐस्पेक्ट्स ऑफ इण्डियन पोलिटि, आक्सफोर्ड 1921।

लॉ, एन० एन० : इन्टरस्टेट रिलेशन्स इन ऐंसियन्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1920।

लीका : एलिमेन्ट ऑफ पोलिटिकल साइंस, लंदन, 1924।

लो, बी० सी० : क्षत्रिय क्लास इन बुद्धिस्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1922।

लेगे, जे०एच० : ट्रेवेल्स ऑफ फाहियान, आक्सफोर्ड, 1886।

वर्मा, पी० वी० : स्टडीज इन हिन्दू पोलिटिकल थाट एण्ड इट्स मेटाफिजिकल वाउन्डेशन्स, दिल्ली, 1956।

वसु : इण्डियन टीचर्स ऑफ दी बुद्धिस्ट यूनिवर्सिटीज, मद्रास, 1925।

विद्यालंकार, सत्यकेतु : प्राचीन भारतीय शासन-व्यवस्था, दिल्ली, 1975।

विश्वनाथ, एस० वी० : इन्टर नेशनल लॉ इन ऐंसियन्ट इण्डिया, 1925।

वर्लिगेम : बुद्धिस्ट लीजेन्ड्स, कैम्ब्रिज, 1921।

वेदालंकार, हरिदत्त : हिन्दू विवाह का संक्षिप्त इतिहास, लखनऊ, 1970।

—— : हिन्दू परिवार मीमांसा, कलकत्ता, वि० सं० 2011।

विंटरनित्स, एम० : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, भाग-2, नई दिल्ली, 1972।

वाटर्स, टामस : आन युवान-च्वांग्स ट्रेवेल्स इन ऐंसियन्ट इण्डिया, लन्दन, 1904-05।

विद्या प्रकाश : खजुराहो, बम्बई, 1967।

बरदाचार्य, एस० : हिन्दू जूडिशियल सिस्टम, लखनऊ, 1946।

सरकार, डी० सी० : सेलेक्ट इन्सप्सिन्स, कलकत्ता, 1942 तथा मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पटना, बाराणसी 1966।

सरकार, डी० सी० : इण्डियन इपिग्राफिकल ग्लासरी, मोतीलाल बनारसीदास, 1961।

सरकार, बी० के० : पोलिटिकल इन्स्टीट्यूशंन एण्ड थ्योरीज ऑफ दि हिन्दूज, लिपजिग, 1922।

सचाऊ : अलबीरूनी इण्डिया, लन्दन, 1888।

स्टांटन, एच० : दि ग्रेट स्कूल ऑफ इग्लैण्ड, लन्दन 1877।

सवाइन, जी० एच० : हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल थ्योरीज, न्यूयार्क, 1937।

सिंह, आर० सी० पी० : किंगशिप इन नार्दर्न इण्डिया, (सन् 600-1200), मोतीलाल बनारसीदास, 1968।

शर्मा, आर० एस० : आस्पेक्ट्स ऑफ पोलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन ऐंसियन्ट इण्डिया, बनारस, 1959।

शर्मा आर० एस० : लाइन ऑन अर्ली इण्डियन सोसायटी एण्ड इकानमी, बम्बई, 1966।

शास्त्री, नेमिचन्द्र : आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, वाराणसी, 1968।

शर्मा, दशरथ : अर्ली चौहान डायनेस्टीज, दिल्ली, 1958।

शर्मा, बृजनारायण : सोशल लाइफ इन नार्दर्न इण्डिया, दिल्ली, 1966।

हैंडीक, के० के० : यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर, सोलापुर, 1868।

हेगवूल्जले, : सम्पादित, कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, वाल्यूम I,

हार्फकिंस, ई० वारावर्न : एपिक माइथोलाजी, स्ट्रेसबर्ग, 1915।

पत्र-पत्रिकाएं-विशेष लेख

आर्कियालोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, एनुअल रिपोर्ट ।
इण्डियन एन्टीक्वेरी ।
इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, कलकत्ता ।
एपिग्राफिया इण्डिका ।
ओरियन्टल कान्फरेन्स, बनारस ।
जर्नल ऑफ द कालेज ऑफ इन्डोलाजी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, 1961-62 ।
जर्नल ऑफ दी बाम्बे ब्रांच ऑफ रायल एशियाटिक सोसायटी, बाम्बे ।
जर्नल ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी, लन्दन ।
जर्नल ऑफ दि न्युमिस्मेटिक सोसायटी ऑफ इण्डिया, वाराणसी ।
जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल ।
जर्नल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री ।
जर्नल ऑफ दि बिहार एण्ड उड़िसा रिसर्च सोसायटी ।
राजस्थान भारती, बीकानेर ।
पुराणम्, काशी ।
जर्नल ऑफ दि रिसर्चेज ऑफ दि यूनिवर्सिटीज ऑफ उत्तर प्रदेश किंगशिप इन याज्ञवल्क्य-स्मृति, डॉ० आर० के० दीक्षित, आगरा, 1958 ।
प्रज्ञा, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ।
हिन्दी परामर्श-पूणे विश्वविद्यालय ।
प्रोसीडिंग्स ऑफ इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस 23, वर्ष, अलीगढ़, 1960, हिन्दू पॉलिटी, आर बाजपेयी ।

कोश

संस्कृत हिन्दी कोश, आप्टे, वामन शिवराम, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पटना, वाराणसी ।
संस्कृत इंगलिश कोष-आप्टे, वी० एस०, पूना, 1860 ।
ए संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी, मोनियर विलियम्स, आक्सफोर्ड, 1951 ।
शब्दकल्पद्रुम, राधाकान्त देव, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1961 ।

+●——●+

अनुक्रमणिका

(विषय)

अनुक्रमणिका
(नाम)